1'4

प्राक्कथन

ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्यकी टीकाओं में वाचस्पति मिश्र विरचित भामती का महत्वपूर्ण स्थान है। यह वही टीका है, जिसके अध्ययन के विना भावों की अवगति असम्भव है। मण्डन मिश्र आदि की अद्वैतज्ञान का दिग्दर्शन इसके अध्ययन से ही समझा जा सकता है। रत्न प्रभा काएँ भी हैं, किन्तु, उनसे भामती की तुलना नहीं है। पद्मपादाचार्य की ार सूत्रों पर ही सुलभ है, अतः सम्पूर्ण शाङ्करभाष्य तलस्पर्श कराने में अक्षम है। विचार गाम्भीर्य एवं सूक्ष्मतत्त्व प्रतिपादन की दृष्टि से यह है अध्ययन काल से ही इसके विस्तृत अनुवाद को प्रस्तुत करने की एकान्त द्व थी, उसी इच्छा के अनुरूप यह कृति प्रथम सूत्र के व्याख्यान के रूपमें ों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे परम हर्ष है। इस अनुवाद एवं म०म० श्री प्रमथनाथ शर्मा जी का व्याख्यान मेरे लिए आधार रहा का अवलम्बन कर हिन्दी भाषियों के ज्ञान के लिए इसे समपित कर पण्डित प्रवर पूज्यपाद श्री ब्रह्मदत्त द्विवेदी की असीम कृपा एवं वात्सल्य रूप में इस दुरूह कार्य को करने में अपने को समर्थ पारहा हूँ, अतः यह ी के पादपद्मों में सादर समर्पित है।

ने रत्न प्रभा को भी साथ में ही अनुवाद के साथ देने की चेष्टा की, का कुछ अंश छूट गया है उसे आगे के खण्डो में परिशिष्ट के रूप में ा।

ग्रन्थ के प्रकाशन में भारत सरकार के शिक्षा विभाग ने मुझे आर्थिक न किया है। साथ ही विद्या मन्दिर प्रेस, मुजफ्फरपुर के अधिकारी वक श्री अरुण प्रसाद गुप्त जी, बी० कॉम० (ऑनर्स) को मैं हार्दिक ता हूं, जिनके सत्प्रयास से ही यह ग्रन्थ आप लोगों को सुलभ हो सका है। विषयों का सन्निवेश आगे खण्डो की भूमिका में प्रस्तुत करुँगा।

महाप्रभु लाल गोस्वामी

विषय-सूची

शुद्धिपत्र

पेज न० ३७१ में भाष्य छुट

समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धः अविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः, तत्सामान्य-दर्शनात् व्युत्पत्तिमताम् अपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारः तत्कालः समानः इति निश्चीयते।

भामती

अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽबवनयः ॥
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥१॥

पुष्पलता

सत् और असत् के द्वारा जिसका कथन नहीं हो सकता है, सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अनादिभावरूप एवं पूर्व-पूर्व भ्रम से उत्पन्न संस्कार रूप अविद्या द्वय की सहकारिता से अर्थात् ब्रह्मको विषय रूप से ग्रहण करने वाली अविद्या द्वय की सचिवता से युक्त—समर्थ अर्थात् सर्वथा स्वतन्त्र जिस ब्रह्म का आकाश वायु-तेज-जल और पृथिवी विवर्त रूप हैं एवं जिस ब्रह्म के द्वारा अनेक प्रकार से चर और अचर विश्व की उत्पत्ति हुई है, उस असीम आनन्द ज्ञान रूप नित्य ब्रह्म को नमस्कार करते हैं [अर्थात् ब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में अनुसन्धान करते हैं] ॥१॥

कुसुमलता

विद्वन्मूर्धन्य वाचस्पति मिश्र शङ्कराचार्यरचित शारीरक-भाष्य [का] विस्तृत व्याख्यान करने की इच्छा कर, अभीष्ट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति [के] लिये विषय एवं प्रयोजन का प्रदर्शन करते हुये, इस शास्त्र के प्रतिपाद्य [ब्रह्म] को नमस्कार करते हैं।

जीव ईशो विशुद्धा चितथा जीवेशयोर्भिदा ॥
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

जीव, ईश्वर, विशुद्ध ब्रह्म, जीव एवं ईश्वर का भेद, अविद्या, अवि[द्या] और चैतन्य का सम्बन्ध, ये छ पदार्थ वेदान्त सिद्धान्त में अनादि माने गये

अविद्या का स्वरूप—यह अज्ञान रूप है, यह न सत् है और न असत् जैसे शुक्ति में चाकचिक्य के कारण भासमान रजत को सत् नहीं कह सकते हैं क्योंकि इसका नेदं रजतम् (यह रजत नहीं है) इससे बाध हो जाता है। जो सत् रहता है उसका किसी भी काल में बाध नहीं होता है। "त्रिकालाबाध्यत्वं सत्यत्वम्" तीनों काल में जिसका बाध नहीं होता है उसको सत्य कहते हैं। शुक्ति में "इदं रजतम्" यह रजत है इस ज्ञान को असत् भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि आकाशपुष्प, बन्ध्यापुत्र आदि की तरह इसकी भी प्रतीति नहीं होगी। इसी तरह आवरण औरविक्षेपात्मिका अविद्या को भी सत् नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसका ब्रह्मज्ञान से नाश हो जाता है। असत् भी नहीं कह सकते "अहं ब्रह्म न जानामि" (मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूं) यह अनुभव ही अज्ञान रूप अविद्या में प्रमाण है। अतः इसको सत् और असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह अविद्या अनिर्वचनीय ही है।

अनिर्वचनीय का अन्य लक्षण भी चित्सुखाचाय ने कहा है—"ज्ञानबाध्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्", ज्ञान से बाध्य को अनिर्वचनीय कहते हैं। अज्ञान रूप अविद्या का ब्रह्मज्ञान से बाधन श्रुति-सम्मत है, अतः मिथ्याभूत अविद्या को अनिर्वचनीय कहा गया है। बाध का तात्पर्य अत्यन्ताभाव है। तीनों काल में स वस्तु का अभावबोधन कहा जाता है। जैसे—शुक्ति में रजत की प्रतीति ती है, किन्तु जब नेदं रजतम् से उसका बाध हो जाता है, तब उसका र्वथा अभाव ही सिद्ध हो जाता है। अद्वैत वेदान्त में तीन प्रकार की त्ता मानी गई हैं—प्रातिभासिकसत्ता, व्यावहारिकसत्ता एवं पारमार्थिकसत्ता। छ आचार्यों ने दो ही सत्ता मानी हैं—पारमार्थिक और प्रातिभासिक। प्रकार की सत्ता को स्वीकार करने पर शुक्ति में जो रजत की प्रतीति उसमें प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं। इसकी प्रतीति शुक्तौ इदं रजतम्" में यह रजत है इस ज्ञान के द्वारा होती है। सभी भ्रमात्मक ज्ञान में से पूर्व प्रातिभासिक सत्ता रहती है। इस सत्ता का बाध "नेदं रजतम्" स व्यावहारिक सत्ता के द्वारा होता है। जब "नेदं रजतम् शुक्तिरियम्" यह रजत नहीं शुक्ति है यह ज्ञान होता है, तब उस सत्ता का बाध हो जाता

है। इस अवस्था में यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि ज्ञायमान आश्रय में अर्थात् शुक्ति खण्ड में रजत न था, न है, और न होगा। इस तरह काल-त्रय में सत्ता का निषेध हो जाता है। अतएव आचार्यों ने सत्य का लक्षण "त्रिकालाबाध्यत्वम्" तीनों काल में जिसका बाध न हो— यह किया है। ऐसी सत्ता अद्वैत वेदान्त में केवल ब्रह्म में ही मानी गई है, उसका कभी भी बाध नहीं होता है।

दूसरी सत्ता व्यावहारिक सत्ता है—जो जगत् में एवं संसार के सभी पदार्थों में है। जैसे घट पट तट आदि जितने लौकिक पदार्थ हैं, सभी पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है। अविद्या का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने पर अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर विक्षेप शक्ति के द्वारा अनुरूप कार्य की उत्पत्ति करती है।

अविद्या की दो शक्तियाँ— अविद्या में दो शक्तियाँ है। एक—आवरणशक्ति, दूसरी—विक्षेपशक्ति। आवरण शक्ति पुनः दो प्रकार की है—एक—सत्त्वाभावापादक और दूसरी—भानाभावापादक। प्रथम आवरण सत्ता के द्वारा किसी भी वस्तु की सत्ता का निषेध हो जाता है–जैसे "ब्रह्म नास्तीति" ब्रह्म नहीं है। यह प्रतीति सत्त्वाभावापादक आवरण रहने से होती है। दूसरी आवरण शक्ति रहने पर वस्तु की सत्ता का अभाव नहीं होता है वरन् वस्तु के भान का अभाव रहता है—जैसे "ब्रह्म न भाति" ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है। ये दोनों शक्तियाँ इन्हीं दोनों व्यवहारों को सम्पादन करने वाली हैं। मूला अविद्या या अज्ञान से आवृत ब्रह्म की सत्ता और भान इन दो आवरण शक्तिओं के द्वारा बाधित हो जाता है। पूर्वोक्त प्रथम आवरण के द्वारा वस्तु की वर्तमान दशा में उसकी सत्ता की प्रतीति बाधित हो जाती है। सत्ताज्ञान अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमाता में रहता है, अतः उसका प्रतिबन्धक आवरण का भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही रहना उचित है, क्योंकि प्रतिबंध्यप्रतिबन्धकभाव समान अधिकरण में ही होता है, अर्थात् प्रतिबध्य या जिसका ज्ञान बाधित हो, वह जिसमें रहे उसीमें उसके प्रतिबन्धक का भी होना उचित है। यहां सत्ता का ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न

चैतन्य में रहता है, अतः आवरण रूप प्रतिबन्धक भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही रहेगा। प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक यदि भिन्न अधिकरण में रहें तो प्रतिबध्य–प्रतिबन्धक भाव नहीं हो सकता है। भिन्न अधिकरण में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव असम्भव होने से इन दोनों का सामानाधिकरण्य सर्वथा अपेक्षित ही है। क्योंकि चादर पर पुष्प है इसका प्रतिबन्धक आकाश में पुष्प नहीं है— यह ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतिबध्य का अधिकरण चादर है और प्रतिबन्धक का अधिकरण आकाश है।

द्वितीय शक्ति अभानापादक है—भान का या विषय रूप से चित्प्रकाशरूप प्रत्यक्षज्ञान का प्रतिबन्धक यह आवरण विषय से अवच्छिन्न चैतन्य रूप प्रमेय में या वस्तु में रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान हो या परोक्ष ज्ञान दोनों में ही विषय के आकार की अन्तःकरण की वृत्ति होती है। प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय के द्वारा विषयदेश में उपस्थित अन्तःकरण की वृत्ति होती है। परोक्ष ज्ञान में विषय स्थल में जाने का साधन न होने के कारण अपने स्थान में स्थित रहते हुए ही अन्तःकरण की वृत्ति होती है। फलतः, प्रत्यक्ष ज्ञान के समय में अन्तः-करण विषय प्रदेश में जाता है, अतः अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता चैतन्य और विषयावच्छिन्न प्रमेय चैतन्य की एकता से विषयदेश स्थित अन्तःकरण की वृत्ति से प्रमाता रूप चैतन्य में स्थित सत्त्वाभाव का आवरण और प्रमेय चैतन्य में स्थित भानाभाव के आपादक आवरण ये दोनों ही विनष्ट हो जाते हैं। फलतः प्रत्यक्ष ज्ञान के स्थल में घट है और घट का भान होता है—ये दोनों ही व्यवहार होते हैं॥

ब्रह्म प्रत्यक्ष से ही अविद्या का नाश होता है—अनुमिति आदि परोक्ष-ज्ञान के समय में अन्तःकरण अपने स्थान में ही स्थित रहता है, अतः वहां वह अन्तःकरण वृत्ति से अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता में स्थित सत्त्वाभाव के सम्पादक आवरण का ही नाश करता है। विषयावच्छिन्न जो प्रमेय उसमें स्थित अपने भान के अभाव के जनक आवरण का नाश नहीं करता है, क्योंकि विषय देश में अन्तःकरण की वृत्ति होती ही नहीं है। वार्तिककार ने भी कारिका में इसी भाव की अभिव्यक्ति की है।

"परोक्षज्ञानतो　नश्येदसत्त्वावृत्तिहेतुता ।
अपरोक्षधिया　नश्येदभानावृत्तिहेतुता" ॥

मूला अविद्या अपने परिणाम विशेष से असत्त्वापादक और अभानापादक इन दो आवरणों को उत्पन्न करती है। उनमें मूला अविद्या में स्थित जो असत्त्वापादक आवरण की हेतुता उसी को परोक्ष ज्ञान नाश करता है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा असत्त्वापादक और अभानापादक, इन दोनों आवरणों की हेतुता का नाश हो जाता है। फलतः ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान ही दोनों प्रकार की आवरण जनक अविद्या का नाशक है। कार्यों की उत्पत्ति के अनुकूल जो शक्ति है उसको विक्षेप कहते हैं। अविद्या का परिणाम है संसार। अतः परिणाम के रूप से जगत् का उपादान कारण अविद्या है और अधिष्ठान रूप से उपादान कारण ब्रह्म है। आशय यह है कि यह अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आवृत कर ब्रह्म के विवर्त रूप जगत् को उत्पन्न करती है।

परिणाम और विवर्त्त का स्वरूप तथा उसमें भेद :—यह भी संक्षेप में व्यक्त करना आवश्यक होगा कि परिणाम और विवर्त में क्या अन्तर है; जहाँ वस्तु तात्त्विक रूप से दूसरा रूप धारण करती है वहाँ परिणाम कहा जाता है, जैसे दूध से दही। दूध तत्त्वतः दूसरा रूप धारण करता है, यहां दूध [illegible]न अन्यथा भाव होता है। अर्थात् विकार पूर्वक उसका दही के रूप में परि[illegible]ना होता है। अविद्या भी बुद्धि प्राण आदि के क्रम से स्थूल कार्य तक प[illegible] होती है।

विवर्त—उसको कहते हैं जिसमें तात्त्विक परिवर्तन या अन्य[illegible] नहीं होता है। जैसे रस्सी में साँप। यहाँ रस्सी में सांप की प्रतीति हु[illegible] वस्तुतः रस्सी में सर्प के कारण अन्यथा भाव नहीं हु[illegible] वैसे ही प्र[illegible] जगत् का अधिष्ठान या आधार ब्रह्म है। फिर भी इससे ब्रह्म में अन्[illegible] नहीं होता है। अज्ञानवश जैसे रस्सी में सर्पज्ञान होता है वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म में इस प्रपञ्चात्मक जगत् का भान होता है[illegible]

अविद्या ही कारण है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है साथ ही उस अविद्या-कार्य रूप सभी प्रपञ्चों का भी विनाश हो जाता है।

यह अज्ञान पद वाच्य अविद्या कैसे उत्पन्न हुई? किस कारण से इसका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हुआ? इस तरह के प्रश्न सर्वथा अनुपपन्न हैं। क्योंकि पूर्वोक्त पद्य से ही यह व्यक्त हो गया कि अविद्या और उसका ब्रह्म के साथ संबन्ध अनादि है।

यह प्रश्न हो सकता है कि— अविद्या का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध किस तरह का है? —इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जैसे अग्नि अपने विरोधी जल में साक्षात् प्रविष्ट होने में असमर्थ होने पर भी सूक्ष्म रूप से पाक आदि के द्वारा जल में प्रविष्ट होकर उसके शैत्य को छिपाकर अपनी उष्णता को जल के धर्म के रूप में प्रदर्शित करती है वैसे ही अविद्या साक्षात् आवृत करने में असमर्थ होने पर अपने मूल रूप में उसके साथ युक्त होकर उसके चैतन्य, असीम आनन्द, निर्विषयत्व, निराश्रयत्व, आदि रूपों को आवृत कर कर्तृत्व, साश्रयत्व, सविषयत्व आदि विशेष रूप को प्रदर्शित करती क है। मिश्र के मत में अज्ञान शक्ति का आश्रय जीव हैं और विषय ब्रह्म है। औ अज्ञान शक्ति स्वयं आश्रय और विषय से युक्त है। यह कहा जा सकता की कि साश्रयत्व और सविषयत्व रूप से जो ज्ञान भासित हो रहा है वही चैतन् द्ध है। इसके बाद सांख्यक्रम से सृष्टि होती है और सभी पदार्थ फलत न्न होते हैं। प्रदर्शित रूप में ही जगत् अविद्या की अपेक्षा ही व्य गम और ब्रह्म की अपेक्षा विवर्त हैं। क्योंकि अज्ञान की अपेक्षा से वस्था का त्याग पूर्वक दूसरी अवस्था की प्राप्ति होती है। जैसे ज्ञान के दही। ब्रह्म की अपेक्षा से पूर्व अवस्था का त्याग किये बिना ही दूसरे वह अपे भान होता है इसीलिए यह ब्रह्म का विवर्त है। जैसे रस्सी में सर्प के सम्पान। इस विषय में विशेष विवरण पुनः प्रदर्शित करूँगा।

संस्थित अ

विषय देश विद्या का स्वरूप:—अविद्या का लक्षण चित्सुखाचार्य ने प्रदर्शित किया कारिका मे भोः! केयमनिर्वचनीयाविद्या नामेति" यह अनिर्वचनीय अविद्या

नाम की वस्तु क्या है ? अविद्या शब्द का लोक व्यवहार प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करने पर अविद्या के अर्थ—विद्या का अभाव, विद्या विरोधी या विद्या से अन्य ये ही तीन हो सकते हैं। अविद्या का अर्थ ज्ञान के अभाव से भिन्न नहीं होगा। ऐसी स्थिति में अविद्या या अज्ञान को अभाव रूप कहा जायगा। अतः अविद्या अनिवर्चनीय है यह कहना संगत नहीं होगा। क्योंकि भाव और अभाव दोनों से विलक्षण ही पदार्थ अनिवर्चनीय शब्द से कहा जाता है। विद्या का अभाव तो घटाभाव के समान अभाव रूप ही हुआ। भाव और अभाव से विलक्षण रूप अनिवर्चनीयता तो अविद्या में सिद्ध नहीं हो पाती है।

द्वितीय प्रश्न यह है कि अविद्या का कोई लक्षण भी नहीं हो सकता है—"ज्ञाननिवर्त्यत्वम्" ज्ञान से जिसकी निवृत्ति होती है, वह अविद्या है यह लक्षण मानने पर उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान की निवृत्ति होती है, अतः वह भी अज्ञान हो जायगा। इस दोष को हटाने के लिए अनादि विशेषण इस लक्षण में दे दिया जाय अर्थात् अनादि होते हुये जो ज्ञान से निवर्त्य है वह अविद्या है। पूर्व ज्ञान में अनादित्व न होने से वह अविद्या के अन्तर्गत नहीं आयगा, किन्तु यह मानने पर ज्ञान का प्रागभाव भी अविद्या के लक्षण से आक्रान्त हो जायेगा— वह भी अविद्या पद से व्यवहृत होने लगेगा, जो अभीष्ट नहीं है, क्योंकि ज्ञान न प्रागभाव अनादि है और ज्ञान होने से उसका निवारण भी हो जाता [illegible] इस दोष को हटाने के लिए आचार्य ने इस अविद्या के लक्षण में 'भाव' [illegible] विशेषण भी दिया है। किन्तु इस लक्षण में भी न्याय सम्मत परमाणुगत [illegible] मता में दोष रह जाता है क्योंकि वह भाव रूप है अनादि है और ईश्वर ज्ञा[illegible] निवर्त्य भी है। इसलिए अविद्या का लक्षण उपयुक्त नहीं मिलता है। श[illegible]

तीसरा प्रश्न यह है कि "मानाधीना मेयसिद्धिः" प्रमाण के [illegible] ही प्रमेय की सिद्धि होती है। अविद्या में प्रमाण क्या है ? "अज्ञ[illegible] मैं अज्ञानी हूँ— "सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषम्" मैं सुखपू[illegible] कुछ ज्ञान नहीं था आदि अनुभव ही इसमें प्रमाण है। किन्तु यह [illegible] ज्ञान के अभाव को विषय रूप में ग्रहण करता है, इससे अना[illegible]

रूप अज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता है! यह कहा जा सकता है कि सुषुप्ति के बाद जागने पर मैं गाढ़ निद्रा में सुखपूर्वक सोया, कुछ भी भान नही था– यह स्मृति रूप ज्ञान ही भाव रूप अज्ञान में प्रमाण है। कारण, ज्ञान के बिना स्मरण संभव ही नहीं है, क्योंकि स्मरण अनुभव पूर्वक होता है, अतः स्मरण अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकता है, इसीलिए अर्थापत्ति रूप प्रमाण के अधीन भावरूप अज्ञान की सिद्धि माननी पड़ेगी। अज्ञान को भाव स्वरूप न मानने वालों की यह उक्ति है कि वहां भी ज्ञानाभाव ही था। क्योंकि वेदान्तियों के मत में जो उठने के बाद अन्यथा असिद्धि है हम नैयायिकों के मत में उसका अनुमान के द्वारा बोध होता है, अतः पूर्वकाल में स्थित ज्ञानाभाव विषय का बोध कराता है। इसी तरह अनेक प्रश्नों के द्वारा भावरूप अज्ञान का खण्डन चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रदर्शित किया है। इसका विस्तृत विवेचन भामती में अनिर्वचनीयत्व व्याख्या के प्रसङ्ग में होगा।

अनिवर्चनीय अविद्या में लक्षण असम्भव नहीं है—

"अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते[१] ।।

अनादि भावरूप जिस पदार्थ का ज्ञान से निवारण होता है वही अज्ञान है ("अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानम्") इस लक्षण को स्वीकार करने से किसी भी स्थल में दोष नहीं है। कारण, ज्ञान का प्रागभाव अनादि होने पर भी भावरूप नही है। उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान का निवारण ज्ञान के द्वा है, किन्तु वह पूर्व ज्ञान अनादि नहीं है, उसकी उत्पत्ति होती है। वह आत्मा भावरूप एवं अनादि भी है, किन्तु वह अनन्त है, उसका किसी से के सम्पान नहीं होता है। पूर्व में अनादि भावरूप न्याय सम्मत परमाणु पदार्थ-स्थित अप यामता की निवृत्ति ज्ञान से होने के कारण दोष दिया गया था किन्तु विषय देश में अनादि भावरूप उस पदार्थ की सिद्धि ही नहीं है, अतः किसी तरह कारिका में की संभावना नहीं है।

०, पृ० ६७

यहां पर यह शंका हो सकती है कि अज्ञान को अनादि भावरूप मानने पर आत्मा के समान उसकी भी निवृत्ति नहीं होगी। इसका समाधान यह है कि वस्तुतः अज्ञान को भावरूप में स्वीकार नहीं किया जाता है, किन्तु अभाव से विलक्षण होने से उसमें भावरूपता का उपचार है। वास्तविक दृष्टि से उसमें भावत्व नहीं है। अतः वास्तविक भावत्व न होने से अनादि रहने पर भी उसका नाश ब्रह्मज्ञान से हो जाता है। एक शंका यह भी होती है कि परस्पर विरोध रहने पर किसी तृतीय प्रकार की उपस्थिति होनी चाहिये। क्योंकि परस्पर प्रतिषेध रहने पर अगत्या एक प्रकारान्तर की उत्पत्ति हो जाती है भले ही वह अनीप्सित एवं दर्शन विरुद्ध भी हो। जैसे स्त्री प्रकृति एवं पुरुष प्रकृति दोनों का ही परस्पर प्रतिषेध रहने पर अर्थात् पुरुष नहीं है, स्त्री भी नहीं है, ऐसी दशा में एक तृतीय प्रकार की उपस्थिति हो जाती है-नपुंसक, यह न स्त्री प्रकृति और न पुरुष प्रकृति है। इसी तरह यहां भी अभाव और भाव दोनों नहीं हैं तो अज्ञान रूप अविद्या में तृतीय प्रकार अर्थात् प्रकान्तर की उपस्थिति होनी चाहिये। चित्सुखाचार्य ने भावत्व का उपचार माना है भावत्व नहीं। पूर्वोक्त शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि यदि प्रमाण के द्वारा तृतीय प्रकार की सिद्धि संभव हो तो वह यहां है। वस्तुतः अज्ञान में भाव, अभाव, भावाभावोभय, सावयव, निरवयव, सावयव-निरवयवोभय भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्नोभय आदि रूप का निवर्चन न होना अविद्या के लिये भूषण है दूषण नहीं क्योंकि इसीलिए तो इसको अनिर्वचनीय कहा जाता है। प्रमाण की असहिष्णुता ही अविद्या में अविद्यात्व है—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥

॥ बृह० भा० वा० श्लो० १८...

दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथं चित्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्॥

इस तरह अविद्या की भावरुपता एवं अनिर्वचनीयता उपपन्न होती है।

अब दूसरी शंका का समाधान अपेक्षित है, क्योंकि इस तरह अविद्या की सिद्धि होने पर भी इसमें प्रमाण क्या है। कारण प्रमाण के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती है। "सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषम्" मैं सुखपूर्वक सोया कुछ भी भान नहीं था– यह अनुभव ही प्रमाण है। पूर्व में नैयायिकों ने यह समाधान दिया था कि यह प्रतीति ज्ञानाभाव की है किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी और अनुयोगी के ज्ञान की अपेक्षा है। जैसे 'भूतले घटाभावः" पृथिवी में घड़े का अभाव इस ज्ञान में अभाव का प्रतियोगी घट है और अभाव का अनुयोगी भूतल या पृथिवी है। इस तरह "न किंचिदवेदिषम्" कुछ नहीं भान हुआ, इस ज्ञान में न किसी प्रतियोगी का भान होता है और न अनुयोगी का ही। अतः इस ज्ञान को अभावात्मक नहीं कह सकते हैं। यह ज्ञान भाव को विषय करने वाला ही है प्रतियोगी और अनुयोगी से निरपेक्ष इस ज्ञान को अभावात्मक नहीं कह सकते हैं। अतः पूर्वोक्त अनुभव के आधार पर ही अर्थापत्ति प्रमाण के बल से इसकी सिद्धि हो जाती है। प्रमाण से पूर्व ही यह अज्ञान और उसका विषय अर्थ साक्षी से ज्ञात है। इसी प्रकार अन्य अनुमान के द्वारा इस अनिर्वचनीय अज्ञान की सिद्धि की गई है।

माया और अविद्या की एकता और भेद का विश्लेषण—

निर्विशेष ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि होती है। माया या ...द्या की सहकारिता से ही नाना रूप जगत् की सृष्टि होती है। शंकराचार्य ...या और अविद्या को समान अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। शांकरभाष्य के प्रथम ...ाय के चतुर्थपाद के तृतीयसूत्र में इस विषय का विश्लेषण उपलब्ध ... है—ब्रह्म का स्रष्टृत्व विना शक्ति के सिद्ध नहीं हो सकता है; कारण, ... रहित की प्रवृत्ति उपपन्न ही नहीं होती है। मुक्तों का संसार में पुनः ...न नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा संसार के सृजन करने की शक्ति ...था नाश हो जाता है। इसी प्रसंग में आचार्य ने कहा है कि ...वद्यात्मिका बीजशक्ति अव्यक्त शब्द के द्वारा अभिहित होती है, यह ...र में आश्रित होने वाली है, यह मायामयी महासुप्तिरूपिणी है, इसमें

अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं। यह अव्यक्त कहीं आकाश शब्द से निर्दिष्ट होता है। कहीं अक्षर शब्द से इसका अभिधान होता है। कहीं इसको माया शब्द से सूचित किया गया है। यह माया अव्यक्त है। इसका सत् या असत् शब्द से निरूपण सम्भव नहीं है[1]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि आचार्य के मत में अविद्या और माया में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने व्याख्या में मतभेद प्रदर्शन पूर्वक इसकी व्याख्या की है :—

विवरणाचार्य के अनुसार माया और अविद्या की एकता ही प्रतीत होती है— संसार की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में शांकरभाष्य की टीका पञ्चपादिका की टीका विवरण में प्रकाशात्मयति ने लिखा है कि जडात्मक माया शक्ति पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि न सत् थी न असत् थी, इस तरह जगत् की पूर्व अवस्था को सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय श्रुति में प्रदर्शित किया है। लोक में हाथी, अश्व, रथ आदि में व्यभिचारादि में मिथ्यावस्तु मात्र में माया शब्द का प्रयोग होता है। जिस तत्त्व के हृदय में सन्निहित होने मात्र से योगी फैली हुई अविद्यारूपी माया को पार कर जाते हैं, उस असीम ज्ञान

---

१. "परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति; शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। मुक्तानां [illegible] पुनरनुत्पत्तिः। कुतः? विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका [illegible] बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्व[illegible] प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाश[illegible] निर्दिष्टम्, "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" (बृ० ३।[illegible]) इति श्रुतेः क्वचिदक्षरशब्दोदितम्; "अक्षरात्परतः" (मु० २।१।२) इ[illegible] इति सूचितम्; "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे[illegible]) इति मन्त्रवर्णनात्। अव्यक्ता हि सा माया; तत्त्वान्यत्वनिरू[illegible] त्वात्॥ (शां० भा० १।४।३) [illegible]

स्वरूप को नमस्कार है।" इसमें माया और अविद्या का पर्याय के रूप में प्रयोग किया है[1]। इस विवरण के व्याख्यान से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि विवरणकार की दृष्टि में माया और अविद्या में कोई भेद नहीं है।

वाचस्पति मिश्र का भी माया और अविद्या के अभेद में कोई मतभेद नहीं है। कारण पूर्वोक्त भाष्य के व्याख्यान प्रसङ्ग में माया की व्याख्या अविद्या शब्द से मिश्रजी ने की है। 'अविद्यात्मिका" इत्यादि भाष्य के व्याख्यान में कहा है कि अविद्या ही संसार का कारण है ईश्वर की क्या आवश्यकता है? अचेतन चेतन के अधिष्ठान के बिना कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है, अतः अपने कार्य को सम्पादन करने के लिए परमेश्वर को निमित्त रूप से या उपादान रूप से आश्रयण करती है। प्रपञ्च का आश्रय ईश्वर है जैसे सर्प का अधिष्ठान रस्सी है। अतः रस्सी में सर्प का भ्रम होने में जैसे रस्सी उस भ्रम का अधिष्ठान है वैसे ही प्रपञ्च का आश्रय ईश्वर है। इसलिए जीवाश्रित भी अविद्या निमित्त रूप से या विषय रूप से ईश्वर का आश्रयण करती है। अतएव अविद्या ईश्वर की आश्रिता कही जाती है, किन्तु अधिकरण रूप से ईश्वर अविद्या का आश्रय नहीं है, कारण ज्ञान स्वरूप ब्रह्म विरोध के कारण अज्ञान रूप माया का आश्रय नहीं हो सकता है। यही कारण है कि मंगलाचरण में मिश्र जी ने अनिवर्चनीय अविद्या की सचिवता से प्रपञ्च का

---

१. "तथापि जडात्मिका माया शक्तिः पारमार्थिकी इति चेत्, न; 'नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीदि"ति जगत्प्रागवस्थायाः सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयत्वश्रवणात्। लोके च हस्त्यश्वरथादिषु व्यभिचारादिषु मिथ्यावस्तुप्रत्यायिनि मायाशब्दप्रयोगात्।

"तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते।
योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥ इति

मायाऽविद्ययोः सामानाधिकरण्याच्च।" विवरणम् पृ० ६०७

कारण ब्रह्म है यह कहा है। माया और अविद्या में भेद अभिमत होने पर माया और अविद्या की सहकारिता से यह कहते अविद्याद्वय की सहकारिता से यह नहीं कहते[1]। मय धातु का अर्थ ज्ञान माना गया है। मय धातु से अण् प्रत्यय होता है उपधा की वृद्धि होने पर "माय" शब्द बनता है, स्त्रीलिङ्ग में टाप् होने से "माया" शब्द सिद्ध होता है। अतः "माया" पद ज्ञान अर्थ का बोधक होगा अज्ञान अर्थ का बोधक नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में माया और अविद्या को एक मानने वाले अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों का कथन है कि—उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में माया और अविद्या को एक माना है—इसी प्रकार यह माया जीव और ईश्वर को आभास के द्वारा स्वरूप देती है माया और अविद्या स्वयं ही होती है[2]। इसलिए माया शब्द अज्ञानार्थक ही है। मय धातु का अर्थ ज्ञान होता है, और माया शब्द मय धातु से सिद्ध होता है, अतः माया शब्द ज्ञान अर्थ का ही वाचक होगा यह आवश्यक नहीं है, कारण प्रयोग की प्रवृत्ति का कारण शब्द की व्युत्पत्ति ही नहीं होती है। अन्यथा चेष्टा अर्थ को कहने वाले घट धातु से सिद्ध घट शब्द भी चेष्टा अर्थ का ही वाचक होगा घड़े अर्थ का वाचक नहीं होगा। अतः चेष्टा अर्थ को कहने वाले घट धातु से निष्पन्न घट शब्द जैसे चेष्टा अर्थ का वाचक नहीं होता है वैसे ही माया शब्द भी ज्ञान का वाचक नहीं होता हैं। इसीलिए मेदिनीकोष में शाम्बरी अविद्या को माया शब्द का अर्थ कहा है। माया शब्द को ज्ञानार्थक मानने में

---

१. न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कार्याय पर्याप्तमिति स्वकार्यं कर्तुं परमेश्वरं निमित्ततया वोपादानतया वाऽश्रयते, प्रपञ्चविभ्रमस्य हीश्वरा-धिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्ज्वाधिष्ठानत्वम्, तेन यथाहिभ्रमः रज्जूपादानः एवं प्रपञ्चविभ्रमः ईश्वरोपादानः, तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्त-विषयतया वेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते, न त्वाधारतया; विद्या[illegible] ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः" (भामती पृ० ३७८)

२. "एवमेवैषा माया जीवेशौ आभासेन करोति माया अविद्या [illegible] भवति" नृ० उ० ता० उ० पृ० २[illegible]

भी इसका अज्ञान अर्थ हो सकता है. कारण, वृत्ति ज्ञान का उपादान अज्ञान ही है। अतः वृत्तिज्ञान अज्ञान से अभिन्न होने से ज्ञानार्थक माया को अज्ञान का पर्याय मानने में आपत्ति नहीं है। इसीलिए सांख्याचार्यों ने कहा है—जो वस्तु दृष्टि पथ में आती है वह माया ही है और तुच्छ है (यत्तु दृष्टिपदं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्) महाभारत में भी दृश्य वस्तु को माया कहा है—"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद[१]" हे नारद जो मुझको देखते हो मेरे द्वारा ही यह माया बनाइ गई है। लोक-व्यवहार में भी मिथ्या वस्तु में माया शब्द का प्रयोग होता है। इन्द्रजाल को माया शब्द से व्यवहार किया जाता है। अतः माया और अविद्या एक ही है।

कतिपय व्याख्यानकर्ताओं ने माया और अविद्या में भेद माना है—प्रकटार्थकार का कथन है कि अनादि अनिर्वचनीय सब भूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहने वाली जो माया है उस माया में चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब है वह ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नामक आवरण और विक्षेप शक्ति वाले जो परिच्छिन्न अनन्त प्रदेश हैं, उनमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माया और अविद्या सर्वथा एक नहीं है।

पञ्चदशी कर्ता विद्यारण्यस्वामी के मत में भेद ही व्यक्त है। विद्यारण्य-स्वामी ने कहा है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति में रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत न होकर जो शुद्ध सत्त्व प्रधान है वह माया है और रजोगुण एवं मोगुण से अभिभूत होकर मलिनसत्त्वगुण प्रधान जो है वह अविद्या है इस ह माया और अविद्या का भेद भी सुस्पष्ट है।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥पञ्च० १६

---

० भा०, मो०, अ०, ३३६ श्लो० ४५

अद्वैत–वेदान्त के प्रधान आचार्य चित्सुखाचार्य आदि ने विवरण एवं भामती के अनुसार इनमें भेद नहीं माना है। कतिपय आचार्यों ने सत्त्वगुण की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर सूक्ष्म भेद स्वीकार कर भेद प्रदर्शन भी किया है।

केवल असङ्ग ब्रह्म किसी भी प्रपञ्च का निर्माण नहीं कर सकता है, अतः अविद्या की सचिवता मिश्रजी ने मानी है (अनिर्वाच्यम् अविद्याद्वितयं सचिवं यस्य, तस्य अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य) जिसका अनिर्वचनीय अविद्याद्वय सचिव या सहकारी है उस ब्रह्म का विवर्त यह प्रपञ्च है। इन दो अविद्याओं से मूलाविद्या और तूलाविद्या ये दोनों विवक्षित नहीं है। वरन् एक अनादि भावरूप अविद्या विवक्षित है और दूसरी पूर्व-पूर्व–विभ्रम से उत्पन्न संस्कार रूप अविद्या विवक्षित है। क्योंकि पूर्वोक्त तूलाविद्या प्रातिभासिक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए स्वीकृत है। पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक इन तीन सत्ताओं को मानने पर भी आकाश आदि की उत्पत्ति के लिए तुला अविद्या की अपेक्षा नहीं है, अतः वाचस्पति मिश्र सम्मत मूला अविद्या और पूर्व-पूर्व विभ्रम से उत्पन्न संस्कार रूपा दूसरी अविद्या ही विवक्षित है। यह शंका हो सकती है कि वाचस्पति मिश्र के मत में जीव की अनेकता स्वीकृत है और प्रत्येक जीव में अनेक संस्कार रूप अविद्या है, अतः दो अविद्या यह कथन स्वमत में असंगत है। इसके समाधान में आचार्यों ने यही कहा है कि संस्कारत्वरूप से सभी संस्कार व्यक्तियों की एकता स्वीकार कर अविद्याद्वय यह कहा गया है। क्योंकि अनेक व्यक्ति होने पर भी उसका अनुग्राहक अनेक में रहने वाला संस्कारत्व एक है।

दूसरा समाधान यह है कि ब्रह्म से अतिरिक्त प्रपञ्च मात्र प्रातिभासि[illegible] है। इस तरह दो ही सत्ता स्वीकृत है, एक पारमार्थिक सत्ता दूसरी [illegible] भासिक सत्ता। अतः प्रातिभासिक जितने भी ज्ञान है वे सभी उस [illegible] रूप अविद्या या अज्ञान के ही कार्य हैं। अतः अविद्या–द्वितय से [illegible] भाव रूप मूलाविद्या और दूसरी संस्कार रूप यही विवक्षित है तूल[illegible] विवक्षित नहीं है। इस तरह इन दोनों को सहकारी कहा है। [illegible]

अब यह शंका होती है कि सहकारी अज्ञान ब्रह्माश्रय है या जीवाश्रय। अज्ञान को ब्रह्माश्रित मानने पर नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव ब्रह्म त्रिगुणात्मक अज्ञान के स्वभाव से सर्वथा विरुद्ध है अतः यह संभव नहीं प्रतीत होता है। जीवाश्रित मानने पर अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति है। किन्तु अज्ञान यह कहने पर किसका अज्ञान और किसको विषय रूप से ग्रहण करके अज्ञान जगत् की सृष्टि में सहकारी है यह शंका उत्पन्न होती है, अतः आश्रय और विषय की कल्पना सर्वथा अपेक्षित ही है क्योंकि निराश्रित और निर्विषयक अज्ञान है यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि अज्ञान को जीवाश्रित स्वीकार किया जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति है। क्योंकि जीव की सिद्धि अज्ञान के ही अधीन है, कारण, अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव मानने पर अन्तःकरण अज्ञान कार्य है, अतः अज्ञान जीव का आश्रयण करे तब अन्य सृष्टि में समर्थ हो। इस तरह जीवभाव की सिद्धि अज्ञान के अधीन है और जीव की सिद्धि होने पर अज्ञान के आश्रय की सिद्धि होगी। इस तरह अज्ञान के अधीन जीव की सिद्धि है और अज्ञान के आश्रयत्व की सिद्धि जीव की सिद्धि के अधीन है, इसलिए अन्योन्याश्रय दोष की आपत्ति है। यह कहा जा सकता है कि जीव, अविद्या आदि सभी अनादि हैं— अज्ञान और जीव भाव का प्रवाह बीज और अंकुर के समान अनादि है, इसलिए अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। इस पक्ष के समर्थन में ब्रह्म नहीं है ब्रह्म का भान नहीं होता है यह व्यवहार जीवाश्रित है, अतः उसका कारण अज्ञान भी जीवाश्रित ही है। यही पक्ष मिश्रजी को अभिमत है। इस पक्ष में जीवाश्रित अज्ञान से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् के अधिष्ठान रूप में उपादान कारण है।

यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस मत की परम्परा मण्डन रचित ब्रह्मसिद्धि के आधार पर गृहीत है। ब्रह्मसिद्धि में मिश्रजी ने कहा अविद्या किसकी है? इसके उत्तर में कहा है। जीवों की, पुनः अन्योन्याश्रय उद्भावन कर केचित् मतके द्वारा इसका खण्डन किया है—माया होकर किसी भी वस्तु की निष्पत्ति नहीं कर सकती है क्योंकि अनुपपन्न

या अनिर्वचनीय का ही नाम अविद्या है। उसकी उपपत्ति होने पर तो वह माया ही न रहेगी। आगे अन्ये तु के द्वारा पुनः अन्योन्याश्रय दोष का खण्डन किया है। अनादि होने के कारण बीजांकुर के समान इन दोनों में भी अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं है।

"यत्तु कस्याविद्येति; जीवानामिति ब्रूमः ....

अथ केचिदाहुः—वस्तुसिद्धावेष दोषः नासिद्धं वस्तु वस्त्वन्तरनिष्पत्तये अलम्, न मायामात्रे, न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः अनुपपद्यमानार्थैव माया। उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्। अन्ये तु— अनादित्वादुभयोरविद्याजीवयोर्बीजांकुरसंतानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वमप्रक्लृप्तिमावहन्ति" इति (ब्र० सि० पृ० १०)

दूसरा मत सुरेश्वराचार्य की वार्तिक में उपलब्ध होता है, किन्तु, सम्प्रति ये मत वाचस्पति मिश्र और विवरणाचार्य के मत से व्यवहृत होते हैं। इसके लिए दो पद्य भी प्रसिद्ध हैं—

"जीवाश्रया ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता" (वेदा० सिद्धा० मुक्ता०) द्वितीय पद हैं—

"आश्रत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः" (संक्षेप० शा०

"अहमज्ञः" मैं अज्ञ हूँ इत्यादि ज्ञान के अनुसार अज्ञान का आश्र... जीव और "अहं ब्रह्म न जानामि" मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ इस प्रतीति... अज्ञान का विषय ब्रह्म प्रतीत होता है, अतः ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय ... विषय कैसे सिद्ध हो सकता है? इस अवतरण के उत्तर में इस कारिक... व्याख्याकारों ने प्रदर्शित किया है। अज्ञान का आश्रय और विषय जी... ईश्वर के विभाग से रहित अद्वितीय ब्रह्म ही है। प्रदर्शित अनुभव विरोध...

समाधान में कहा है कि पूर्वानुभव अन्यथा भी सिद्ध हो सकता है। "अहमज्ञः" यह प्रतीति अज्ञान का आश्रय अद्वितीय चैतन्य को मानने पर अहंकार आदि से उपहित जीव भी हो सकता है, अतः, उस अनुभव का विरोध नहीं है। यदि जीव को अज्ञान का आश्रय माना जाय तो अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। अज्ञान पूर्व से सिद्ध है, अतः, बाद में सिद्ध अज्ञान का कार्य अहङ्कार या अहङ्कार विशिष्ट चिदात्मा अज्ञानका आश्रय नही हो सकता है। जो जिसका कार्य होता है, वह अपने कारण का आश्रय नहीं होसकता है। जीव अज्ञान का कार्य है, अतः, अज्ञान का आश्रय नही हो सकता है। जीव और ईश्वर के विभाग के सत्त्व का प्रयोजक अज्ञान है, इसलिए अज्ञान प्रयोज्य जीव उसके बाद का है और उसका कार्य है। इसलिए जीव और उससे विभक्त ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नही होता है। जीव और ब्रह्म अनादि होने पर भी जीव और ब्रह्म का विभाग अज्ञान का कार्य है।

जो ज्ञात नहीं होता है, उस रूप में वह ईश्वर है और जो नहीं जानता है उस रूप से वह जीव है।

अज्ञान अनादि होने के कारण इस तरह ब्रह्म के साथ विषयतया और जीव के साथ आश्रयतया अज्ञान का सम्बन्ध भी अनादि है। अज्ञान अनेक प्रकार का है। अविद्या से भिन्न कोई दूसरी माया नहीं है। अज्ञान ही स्व ईश्वर और जीव का उपाधि रूप या अवच्छेदक रूप है। अविद्या का विषय हो होने से ईश्वर स्वरूप का अवच्छेदक है और आश्रय रूप से जीव प्रा वरूप का अवच्छेदक है। जैसे लोक में तुला अविद्या मूलक रजत के मो ज्ञान ातिभासिक ज्ञान में अविद्या की विषयीभूत शक्ति रजत को उत्पन्न करने में वह र्थ नहीं होती है, वैसे ही चेतन ईश्वर भी मूल अज्ञान के विषय रूपसे जगत् के सम्पादे उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे अज्ञान जिसका आश्रयण स्थित अ है. वह जीव शुक्ति स्थल में रजत की उत्पत्ति करता है, वैसे ही जीव ही विषय देश अविद्या की सहायता से जगत् की कल्पना करता है। इस मत में जीव कारिका में प्रकार के हैं और अविद्या भी अनेक प्रकार की है, उस अविद्या का कार्य

अनेक तरह के प्रपञ्च है। इन सभी का अधिष्ठान ईश है, अत एव, वह संसार का कारण है। इस मत में किसी किसीने पारमार्थिक और प्रातिभासिक दोही सत्तायें मानी है, तुला अविधा की आवश्यकता नहीं है। सभी जीव प्रपञ्च के कल्पक हैं, इसलिये जीव-भेद से प्रपञ्च भिन्न है, फलतः, इस सिद्धान्त में दृष्टि-सृष्टि-वाद फलित होता है, इस पक्ष में एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति की आशंका नहीं है, कारण, जीव-भेद से जिसको ज्ञान होगा उसी जीव के लिए अज्ञान एवं तत्कार्य का नाश होगा। इस पक्ष में प्रधान युक्ति "ब्रह्म नहीं है, आदि अज्ञानमूलक ज्ञान जीवाश्रित है, इसलिए, उसके कारण अज्ञान का आश्रय भी जीवको माना जाता है, ब्रह्म को नहीं। यदि ईश्वर को अज्ञान का आश्रय स्वीकार करेंगे तो भ्रान्त होने के कारण वह भी जीव हो जायगा। जीव में "अहमज्ञः" मैं अज्ञानी हूँ इस प्रतीतिका बाध भी होने लगेगा। भामती में इस मतकी पुष्टि दो स्थानों पर उपलब्ध है-"तदधीनत्वादर्थवत्" (ब्र०सू० १-४-३) इस सूत्र में अविद्या निमित्त और विषयरूप से ईश्वर का आश्रयण करती है, अतः ईश्वराश्रित अज्ञान कहा जाता है, ईश्वर आज्ञान का आधार नहीं है, कारण, ज्ञान रूपमें ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है "तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया चेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते न त्वाधारतया, विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेः[1]" इसी तरह "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" (ब्र० सू० १ ४-२२) इस सूत्र की भामती में अविद्या का सम्बन्ध यद्यपि विद्यास्वभाव ब्रह्म में साक्षात् नहीं है फिर भी तत्प्रतिबिम्बकल्प जीव के द्वारा ब्रह्म में कहा जाता है। ("अविद्योपधानं यद्यपि विद्यास्वभावे परमात्मनि न साक्षादस्ति तथापि तत्प्रतिबिम्बकल्पजीवद्वारेण परस्मिन्नुच्यते"[2])

---

१ भा०, पृ० ३७८

२ ०,भा पृ० ४२१

दृष्टिसृष्टिवाद :—अज्ञान को जीवाश्रित मानने पर जो सृष्टि होती है उसको दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं। जीव ही जगत् का कर्त्ता है। दर्शन के अनुसार जो सद्यः सृष्टि है वह दृष्टिसृष्टि है। जैसे स्वप्न में जिस समय हाथी घोड़ा को देखा जाता है, उसी समय वहां वह उत्पन्न हो जाता हैं। इससे पूर्व वहां हाथी घोड़ा नहीं रहता है, एवं स्वप्न के वाद में भी वहां स्वप्न दृष्ट कोई भी पदार्थ नहीं रहता है। स्वाप्निक दर्शन के अनुसार ही वहां उन वस्तुओं की सृष्टि हो जाती हैं। जैसे न्याय-सिद्धान्त में दो घटो में रहनेवाला द्वित्व जब देखा जाता है, उसी समय देखनेवाले की अपेक्षाबुद्धि से वहां द्वित्व उत्पन्न हो जाता है और अपेक्षाबुद्धि के नाश के साथ ही वह नष्ट भी हो जाता है। वहां पर उससे पूर्व एक घट की स्थिति काल में या घटान्तर की बहुकाल तक स्थिति रहने पर भी द्वित्व नहीं रहता है। वैसे ही जीवश्रित अज्ञान से निर्मित प्रातिभासिक रजत देखने वाले को जबतक दिखाई देता है-उसी समय तक उसकी उत्पत्ति होती है न तो उसके पहले या उसके वाद वह रहता है, प्रपञ्च पदार्थों की भी यही स्थिति है। व्यावहारिक वस्तु ज्ञात हो या अज्ञात हो कार्य करने में समर्थ रहती है। जैसे अग्नि ज्ञात हो या अज्ञात हो वह जला ही देती है। प्रातिभासिक वस्तु कभी भी अज्ञात दशा में कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं रहती है। कारण, अज्ञात वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता है। अतः वह कार्य करने में समर्थ कैसे हो सकती है ? ज्ञानकाल में ही वस्तु का अस्तित्व होना दृष्टि-सृष्टि का मूल है।

दृष्ट या अदृष्ट सभी पदार्थ अपने कारण की सामग्री से उत्पन्न होते हैं ात्र दृष्टिकाल में ही उत्पन्न नहीं, होते हैं, भले ही उसका दर्शन कभी हो। स तरह के सिद्धान्त को सृष्टिदृष्टिवाद कहा जाता है।

अवच्छेदवाद भामतीकार केद्वारा सर्वथा अंगीकृत है, प्रतिबिम्बवाद का न कर अवच्छेदवाद का अनेक सूत्रों में समर्थन किया है। भामती के प्रति- भाष्य में रूप रहित पदार्थ का रूप रहित अन्तःकरण रूप उपाधि में भव नहीं है। कारण, रूपवान् द्रव्य अत्यन्त स्वच्छ होने से रूपवान् दूसरे ा भिन्न रूप से ज्ञात रहने पर भी प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है, चिदा-

त्मा रूप रहित है ज्ञान स्वरूप है। अतः, इसका प्रतिबिम्ब संभव ही नहीं है। "शब्द गन्ध एवं रस आदि की प्रतिबिम्बता संभव ही कैसे हो सकती है ?[1]

अन्यत्र भी इस पक्ष का समर्थन उपलब्ध होता है। भामतीकारने कहा है कि अविद्यारूपी उपाधि में कल्पित अवच्छेद जीव ईश्वर के प्रतिबिम्ब के सदृश है। इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बकल्प इस कथन से स्पष्ट अभिहित किया है कि अविद्या का कार्य जो अन्तः करण है, उस अन्तः करण रूप उपाधि से परिच्छिन्न जीव है। इसी तरह जहां भी प्रतिबिम्ब कहने की आवश्यकता हुई है वहां कल्प घटित ही प्रयोग मिलता है। यदि प्रतिबिम्बवाद अभिमत होता तो निश्चित ही प्रतिबिम्बशब्द का प्रयोग उपलब्ध होता, अतः यह सुस्पष्ट है कि बिम्बप्रतिबिम्बवाद अभिमत नहीं है।[2]

अवच्छेदरूप जीव की सिद्धि भामती के अन्य उदाहरण से भी सुव्यक्त है—जैसे घटाकाश परम आकाश से भिन्न नहीं है. उसी तरह अनादि अनिर्वचनीय अविद्या रूप उपाधि से कल्पित जीव भी परमात्मा से भिन्न नहीं है।[3] इस सन्दर्भ में घटरूप उपाधि से अवच्छिन्न आकाश को उदाहरण-रूप में प्रदर्शन कर अविद्या रूप उपाधि से अवच्छिन्न है—यह कथन सुस्पष्ट हो जाता है। इसी तरह अन्य अनेक स्थानों में भी इसका समर्थन उपलब्ध होता है।

१—"रूपवद्धि द्रव्यम् अतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात्। चिदात्मा तु अरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति। यथाहुः—शब्दगन्धरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता"।

(भा० पृ० ७-८)

२—"अविद्योपधानकल्पितावच्छेदो जीवः परमात्मप्रतिबिम्बकल्पः"

(भा० २-२-

३—"यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः, अथ चान्य इव प्र… मनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचनः, तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमन… चनीयाविद्योपधानकल्पितो जीवः न वस्तुतः परमात्मनो भिद्यते"

(भा० ३-

मूलाविद्या और संस्कार रूप अपर अविद्या का आश्रय जीव है इसका समर्थन अनेक स्थलों मे भामती से होता है –अन्तः करण रूप उपाधि से अवच्छिन्न प्रत्यागात्मा चेतन कर्त्ता, भोक्ता कार्य कारणरूप अविद्याद्वय का आधार है। अहंकारास्पद संसारी सभी अनर्थों का भाजन जीवात्मा ही परस्पर अध्यास का उपादान है और उसका उपादान अध्यास है। बीज और अंकुर के समान अनादि होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है। अर्थात् पहले बीज या अंकुर इसमें बीज हो तव अंकुर और अंकुर हो तो फूल और फूल होने के वाद बीज हो, अतः, एक दूसरे में आश्रित है, किन्तु अनादि होने के कारण–यह दोष वहाँ नहीं होता है, वैसे ही यहाँ भी यह दोष नहीं है [1]।

आगे भी भामती में अविद्या ब्रह्म की आश्रिता नहीं है किन्तु जीव की आश्रिता है, वह अनिर्वचनीय है, इसीलिए, ब्रह्म नित्य शुद्ध हो है [2]।

आचार्य मधुसूदन के द्वारा जीवाश्रय अज्ञान का समर्थन—

जीवाश्रित ही अविद्या है इस पक्षमें अविधा में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, या अविधावच्छिन्न चैतन्य जीव है या अविधा से कल्पित भेद है जिसमें वह चैतन्य जीव है। पूर्वोक्त इन तीनों पक्षों में अन्योन्याश्रय दोष है। यह विचारणीय है कि यह अन्योनयाश्रयदोष उत्पत्ति में, ज्ञान में या स्थिति में है? उत्पत्ति में–अर्थात् अज्ञान का आश्रय जीव है उस जीव की उत्पत्ति अज्ञान के अधीन है। अज्ञान निराश्रित तो रह ही नहीं सकता फिर अज्ञान से जीव उत्पन्न कैसे हुआ? कारण, जीव स्वरूप की उत्पत्ति अज्ञान के अधीन है और अज्ञान का आश्रय जीव है। किन्तु उत्पत्ति में यह दोष नहीं हो सकता है, कारण, जीव और अज्ञान ये दोनों ही अनादि है। ज्ञान में अन्योऽन्या-

---

१–"अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यागात्मा इदमनिदंरूपश्चेतनः कर्ता भोक्ता कार्यकारणाविद्याद्वयाधारः अहंकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंरम्भभाजनं जीवा-इतरेतराध्यासोपादानः तदुपादानश्चाध्यासः इति अनादित्वात् बीजाङ्कु-नेतरेतराश्रयत्वम् इति (भा० अ० भा०)

२–विद्या न ब्रह्माश्रया किं तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्, तेन नित्य- (भा० १·१·४) इसी तरह अन्य प्रसंग से भी इसका समर्थन उप-कारिका में होता है।

श्रय दोष दिया जाय तब भी सम्भव नहीं है, कारण, अज्ञान का भान यद्यपि चित् के द्वारा होता है, तथापि चित् का ज्ञान अज्ञान के अधीन नहीं है. कारण, चित् स्वयंप्रकाश है, उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। जीव का स्वरूप किसी भी पक्ष में अज्ञान रूप उपाधि के हटाने से चिद्रूप ही है। अर्थात् अज्ञान साक्षी रूप जीव से भासित होने पर भी चिद्रूप जीव अविद्या भान रूप जो साक्षी उससे जन्य जो विषयभान उसका विषय नहीं है, अतः, जीव अज्ञान से भासित नहीं है, इसलिए ज्ञान में परस्पर आश्रयत्व दोष नहीं है। तृतीय पक्ष भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यहां पर दो कल्प हो सकते हैं—परस्पर आश्रयाश्रयिभाव है ? या परस्पर सापेक्षस्थिति है ? अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा करके स्थित है ?—दोनों ही असंगत हैं। अविद्या को जीव की आश्रिता मानने पर भी जीव अज्ञान के आश्रित नहीं है, क्योंकि, अज्ञान निराश्रित नहीं रह सकता है फिर भी चित् स्वयं सिद्ध है अविद्याश्रित नहीं है। दूसरा कल्प भी ठीक नहीं है अविद्या की स्थिति चित् के अधीन होने पर भी चित् की स्थिति अज्ञान के अधीन नहीं है, क्योंकि, वह स्वयं सिद्ध है।

अब यह शंका हो सकती है कि जब दोनों परस्पर अधीन नहीं हैं तो स्वतन्त्र हैं। समानकालिक पदार्थों में भी अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव से अन्योऽन्याधीनत्व रहता है, जैसे घट और घटावच्छिन्न आकाश में या प्रमाण और प्रमेय में। घट और आकाश दोनों स्वतन्त्र हैं, किन्तु घटाकाश इस व्यवहार में आकाश का अवच्छेदक घट है, इसलिए अवच्छेदक घट की अपेक्षा है, अन्यथा शुद्धाकाश का घटाकाशादि से भेद सिद्ध नहीं होगा, घट रूप उपाधि के कारण एक आकाश होने पर भी भेद सिद्ध होता है। इसी तरह प्रमाण और प्रमेय में भी परस्पर अधीनता है—प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् इस व्युत्पत्ति से सि[illegible] प्रमाण पद प्रमेय की प्रमा का करण है। इसलिए प्रमेय प्रमाण के अधीन [illegible] किन्तु प्रमेय ही न हो तो प्रमाण किसका होगा ? यही कारण है कि सप्तम र[illegible] प्रमाण न होने के कारण उसकी सिद्धि नहीं है, यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमा[illegible] घट आदि प्रमेय ये दोनों स्वरूप से स्वतन्त्र हैं, फिर भी पूर्वोक्त प्रकार से [illegible] अधीन हैं। फलतः प्रमेय न होने पर प्रमाण कैसे होगा और प्रमा[illegible] प्रमा विषय प्रमेय है, अतः, प्रमाण नहीं होगा तो प्रमेय कैसे सिद्ध होगा [illegible]

रूपमें दोनों परस्पर अधीन है। इसी भाव की अभिव्यक्ति इस पद्य में है—

"स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम् ।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः ॥"

उत्पत्ति और ज्ञान में प्रतिबन्धक होने पर अन्योन्याश्रय दोष न होने से चैत्र और मैत्र में परस्पर आरोहणभाव भी संभव होगा? उत्पत्ति और ज्ञान में प्रतिबन्ध न होने पर भी परस्पर आश्रय और आश्रयी नहीं हो सकते हैं। चैत्र मैत्र में परस्पर आरोहण स्वीकार करने पर आश्रयाश्रयिभाव नहीं हटाया जा सकता है। जीव से कल्पित ईश्वर और ईश्वर से कल्पित जीव मानने पर अन्योऽन्याश्रय होगा, क्योंकि जीव से कल्पित ईश्वर सिद्ध हो तब ईश्वर से कल्पित जीव सिद्ध हो, इसी तरह एक दूसरे के आश्रित होने के कारण यहां यह दोष होगा, किन्तु शुद्ध चित् अज्ञान का आश्रय नहीं है, अतः, यह दोष ही नहीं है। जीवाश्रिता ही अविद्या है, अतः ईश्वर जीव की कल्पना करनेवाली जीवाश्रिता ही अविद्या है और सभी का अधिष्ठान ब्रह्म चेतन है। फलतः जीवाश्रित अविद्या मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं है।[1]

आभासवाद—वार्तिकार आचार्य सुरेश्वरने आभासवाद माना है।

अद्वैत मत में एक ही आत्मा सत्य है। इस आत्मा से अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है और न अन्तर्यामी न साक्षी, न जगत् का कारण ही है। बहिर्भूत कुछ अन्य पदार्थ रहता तब यह उसका अन्तर्यामी होता। साक्षी होने के लिए कोई साक्ष्य पदार्थ रहता तब यह साक्षी होता। जगत् होता तब उसका यह कारण होता। बाह्य साक्ष्य पदार्थ एवं जगत् ये दोनों ही उपाधि से कल्पित है। इसका उपाधि भूत अनादि अज्ञान है। उस उपाधि-[भू]त अज्ञान का सम्बन्ध होने से अविद्या-युक्त चित्त उस उपाधि में आभासित [हो]ता है। जैसे—जपापुष्प की लालिमा अति स्वच्छ स्फटिक में आभासित

१—वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितंवाविद्या निगद्यते ....
(भ्र)माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः ।
अद्वैतसिद्धिः पृ० ५८५

होती हैं वैसे ही पूर्वोक्त अविद्या में चित् आभासित होता है। उस अज्ञान रूप उपाधि में स्थित चित् उपाधि के अन्तर्गत होने से अन्तर्यामी होता है। अज्ञान रूप उपाधि दृश्य पदार्थ है, अतः, उसका साक्षी भी वह पूर्वोक्त चिदाभास होता है। उपाधि का जगत् के रूप में परिणाम होता है, अतः, उस अविद्या के परिणाम का यह कारण भी होता है। उपाधि से युक्त चिदात्मा यद्यपि वस्तुतः न तो अन्तर्यामी है, न साक्षी है और न जगत् का कारण ही है, तथापि वह अपने पूर्वोक्त चिदाभास के साथ भेदग्रह न होने से यह आत्मा अन्तर्यामी आदि चिदाभास शब्दों से अभिहित होता है। अर्थात् अज्ञानरूपी उपाधि से युक्त चिदात्मा का अज्ञानरूपी उपाधि में स्थित चिदाभास के साथ भेद ग्रहण नहीं होता है। इस भेद ग्रहण न होने का मूल कारण है, अज्ञान रूप उपाधि में स्थित चिदाभास का अज्ञान के साथ तादात्म्य। जैसे स्फटिक में स्थित जपा पुष्प की लालिमा स्फटिक के साथ तादात्म्यापन्न होने से स्फटिक से भिन्न रूप में गृहीत नहीं होती है, वैसे ही अविद्या रूप उपाधि में स्थित चिदाभास अज्ञान से तादात्म्यापन्न होने से अज्ञान से भिन्न रूप में गृहीत नहीं होता है। जैसे शुक्ति में रजत का अध्यास या भ्रम है, वैसे ही उपाधि भूत अविद्या या अज्ञान भी चिदात्मा में तादात्म्य रूप से अध्यस्त है। फलितार्थ यह होता है कि उपाधिभूत अविद्या या अज्ञान का चिदात्मा के साथ एवं चिदाभास के साथ तदात्म्य है, अत एव चिदात्मा का और चिदाभास का भेद ग्रहण नहीं हो पाता है। इस मत में यही कहा जायगा कि अन्तर्यामी आदि शब्दों का वाच्य अर्थ चिदाभास ही है चिदात्मा नहीं। अन्तर्यामी शब्द से और साक्षी शब्द से मात्र चिदाभास ही कहा जाता है। जगत् कारण जीव या ईश आदि शब्दों से अज्ञान रूप उपाधि से विशिष्ट चिदाभास कहा जाता है। इस पूर्वोक्त चिदाभास के साथ भेद ग्रहण न होने के कारण चिदात्मा भी अन्तर्यामी आदि शब्दों से कहा जाता है, ये उसके गौण अर्थ हैं वाच्य नहीं। इसी तरह अज्ञान का कार्य जो बुद्धि या महत्तत्त्व है, उस बुद्धि रूप उपाधि से युक्त पूर्वोक्त चिदात्मा बुद्धि से तादाम्यापन्न हो चिदाभास के साथ भेदग्रह न के कारण जीव, कर्ता, भोक्ता, प्रमाता शब्दों से कहा जाता है, किन्तु वह गौण अर्थ है, प्रधान नहीं, क्योंकि वह भेद ग्रहण न होने के कारण ही जीवादि शब्दों का उस अर्थ में व्यवहार होता है। उन जीवादि शब्दों

वाच्य अर्थ बुद्धिगत बुद्धि विशिष्ट चिदाभास ही है। बुद्धि अर्थात् अहंकार। इस पक्ष में चिदात्मा एक ही है, किन्तु अहंकार या बुद्धि अनेक है। अहंकार-स्थित चिदाभास भी अनेक हैं और चिदाभास से चिदात्मा का भेद ग्रहण न होने के कारण चिदात्मा भी अनेक प्रतीत होता है। इस मत में जीव चिदाभास स्वरूप है, लोकमें बिम्बभूत मुख आदि की अपेक्षा से दर्पण आदि में दृश्यमान प्रतिबिम्ब भूत मुखादिक बिम्ब के सदृश भिन्न ही है। वह मिथ्याभूत है, प्रतिभासिक सर्प के समान ही अनिर्वचनीय है। दर्पण आदि में ऐसी शक्ति है कि वह बिम्ब के समान अपने में प्रतिबिम्ब भी कल्पित करता है। इस मत का यही सारांश है।

विवरण सम्मत बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सारांश—यद्यपि पूर्व मत भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव रूप ही है। किन्तु प्रतिबिम्ब को मिथ्या स्वीकार करने से उसकी आभासवाद के नाम से प्रसिद्धि है।

इस मत में भी जीव प्रतिबिम्ब रूप ही है। किन्तु दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ के सन्निधान में धर्मीभूत मुखादि बिम्ब ही भिन्न रूप, दर्पण आदि के अन्तर्गत रूप, इन दो धर्मो से केवल अवभासित होता है। वस्तुतः वह अन्य नहीं है न दर्पणगत ही है। फलितार्थ यह होता है कि उसका बिम्ब से पृथक् अस्तित्व नहीं है और वह मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि बिम्ब रूप से वह सत्य है। यह कहा जा सकता है कि दर्पण की ही ऐसी शक्ति है कि वह सत्य बिम्ब में ही भेद कल्पन पूर्वक दर्पण के अन्तर्गतत्व की कल्पना करता है। जैसे व्यावहारिक सत्य शंख में पीलापन आदि। विवरणकारने अज्ञान से अनुपहित चैतन्य को शुद्ध माना है, ईश्वर बिम्ब रूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप है। अज्ञान से उपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर है (अनिर्वचनीय-व[illegible]या-विशिष्टं ब्रह्म इति) अन्तःकरण एवं उसके संस्कार इन दोनों में के स[illegible] एक से अवच्छिन्न जो अज्ञान उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। [illegible]स्थित काल में अज्ञान रूपी अन्तःकरण से अवच्छिन्न और प्रलय काल में विषय [illegible] संस्कार से अवच्छिन्न रहता है। अन्तःकरण और उसके संस्कारों कारिका[illegible]नेकता के कारण अनेक-उपाधि-भेद से एक अज्ञान का भी घटाकाश [illegible]ाश आदि की अनेकता के कारण अनेक आकाशके समान अनेकत्व एवं

उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप जीव की भी अनेकता सिद्ध होती है। इसी तरह से एक अविद्या के स्वीकार करने पर भी अनेक जीववाद समर्थित हो जाता है। इस पक्ष में बुद्धि रूप अन्तःकरण की अनेकता से उसके संस्कार में भेद होता है और संस्कार के भेद से उस संस्कार से अवच्छिन्न अज्ञान का भेद है एवं इस तरह अज्ञान के भेद से उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद है और इस रूप में जीव की अनेकता सिद्ध होती है।

संक्षेपशारीरककार के मत में जीव और ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्ब रूप हैं। अज्ञान रूप उपाधि से रहित बिम्ब चैतन्य शुद्ध है। अज्ञान अर्थात् समष्टिभूत अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। (ज्ञानेन समानाश्रय-विषयं भावरूपमज्ञानं सिद्धम्,) बुद्धि अर्थात व्यष्टि अज्ञान के कार्यभूत अनेक बुद्धिओं में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। बुद्धि के भेद से प्रतिबिम्वित चैतन्य का भेद होने से प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप जीवकी अनेकता सिद्ध होती हैं।

पंचपादिका और विवरण में लिखा है—"तत्त्वमसि" इस वाक्य से "नेदं रजतम्" इसी वाक्य के समान बाध होता है। तत्त्वमसि (वह तुम ही हो) यह वाक्य तुम पदार्थ के बाध का हेतु है, क्योंकि संसारी के बाध के बिना मोक्ष उपपन्न नहीं हो सकता है। विवरणकारने इस दृष्टि से इस दृष्टान्त का खण्डन किया है, यह पूर्वोक्त वाक्य "सोऽयं देवदत्तः" (वह यही देवदत्त है) इस वाक्य के द्वारा जैसे तादात्म्य अर्थात् दोनों में एकता का प्रत्यभिज्ञान होता है, उसी तरह इस वाक्य से भी ब्रह्म और जीव में ऐक्य का बोध होता है, यह दूसरे अर्थ के बाध के लिए नहीं है। इसी प्रसंग में पंचपादिका में जीव और ब्रह्म का स्वरूप-निर्णय किया है। तत्त्वम् इस प्रयोग के द्वारा बिम्ब स्थानीय ब्रह्मरूप है और प्रतिबिम्बिस्थानीय जीव है। शास्त्रीय व्यवहार में भी प्रतिबिम्ब [illegible] पारमार्थिक की तरह बिम्ब की एकरूपता दिखाई गई है "उदय हो[illegible] एवं अस्त होते हुए तथा उपरक्त, जलस्थित, आकाश के मध्य में [illegible] सूर्य को कभी भी नहीं देखना चाहिए" इसके द्वारा वारिस्थ इस पद [illegible] ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब की एकरूपता बोधित होती है।

"नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्"

पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है कि जीव को अहंकार में स्थित प्रतिबिम्ब रूप माना गया है। ऐसी स्थिति में दर्पण अर्थात् ऐनक में स्थित मुखप्रतिबिम्ब के समान ही बिम्ब से प्रतिबिम्ब का भेद सिद्ध होगा। क्योंकि गर्दन के ऊपर रहने वाला मुख यह बिम्बरूप है और दर्पण में स्थित मुख प्रतिबिम्ब स्वरूप है, इन दोनों में परस्पर सम्मुख उपस्थित होने पर ही भेद व्यक्त होता है।

इस शंका के समाधान में विवरणकारने कहा है "मदीयमिदं मुखम्" यह मेरा मुख है इस एकता की प्रत्यभिज्ञा से पूर्वोक्त भेद प्रतीति का ही बाध होता है। यहां यह भी शंका हो सकती है कि पूर्वोक्त भेद-प्रतीति के आधार पर इस एकता की प्रतीति का भी बाध क्यों नहीं हो जाता है ? यहां दो कल्प उपस्थित होता है—क्या प्रतिबिम्ब मुख की छाप से युक्त एक मुहर है या दर्पण के अवयव ही बिम्ब के सम्मुख आ जाने पर प्रतिबिम्बरूप से परिणत हो जाते हैं अर्थात् यह प्रतिबिम्ब दर्पण के अवयवों का परिणाम है। प्रथम पक्ष में बिम्ब और प्रतिबिम्ब को समान आकार का होना चाहिये, किन्तु मुख और प्रतिबिम्ब में आकार में समानता नहीं है चिह्नित मुद्रा में समानता ही रहती है। बड़े दर्पण में आकार की समानता होने पर भी विना संयोग के ही प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है, छाप विना संयोग के नहीं हो सकता है। दूसरा कल्प भी ठीक नहीं है, कारण उस दर्पण के अवयवों के प्रतिबिम्ब का निमित्त कारण बिम्ब है, यह भी ठीक नहीं है, कारण, निमित्त कारण के न रहने पर भी कार्य की उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु यहां निमित्त कारण रूप बिम्ब के न रहने से प्रतिबिम्ब की उपलब्धि नहीं होती है। यदि यह कहा वह ... कि कमलविकास में सूर्य निमित्त कारण है, किन्तु सूर्य के न रहने पर के सम... रूप कार्य नहीं रहता है, अतः निमित्त कारण के रहने के काल तक स्थित ...र्य रहता है, ऐसा भी उदाहरण देखा जाता है। यहां दर्पण का विषय दो... यदि प्रतिबिम्ब होता तो बिम्ब को सम्मुख रख देने मात्र से चित्र कारिका... हो जाता, उसमें विकार की अपेक्षा नहीं रहती एवं दर्पण में समरूप

की उपलब्धि न होकर आँख नाक के समान ऊँचा नीचा होने से स्पर्श में विषमता की प्रतीति होती, किन्तु यहां स्पर्श में ऊँचा नीचा नहीं ज्ञात होता है। यदि कह कहा जाय कि दर्पण के अवयव के व्यवधान से विषमता का प्रत्यक्ष नहीं होता है और वही व्यवधान प्रत्यक्ष में भी बाधक होगा। ऐसी स्थिति में यह भी कहना पड़ेगा कि उसका आँख से प्रत्यक्ष भी नहीं होगा, अतः यह सिद्ध होता है कि वह परिणाम नहीं है अर्थात् बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं है। फलतः यह अनुमान होगा कि विवादग्रस्त दर्पण-बिम्ब से भिन्न दूसरे प्रतिबिम्ब व्यक्ति से रहित है, कारण, उसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, जैसे सींग की उत्पत्ति के कारण से रहित सींग रहित खरगोश का मस्तक। "विमत आदर्शो मुखव्यक्त्यन्तररहितः, तज्जन्मकारणशून्यत्वात्, यथा विषाणजन्मकारणशून्यं विषाणरहितं शशमस्तकम्" फलितार्थ यह यह हुआ कि बिम्ब के सन्निधान मात्र से यह प्रतिबिम्ब हो गया है, इसके लिए दर्पण द्रव्य को मुख के आकार में परिणत करने के लिए कारीगरों द्वारा छेदन आदि कारु-कर्म उसमें नहीं किया गया। अतः, दर्पण में दूसरी मुख व्यक्ति नहीं है। पूर्वोक्त कथन से वह बिम्ब से भिन्न वस्तु नहीं है, यह सिद्ध होने पर भी प्रतबिम्ब रूप ही है यह भी तो सिद्ध नहीं होता है ?

यहां यह शंका होती है कि शुक्ति में यह रजत है, चाकचिक्यवश यह प्रतीति होने पर भी, शुक्ति में अज्ञान से उत्पन्न रजत मिथ्या है, अनिर्वचनीय है, यह सिद्ध होता है, किन्तु; शुक्ति और रजत में एकत्व की सिद्धि नहीं होती है, वैसे ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब की मिथ्यात्व सिद्धि हो सकती है बिम्ब के साथ प्रतिबिम्ब की एकता सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि शुक्ति में रजत की प्रतीति के स्थल में प्रत्यभिज्ञा "ममेदं सुखम्" यह मेरा ही मुख है यह तो नहीं होती वरन् व्यवहारिक रजत के एक रूप की प्रतीति होने पर भी आगे यह रजत नहीं है, यह बाध ही होता है। यह भी कहना उचि[illegible] नहीं होगा, क्योंकि, मिथ्या रजत की प्रतीति स्थल में भी यह रजत मेरा [illegible] यह प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः प्रत्यभिज्ञा से किसी का एकत्व सिद्ध नहीं [illegible] सकता है। फलितार्थ यह हुआ कि यह मेरा मुख है इस प्रत्यभिज्ञा के [illegible] प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व का बाध या एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

यहां पर यह समाधान है कि शुक्ति में रजत की प्रतीति के स्थल में यह रजत नहीं है इस बाध के द्वारा शुक्ति में उत्पन्न रजत के स्वरूप का बाध हो जाता है, अगत्या. मिथ्या, अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है, जिसकी प्रातिभासिक सत्ता है। अब रजत का जो प्रथम ज्ञान हुआ था—यह रजत है, जब यही बाधित हो गया तब उसी के आधार पर स्थित यह रजत मेरा है, इसके मिथ्यात्व में तो सन्देह ही नहीं रह जाता है। स्वरूप का बाध हो जाने से यह रजत मेरा है यह कथन भी भ्रममूलक हुआ फिर एकत्व की चर्चा ही बहुत दूर छूट जाती है। इस प्रतिबिम्ब स्थल में यह मुख नहीं है "नेदं मुखम् इस तरह के बाध की उपलब्धि नहीं होती है, अतः, स्वरूप बाध की प्रतीति नहीं है। इस दर्पण के अन्दर मुख नहीं है "नात्र मुखम्" इस बाध के द्वारा दर्पणस्थमुख के स्वरूप का बाध नहीं होता है इस में मुख नहीं है, यह मेरा ही मुख है, इस प्रत्यभिज्ञा के उपजीव्य संबन्ध का बाध होता है. क्योंकि ग्रीवा में स्थित मुख से दर्पण में स्थित मुख भिन्न होता तो दर्पण में मुख नहीं है इस तरह संबन्ध का निषेध नहीं होता। यदि दर्पणस्थ मुख मिथ्या होता तो यह मुख नहीं है - इस स्वरूप का ही बोध होता। अतः, उस दृष्टान्त से प्रतिबिम्ब का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। फलितार्थ यह हुआ "नात्र मुखम्" इस संबन्ध मात्र के बाध से "मदीयमेव मुखम्" यह प्रत्यभिज्ञाभ्रम कैसे हो सकता है ?

अब यह शंका होती है कि प्रत्यभिज्ञा वहीं होती है, जहां पहले किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने से उसका संस्कार रहता है और संस्कार के साथ पुनः नेत्र का वस्तु के साथ सन्निकर्ष होता है, अर्थात् पूर्व अनुभव के संस्कार से सहित नेत्र का पदार्थ के साथ सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा का कारण है, प्रकृत में नेत्र से मुख के अवयवों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अर्थात् आँख का मुख के अवयवों के साथ सन्निकर्ष ही नहीं है, अतः, पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार से युक्त तो चक्षु नहीं फिर यह मुख मेरा है—यह प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा कैसे हुई ? यहां यह प्रश्न है सभी अवयवों का नेत्र से प्रत्यक्ष अपेक्षित है या कुछ अवयवों का ? यदि अवयवों का प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा के लिए अपेक्षित होगा तो घट, पैसा, वृक्ष सभी स्थलों में जो अवयव नेत्र के सम्मुख रहते है उन्हीं के साथ नेत्र का

सन्निकर्ष होता है जो अवयव आड़ में रहते हैं उनका या बाहरी अवयवों से आच्छन्न अंशो का नेत्र से सन्निकर्ष नहीं रहता है फिर भी घट का प्रत्यक्ष हुआ यह भान होता है और यह भान नहीं होता है कि घट के कतिपय अवयवों को देख रहा हूँ। अतः सभी अवयवों का प्रत्यक्ष अवयवी के प्रत्यक्ष के लिए या प्रत्यभिज्ञा के लिए कारण नहीं है, वरन्, कुछ अंशों का ही, जैसा द्वितीय पक्ष में कहा गया है। यहां भी सम्पूर्ण मुख के अवयवों का चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी नासिका आदि कतिपय मुख के अंगों का प्रत्यक्ष होता है। अतः, लोक में अवयवी प्रत्यक्ष के समान यहां भी मुख का चाक्षुष-प्रत्यक्ष उपपन्न होता है, अतः, प्रतिबिम्ब में प्रत्यभिज्ञा के बल से बिम्ब के साथ एकता की प्रतीति में कोई भी बाधा नहीं है।

यह प्रश्न हो सकता है कि दर्पण के हटा देने पर प्रतिबिम्ब भी नहीं रह जाता है, अतः, जैसे वहां यह रजत नहीं है, इससे स्वरूप का बाध होता है, वैसे ही यहां भी दर्पणस्थ मुखरूप प्रतिबिम्ब का बाध हो जाता है। किन्तु वस्तु न दिखाई देना उसका बाध नहीं है, अन्यथा, दर्पण भी नहीं दिखाई देता है, ऐसी स्थिति में दर्पण का भी बाध हो जायगा। वरन्, उसकी उपलब्धि के कारण को हटा देने के कारण वह नहीं दिखाई देता है। किन्तु, पुनः दर्पण के सम्मुख रख देने से वह दिखाई देता ही है। इस तरह का बाध मानने पर प्रतिबिम्ब ही नहीं संसार की किसी भी वस्तु के स्वरूप का बाध हो जायगा। प्रकृत में दर्पण के हटाने से दर्पण के स्वरूप का ही बाध मानना पड़ेगा।

यह जिज्ञास्य है कि "नात्र मुखम्" इससे स्वरूप का बाध न होने पर भी दूसरे बाधक की उपलब्धि होती है। जैसे—"तत्त्वमसि" यह वाक्य। इस वाक्य के द्वारा 'तत्" वह और "त्वम्" तुम का अभेद बोधन होता है। त्वं (तुम) पदार्थ ही पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब जीव उसका 'तत्" जो ब्रह्म पदार्थ है, उससे अभेद बोधन होता है। इस दर्शन में ब्रह्म भाव ही मोक्ष पदार्थ है। जब तक संसारी जीव जिसमें कर्तृत्व, प्रमातृत्व आदि रूप से ज्ञात हो रहा है उसका बाध नहीं होगा, तब तक शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म भाव की प्राप्ति संभव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि यह त्वं पदार्थ अर्थात् प्रतिबिम्ब

जीव का बाधक नहीं है। यह कहना भी संभव नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य आनन्द आदि स्वरूप है और जीव परिच्छिन्न प्रमातृत्व आदि स्वरूप है, अतः, विरुद्ध होने के कारण परस्पर अभेद संभव नहीं है। दूसरी आपत्ति यह भी है कि संसारी रूप का विनाश हुए विना मोक्ष भी तो संभव नहीं है, अतः, यह मानना ही होगा कि पूर्वोक्त वाक्य से जीव का बाध होता है, ऐसी स्थिति में एकत्व बोधन कैसे संभव है ? क्यों कि जब एक के स्वरूप का ही बाध हो गया, तब प्रतिबिम्ब को मिथ्या ही मानना पड़ेगा। स्थाणु रयं मनुष्यः यह स्थाणु नहीं मनुष्य है इस वाक्य के द्वारा स्थाणुत्व का बाध बोधन कर मनुष्य का बोध होता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक शब्दों का एक विभक्ति घटित प्रयोग रहने मात्र से ही तादात्म्य का बोध हो जाता है। जहां अभेद-बोधन संभव रहता है, वहीं अभेद बोध होता है। यहां तो स्थाणु ही हो सकता है या पुरुष। स्थाणु का अर्थ ठूँठा वृक्ष होता है। पूर्व में मनुष्य के अवयव हाथ पैर आदि को न देखने के कारण स्थाणु का ज्ञान हुआ था, किन्तु, सम्प्रति उन अवयवों के देखने के कारण स्थाणु का बाध हो जाता है और मनुष्य का बोध होता है, वैसे ही यहां भी प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव को सत्य माना जाय तो मुक्ति कभी भी संभव नहीं है अतः, जीव का बाध कर ब्रह्म का बोध इससे अभिप्रेत है। अर्थात् जिसे तू कर्ता भोक्ता आदि तुम (जीव) समझते हो वह तुम नहीं ब्रह्म है।

"तत्त्वमसि" यह वाक्य "सोऽयं देवदत्तः" यह वही देवदत्त है इसके समान ही तादात्म्य अर्थात् अभेद का बोधक है इससे किसी का बाध अभिहित नहीं होता है। यहां भी यही स्थिति है, किन्तु विरुद्धार्थक में अभेद-बोधन कैसे संभव है ? वह यही देवदत्त है इस प्रयोग में वह अर्थ परोक्ष, अन्य देशस्थ एवं वह अन्य कालिक है और यह समीपवर्ती प्रत्यक्ष-व्यक्ति का हाथ से निर्देश कर बता के सभा है। फलतः वह और यह सर्वथा विरुद्ध है, फिर भी अभेद बोधन होता स्थित ऐसे प्रयोगों में "जहदजहल्लक्षणा" के बल से ऐक्य बोधन होता है। यह विषय लक्षणा का अभिप्राय यह है कि दोनों में कुछ अंश का त्याग और कुछ अंश कारिक ग्रहण होता है, प्रकृत में परोक्ष और प्रत्यक्ष आदि भेदकों का परित्याग कर

दोनों में तादात्म्य बोधन होता है। "तत्त्वमसि" इस वाक्य में भी अल्पज्ञत्व, परिच्छिन्नत्व कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अंशों का त्वम् में और सर्वज्ञत्व अकर्तृत्व, अंशों का तत् में परित्याग कर सिर्फ चैतन्य के साथ अभेद बोध होता है, किसी अर्थ का बाध नहीं होता है। अन्यथा, प्रत्यभिज्ञा में सर्वथा बाध ही बोधित होने लगेगा। "स्थाणुरयं मनुष्यः" इस उदाहरण में बाध के विना सामाना धिकरण्य संभव ही नहीं है, अतः, बाध होता है। क्योंकि, दोनों ही-व्यावहारिक सत्ता के विषय हैं। "तत्त्वमसि" इस में कुछ अज्ञान या अविद्या के कल्पित और कुछ अंश शुद्ध है, अतः, कल्पित का त्याग कर शुद्ध चेतन्य जो दोनों स्थानों में समान है, उनका अभेद बोधन होता है। इस अंश में मात्र तर्क ही प्रमाण नहीं है शास्त्र भी प्रमाण है—शास्त्रीय व्यवहार भी प्रतिबिम्ब की सत्यताके साथ ही विम्ब के साथ एकरूपता का भी बोध कराता है। जल में स्थित सूर्य का दर्शन न करें। इसके द्वारा प्रतिबिम्ब की सत्यता सिद्ध होती है। अत एव आभासवादियों की तरह प्रतिबिम्ब सर्वथा प्रातिभासिक नहीं है। फलितार्थ यह है—गगन में स्थित सूर्य को जल में प्रतिबिम्ब कहने से दोनों में ऐक्य का अभिधान है।

आख्यातिवादियों का कथन है कि—प्रतिबिम्ब नाम की कोई वस्तु नहीं है। नयन की बाहर जाती हुइ निर्मल किरण दर्पण से टकराकर पुनः लौटकर बिम्ब को ही दर्पण के अन्तर्गत रूप के अविवेक से बिम्ब के आकार में ग्रहण करती है। अभिप्राय यह है कि बिम्ब स्थान में ही उसका ज्ञान होता है सिर्फ दर्पण का विवेक ग्रह न होने से दर्पणस्थ रूप से भ्रम होता है इस प्रसङ्ग में अनुभव का विरोध ही प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है। बिम्ब जिस ओर रहता है प्रतिबिम्ब को भी उसी ओर रहना चाहिये, क्योंकि, ग्रीवा में स्थित मुख का ही लौटी हुई नयन रश्मिओं के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। अनुभव यह है कि जिस ओर बिम्बरूप मुख रहता है उसके विपरीत मुख-प्रतिबिम्ब का बोध होता है, अतः, विम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्ब का अभाव नहीं है।

यह एक प्रश्न हो सकता है कि—संसार में मूर्त पदार्थ का सम्पूर्ण... एक समय में दो स्थानों में कभी भी नहीं देखा है फिर इस स्थान से परिच्छि...

अर्थात् कुछ स्थानों में रहने वाला एक स्वभाव वाले बिम्ब की भिन्न-भिन्न दो देशों में परमार्थिक सत्ता कैसे संभव है ? यहां यह सन्देह होता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद और भिन्न देश-स्थिति सिद्ध करनी है या कैसे उसका प्रतिभास अर्थात् बोध होता है ? एक और एकदेश में स्थित ही मुख का आत्मा में आश्रित अज्ञान की विक्षेप शक्ति के द्वारा अवभास होता है, अत एव, भिन्न देश में भिन्न रूप में अवभास पारमार्थिक नहीं है। औपाधिक भ्रम में उपाधिरूप अज्ञान ही आत्माश्रित अविद्या के परिणाम में कारण है, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब में एकत्व पारमार्थिक है, उसी की सिद्धि अपेक्षित है। अतः, फलितार्थ यह हुआ कि माया के द्वारा ही पूर्वोक्त विरोध की उपपत्ति होती है। यह शंका उपयुक्त नहीं है कि विरुद्ध कार्य के सम्पादन में माया समर्थ कैसे होती है ? क्योंकि असम्भावित कार्य ही तो माया से संभावित है। माया के लिए असम्भव है ही क्या ? अतएव अघटित घटना को संघटित करने में चतुर यही माया का स्वरूप किसी ने वर्णित किया है "अघटित-घटना-पटीयसी माया" पंचपादिका में माया का स्वरूप असंभव के अवभासन चतुर "असम्भावनीयावभास चतुरा हि सा" कहा है।

यह शंका हो सकती है कि विरुद्ध कार्य के संघटन की शक्ति माया में स्वीकार करने से मुक्त व्यक्तियों को भी यह बन्धन में ले आयेगी ? यह संभव नहीं है, क्योंकि, मुक्त होने पर अविद्या का नाश हो जाता है, अतः, अविद्या के कारण बन्धन सम्भव नहीं है, अविद्या के रहने पर तो किसी भी असंभावित कार्य की संभावना हो सकती है, जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरण के द्वारा जल का भ्रम।

यह विचारणीय है कि तत्त्वज्ञान सोपाधिक भ्रम का विरोधी नहीं होता है, तत्त्वज्ञान रहने पर भी सोपाधिक भ्रम रह सकता है, जैसे पित्त रोग के स[े] दूषित जिह्वा वाले व्यक्ति को मिसरी भी नीम जैसी कड़ुवी लगती है एवं [स्थित] रोग से पीड़ित व्यक्ति को संसार की सभी वस्तु का प्रत्यक्ष पीले ही रंग का विषय है, दोष से इन स्थलों में मिसरी के मिठापन में एवं किसी भी वस्तु के अप-कारिक में बाधा उत्पन्न नहीं होती है, इसी तरह मिसरी मिठी होती है, रूई सफेद

है इत्यादि ज्ञान भी उसका बाधक नहीं होता है। रोगरूप जो उपाधि है, उसके हटने से ही यह भ्रम निवृत्त होता है। अधिष्ठान के ज्ञान से इस ज्ञान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। निरुपाधिक ज्ञान ही अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान से विनष्ट हो जाता है। शुक्ति के यथार्थ ज्ञान से अर्थात् "यह शुक्ति है" एवं रस्सी के यथार्थ ज्ञान से शुक्ति में रजत ज्ञान एवं रस्सी में साप का ज्ञान निवृत्त हो जाता है, क्योंकि, अधिष्ठान ज्ञान होने पर ये दोनों नहीं रह सकते हैं। किन्तु यह तो निरुपाधिक भ्रम की स्थिति है। सोपाधिक भ्रम में तो उपाधि का हटना ही आवश्यक होता है। प्रकृत में भी सोपाधिक कर्तृत्वादि भ्रम की आत्मा के यथार्थ ज्ञान से निवृत्ति नहीं होगा बल्कि उसकी निवृत्ति के लिए उपाधि की निवृत्ति आवश्यक होगी, प्रकृत में अहंकार रूप उपाधि ही कारण है, अतः, इस उपाधि की निवृत्ति के होने से ही भ्रम की निवृत्ति हो सकती है। उपाधि की निवृत्ति कर्म के अधीन है, अतः, तत्त्व ज्ञान व्यर्थ ही है।

इसके सामाधान में यह कहा जाता है कि अहंकार अविद्या से जनित है, तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान एवं तज्जन्य कार्य सभी विनष्ट हो जाते हैं, तब अहंकार रूप उपाधि का भी तत्त्वज्ञान से नाश हो जाने से उपाधिवश स्थित कर्तृत्व आदि का भी तत्त्वज्ञान से ही नाश सिद्ध हो जाता है।

ऐसो स्थिति में यह शंका होतो है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता का ज्ञान होने पर ही एक की ही भिन्न देश में स्थिति को मिथ्या ज्ञान माना गया है, तब ब्रह्म और जीव की एकता का ज्ञान होने पर भी पूर्वोक्त मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, ब्रह्म बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप है उसका ऐक्यज्ञान ही तो इस मिथ्या प्रतीति का साधक है, तब इसकी निवृत्ति इसी के द्वारा कैसे हो सकती है ?

दूसरा सन्देह यह है कि—यदि जीव प्रतिबिम्ब रूप है तब प्रतिबिम्ब तो अज्ञ अर्थात् ज्ञान-शून्य होता है, ऐसी स्थिति में वह अपने को बिम्बस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न का ज्ञान कर ही नहीं सकता, तब तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति ही संभव नहीं है, फिर तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति की आशंका तो सर्वथा निरर्थक ही है। इस विषय में विवरण में एक अनुमान भी प्रदर्शन किया है—

जीव प्रतिबिम्ब है, तब वह बिम्ब की एकरूता को जानने में समर्थ नहीं हो सकता, है, कारण वह प्रतिबिम्ब है, आंख में स्थित देवदत्त के प्रतिबिम्ब की तरह। अर्थात् जैसे देवदत्त का प्रतिविम्ब ज्ञान शून्य है, वैसे ही यह प्रतिबिम्ब भी ज्ञान शून्य रहेगा[1]।

इस अनुमान के द्वारा प्रतिबिम्ब में ज्ञानाभाव की सिद्धि नहीं कर सकते है, क्योंकि, उक्त अनुमान में अचेतनत्व उपाधि है। अतः, उपाधि दोष होने से ही व्यभिचार ग्रह है, इसलिए अनुमान नहीं होगा। क्योंकि जहां साध्य रहता है, सर्वत्र ही अचेतनत्व है। अतः यह अचेतनत्व साध्य का व्यापक हुआ। यहां साधन अर्थात् हेतु प्रतिबिम्बत्व है। किन्तु जहां जहां प्रतिबिम्बत्व है, वहां सर्वत्र ही अचेतनत्व नहीं है, क्योंकि, बिम्बभूत चेतन आत्मा का जो प्रतिबिम्ब होगा वह भी चेतन ही होगा। अतः प्रतिबिम्ब होने से ज्ञान के अभाव का अनुमान नहीं हो सकता है। वरन्, अचेतन प्रतिबिम्ब से ही उस साध्य की सिद्धि हो सकती हैं। उपाधि का लक्षण है साध्य का व्यापक होते हुये जो साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है। जैसे "पर्वतो, धूमवान्, वह्नेः" इस अनुमान के द्वारा पर्वत को पक्ष कर वाह्नि को हेतु माना है और इस अनुमान से धूम साध्य है, किन्तु इस अनुमान में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है, यह आर्द्रेन्धनसंयोग वह्नि रूप हेतु का अव्यापक है, क्योंकि, वह्नि की स्थिति अयोगोलक (तप्त-लोह-पिण्ड) में भी है, वहां आर्द्रेन्धन-संयोग नहीं है, अतः, बह्नि रूप साधन का यह अव्यापक हुआ और साध्य धूम है, उसका व्यापक है, क्योंकि, जहां जहां धूम रहेगा वहां वहां आर्द्रेन्धन-संयोग नियमतः रहता ही है, अतः, इस अनुमान में आर्द्रेन्धन-संयोग रूप उपाधि हुई। अतः, यह अनुमान नहीं होता है। उपाधि परकीय-व्याप्ति-ज्ञान के प्रतिवन्धक रूप से व्यभिचार प्रदर्शन कर अनुमान का बाध करती है। उपाधि के लक्षण का शंका समाधान पूर्वक विश्लेषण अप्रासंगिक होने के कारण संक्षेप में ही निरूपण किया है।

[1] "जीवः प्रतिबिम्बश्चेत्, न बिम्बात्मतामवगन्तुमलम्, प्रतिबिम्बत्वात्, अक्षपात्रगतदेवदत्तप्रतिबिम्बवत्" वि०

पूर्वोक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध हो गया कि प्रतिविम्ब में ज्ञान का अभाव अचेतनत्व प्रयुक्त है, प्रतिविम्बत्व प्रयुक्त नहीं है। किन्तु, यहां यह सन्देह होता है कि जिस स्थल में ज्ञान नहीं है, वहां अचेतनत्व की सिद्धि हो तभी वह कथन समुचित होगा। प्रकृत में चार्वाक सिद्धान्त में शरीर को ही चेतन माना गया है। इस तरह मुख भी चेतन हुआ उसके प्रतिबिम्ब को भी चेतन अर्थात् ज्ञानयुक्त होना चाहिये। स्वच्छ प्रतिबिम्ब का भी अपनी उपाधि के दोष से अन्यथा स्वरूप की प्राप्ति देखी गई है। अतः, विम्ब के चेतन होने पर भी प्रतिबिम्ब के हेतु भूत दर्पण आदि की जड़ता से मलिनता के समान युक्त हो जाने के कारण विम्ब की एकरूपता को नहीं जाना पाता है। अर्थात् दर्पण की जडता बिम्ब के चैतन्य की प्रतिवन्धक हो जाती है. जैसे उपाधिभूत दर्पण की मलिनता से उसकी स्वच्छता प्रतिबद्ध हो जाती है। फलितार्थ यह हुआ कि पूर्वोक्त कारण से प्रतिबिम्ब में ज्ञान नहीं होता है। अनुभव भी इसमें साक्षी है, प्रतिविम्ब को चेतन मानने पर बिम्ब के बिना भी प्रतिबिम्ब में चेष्टा की प्रतीति होने लगेगी। अत एव, देवदत्त आदि का प्रतिबिम्ब अचेतन है। अनुभव तो यह कहता है प्रतिबिम्ब की चेष्टा बिम्ब के ही अधीन है। यह सन्देह हो सकता है कि चेतन का भी अनेक व्यापार या चेष्टा अन्य के अधीन देखी गई है, इस कारण से प्रतिबिम्ब को अचेतन मानना तो उपयुक्त नहीं है। चेतन की नियमतः दूसरे के अधीन ही चेष्टा नहीं रहेगी, कदाचित् उसकी अपनी भी चेष्टा रहेगी। किन्तु लौकिक प्रतिबिम्ब में इसके विपरीत ही स्थिति है, उसकी चेष्टा बिम्बभूत मुख एवं देवदत्त के ही अधीन है।

अब यह शंका होती है कि जैसे उपाधिगत जडता से देवदत्त के चैतन्य का प्रतिबन्ध हो जाता है वैसे बिम्बभूत ब्रह्म के चेतन्य का अहंकार स्वरूप उपाधि की जड़ता से प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता है ? ऐसी स्थिति में जीव को ऐक्य ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष सभी को हो रहा है, अतः, वह अन्तःकरण की जड़ता से जड़ नहीं होता है। जीव कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि युक्त अपना रूप मानता है, बिम्बरूप ब्रह्म के साथ एकरूपता नहीं स्वीकार करता है, अतः, उसका यह रूप मिथ्यात्वप्रयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं।

यह विचारणीय है कि ब्रह्म अपने प्रतिबिम्बरूप जीव के साथ अपना तादात्म्य अर्थात् ऐक्यभाव जानता है कि नहीं ? यदि नहीं जानता है सिर्फ प्रतिबिम्ब जीव ही इस तादात्म्य को जानता है तो ब्रह्म को जो सर्वज्ञ माना जाता है वह उसमें नहीं रहेगा, क्योंकि, इस प्रतिबिम्ब के साथ एकता ज्ञान उसको नहीं होता। यदि उसको प्रतिबिम्बरूप जीव के साथ जो बिम्बरूप ब्रह्म की एकता है उसको वह जानता है तो जीव के भ्रम को भी अपना समझने कारण ब्रह्म यथार्थ ज्ञाता नहीं रहेगा।

उपर्युक्त दोष समीचीन नहीं है, क्योंकि, देवदत्त आदि अपने को आँख में प्रतिम्बित देखकर छोटा देखते हुये भी दुःखी नहीं होता है। कारण, वह वास्तविक स्थिति को समझता है। इसी तरह ब्रह्म भी अपने प्रतिबिम्बभूत जीव में संसार को देखते हुये भी शोक नहीं करता है, क्योंकि, उसको यथार्थज्ञान है। तत्त्वज्ञान होने पर मलिनत्व श्यामत्व दर्पण का ही है, बिम्ब या प्रतिबिम्ब का नहीं है, वैसे ही दोनों में चैतन्यरूपेण एकत्व सिद्ध होनेपर अतिरिक्त सभी अज्ञान का ही कार्य होने से ज्ञान के द्वारा नाश हो जाता है।

अब यह प्रश्न होता हैं कि नीरूप निरवयव अमूर्त ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कैसे संभव है ? प्रतिबिम्ब तो सदा मूर्त सावयव सरूप पदार्थ का ही होता है। अविद्या या माया की विचित्रता से संसार में कुछ भी असंभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि जपापुष्प के समीप में स्थित स्फटिक में केवल लालिमा का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उस प्रतिबिम्ब में दर्पण में मुख के समान जपाकुसुम का प्रतिबिम्ब नहीं होता है। लालिमा न किसी रूप से युक्त है और न वह सावयव ही है। इसी प्रकार शब्द की प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है। इन दोनों को दर्पण में उपलब्ध मुख के प्रतिबिम्ब से बिलक्षण वह[illegible] में निरूपण नहीं किया जा सकता है। अन्य संबन्ध में अन्यत्र उपलब्धि के स[illegible] प्रतिबिम्ब दोनों स्थानों में ही समान है। इसी तरह नीरूपर निखयव ब्रह्म [illegible]स्थत[illegible]ा प्रतिबिम्ब होने में क्या आपत्ति है। यह शंका हो सकती है कि इन्द्रिय से विषय[illegible]ा ज्ञान होता है, उसीका प्रतिबिम्ब होता है। शब्द एवं लालिमा दोनों कारिक[illegible] कान और आंख से क्रमशः ज्ञान होता है। आत्मा का किसी भी

बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है, अतः, उन दोनों का प्रतिबिम्ब होने पर भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। यह भी शंका समुचित नहीं है, क्योंकि, आकाश किसी भी इन्द्रिय से ज्ञात नहीं है, फिर भी उसका प्रतिबिम्ब जल में होता है। आकाश का प्रत्यक्ष साक्षी के द्वारा होता है, किसी इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है। आकाश का प्रत्यक्ष, घट आदि के प्रत्यक्ष के सदृश प्रमाता से नहीं होता है, कारण, आकाश में रूप आदि न होने के कारण किसी भी इन्द्रिय का संचार वहां संभव नहीं है। अनुमान आदि से भी उसका ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि, उसमें व्याप्ति आदि ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। अतः, किसी भी प्रमाण का संचरण न होने से अन्तःकरण की आकाश के आकार की वृत्ति नहीं होती है। प्रमाण से जन्य मानसिक वृत्ति में मन का परिणाम होता है, इसी लिए शुक्ति में रजत का आभास होने पर भी व्यावहारिक मन का परिणाम नहीं है, किन्तु, वह रजत के आकार की मनोवृत्ति अविद्या से कल्पित के सदृश साक्षी से भासित ही वह रजत है। फलितार्थ यह हुआ कि आकाश का प्रत्यक्ष साक्षी के द्वारा ही होता है। अतः, इन्द्रिय से अग्राह्य आकाश के सदृश ही ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब संभव है। इन्द्रिय ग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब होता है ऐसा नियम नहीं रहा। यह विचारणीय होता है कि जल में आकाश का प्रतिबिम्ब है या जल रूप उपाधि से अवच्छिन्न आकाश की उपलब्धि होती है? घुटने भर जल में ही गम्भीर दूर एवं विशाल आकाश की प्रतीति होती है। जलावच्छिन्न आकाश मानने पर गाम्भीर्य की प्रतीति नहीं होगी। इस तरह आकाश का प्रतिबिम्ब उपलब्ध होने पर भी आकाश के प्रतिबिम्ब की उपलब्धि का साधन तो चक्षु को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि, अन्धे को आकाश के प्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होती है। अतः, बिम्बरूप आकाश का साधन भी उसी चक्षुरूप इन्द्रिय को ही मानना पड़ेगा, क्योंकि, बिम्ब और प्रतिबिम्ब समान सामग्री से ही वेद्य माना जाता है। फलितार्थ यह हुआ कि आकाश चक्षुरूप इन्द्रिय से ही ग्राह्य हुआ साक्षी वेद्य जो आकाश को सिद्ध किया था, वह नहीं हो सकता है, अतः, पूर्व नियमानुसार इन्द्रिय ग्राह्य

जो पदार्थ है, उसीका बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है, इस नियम का व्यभिचार न होने से अतीन्द्रिय ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता यह शंका पुनः बनी रहती है। रूपवान् पदार्थ का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, अतः, नीरूप आकाश का चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। यहप्रश्न पूर्ववत् स्थिर है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बरूप आकाश के ज्ञान के लिए चक्षु की आवश्यकता क्यों होती है? क्योंकि अन्धे को तो इसका ज्ञान नहीं होता है, चक्षु की अपेक्षा न होने से उसको भी आकाशरूप बिम्ब और उसके प्रतिबिम्ब का ज्ञान होने लगेगा।

इसके समाधान में आचार्यो ने कहा है कि आकाश प्रदेश में पृथिवी आदि जो चक्षु से ग्राह्य है, उनका अभाव है उन्हीं, के अभाव के ग्रहण के लिए चक्षु की आवश्यता है। यह आशय है कि जो वस्तु जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसका अभाव एवं तद्गत जाति का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है। पृथिवी का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय से होता है, अतः, उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत होगा, इसी लिए उसके अभाव का ग्रहण करने के लिए इस इन्द्रिय की आवश्यकता होती है। पृथिवी आदि का अभाव-ग्रहणपूर्वक ही आकाश का ग्रहण होता है। अनुभव से भी इसी अर्थ की प्रतीति होती है। समनियत होने के कारण ही बौद्धों ने आकाश को अतिरिक्त पदार्थ नहीं स्वीकार किया है। फलितार्थ यह हुआ कि आकाश प्रदेश में स्थित पृथिवी आदि का अभाव ही नयन इन्द्रिय से गृहीत होता है, उस अभाव का अधिकरण नीरूप आकाश का ग्रहण नयन इन्द्रिय से नहीं होता है, अतः, अकाश का साक्षी के द्वारा ग्रहण होना आवश्यक है। प्रतिबिम्बभूत आकाश के ग्रहण के समय भी यही स्थिति है। प्रतिबिम्ब का उपाधिभूत जल है, अतः, उस अधिष्ठानरूप जल का ग्रहण करने के लिए चक्षु की आवश्यकता होती है। जैसे मात्र रस्सी ही सर्प का अधिष्ठान नहीं है, किन्तु, अन्धकार से आवृत रस्सी ही सर्प का अधिष्ठान है, वैसे ही नीलरूप का जो आकाश में ज्ञान होता है, उसरूप का आश्रय मात्र आकाश नहीं वल्कि आलोकयुक्त आकाश अधिष्ठान है, अतः, अधिष्ठान के अन्तर्गत जो आलोक है उसके एवं अरोपित नीलरूप के ज्ञान

के लिए चक्षु की आवश्यकता है। अतः, रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है यह नियम सार्वत्रिक नहीं है।

यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त कथन से इन्द्रिय से अग्राह्यका भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभावहोता है यह स्वीकार करनेपर भी अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है इसमें क्या प्रमाण है?

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ["वृ०२-५-१] रूपं शब्द का अर्थ है अन्तःकरण। रूप्यतेऽनेन जिससे अहं (मैं) यह व्यवहार हो, आत्मा का अन्तःकरण से मैं यह व्यवहार उत्पन्न होता है। प्रतिरुप शब्द प्रतिबिम्व अर्थ को कहने वाला है, आत्मा प्रत्येक अन्तःकरण में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट होता है। "प्रतिबिम्व" का अर्थ व्यवहार विशेष होता है। इस आत्मा का अपना मन (अन्तःकरण) में प्रतिबिम्ब मैं (अहम्) इस व्यवहार के लिए होता है। इसी तरह अन्य श्रुतियाँ भी प्रमाण है—

एक ही प्राणियों में स्थित आत्मा प्रति प्राणी में व्यवस्थित है। एक और अनेक रूप में चन्द्र और जल प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान उपलब्ध होता है।

"आभास एव च" [ब्र० सू० २/३/५०] यह ब्रह्म सूत्र भी प्रमाण है। यह जीव परमात्मा का जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के सदृश प्रतिबिम्ब है, न तो साक्षात् परमात्मा है और न कोई भिन्न वस्तु ही है।

"अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र० सू० ३।२।१८)

आत्मा की एकता के कारण ही जीव की सूर्य के समान उपमा दी जाती है। जैसे एकही सूर्य भिन्न जल पात्रों में भिन्न के सदृश अनुभूत होता है, वैसे ही एक भी; अन्तः करण रूपी उपाधि के भेद से भिन्न रूप में प्रतीत होता है।

यह विचारणीय है कि जैसे सर्वगत गगन का अर्थात् व्यापक आकाश का जहां घट अवच्छेदक होता है, वहां घटाकाश यह व्यवहार होता है, वैसे ही सर्वगत व्यापक ब्रह्म के भी अन्तः करण आदि उपाधि से अवच्छिन्न होने पर अर्थात् उस ब्रह्म का जहां अन्तः करण अवच्छेदक होगा वहां जीव का

व्यवहार उपपन्न हो ही सकता है तब इस बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मानने की क्या आवश्यकता है ? इस तरह मानने पर संसार के अन्तवर्ती ब्रह्म की कोई न कोई उपाधि अवच्छेदक हो ही जायेगी अर्थात् सामान्य या विशेष रूप से अर्थात् अनुवृत्त एवं व्यावृत्त रूप से निश्चित भूत एवं इन्द्रियाँ आदि किसी न किसी उपाधियों से अवच्छिन्न होने के कारण सब जीव ही रहेगा, क्योंकि, किसी न किसी उपाधि से ब्रह्म सर्वात्मना अवच्छिन्न रहेगा ही अब ब्रह्म की स्थिति इस ब्रह्माण्ड में संभव नहीं है, क्योंकि, सर्वत्र जीव ही रहेगा, अतः ब्रह्म अब निरवच्छिन्न अण्ड से बहिर्भूत ही रह सकेगा। इस प्रकार ब्रह्म सर्वगत और सबका नियन्ता है यह रूप समाप्त हो जायगा। सर्वगतत्व एवं सर्व-नियन्तृत्व की अनुपपत्ति होने से अण्ड के अन्दर भी उसका अवस्थान माना जायगा। ऐसी स्थिति में दो वृत्तियाँ माननी पड़ेगी एक अवच्छिन्न जीव की और दूसरी ब्रह्म की। अभिप्राय यह है कि घट से अवच्छिन्न आकाश-स्थल में महाकाश नहीं माना जाता है। यदि कहा जाय कि सर्वगतत्व सर्वनियन्तृत्व आदि की अनुपपत्ति होने से अवच्छिन्न प्रदेश में भी उसकी स्थिति मानी जाती है। सर्वगत ब्रह्म की उपाधि से अवच्छिन्न प्रदेश में पहले एक वृत्ति मानी जाती है अर्थात् एक जीव की वृत्ति है। इसके बाद अवच्छिन्न प्रदेश में नियन्तृत्व आदि की सिद्धि होने के लिए अवच्छिन्न ब्रह्म की दूसरी वृत्ति स्वीकार की जायगी, इस तरह पूर्वोक्त दोष की संभावना नहीं है। यह कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है, अतः द्विगुणित वृत्ति संभव नहीं है। आपने घटाकाश का ही दृष्टान्त प्रदर्शन किया है, किन्तु आकाश की अवच्छिन्न प्रदेश में वृत्ति स्वीकृत नहीं की जाती है, अतः, दृष्टान्त में विषमता है।

यदि यह कहा जाय कि आकाश की तरह ही अनवच्छिन्न की अवच्छिन्न प्रदेश में वृत्ति स्वीकार नहीं की जाती है। अतः, सर्वगतत्व की अनुपपत्ति नहीं व[illegible] हो सकती है, क्योंकि, चित् स्वरूप से सर्वत्र वर्त्तमान ही है, भले वाह्यस्थित के स[illegible]ह्म की अपेक्षा से वहां नहीं है, अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनों का अनुगत रूप [illegible]स्थर[illegible] चित् उसी रूप से सर्वगतत्व और सर्वनियन्तृत्व उपपन्न हो जायेगा। यह विषय[illegible] उपयुक्त नहीं है; क्योंकि, जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय के साथ ब्रह्म से कारि[illegible]व का नियन्तृत्व रूप सुना जाता है, जैसे—जो जीव को, अन्दर प्रविष्ट होकर

नियमन करता है, (यः आत्मानमन्तरो यमयति) इसी तरह "जो विज्ञान में स्थित होकर उसका नियमन करता है। (यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यादि) फलितार्थ यह हुआ कि जीव से भिन्न ब्रह्म की जीव के संनिधान में अवस्थान का श्रुति में निर्देश होने के कारण पूर्वोक्त दोष से अवच्छेदवाद समुचित नहीं है।

अब यह प्रश्न होता है कि प्रतिबिम्ब पक्ष में भी तो यह आपत्ति समान ही है, अतः आपको भी द्विगुणित वृत्ति माननी ही पड़ेगी। अतः, यह दोनों पक्ष में दोष होने के कारण समान समाधान स्वीकार किया जायेगा (यश्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः समः") इसलिये इस दोष से अवच्छेदवाद का खण्डन नहीं हो सकता है। यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि, प्रतिबिम्ब पक्ष में चैतन्य की द्विगुणित वृत्ति होने में किसी तरह का विरोध ही नहीं है, क्योंकि, जल में स्वाभाविक आकाश की सत्ता और प्रतिबिम्ब आकाश की भी सत्ता देखी जाती है, इसलिए एक ही स्थान में द्विगुणित वृत्ति की उपपत्ति हो सकती है अर्थात् जल के अन्दर पूर्वोक्त घुटने तक आकाश की और प्रतिबिम्ब महाकाश की एक ही साथ स्थिति देखी जाती है, अतः प्रतिबिम्ब पक्ष में ब्रह्म का नियन्तृत्व जीव में उपपन्न हो सकता है अवच्छेद पक्ष में नहीं।

अब यह प्रश्न होता है कि विवरण में अज्ञान को जीव की अवच्छेदक उपाधि कहा गया है। सम्प्रति अहंकार या अन्तःकरण को जीव की अवच्छेदक उपाधि कहा जा रहा है, अतः, पूर्वापर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन हो रहा है। चैतन्य की उपाधि के तारतम्य से व्यवहार में तारतम्य सिद्ध होता है—

सुषुप्ति की अवस्था में निर्विकल्पक चैतन्य मात्र एकरस अविद्या के सम्बन्ध से अस्पष्ट विकल्प व्यवहार का अवलम्बन होता है, इसके बाद स्वप्नावस्था में अविद्या के कार्यरूप अन्तःकरण रूप उपाधि के अवच्छेदक होने से वही अस्पष्ट स्थूल व्यवहार का अवलम्बन होता है। अनन्तर जाग्रत् अवस्था में अन्तःकरण से संयुक्त स्थूल शरीर की उपाधि रूप में होने से स्थूलतम व्यवहार होता है।

प्रतिबिम्बवाद का संक्षिप्त सारांश—

वाचस्पति मिश्र ने यद्यपि एक जीववाद को स्वीकृत किया है तथापि अवच्छेदवाद ही उनके मत में अंगीकृत है। आभासवाद को स्वीकार करने पर मोक्ष की प्राप्ति होने पर जीव का सर्वथा नाश हो जायगा। दूसरी बात यह है कि इस मत को स्वीकार करने पर जीव को सर्वथा आभास स्वीकार करने से प्रच्छन्न माध्यमिक मत का ही स्वीकरण होगा। यही कारण था कि वाचस्पति मिश्र ने आभासवाद न स्वीकार कर अवच्छेदकवाद की ओर आग्रह किया।

अन्य कारण यह भी था कि अविद्या से उपहित जीव स्वरूप परमात्मा ही है और वह प्रपञ्च के उपादान कारण के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रयत्न करता हुआ अपनी ही मुक्ति को वह देखता है किसी दूसरे की नहीं। इस सिद्धान्त का मूल घटाकाश पटाकाश आदि उपनिषद् वाक्य ही प्रयोजक हैं।

बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने प्रतिबिम्बवाद को ही अंगीकृत किया है। विवरण प्रस्थान में यह भी एकमत है। सर्वज्ञात्ममुनि ने प्रतिबिम्बवाद ही पर अधिक बल दिया है। प्राचीन गौड़पाद आदि विद्वानों ने कल्पनावाद को ही पूर्व में स्वीकार किया है। उसी कल्पनावाद में आगत दोषों की निवृत्ति करके प्रतिबिम्बवाद स्वीकार किया है। इस मत में ईश्वर के प्रतिबिम्ब रूप में स्थित जीव बिम्ब भूत ईश्वर के समान ही स्वरूपतः सत्य है, अतः, काल्पनिक स्वीकार कर सर्वथा मिथ्यात्व का प्रतिपादन समाप्त हो जाता है। इसका फल यह होता है कि जो मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है वह मुक्त होता है। आभासवाद और कल्पनावाद का समर्थन बाद के दार्शनिकों के द्वारा नहीं होता है, क्योंकि, इस मत में उपाधि और आभास दोनों ही मिथ्या है, अतः, मोक्ष में जीव स्वरूप का विनाश ही अभिप्रेत होगा। आभासवादी ने जीव के स्वरूप को काल्पनिक अवास्तविक रूप में ही निरूपित किया है। प्रतिबिम्बभाव का प्रतिपादकपद्य—

सुकृतदुष्कृतकर्मणि कर्तृतां
मतिगतात्मचिति प्रतिबिम्बकम्
व्रजति तद्वददः परमात्मनो
जगति याति तमः प्रतिबिम्बकम्। सं० शा० श्लो० ७ पृ० ३२७

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि ॥
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥२॥

(वाचस्पति मिश्र ने द्वितीय पद्य के द्वारा ब्रह्म की सर्वज्ञता सिद्ध की है। वेद का कर्ता एवं वेद का उपादान होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है)।

अन्वय—वेदाः अस्य निःश्वसितम्, पञ्चभूतानि एतस्य वीक्षितम्, चराचरम् एतस्य स्मितम्, महाप्रलयः च अस्य सुप्तम् ॥२॥

अर्थ। सभी वेद इस [ब्रह्म] के निःश्वासस्वरूप हैं, पञ्चमहाभूत इसके दर्शन स्वरूप है, चराचर जगत् (स्थावर जंगमात्मक प्राणिसमूह) इसके हास्य स्वरूप हैं, और महाप्रलय निद्रा स्वरूप है।

भावार्थ—बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि हे मैत्रेयि? ऋग्वेदादि इस परब्रह्म के निःश्वास के समान है। जैसे पुरुष का निश्वास-प्रश्वास विना यत्न के ही सम्पन्न होता है वैसे ही उस परब्रह्म से यह ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए हैं[1]। सभी अर्थों के प्रकाशन में समर्थ जिस वेद का निर्माण करने में अत्यधिक परिश्रम कर भी देवर्षिगण असमर्थ हैं, उस वेद का निर्माण निःश्वास-प्रश्वास के समान लीला से ही करता है, अतः, निर्माणकर्ता अतिशय सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न है। यद्यपि ब्रह्म वेद का उपादान कारण है। तथापि वेद की अपोरुषेयता सिद्ध रहती है। किसी अन्य प्रमाण से अर्थ का ज्ञान कर इस वेद की रचना नहीं करता है, वरन्, प्रवाह रूप से वेद नित्य है, अतः, अपौरुषेय वेद है। अन्य प्रमाण से अर्थ का ज्ञान कर उन विषयों के प्रतिपादक शब्दों की रचना कर यह प्रतीत होता है कि मेरा अवगत यह अर्थ है यह अर्थ दूसरे को भी अवगत हो जाय— इस विचार से वेद की रचना होती तो यह पौरुषेय होता, किन्तु, ऐसी बात नहीं है वरन् निःश्वास के समान अनायास निर्गत यह वेद है। जैसे स्वर्ग सभी सर्ग में स्वार्गादि प्रयोजन का साधक किसी भी सर्ग में अनर्थ का साधक नहीं होता है। इसी प्रकार ब्रह्म

१. अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि। बृ० आ० उ० २।४।

अविद्योपचित ब्रह्म का विवर्त होने पर भी सभी सर्गों में अनर्थ का साधन ही है, किसी भी सर्ग में अर्थ (प्रयोजन) का साधन नहीं होती है। इसी प्रकार वेद भी सभी सर्गों में एक आनुपूर्वी स्वरूप है। अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होने पर भी पूर्व-पूर्व सर्गों के अनुसार रचना करता है वेदों की रचना में वह स्वतन्त्र नहीं है।

आशय यह है कि निःश्वास के समान बिना प्रयास ही वेद सिद्ध होने के कारण वेद को निःश्वास रूप कहा है। पञ्चमहाभूत इस ब्रह्म का वीक्षण-स्वरूप है। पंचभूत की उत्पत्ति निःश्वास से अधिक प्रयत्नसाध्य होने के कारण एवं "तदंक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुति के द्वारा भूत-भौतिक प्रपञ्चमात्र को वीक्षणपूर्वक अवगत होने से वीक्षण पूर्वक इनकी सृष्टि कही गई है। चर और अचर रूप विश्व इस ब्रह्म के स्मित के समान है। वीक्षण से अधिक प्रयत्नसाध्य होने के कारण विश्व को स्मित स्वरूप कहा हैं।] इसकी सृष्टि हिरण्यगर्भ के द्वारा हुई है। इस ब्रह्म की सुषुप्ति ही महाप्रलय है। अनायास नामरूपात्मक प्रपञ्च की सृष्टि-स्थिति और लय कर्तृत्व होने से ब्रह्म अत्यन्त महिमशाली है, इसलिये, उसी की स्तुति करनी चाहिए, उसीका अनुसन्धान करना चाहिये। इसी अभिप्राय से ब्रह्म की स्तुति इस पद्य के द्वारा वाचस्पति मिश्र कर रहे हैं ॥२॥

षड्भिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि ।
शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च ॥३॥

अन्वय :— षड्भिः अङ्गैः विविधैः अव्ययैः अपि उपेताय शाश्वताय वेदाय च भवाय च नमस्कुर्मः।

अर्थ। छः अङ्गों एवं अनेक अव्ययों से युक्त अपरिणामी नित्य वेद और महादेव को नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या :— वेदान्त शास्त्र का व्याख्यान करना है, अत, मिश्र जी ... स्फुरण होने के लिए और अपने उपास्य ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने ...ए वेद और अपने उपास्य ईश्वर का समान विशेषण देकर एक साथ ...कार कर रहे हैं।

वेद के छ अङ्ग—(१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) ज्योतिष और (६) छन्द है। शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दः ज्योतिषम्। वेद के अनेक अव्यय च, वा आदि अव्यय शब्द हैं जिनमें विभक्ति आदि से विकार नहीं होते हैं। वेद की नित्यता इसके अपौरुषेय होने से सिद्ध ही है।

कातन्त्रवार्तिक के अनुसार वेद की अपौरुषेयता के विचार से पुरुषों के स्वातन्त्र्य का ही प्रतिषेध अभीष्ट है। मीमांसकों ने वेदवाक्यों को जो अपौरुषेय कहा है, इसका अर्थ यह है कि पुरुष अस्वतन्त्र है—किसी पुरुष ने जैसी इच्छा हुई है वैसा उच्चारण किया है– यह बात नहीं है, वरन् जिस प्रकार की आनुपूर्वी पूर्व में सुनी गई है, उसी आनुपूर्वी के अनुसार ही उच्चारित है। नाट्याचार्य के द्वारा किये गये नृत्य का अनुकरण जिस प्रकार नर्तकी करती है; उसी प्रकार उच्चारण के विषय में पूर्व वेद की आनुपूर्वी का मात्र अनुकरण ही होता है। इस विचार से यही सिद्ध होता है कि वेद की रचना के विषय में पुरुषों की स्वतन्त्रता नहीं है— यही मीमांसकों का अभिप्रेत है। इसी विषय को तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

यत्नतः प्रतिषेध्यो नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता। वेद में पुरुष की स्वतन्त्रता का ही यत्नपूर्वक प्रतिषेध करना मेरा अभीष्ट है। विचार करने से इसका यही तात्पर्य अवगत होता है कि वेद की रचना के विषय में किसी भी पुरुष की स्वतन्त्रता नहीं है। पुरुष की स्वतन्त्रता न रहने पर पौरुषेयत्व में किसी प्रकार की आपत्ति मीमांसकों की भी नहीं है। मीमांसकों ने जो आदि सृष्टि और महाप्रलय स्वीकार नहीं किया है। वे वेदाध्यन में वर्तमान गुरु-शिष्य परम्परा के समान अविच्छिन्न एवं अनादि गुरु-शिष्यपरम्परा को ही स्वीकार करते हैं।

इस प्रसङ्ग में यह जान लेना आवश्यक है कि सिद्धान्त-भेद की दृ[illegible] से प्रसिद्ध दो मीमांसक हैं—(१) कुमारिल भट्ट (२) प्रभाकर। भाट्ट[illegible] निरीश्वरवाद है एवं प्रभाकर मत सेश्वर है। सेश्वर मीमांसकों के मत में [illegible] ईश्वर कर्तृक उच्चरित है, किन्तु, इस उच्चारण में ईश्वर का स्वातन्त्र्य नहीं [illegible]

इस सृष्टि से पूर्व की सृष्टि में जिस रूप में वेद था इस सृष्टि में या परवर्ती सृष्टि में भी वेद का इसी रूप में उच्चारण होता है। फलतः ईश्वर रूप पुरुष के द्वारा उच्चारित होने पर भी पौरुषेय एवं ईश्वर का स्वातन्त्र्य न होने के कारण वेद अपौरुषेय रहता है।

निरीश्वर मीमांसकों के मत में वेद ईश्वर कर्तृक उच्चरित नहीं है वरन् गुरु शिष्य परम्परा के प्रवाह में इसका अक्षुण्ण रूप आ रहा है फलतः गुरु और शिष्य का भी इसमें स्वातन्त्र्य नहीं है। इस मत में गुरु और शिष्य रूप पुरुषों से उच्चारित होने से वेद पौरुषेय है, परन्तु, उच्चारण विषय में गुरु और शिष्य का स्वातन्त्र्य न होने के कारण अपौरुषेय है। मीमांसकों के मत में जगत् की सृष्टि और प्रलय नहीं है, इस जगत् का आत्यन्तिक नाश कभी भी नहीं होता है। अतः वेद भी गुरु और शिष्य की परम्परा में अविच्छिन्न-भाव में ही आ रहा है, वेद की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता है।

ईश्वर को मानने वाले मीमांसकों के सिद्धान्त में सृष्टि और प्रलय स्वीकार किया गया है। उनके मत में प्रलयकाल में गुरु शिष्य परम्परा का विच्छेद हो जाने से ईश्वर में वेद की आनुपूर्वी अवस्थित रहती है इसलिए वेद अवस्थित रहता है। ईश्वर सृष्टि काल में वेद की पूर्व आनुपूर्वी का पुनः उच्चारण करता है, जिससे लोक में पूर्वानुपूर्वी का प्रचार हो जाता है। वेदान्ती भी इसी प्रकार ईश्वर-कर्तृकत्व वेद में स्वीकार करते हैं। दोनों मीमांसकों के मत में वर्ण नित्य एवं व्यापक है। इन वर्णों की अभिव्यक्ति अथवा ज्ञानापूर्वी अर्थात् पौर्वापर्यक्रम वर्णों की समष्टि के ऊपर आरोपित होकर वेद शब्द से व्यवहृत होता है। यह क्रमिक अभिव्यक्ति अनित्य होने पर भी वर्ण नित्य है। वेदान्त मत में वर्णों की नित्यता एवं व्यापकता स्वीकार नहीं की गई इस मत में एक मात्र ब्रह्म ही नित्य और व्यापक है।

इस प्रकार वेद को ईश्वर-कृत मानने पर भी विसदृश क्रम रूप अभिनव [illegible]पूर्वी के विवरण से सापेक्षत्व नहीं है।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति आदि में जो सृष्टि एवं प्रलय स्वीकार किया गया है, इस सृष्टि और प्रलय का कारण जो अनादि अविद्या उस अविद्या रूप उपाधि विशिष्ट सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्य, परमात्मा वेद का कारण होने पर भी उसका स्वातन्त्र्य नहीं है, पूर्व-पूर्व सृष्टि में जैसी आनुपूर्वी थी. उस आनुपूर्वी के अनुसार ही ईश्वर वेद की रचना करता है—अभिव्यक्तिमात्र करता है।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि यदि वेद ब्रह्म का ही विवर्त— माया प्रयुक्त पदार्थ है, तब इसमें इस प्रकार का क्रमनियम कैसे स्वीकार किया जाता है? तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इस श्रुति के अनुसार सृष्टि इच्छाप्रयुक्त होने पर भी उसमें एक शृंखला ही उपलब्ध होती है, वह शृंखला भी उसकी इच्छा प्रयुक्त ही है। जैसे यागादि एवं ब्रह्महत्यादि ब्रह्मविवर्त होने पर भी किसी भी सृष्टि में विपरीत नहीं होता है। इस प्रकार वेद की शाश्वतरूपता में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। शङ्कर की नित्यता सभी वेद-पुराणादि में प्रसिद्ध ही है।

शङ्कर के छ अङ्ग निम्नलिखित है— (१) सर्वज्ञता (२) तृप्ति (३) अनादिज्ञान (४) स्वतन्त्रता (५) सदा अलुप्तशक्ति (६) और अनन्तशक्ति ये शङ्कर के छ अङ्ग हैं।

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

वेद में च, वा आदि अव्यय प्रसिद्ध हैं। महेश्वर के दश अव्यय हैं। (१) ज्ञान (२) वैराग्य (३) ऐश्वर्य (४) तप (५) सत्य (६) क्षमा (७) धैर्य (८) द्रष्टृत्व (९) आत्मसंबोध (१०) अधिष्ठातृत्व ये दश अव्यय महेश्वर में हैं।

ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
द्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च॥

इस प्रकार छ अङ्गों से युक्त विविध अव्ययों से समन्वित शाश्वत वेद एवं शङ्कर को नमस्कार करता हूँ॥३॥

मार्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम् ।
विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ॥४॥

अन्वय :— वयं सर्वसिद्धिविधायिनः विश्ववन्द्यान् मार्तण्डतिलकस्वामि-महागणपतीन् नमस्यामः ॥४॥

पुष्पलता :— सभी सिद्धियों को देने वाले विश्ववन्द्य सूर्य तिलकप्रिय-स्वामी स्कन्द और महागणपति को हम नमस्कार करते हैं ॥४॥

कुसुमलता :—विघ्ननिवारण के लिए महागणपति का नमस्कार सर्वथा प्रसिद्ध है। स्मृति के अनुसार आदित्य, तिलकप्रिय स्कन्द एवं महागणपति का नमस्कार सभी प्रकार की वाञ्छित सिद्धि को देने वाला है, अतः, वाचस्पति मिश्र ने अपने कार्य की सिद्धि के लिए आरम्भ में इनको नमस्कार किया है।

तिलकस्वामी में मध्यमपदलोपी समास है = तिलकप्रियः स्वामी = तिलकस्वामी = स्कन्द। इनको तिलक अतिशय प्रिय है। सभी उपासक इनकी पूजा में इनके शरीर पर तिलक करते हैं। स्मृति में कहा है—आदित्य की तथा तिलकस्वामी की और महागणपति की सदा पूजा करनेवाला सिद्धि प्राप्त करता है।

आदित्यस्य सदा पूजां तिलक-स्वामिनस्तथा ।
महागणपतेश्चैव कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥
(याज्ञ० प्र० १ श्लोक २९४)

ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे ।
ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः ॥५॥

अन्वय :—भगवतो हरेः ज्ञानशक्त्यवताराय ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेधसे वेदव्यासाय नमः ॥

पुष्पलता :—भगवान श्री हरि के ज्ञानशक्ति के अवतार ब्रह्मसूत्रकार व विधाता वेदव्यास को (हम) नमस्कार करते हैं ॥५॥

कुसुमलता :— सूत्र का व्याख्यानभूत जो भाष्य है उसकी व्याख्या की इच्छा से प्रवृत्त वाचस्पति मिश्र जी सूत्रार्थ का स्फुरण होने के लिए तथा वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञान शक्ति के अवतार भगवान् वेदव्यास को नमस्कार कर रहे हैं। हरेः ज्ञानशक्तेः अवतारो यस्मिन् = हरि की ज्ञानशक्ति का अवतार है जिसमें यह बहुव्रीहि समास है। यद्यपि ज्ञानशक्ति पद हरि में अन्वित होने से सापेक्ष है, अतः, सापेक्ष होने से समास नहीं होना चाहिए तथापि ज्ञानशक्ति नित्य शक्त में सापेक्ष है, अतः, देवदत्तस्य गुरुकुलम् के समान समास मानने में कोई आपत्ति नहीं है। व्यास का हरि की ज्ञानशक्ति का अवतार शास्त्रों में वर्णित है। हे महामुनि ? द्वापर में व्यासरूपी मैं एक वेद को अनेक रूप में करके जगत् के लोगों का हित करूँगा।

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने ?
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितम् ॥ (पराशरे)

ज्ञानशक्ति का अवतार होने से ही इनमें ईश्वरत्व है। इसीलिये वेधसे कहा है। व्यासजी में भगवान् का लक्षण भी घटता है। उत्पत्ति, विनाश, प्राणियों की गति और अगति विद्या और अविद्या को जो जानता है—वह भगवान् कहा जाना चाहिए।

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

ज्ञानशक्त्यवताराय इस पद की व्याख्या करते हुए कल्पतरुकार ने अवतार शब्द का प्राप्ति अर्थ किया है और बहुव्रीहि समास मानकर विग्रह प्रदर्शन किया है— "ज्ञानशक्तेरवतारो यस्मिन् स तथा"। इस विग्रह सन्देह प्रदर्शन करते हुए परिमलकार ने कहा है कि अवतार शब्द का प्रा[illegible] अर्थ स्वीकार कर बहुव्रीहिसमास का प्रदर्शन करना ठीक नहीं है, कार[illegible]

समानाधिकरण रहने पर ही बहुव्रीहि होती है। इसके समाधान में परिमलकार ने कहा है कि न धातुलोप आर्धधातुके (५।०१।१।४) इस पाणिनिसूत्र में धातुलोपशब्द में धातोः लोपः यस्मिन् यह षष्ठी गर्भव्यधिकरणबहुव्रीहिसमास स्वीकार किया है, अतः, उसी प्रकार यहां भी बहुव्रीहि समास मानने पर भी ॠदोरप् (३।३।५७) इस सूत्र से अव उपसर्गक तृ धातु से अप् प्रत्यय करके अवतर शब्द की सिद्धि होती है और इस अवतार शब्द में घञ्प्रत्ययकर अवतार शब्द निष्पन्न होता है, अतः, अवतार शब्द भावार्थक नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवे तॄस्त्रोर्घञ् (पा० ३।३।१२०) इस सूत्र से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय का विधान होता है। इसलिए अवतार शब्द का अधिकरण अर्थ मानकर ज्ञानशक्तेरवताराय यह षष्ठीतत्पुरुष स्वीकार करना ही उचित है। आचार्य ने यही प्रदर्शित किया है। प्राप्तिः यस्मिन् ये दोनों ही अवतार पद के व्याख्यान के लिए है केवल प्राप्ति पद ही उसके व्याख्यान के लिए नहीं है, अर्थात् प्राप्ति जिसमें वह अवतार है। अधिकरण में अवतार शब्द से घञ प्रत्यय है ॥५॥

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शंकरं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥६॥

अन्वय :—विशुद्धविज्ञानं करुणानिधिं शङ्करं नत्वा तत्प्रणीतं प्रसन्नगम्भीरं भाष्यं विभज्यते ॥६॥

पुष्पलता—निर्मलज्ञानयुक्त दयासमुद्र शङ्कराचार्य को नमस्कार कर उनके द्वारा प्रणीत प्रसन्न-गम्भीर भाष्य का व्याख्यान करता हूँ ॥६॥

कुसुमलता :—भाष्य की व्याख्या से पूर्व भाष्यकार शङ्कराचार्य को नमस्कार करते हुए उनके भाष्य का वैशिष्ट्य बोधन करते हुए उसके व्याख्यान की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

शङ्कराचार्य का दो विशेषण दिया गया है। एक विशुद्ध विज्ञानं और दूसरा करुणानिधिम्। बिशुद्धविज्ञानम् में बहुव्रीहिसमास है=विशुद्धं विज्ञानं यस्य=विशुद्ध विज्ञान है जिसका। विशुद्ध अर्थात् निर्मल है विज्ञान विशिष्ट ज्ञान जिसका विना विशिष्ट ज्ञान के किसी विषय का समीचीन रूप से प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः, निर्मल ज्ञानवान् कहा है। निर्मल ज्ञान रहने पर भी अपने ही लिए सचेष्ट मनुष्य अन्य के दुःख की निवृत्ति के लिए भी प्रयत्न नहीं करता और यह पर दुःख देखकर चित्त की आर्द्रता के विना सम्भव नहीं है, चित्त की आर्द्रता करुणा के विना नहीं होती है, इसलिए शङ्कर के लिए द्वितीय विशेषण करुणानिधिम् यह दिया गया है। करुणानिधि=दया के समुद्र; भाष्य में भी दो विशेषण दिये गये हैं प्रसन्न और गम्भीर आपाततः शङ्कराचार्य का भाष्य प्रसादगुणगुम्फित है किन्तु विचार करने पर यह भाष्य अतिशय गम्भीर है। भाष्य की गम्भीरता देखकर ही भामतीकार इसकी व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं।

इसी विषय का प्रतिपादन पञ्चपादिका के पांचवे पद्य के द्वारा भी हो रहा है—पदच्छेद, पदार्थकथन, विग्रह, वाक्ययोजना, आक्षेप, समाधान रूप वृन्तभार से जो गौरवता का वहन करता है उस प्रसन्न गम्भीर भाष्य की व्याख्या श्रद्धापूर्वक आरम्भ करता हूँ।

पदादिवृन्तभारेण गरिमाणं बिभर्ति यत्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे॥

पञ्चपादिका पद्य ५

इस पद्य में भी भाष्य को प्रसन्न गम्भीर कहा है अतः भाष्य का तात्पर्य व्याख्यान के योग्य है—यह सिद्ध होता है।

अब विचारणीय है कि इस आचार्य शङ्करप्रणीत सूत्र व्याख्या में भाष्य का लक्षण सुसङ्गत होता है या नहीं ?

भाष्य का लक्षण :—

सूत्रानुकारी वाक्यों के द्वारा जहां सूत्र के अर्थ का वर्णन रहता है और अपने पदों का भी वर्णन रहता है उसीको भाष्यवेत्ताओं ने भाष्य कहा है।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुकारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

यदि जहां कुछ वर्णन किया जाता है वही भाष्य है, यह भाष्य का का लक्षण माना जाय तब शब्द वर्णनमात्र जहां रहेगा वह भी भाष्य कहा जायगा इसलिए अर्थ यह भी विशेषण दिया गया है । यदि अर्थ वर्णन जहां है वह भाष्य है इतना ही भाष्य का लक्षण स्वीकार किया जाय तब सूत्र भी भाष्य कहा जायगा, अतः, सूत्र भी कहा है । यदि इतना ही भाष्य का लक्षण हो कि सूत्र के अर्थ का वर्णन जहां रहता है वह भाष्य है तब पदवृत्ति भी भाष्य कही जायगी, अतः, 'वाक्यैः' वाक्यों से यह कहा गया है। किन्तु इतना ही भाष्य का लक्षण स्वीकार करने पर वार्तिक को भी भाष्य कहा जायगा । वार्तिक में सूत्र से प्रतिकूल भी वर्णन रहता है । सूत्रों में उक्त, अनुक्त, एवं दुरुक्त अर्थ का वर्णन जहां रहता है—उसको वार्तिक कहा जाता है ।

उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तकारि तु वार्तिकम् ।

इसलिए भाष्यलक्षण में सूत्रानुकारिभिः यह कहा गया है । उक्त अनुक्त एवं दुरुक्त चिन्ता से रहित को अनुकारी कहा जाता है ।

इतना ही भाष्य का लक्षण स्वीकार करने पर वृत्तिग्रन्थ भी भाष्य-लक्षण का लक्ष्य हो जायगा । अतः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते यह कहा गया है ।

विभज्यते इसके द्वारा विवेचनपूर्वक व्याख्यान करता हूँ यह अर्थ विवक्षित है । भाष्य में प्रसाद नामक शब्दगुण तथा गाम्भीर्य नामक अर्थ गुण स्वीकार किया है ॥६॥

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम् ।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥७॥

अन्वय :—अस्मदादीनाम् वचः धूतमपि आचार्यकृतिनिवेशनं गङ्गा-प्रवाहपातः रथ्योदकमिव पवित्रयति ॥७॥

भामती

अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः, यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः, करटदन्ता वा, तथा चेदं ब्रह्म इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

पुष्पलता :—हमलोगों की वाणी अपवित्र होने पर भी आचार्यकृति के साथ सम्बद्ध होने से गली के जल को गङ्गाप्रवाह में पतन के समान पवित्र कर देगा ॥७॥

कुसुमलता:—भाष्य की व्याख्या में तत्पर भामतीकार अपने व्याख्यातृत्व-प्रयुक्त गर्व की आशङ्का अन्य व्यक्ति के द्वारा न की जाय, अतः, गर्व का परिहार करते हुए यह श्लोक कह रहे हैं—अपने व्याख्यान का अधिक महत्त्व न मानकर भाष्य के सम्बन्ध का ही अधिक गौरव ज्ञापन कर रहे हैं और इसी भाष्य के सम्बन्ध से अपने व्याख्यान का भी गौरव सूचित हो रहा है। रथ्योदक= मार्ग का जल अपवित्र होने पर भी गङ्गा के प्रवाह में मिल जाने पर उसकी अपवित्रता नष्ट हो जाती है एवं उसका स्वरूप गङ्गाजल ही हो जाता है तथा उसका पान आदि भी किया जाता है। वैसे ही इनकी वाणी भले ही अपवित्र हो फिर भी आचार्य की कृति में प्रवेश हो जाने से ही यह भी पवित्र हो जाती है। अर्थात् उनकी कृति का व्याख्यान करने से ही अपने को एवं अपनी वाणी को सार्थक मानते हैं भले ही यह व्याख्यान भ्रम प्रमादादि दोषों से पूर्ण हो। अवधूत का अर्थ अपूत 'अपवित्र होता है। अवधूतं पूतं स्यात्।

इस प्रकार वाचस्पति ने अपनी अतिशय विनय-सम्पन्नता व्यक्त की है ॥७॥

पुष्पलता

जो असन्दिग्ध और निष्प्रयोजन रहता है वह पण्डितों की जिज्ञासा का विषय नहीं होता है, जैसे प्रणिहितमन के इन्द्रियसन्निकृष्ट और प्रचुर प्रकाश के मध्य में स्थित घड़ा और कौए का दाँत। यह ब्रह्म भी वैसा है—इसलिए व्यापक विरुद्ध की उपलब्धि है।

कुसुमलता

विवेक, वैराग्य, शमदम आदि और मुमुक्षुत्व इन चारों साधनों सम्पन्न व्यक्तिओं के लिए "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (सू० १।१।१) इस सूत्र से

भगवान् सूत्रकार ने ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश दिया है। यह जिज्ञासा अभिन्न ब्रह्म की ही हो सकती है। जीव से भिन्न ब्रह्म की नहीं हो सकती है। कारण श्रुतिओं के अध्ययन से ही यह सिद्ध है कि भेदश्रवण अनर्थ का साधन है। द्वितीय से भय होता है। (द्वितीयाद्वै भयं भवति) जो अनेकत्व का दर्शन करता है, वह मरण से मरण प्राप्त करता है—अतिशय कष्ट प्राप्त करता है। (मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति) बृ० ४।३।१६। इस प्रकार भेदज्ञान में अनर्थ श्रवण से भिन्न-ब्रह्मज्ञान इच्छा का विषय नहीं हो सकता है। अतः अभिन्न ब्रह्म की जिज्ञास्य है।

किन्तु यह विचारणीय है कि जीव के साथ ब्रह्म का अभेद हो सकता है या नही? जीव में अल्पज्ञत्व, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म और ब्रह्म सर्वज्ञ, अकर्ता एवं अभोक्ता है। अतः इन दोनों में अभेद कैसे हो सकता है?

जीव में अल्पज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म अध्यस्त हैं वास्तव नहीं हैं, अतः, जीव और ब्रह्म का अभेद हो सकता है, इसलिए अभिन्न ब्रह्म की ही सन्दिग्धत्व एवं सप्रयोजनत्व रूप हेतु होने से, जिज्ञासा होती है। अभिन्न ब्रह्म की जिज्ञासा अध्यास की सिद्धि के अधीन है, कारण, अध्यास की सिद्धि के बिना जीव के धर्म अध्यस्त सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इस अध्यास की सिद्धि के लिए तथापि से पूर्व के युष्मदस्मत् आदि भाष्य की अध्यास के आक्षेपक रूप में सूचित करते हुए तथापि से "कोऽयमध्यासो" इससे पूर्व के भाष्य को इस आक्षेप का परिहारपरक स्वीकार किया है। इस पूर्वोक्त विषय का विश्लेषण ही इन भामती वाक्यों से किया जा रहा है।

वेदान्त दर्शन के प्रथम सूत्र का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म जिज्ञास्य है, कारण, अभिन्न ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त के प्रतिकूल पक्षों का उद्घाटन भाष्यकार ने यथास्थान किया है। भामतीकार ने भाष्यकार की भूमिका का इस स्थल में ही जिज्ञासा-व्यापक-सन्देह का दर्शन कर विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

भामतीकार ने जो अथ शब्द का प्रयोग किया है— इस अथ शब्द को आनन्तर्यवादी अथ शब्द मानने पर आनन्तर्य के प्रतियोगी का निर्देश आवश्यक

होगा। अर्थात् जिसके अनन्तर उसका=अनन्तर के प्रतियोगी का निर्देश आवश्यक होगा। किन्तु यहाँ पर आनन्तर्य के प्रतियोगी का कथन नहीं है। अतः, यहां पर अथ शब्द ग्रन्थ का आरम्भार्थक है।

अन्य पक्ष के अवलम्बी यह कह सकते हैं कि ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है, हमलोग जिस वस्तु के विषय में जिज्ञासा करते हैं, वह जिज्ञासा से पहले अविदित=सन्दिग्ध एवं प्रयोजनीय रहता है। यदि जिज्ञासा का विषय ज्ञात एवं निष्प्रयोजन रहता है तब उसको जानने की इच्छा किसी भी विद्वान् व्यक्ति को नहीं होती है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जीव से अभिन्न कहा गया है। जीव अहं प्रत्यय से वेद्य होता है, अहम्भाव में प्रकाशमान जो आत्मा वह सदा सभी के द्वारा सुविदित है, अतः, यह ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान मुक्तिरूप प्रयोजन का हेतु होने से भी ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। कारण, ज्ञान के द्वारा जिसकी निवृत्ति होती है उसीको मिथ्या या आध्यासिक कहा जाता है, किन्तु जगत् मिथ्या नहीं है। अतः जैसे शुक्ति के ज्ञान से रजत की निवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान से इस जगत् की निवृत्ति होने की सम्भावना नहीं है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान मुक्ति का साधन नहीं हो सकता है। फलतः– ब्रह्मज्ञान निष्प्रयोजन है एवं इसके फलस्वरूप ब्रह्म जिज्ञास्य भी नहीं हो सकता है।

भामती की व्याख्या ऋजुप्रकाशिका में इसका अनुमान प्रदर्शन करते हुए इस प्रकार व्याख्यान किया गया है—सिद्धान्ती ने अपने पक्ष की स्थापना करते हुए इस प्रकार अनुमान प्रदर्शित करते हुए कहा है—

ब्रह्म (पक्ष) जिज्ञास्य है (साध्य) (१) अविदित एवं (२) सप्रयोजन होने से (दो हेतु हैं) यथा—धर्म्म (उदाहरण) पूर्व्वमीमांसा में इन दो हेतुओं से धर्म जिज्ञास्य होता है, उत्तर मीमांसा में भी वैसे ही ब्रह्म का जिज्ञास्यत्व सिद्ध किया जाता है।

इस पूर्वोक्त अनुमान के विरुद्ध पूर्वपक्षियों ने इस अनुमान में सत्प्रति-पक्ष रूप हेत्वाभास प्रदर्शन करते हुए कहा है—

भामती

तथा हि—बृहत्वाद् बृंहणत्वाद्वाऽऽत्मेव ब्रह्मेति गीयते, स-चायमाकीट-पतङ्गेभ्य आ च देवर्षिभ्यः प्राणभृन्मात्रस्येदंकारास्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धि-विषयेभ्यो विवेकेन 'अहम्, इत्यसन्दिग्धाविपर्यस्तापरोक्षानुभवसिद्ध इति न

ब्रह्म (पक्ष) जिज्ञास्य नहीं है (साध्य) असन्दिग्ध (विदित) एवं निष्प्रयोजन होने से (हेतु) जैसे आलोक में स्थित समनस्क व्यक्ति का इन्द्रिय सन्निकृष्ट घट एवं कौए का दाँत। प्रति-पित्सागोचर का अर्थ जिज्ञासा-गोचर होता है। असन्दिग्ध=विदित वस्तु के अजिज्ञास्य होने में दृष्टान्त दिया गया है—समनस्क इन्द्रिय सन्निकृष्ट घट और निष्प्रयोजन के अजिज्ञास्य होने में काकदन्त दृष्टान्त है अर्थात् काकदन्त का विचार निष्प्रयोजन है। असन्दिग्ध एवं अप्रयोजन वस्तु की अजिज्ञास्यता होने से प्रकृत में क्या हानि होती है? यह ब्रह्म भी असन्दिग्ध एवं निष्प्रयोजन है। ब्रह्म असन्दिग्ध एवं निष्प्रयोजन है इससे क्या? जिज्ञास्यत्व सन्दिग्धत्व एवं सप्रयोजनत्व का व्यापक है, सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व भी जिज्ञास्यत्व के व्यापक है। इस प्रकार इन दोनों में समान रूप से व्याप्य-व्यापक-भाव स्वीकार किया गया है। इसलिए जिज्ञास्यत्व का व्यापक जो सन्दिग्धत्व एवं सप्रयोजनत्व है उससे विरुद्ध सन्दिग्धत्वाभाव और सप्रयोजनत्वाभाव की ब्रह्म में उपलब्धि होने से सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व न होने से उसका व्याप्य जो ब्रह्मजिज्ञास्यत्व है उसका भी अभाव होना चाहिए।

प्रदर्शित अनुमान में दो हेतु है। एक **असन्दिग्धत्वात्** और द्वितीय हेतु **अप्रयोजनत्वात्** है। असन्दिग्धत्व हेतु में **स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः** यह दृष्टान्त है और अप्रयोजनत्वात् इस हेतु में व...रदन्ता यह उदाहरण है। दोनों हेतुओं से अजिज्ञास्त्व यह साध्य है।

पुष्पन्लता

इसका यह कारण में कि आत्मा ही बृहत् सबसे बड़ा अथवा सर्वदेह का...र्णामयिता होने से ब्रह्म यह कहा जाता है और वह आत्मा कोट पतङ्ग से

भामती

जिज्ञासास्पदम्, नहि जातु कश्चिदत्र सन्दिग्धेऽहं वा नाहं वेति, न च विपर्यस्यति नाहमेवेति। न च 'अहं कृशः स्थूलो गच्छामी' त्यादिदेहधर्मसामानाधिकरण्य-दर्शनात् देहालम्बनोऽयमहङ्कार इति साम्प्रतम्; तदालम्बनत्वे हि योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामीति प्रतिसन्धानं न भवेत्।

नहि बालस्थविरयोः शरीरयोरस्ति मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धो येनैकत्व-मध्यवसीयेत। तस्माद्येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्! तथा च बालादिशरीरेषु व्यावर्तमानेष्वपि परस्परमहंकारा-स्पदमनुवर्तमानं तेभ्यो भिद्यते। अपि च स्वप्नान्ते दिव्यं शरीरभेदमास्थाय तदुचितान् भोगान् भुंजान एव प्रतिबुद्धय मनुष्यशरीरमात्मानं पश्यन् 'नाहं देवो मनुष्य एवेति' देवशरीरे बाध्यमनेऽप्यहमास्पदमबाध्यमानं शरीराद् भिन्नं प्रतिपद्यते। अपि च योगव्याघ्रः शरीरभेदेऽपि आत्मानमभिन्नमनुभवतीति नाहंकारालम्बनं देहः। अत एव नेन्द्रियाण्यप्यस्यालम्बनम्, इन्द्रियभेदेऽपि योऽहमद्राक्षं स एवैतर्हि स्पृशामीत्यहमालम्बनस्य प्रत्यभिज्ञानात्।

पुष्पलता

लेकर देवता और ऋषि पर्यन्त सभी प्राणियों के इदं शब्द से प्रतिपाद्य देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषय से भिन्न रूप में असन्दिग्ध और अभ्रान्त अहं इस अनुभूति का विषय होता है, इसलिए यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा जिज्ञासा का विषय नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी समय भी आत्मा के विषय में मैं हूँ या मैं नहीं हूँ इस प्रकार सन्देह नहीं करता है एवं किसी को भी मैं नहीं हूँ—यह विपरीत ज्ञान भी नहीं होता है। मैं दुर्बल हूँ; मैं मोटा हूँ, मैं जाता हूँ, इस प्रकार देह का धर्म आत्मा में प्रयुक्त होने से देह और आत्मा एक ही वस्तु है, इसीलिए अहं शब्द के द्वारा देह को ही समझा जाता है—यह मत भी ठीक नहीं है। कारण, अहं शब्द यदि देह का ही प्रतिपादन करता तब जो मैं बाल्यकाल में पिता और माता को देखा है वही मैं वृद्धावस्था में प्रपौत्रों का अनु-भव करता हूँ—इस प्रकार का जो प्रत्यभिज्ञान अर्थात् ऐक्यानुभूति वह कभी भी सम्भव नहीं हो सकती है। कारण, बालक और वृद्ध के शरीर में कुछ भी

विषयेभ्यस्त्वस्य विवेकः स्थवीयानेव बुद्धिमनसोश्च करणयोरहङ्कर्तेति कर्तृप्रतिभासप्रख्यानालम्बनत्वायोगः कृशोऽहमन्धोऽहमित्यादयश्च प्रयोगा असत्यभेदे कथञ्चित् 'मञ्चाः क्रोशन्ती'त्यादिवदौपचारिका इति युक्तमुत्पश्यामः। तस्मादिदङ्कारास्पदेभ्यो देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयेभ्यो व्यावृत्तः स्फुटतराहमनुभवगम्य आत्मा संशयाभावादजिज्ञास्य इति सिद्धम्।

अप्रयोजनत्वाच्च। तथा हि—संसारनिवृत्तिरपवर्ग इह प्रयोजनं विवक्षितम् संसारश्चात्मयाथात्म्याननुभवनिमित्त आत्मयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तनीयः, स चेदयमनादिरनादिनात्मयाथात्म्यज्ञानेन सहानुवर्तते, कुतोऽस्य निवृत्तिः ? अविरोधात् कुतश्चात्मयाथात्म्याननुभवः ? नह्यहमित्यनुभवादन्यदात्मयाथात्म्यज्ञानमस्ति। न चाहमिति सर्वजनीनस्फुटतरानुभव समर्थित आत्मा देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः शक्य उपनिषदां सहस्रैरप्यन्यथयितुम्, अनुभवविरोधात्। न ह्यागमाः सहस्रमपि घटं पटयितुमीशते। तस्मादनुभवविरोधादुपचरितार्था एवोपनिषद इति युक्तमुत्पश्याम इत्याशयवानाशङ्क्य परिहरति—युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोरिति।

सादृश्य का गन्ध नहीं है, जिससे एकत्व की प्रतीति हो (बालक और वृद्ध के) शरीर में ऐक्य नही रहने पर यह प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं है। यदि ऐक्य रहता अर्थात् बालक वृद्ध में शरीरगत ऐक्य रहता तब यह प्रत्यभिज्ञान युक्तियुक्त होता, अतः (यह कहना होगा कि) व्यावृत्त भिन्न रूपमें ज्ञायमान जो वस्तु-समूह (उसके साथ जो) अनुवृत्त=एक रूप में प्रतिभासमान वह इन भिन्न रूपमें प्रतिभासमान वस्तुओं से भिन्न है। जैसे ग्रथित पुष्पों से उन पुष्पों में अनुगत सूत्र भिन्न है वैसे ही बालक युवा और बृद्ध के शरीर के व्यावर्त्यमान=भिन्न रूप में प्रतीयमान होने पर भी (बालक युवा और बृद्ध के भिन्न-भिन्न शरीरों में अनुवर्तमान=एक रूप में प्रतीयमान जो अहम् पदार्थ वह उन शरीरों से भिन्न है। और भी स्वप्नावस्था में दिव्य शरीर-विशेष का आश्रयण कर उस दिव्य शरीर के अनुरूप भोग्यपदार्थों का अनुभव कर भोगकर जब मनुष्य जागता तब अपने को मनुष्य देखकर (यह अवगत करता है कि) "मैं देवता नहीं मनुष्य ही हूं" इस प्रकार देवशरीर का बाध होने पर भी अहं पदार्थ का (जिस का) बाध नहीं हुआ है (उस को) शरीर से भिन्न समझता है। और भी योग-

व्याघ्र = अणिमादि सिद्धि का लाभ होने से इस सिद्धि के प्रभाव से जब कोई योगी व्याघ्र का शरीर धारण करता है; प्रकृत शरीर और व्याघ्र शरीर का परस्पर भेद प्रतीत होने पर भी आत्मा को अभिन्न रूप में ही अनुभव करता है। इसलिए देह कभी अहं पद का वाच्य नहीं हो सकता है। इन्हीं कारणों से इन्द्रियां भी अहं पद की वाच्य नहीं हैं। जो "मैंने (पूर्व में) देखा है वही मैं इस समय स्पर्श कर रहा हूँ" इस प्रकार अभेद प्रतीति का अहं ही आलम्बन हो रहा है। (अर्थात् इन्द्रियों में परस्पर भेद रहने पर भी "जो मैंने पूर्व में इसको देखा था वही मैं इस क्षण में इस का स्पर्श कर रहा हूँ" इस प्रकार की ऐक्य प्रतीतिरूप प्रत्यभिज्ञान होने से अहंपद वाच्य आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है —यह भलीभांति अवगत हो रहा है।) बाह्यविषयों से इस आत्मा का भेद स्पष्टरूप से प्रतीत हो रहा है। और बुद्धि एवं मन जो करण है, अतः, वे मैं कर्त्ता हूँ इस प्रतीति का हेतुभूत जो अहं शब्द इसके आलम्बन नहीं हो सकते हैं। (अर्थात् बुद्धि एवं मन जो ज्ञान का करण-भूत अन्तः इन्द्रिय है वे मैं करता हूँ इस प्रकार की प्रतीति का हेतुभूत जो अहं शब्द उसका आलम्बन अर्थात प्रतिपाद्य नही हो सकते हैं।) मैं कृश हूँ मैं अन्धा हूँ इत्यादि वाक्य का प्रयोग आत्मा के साथ (वास्तविक) अभेद न रहने पर भी मञ्च-समूह (कुर्सी) चीत्कार करते हैं इस प्रकार के प्रयोग के समान लक्षणा के द्वारा भी उपपन्न हो सकते हैं —यह मैं युक्ति-युक्त समझता हूँ। इस कारण से इदं शब्द के प्रतिपाद्य देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषय समूहों से अत्यन्त भिन्न और परिस्फुट रूप में अहं (मैं) इस प्रकार के अनुभव का विषय आत्मा है—इस विषय में सन्देह नहीं है, अतः, यह आत्मा जिज्ञास्य नहीं है—यह सिद्ध होता है।

और निष्प्रयोजन होने से (भी) यह आत्मा जिज्ञास्य नहीं है। (अर्थात् इतना ही नहीं ब्रह्म निष्प्रयोजन होने से भी वह जिज्ञास्य नहीं हो सकता है)। इस शास्त्र में संसार-निवृत्तिरूप अपवर्ग ही प्रयोजन कहा गया है। और आत्मविषयक-यथार्थ-अनुभव न रहने से ही यह संसार है, अतः, आत्मा का आत्मविषयक जो यथार्थ ज्ञान है उसके द्वारा ही इस संसार की निवृत्ति उचित है। किन्तु यह अनादि संसार अनादि आत्म विषयक जो यथार्थ ज्ञान है उसी के साथ अनुवर्त्तन कर रहा है तब इसके

साथ यथार्थ आत्मानुभव का किसी प्रकार विरोध नहीं है और ऐसी स्थिति में आत्मा के यथार्थ अनुभव के द्वारा इसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? और यह आत्मा का यथार्थ-अनुभव कैसे नहीं है ? अहम् इस प्रकार के अनुभव से अतिरिक्त कोई भी अनुभव आत्मा का यथार्थानुभव नहीं हो सकता है। सभी लोगों का मैं इस प्रकार का जो स्फुटतर अनुभव उसके द्वारा ही समर्थित देह, इन्द्रिय आदि से विलक्षण आत्मा है—यह सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त का सहस्र सहस्र उपनिषद् भी अन्यथा नहीं कर सकती है। कारण, अनुभव का विरोध होगा। हजार आगम मिलित होकर कभी भी घटको पट नहीं कर सकता हैं। इसलिए अनुभव का विरोध होने से उपनिषदों का अर्थ लक्षणा की सहायता से भिन्न रूप में स्वीकार करना होगा— हमलोग यही युक्तियुक्त समझते हैं। इस प्रकार की आशङ्का से भाष्यकार ने **युष्मदस्मत्** इत्यादि भाष्य के द्वारा इसका परिहार किया है।

कुसुमलता

पूर्व प्रसङ्ग के द्वारा ही यह अवगत हो जाता है कि सन्देह एवं प्रयोजन न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है। इस प्रसङ्ग में पूर्व कथित विषय की ही विस्तारपूर्वक विवेचना की जा रही है। पूर्व में **असन्देहात्** इस हेतु की ही विवेचना की जा रही है। यह विचारणीय है कि ब्रह्म में सन्देह न होने से वह जिज्ञास्य नहीं हो सकता है—इसका क्या आशय है ? ब्रह्म शब्द का अर्थ आत्मा होता है।

बृद्धि अर्थ को कहने वाले बृह् धातु या बृहि धातु से मनिन् प्रत्ययकरके ब्रह्म शब्द की सिद्धि होती है। अतः, बृहत् होने से या देहादि के परिणाम करने वाला होने से आत्मा ही ब्रह्म है। अपने ज्ञान इच्छा यत्न के अनुकूल पेय आदि पान से शरीर वर्धन करता है इसी बात की सूचना इस श्लोक से दी गई है— ब्रह्मसंज्ञक बृहण जो देहादि का परिणामी है वह आत्मा ही इस प्रकार का अहम् प्रत्यय वेद्य कहा जाता है। इस प्रकार यह अहं प्रत्यय वेद्य आत्मा ही ब्रह्म है। यह आत्मरूप ब्रह्म सद्वितीय है। उस आत्मा का मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कुछ जानता हूँ--अल्पज्ञ हूँ (अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, अहं किञ्चिज्ज्ञः) इस

व्यवहार के द्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वादि विशिष्टरूप से स्वरूप निश्चित है, अर्थात् आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म निश्चित है और इस कर्तृत्व आदि का वाध भी नहीं होता है, इसलिए, इस कर्तृत्व आदि को वास्तव ही मानना पड़ेगा। यदि कर्तृत्व आदि का बाध होता तब यह वास्तव न होकर मिथ्या या अध्यस्त होता और अध्यस्त कर्तृत्वादि धर्मवान् होने पर ब्रह्म के साथ आत्मा का अभेद होता, किन्तु, अध्यस्त न होने पर प्रदर्शित आत्मा से अभिन्न ब्रह्म न होने से अभेद प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों का उपासनापरक रूप लाक्षणिक अर्थ होने से आत्मा से अभिन्न ब्रह्म जिज्ञास्य है—यह कथन अनुपपन्न है।

यह आत्मा कीटपतङ्ग देवर्षि आदि सभी प्राणियों के अहं इस ज्ञान का विषय होता है और यह अहं देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से सर्वथा भिन्न है—इसमें किसी को सन्देह नहीं होता है। अहं नहीं है (में नहीं हूँ) यह विपरीत निश्चय या अहं वा नाहं वा (मैं हूँ या नहीं) इस प्रकार का आत्म सन्देह किसी को भी नहीं होता है। अतः, अहं पद वाच्य आत्मा या ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसलिए, ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। इदंकारास्पदसे अभिप्राय है इदं प्रत्यय का विषय अर्थात् 'यह' इस शब्दज्ञान का विषय। यह का शरीर इन्द्रिय आदि ही विषय होता है और आत्मा अहं प्रत्यय का विषय होता है, अहं प्रत्यय का विषय आत्मा है। इस अहं प्रत्यय का विषय देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न असन्दिग्ध और अविपर्यस्त अपरोक्ष अनुभव से सिद्ध है, इसलिए, जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता है। असन्दिग्धत्व और अविपर्यस्तत्व का व्यतिरेक मुख से अर्थात् सन्दिग्धत्व और विपरीत निश्चय के निषेध रूप से प्रदर्शन कर रहे हैं। इस विषय में किसी समय भी किसी ने सन्देह नहीं किया कि मैं हूँ या नहीं हूँ और न विपरीत निश्चय ही किया कि मैं नहीं ही हूँ।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अहं शब्द के द्वारा देह की भी अवगति होती है, जैसे—मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं जाता हूँ, इत्यादि जो प्रतीति हो रही है इसमें अहं में देह के जो धर्म स्थूलत्व, कृशत्वं आदि है उनकी प्रतीति हो रही है, अतः, अहं शब्द देह का ही आलम्बन कर रहा है, इसलिए, अहं के सम्बन्ध में सन्देह होने से ब्रह्म की जिज्ञासा उचित ही है।

इसके उत्तर में जिज्ञासा के अभाववादी का कथन है कि अहं का विषय देह नहीं है, क्योंकि, अहं प्रत्यय का आलम्बन यदि देह होता अर्थात् आत्मैक्य अध्यस्त देह आलम्बन होता तो जिस मैंने बाल्यावस्था में माता पिता का अनुभव किया है उसी मैंने वृद्धावस्था में प्रपौत्र का अनुभव किया है—यह अहं के विषय के साथ ऐक्य का प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। देह को आत्मा मानने पर अर्थात् आत्मैक्य अध्यस्त देह आलम्बन होता तो वाल्य अवस्था में जो देह है उसको मैं के द्वारा कहा जाता है और वृद्ध अवस्था में जो देह है उसको भी मैं के द्वारा कहा गया है अर्थात् दोनों को एक माना गया है। इसीलिए योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं सोऽहमिदानीं प्रणप्तृननुभवामि यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है। किन्तु अहं का आलम्बन देह को मानने पर यह प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है। कारण, बाल्यावस्था का शरीर और वृद्धावस्था का जो शरीर इन दोनों का परिमाण समान नहीं है और जब इन दोनों शरीरों के परिमाणों में भेद है तव ये बाल्यावस्था और वृद्धावस्था के दोनों शरीर एक नहीं हो सकते हैं, इसलिए, पूर्वोक्त ऐक्य रूप प्रत्यभिज्ञान इन भिन्न दो शरीरों में सम्भव नहीं है। बाल्य और स्थाविर=वृद्धावस्था के शरीर में मनाक्=कुछ भी "प्रत्यभिज्ञान"=सादृश्य नहीं है यदि दोनों में प्रत्यभिज्ञान रहे तो एकत्व का निश्चय हो। अतः, जिनके व्यावृत्त होने पर जो अनुवृत्त होता है वह उनसे भिन्न रहता है। जैसे पुष्पों से सूत्र भिन्न रहता है। माला में ग्रथित पुष्पों में परस्पर भेद होने पर भी सूत्र एकरूप में अनुवृत्त रहता है, अतः, सूत्र (जिसमें माला के फूल गांथे जा रहे हैं। वह) भिन्न होता है। वाल्य शरीर और स्थाविर शरीर में परिमाण का ही भेद है और परिमाण के भेद से भेद होने पर शरीर के ऐक्य का गोचर जो प्रत्यभिज्ञान वह उचित नहीं है। अर्थात् परिमाण के भेद से द्रव्य का भेद होता है, अतः, परिमाण के भेद से भिन्न परिमाण वाले शरीरों में भी भेद स्वाभाविक है। इसके उत्तर में यह कथन है कि परिमाण का भेद रहने पर भी ऐक्यगोचर प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः, शरीर को आत्मा स्वीकार करने से उसकी एकता का गोचर प्रत्यभिज्ञान होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार वृद्ध और बालक के शरीर में परिणाम भेद रहने पर भी दोनों देहों की एकता को सिद्ध कर प्रत्यभिज्ञा मानने पर भी देह रूप अहंकार आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है, कारण, परिणाम भेद ही नहीं, वरन् सर्वथा शरीर भेद होने पर भी अहं की एक रूप में अनुवृत्ति देखी जाती है-क्योंकि, स्वप्न में दिव्य देवादि शरीर को धारण कर मैं देवता हूँ—यह मानता हुआ देवोचित दिव्य भोगों का भोग करता हुआ जागकर मनुष्य शरीर वाला अपने को देखता हुआ (मनुष्यः शरीरं यस्य मनुष्य शरीर है जिसका) मैं मनुष्य हूँ देवता नहीं हूँ, इस ज्ञान से देवशरीर का बाध होने पर भी मनुष्य शरीर बाधित देव शरीर में अबाधित होता हुआ शरीर से भिन्न अहम् जिसका आलम्बन है ऐसे आत्मा का अनुभव करता है।

यदि यह कहा जाय कि स्वप्न में जो देवशरीर का अनुभव हो रहा है—यह तो भ्रमात्मक अनुभव है। क्योंकि, स्वाप्निक-ज्ञान भ्रमात्मक होते हैं। इस आशङ्का से भामतीकार ने जाग्रत् अवस्था में शरीर भेद होने पर भी अहं की एक रूप में प्रतीति जिस स्थल में हो रही है उस स्थल के उदाहरण को प्रदर्शित किया है— स्वयं मनुष्य होता हुआ योग की महिमा से कृत्रिम व्याघ्र शरीर को धारण कर विचरण करता हुआ योगी व्यक्ति देहों के भिन्न होने पर भी सभी शरीरों में आत्मा को अभिन्न रूप में अनुभव करता है। योग के प्रभाव से योगी दुर्बलत्व, स्थूलत्व, बाल्य, बार्धक्य, यौवन, अनेक जाति स्वरूप शोभन गन्धादियुक्त पार्थिवांश के विना चार भूतों से देह धारण आदि कार्य करता है। क्रीडा आदि के लिए वे व्याघ्र शरीर को धारण करते हैं। यह व्याघ्र शरीर योगी के संकल्प मात्र से कृत्रिम है। अतः, शरीर अहंकार का आलम्बन नहीं है, फलतः, देह से अतिरिक्त ही आत्मा, अहं प्रत्यय का आलम्बन है। देहात्मवाद निरास के लिए पूर्वोक्त अर्थ भी समीचीन ही है। अन्यथ नाहंकारालम्बनं देहः इसका अर्थ आत्मा के साथ ऐक्य अध्यासाप देह अहं प्रत्यय का आलम्बन नहीं है। इसलिए आत्मा में किसी प्रकार के सन्देह न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है।

पूर्व विश्लेषण से अहं शब्द से देह की अवगति न होने पर भी अहं प्रत्यय का आत्मैक्याध्यासापन्न इन्द्रिय तो आलम्बन हो सकता है। कारण, "अहं पाश्यामि" मैं देखता हूँ "अहं शृणोमि" मैं सुनता हूँ, अहं स्पृशामि मैं स्पर्श करता हूँ, इत्यादि जो प्रतीति हो रही है, वहाँ अहं प्रत्यय इन्द्रिय को ही आलम्बन कर रहा है, अतः, आत्मा इन्द्रिय हैं अथवा उनसे भिन्न है इस प्रकार का सन्देह हो सकता है, इसलिए ब्रह्म जिज्ञास्य हो सकता है। फलतः ब्रह्म असन्दिग्ध होने से अजिज्ञास्य है— यह कथन ठीक नहीं है।

इस प्रदर्शित समाधान के उत्तर में कहा है कि इन्द्रियाँ भी अहं प्रत्यय का आलम्बन नहीं हो सकती है। कारण, इन्द्रियाँ अनेक हैं, और इन्द्रिय का भेद रहने पर भी देखनेवाले और स्पर्श करने वाले में ऐक्यगोचर प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। अर्थात् अहं प्रत्यय को इन्द्रिय विषयक मानने पर अहं=मैं के द्वारा जिस एक अर्थ का प्रत्यक्ष हो रहा है— जो मैं देखता था वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ— इस ऐक्य प्रत्यक्ष करनेवाले प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रिय विषयक ही मानना पड़ेगा और साथ ही इस प्रत्यभिज्ञान में स्पर्श करनेवाला और देखने वाला मैं एक होने से इन्द्रिय के अभेद विषय का प्रत्यभिज्ञान स्वीकार करना होगा, किन्तु, देखनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श करने वाली इन्द्रिय में भेद है। अतः, पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा के एकत्व को विषय करनेवाला अहमर्थ विषयक प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए, इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा ही अहं प्रत्यय का विषय है यह स्वीकार करना होगा, फलतः, ब्रह्म में सन्देह न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है।

अद्वैत वेदान्त मत में आत्मा को ज्ञानस्वरूप स्वीकार किया है, किन्तु, अन्तःकरण के सम्बन्ध से इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि माना है। इस तरह ...ात्मा या जीव ज्ञानाश्रय के रूप में सिद्ध है। इन्द्रिय का विषय के साथ ...बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है—यह सर्व-सिद्धान्त-सङ्गत है—यह ...न नितान्त असङ्गत नहीं है।

... यह विचारणीय है कि ज्ञान का आश्रय कौन है—देह, विषय, इन्द्रिय ... बुद्धि आदि। ज्ञाता-ज्ञानकर्ता अपने ज्ञात विषय का कालान्तर में स्मरण

करता है। इन्द्रिय या विषय ज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता है। ज्ञानका आश्रय ज्ञाता होता है। इन्द्रिय या विषय को ज्ञाता माना जाय तो इन्द्रिय या विषय के नाश हो जाने पर ज्ञान विषय का स्मरण नही होगा। चक्षु इन्द्रिय के विनष्ट हो जाने पर भी चक्षूरूप इन्द्रिय से जो ज्ञात हुआ था, उसका स्मरण होता है। इसी प्रकार अनुभूत विषय का नाश हो जाने पर भी उस नष्ट विषय का स्मरण होता है। विनष्ट वस्तु का स्मरण कर लोग शोक करते हैं। अतः इन्द्रिय या विषय आत्मा नहीं हो सकते हैं। इन्द्रिय को आत्मा मानने पर इन्द्रिय का विनाश हो जाने से ज्ञाता का ही विनाश हो जाने से उससे ज्ञात विषय का स्मरण नहीं होगा। इसी प्रकार विषय को आत्मा मानने पर विषय का विनाश हो जाने पर स्मरण नहीं होगा। बुद्धि और मन भी ज्ञान का आश्रय ज्ञाता या ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता है। निश्चयात्मिका बुद्धि है एवं संशयात्मक मन है। ये दोनों ज्ञान के साधन हैं ज्ञान कर्ता नहीं हैं। अह प्रतीति के विषय में कर्तृत्व का भान होता है, अर्थात् ज्ञाता या ज्ञानकर्ता अहं का आलम्बन होता है। फलतः, ज्ञान के कारणस्वरूप बुद्धि और मन कर्तृत्वके आश्रय अह इस प्रतीति के विषय नहीं होसकते हैं, अतः, ये दोनो आत्मा नहीं हैं। मैं दुर्बल हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं शिथिल हूँ, इत्यादि प्रयोगों के अनुसार देह में भी अहं शब्द का प्रयोग होता है। अतः देह आत्मा क्यों नहीं हो सकता है? ये प्रयोग लाक्षणिक हैं। देह में आत्मा का अभेद न होने पर भी कुर्सी पर बैठे हुए व्यक्तियों के हल्ला मचाने पर कुर्सियाँ हल्ला कर रहीं है,भारत में रहनेवाले व्यक्तियों को साहसी कहने के समय भारत साहसी है इत्यादि प्रयोगों के समान औपचारिक=लाक्षणिक प्रयोग है। अतः, इदं के विषय देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न अहं इस अनुभव से गम्य आत्मा में सन्देह न होने से सन्देह रूप कारण के अभाव से आत्मा जिज्ञासा के योग्य नहीं है।

जिज्ञासा के अभाव का साधक द्वितीय हेतु अप्रयोजनत्व है। इस द्वितीय हेतु का विश्लेषण 'तथाहि' इस भामती ग्रन्थ से किया गया है, किन्तु, यह ठीक नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा सप्रयोजन होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है किन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा का कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिए ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं

है। ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रयोजन संसारनिवृत्तिरूप मुक्ति है। आत्मा में प्रमातृत्व, कर्त्तृत्व' भोक्तृत्व आदि का होना ही संसार शब्द का अर्थ है, इस संसार का निमित्त है आत्मतत्त्व का अज्ञान रहना। भामतीकार ने "आत्मयाथात्म्याननुभवनिमित्त" यह प्रयोग किया है। इसमें "निमित्त" शब्द उपादान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अध्यासवादियों के मत में भावरूप अज्ञान सादि-प्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण है, अतः संसार का यह उपादान कारण है निमित्तकारण नहीं है। आशय यह है कि अहं, मम इत्यादि जो अध्यास है वही संसार है, और यह संसार आत्मा का यथार्थ अनुभव न होने के कारण है। आत्मा का यथार्थ अनुभव होने पर आत्मा का जो अज्ञान है इसकी निवृत्ति हो जायगी, आत्मा का यथार्थ अननुभव निमित्तक ही संसार है, अतः, आत्मा के यथार्थ अनुभव आत्मतत्त्वज्ञान से संसार की निवृत्ति होनी चाहिए। संसार अज्ञान-निबन्धन होने के कारण उसकी निवृत्ति अन्य उपायों से नहीं हो सकती है, वरन्, आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही आज्ञान की निवृत्ति सम्भव है। आत्मतत्त्वज्ञान से निवर्त्तनीय नहीं होता अन्य कारण से भी संसार की निवृत्ति सम्भव रहती तब संसार की निवृत्तिरूप प्रयोजन का लाभ हो जाने से प्रयोजन का अभाव नहीं रहता। इसी विषय की सूचना "आत्मयाथात्म्यज्ञानेन निवर्त्तनीयः" इस वाक्य के द्वारा दी गई है।

आत्मतत्त्वज्ञान से संसार की निवृत्ति सम्भव होने पर इस तत्त्वज्ञान के द्वारा ही संसार की निवृत्ति की जाय। प्रकृत में ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन तो नहीं हुई, ब्रह्मजिज्ञासा होने पर ब्रह्मज्ञान होगा, ब्रह्मज्ञान ही तो आत्मतत्त्वज्ञान है, आत्मतत्त्वज्ञान रूप आत्मयाथात्म्यानुभव होने से आत्मयाथात्म्याननुभव-जनित संसार की निवृत्ति सिद्ध हो जायगी, अतः, प्रयोजन का लाभ हो जाने से ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन नहीं है।

भामतीकार ने यह प्रश्न उठाया है कि आत्मा का यथार्थ अनुभव अर्थात् [illegible] हं की अनुभूति अनादि है या आगन्तुक? यदि यह यथार्थानुभव अनादि नहीं आगन्तुक है। तब यह विचारणीय है कि यह आगन्तुक आत्मा का यथार्थज्ञान सभी लोगों को होनेवाला प्रत्यगात्मविषयक ही है, या अकर्त्ता,

अभोक्ता ब्रह्माभिन्न आत्मा जिस ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान है ? यह संसार अनादि है और आत्मा का यथार्थज्ञान भी अनादि है, तब संसार आत्मा के यथार्थज्ञान (आत्मतत्त्वज्ञान) के साथ ही अनुवृत्त=वर्त्तमान रहता है। अहं यह अनुभव ही तो आत्मयथात्मज्ञान=तत्त्वज्ञान है और यह अनादि है अनादि संसार के साथ अवस्थान भी करता है। इसलिए, आत्मयाथात्म्य-ज्ञान और संसार दोनों ही अनादि है। दोनों के अनादि होने पर परस्पर अविरोध रहेगा। दोनों का अविरोध रहने पर एक से दूसरे की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

संसार को आत्मयाथात्म्याननुभव-निमित्तक अर्थात् अज्ञाननिबन्धन स्वीकार किया है, यदि संसार अज्ञाननिबन्धन है तो यह अनादि कैसे हो सकता है ? संसार की प्रवाहरूप में अनादिता है। अज्ञान अद्वैतवादिओं के मत में अनादि है, अतः, अज्ञाननिबन्धन संसार भी प्रवाहरूप में अनादि है—यही स्वीकार करना उचित होगा। प्रवाहरूप में अनादि संसार आत्मा के यथार्थज्ञान के साथ ही वर्त्तमान है तब कैसे संसार की आत्मा के यथार्थज्ञान से निवृत्ति सम्भव है। जो जिसके साथ अनुवृत्त=वर्त्तमान रहता है, उसकी निवृत्ति उससे नहीं होती है। संसार की निवृत्ति न होने के कारण के रूप में भामतीकार ने 'अविरोधात्' यह पञ्चम्यन्त पद दिया है।

आत्मज्ञान को आगन्तुक मानना भी उचित नहीं है, कारण ब्रह्मात्मभाव का अवबोधन तो उपनिषद् के द्वारा होता है। अतः आत्मतत्त्वज्ञान अनादि नहीं है। इस समय आत्मा का यथार्थानुभव ही नहीं है, इसलिए, यह कैसे कहा जा सकता है कि अनादि आत्मयाथात्म्यज्ञान के साथ संसार वर्तमान है। इस समय का संसार आत्मयाथात्म्यज्ञान के साथ अनुवृत्त नहीं है। भावी संसार की आत्मयाथात्म्यज्ञान होने से निवृत्ति ही हो जायेगी। अतः, अविरोधरूप हेतु से संसार की निवृत्ति का वारण सम्भव नहीं है। इसलिए यह ब्रह्मजिज्ञासा सप्रयोजन है, कारण, ब्रह्मज्ञान (आत्मयाथात्म्यानुभव) होने से संसारनिवृत्ति अपवर्ग प्रयोजन की सिद्धि होगी।

अहं का अनुभव ही तत्त्वज्ञान है और यह अहं का अनुभवरूप आत्म-याथात्म्यज्ञान संसार दशा में भी वर्तमान है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगी। कारण, अहं का अनुभवरूप आत्मयाथत्म्यज्ञान सभी लोगों को सदा वर्तमान ही है। साथ में अनुवृत्त होनेवाले आत्मयाथात्म्यज्ञान से संसार का बाध सम्भव नहीं है, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा निरर्थक है।

यदि यह कहा जाय कि अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा से अभिन्न ब्रह्मज्ञान ही आत्मयाथत्म्यज्ञान है और यह आत्मयाथात्म्यज्ञान उपनिषद् से होता है। इसी आत्माभिन्न ब्रह्मज्ञान से संसार की निवृत्ति होती है, अतः, इस प्रकार के ज्ञान से संसार की निवृत्ति का प्रसङ्ग ही नहीं होता है, फलतः, संसार दशामें आत्मयाथात्म्यज्ञान की वर्तमानता न होने से दोनों का अविरोध नहीं है। भावी संसार को पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान के साथ ही निवृत्ति हो जाती है।

पूर्व प्रदर्शित द्वितीय पक्ष के द्वितीय कल्प के समाधान में भामतीकार का कथन है कि सकललोकप्रत्यक्षसिद्ध अहं इस अनुभव से समर्थित देह, इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा से अतिरिक्त ब्रह्माभिन्न आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सभी लोगों के द्वारा देह, इन्द्रियादि से भिन्नरूप अहं का अनुभव होने से इससे अतिरिक्त आत्मा नहीं हो सकता है। उपनिषद् के द्वारा अवगत आत्माभिन्न ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है। कारण, सभी लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध आत्मतत्त्व का उपनिषद् के द्वारा अन्यथा समर्थन नही हो सकता है, अर्थात्, आत्मभिन्न ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है– इसमें प्रत्यक्ष अनुभव का विरोध है।

भामतीकार ने इस विषय का प्रतिपादन 'न ह्यहमि' त्यादि वाक्यों के द्वारा निषेधरूप से किया है। इसी का विश्लेषण "न च अहम्" इन पंक्तियों में व्यतिरेक रूप से किया है।

इस पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि अनुभव (प्रत्यक्षज्ञान) का विरोध होने से उपनिषद् से जन्य ब्रह्माभिन्न आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता है। मैं ब्रह्म नहीं हूँ (नाहं ब्रह्म) मैं कर्त्ता हूँ

(अहं कर्त्ता) मैं भोग करने वाला हूँ (अहं भोक्ता) मैं अल्पज्ञ हूँ (अहं किञ्चिज्ज्ञः) इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मतत्त्व अकर्त्ता, अभोक्ता सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्नरूप से प्रतीत हो रहा है, अतः, कर्तृत्व भोक्तृत्वादि विशिष्ट आत्मा का उपनिषद् के द्वारा अकर्त्ता अभोक्ता ब्रह्माभिन्नरूप में प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः अनुभव के विरोध से उपनिषद् के द्वारा प्रतिपादित आत्मा से भिन्न ब्रह्म उपचारितार्थक है अर्थात् मुख्य अर्थबोधक नहीं लक्षणा के द्वारा अर्थ का बोधक है। वेद के अनेक वचनों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत घट को पट कहने पर भी उसका समर्थन नहीं हो सकता है।

अहं से अतिरिक्त आत्मा मानने पर उसका ब्रह्म के साथ अभेद हो सकता है। अहं की प्रतीति ही तो अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, इत्यादि रूपमें हो रही है, अतः, अहं आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद उपनिषद् के आधार पर स्वीकार करने पर प्रत्यक्षानुभव का विरोध होने से उपनिषद् का लाक्षणिक अर्थ मानना पड़ेगा। यदि यह मान लिया जाय कि अहंकार से अतिरिक्त ही आत्मा है और उसीका ब्रह्म के साथ अभेद बोधन उपनिषद् के द्वारा कराया है। आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार करने पर ब्रह्म अकर्त्ता, अभोक्ता है, अतः, ब्रह्म से अभिन्न आत्मा भी कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता है तब आत्मा में मैं करता हूँ (अहं कर्त्ता,) मैं भोक्ता हूँ (अहं भोक्ता) इत्यादि से कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रतीति हो रही है यह कैसे सम्भव होगी ?

आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि की प्रतीति वास्तविक नहीं वरन् भ्रम (अध्यास) के कारण होती है। आत्मा अहंकार (अन्तःकरण) के साथ तादात्म्य अभेद का अध्यास होने से अन्तःकरणगत (अहंकारगत) कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का आत्मा में अध्यास (भ्रान्ति) ज्ञान है, यथार्थ नहीं। जैसे अहंकार का आत्मा (चेतन) के साथ तादात्म्य (अभेद) होने से अहं में चैतन्य की प्रतीति होती है, आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व आदि नहीं है। अहंकार और आत्मा इन दोनों में समान धर्म रहने पर ही परस्पर तादात्म्य (अभेद) अध्यास हो सकता है जैसे शुक्ति और चांदी में चाकचिक्यरूप समान धर्म होने से शुक्ति में रजत (चांदी) का अध्यास (भ्रम) होता है। आत्मा चेतन अहं-

कार जड है इन दोनों में विरुद्ध धर्म हैं, अतः, परस्पर तादात्म्याध्यास सम्भव नहीं है, इसी प्रकार दोनों के धर्मों का भी एक का दूसरे में अध्यास सम्भव नहीं है, इस प्रकार अध्यास के आक्षेप के रूप में "युष्मदित्यादि से "मिथ्या भवितु युक्तम् यहाँ तक भाष्य प्रवृत्त है। अर्थात् पूर्वोक्त भाष्य से आध्यासाक्षेप शङ्का की गई है।

आशय यह हैं कि भामती प्रस्थान में "युष्मदस्मदित्यारभ्यन्ते" यहाँ तक का भाष्य अध्यास का समर्थन कर शास्त्रारम्भ का समर्थक है। "युष्मदस्मदि" त्यादि भाष्य अध्यास के निमित्त का समर्थक है, "आह कोऽयम्" इत्यादि आरोप्य स्वरूप का समर्थक है, "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि" इत्यादि भाष्य आत्मा के अधिष्ठानत्व का समर्थक है "कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि" इत्यादि भाष्य प्रमाणों के अविद्या विषयत्व का समर्थक है और "सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते" इसके द्वारा समर्थित शास्त्रारम्भ का उपकार होता है।

अध्यास के कारणों का निरूपण।

अध्यास तीन कारणों से होता है। (१) भेद का अग्रहण, (२) सादृश्य-ज्ञान, (३) पूर्वतन प्रमाहित संस्कार=पूर्वानुभूत-संस्कार। अर्थात्-शुक्ति में यह चांदी है यह भ्रम उसी व्यक्ति को होता है जिसे पूर्व से व्यावहारिक रजत का ज्ञान रहता है, जो व्यक्ति रजत को नहीं जानता है उसको यह रजत है-यह भ्रम नहीं होता है। प्रकृत में अहं यह ज्ञान चैतन्यमें अन्तःकरण का अध्यास होने के कारण भ्रमात्मकज्ञान है तब पारमार्थिक अन्तःकरण को अवश्य ही जानना होगा। पारमार्थिक अन्तःकरण में अद्वितीय बाधित ही होगा, अतः, भ्रम के साधारण कारणों में पूर्वानुभव संस्काररूप तृतीयकारण के न रहने के कारण अहं इसको भ्रमात्मकज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस तृतीय-कारण के अभाव के कारण अध्यास की अनुपपत्ति मनमें स्थिर कर भेदाग्रहरूप प्रथम कारण के अभाव से भी अध्यास नहीं हो सकता है इसीकी सूचना—"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" इत्यादि भाष्य से दी गई है।

शारीरकभाष्यम्

युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्-विरुद्ध-स्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः, इत्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् ।

पुष्पलता

युष्मद् और अस्मत् (शब्द से जन्य) ज्ञान का विषय (ज्ञेय) और विषयी (ज्ञान) अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव के हैं। (अतः) इनका इतरेतरभाव (एक में अन्य का भाव अर्थात् ऐक्याध्यास एवं एकमें अन्य के धर्म का आरोप) की अनुपपत्ति असङ्गति सिद्ध है, इसलिए, उस विषय एवं विषयी के धर्मसमूह का भी इतरेतरभाव अनुपपन्न होगा। अत एव अस्मत्प्रत्ययगोचर विषयी चिदात्मा में (चैतन्य में) युष्मत्प्रत्ययगोचर विषय का और उसके धर्मों का अध्यास एवं उसके विपरीतक्रम में विषयी और उसके धर्मों का विषय में अध्यास मिथ्या होना उचित है।

भामती

अत्र च युष्मदस्मदित्यादिर्मिथ्या भवितुं युक्तमित्यन्तः शंकाग्रन्थः। तथापीत्यादिः परिहारग्रन्थः। तथापीत्यभिधानाच्छङ्कायां यद्यपीति पठितव्यम् । इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोरिति वक्तव्ये युस्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम् । यथा ह्यहंकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकारः, एते वयमिमे वयमास्मह, इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति । चित्स्वभाव आत्मा विषयी जड़स्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहादयो विषयाः ।

पुष्पलता

इस भाष्य में "युष्मदस्मत्" से आरम्भ कर "मिथ्या भवितुं युक्तम्" यहाँ तक शङ्का ग्रन्थ है। 'तथापि' इत्यादि परिहार ग्रन्थ है। 'तथापि' इस शब्द के साथ सम्बन्ध होने से शङ्का ग्रन्थ के (आरम्भ में) यद्यपि यह पाठ होना चाहिए।

एते हि चिदात्मानं विषिण्वन्ति, अवबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। परस्परानध्यासहेतावत्यन्तवैलक्षण्ये दृष्टान्तः तमःप्रकाशवदिति। न हि जातु कश्चित्समुदाचरद्वृत्तिनी प्रकाशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति। तदिदमुक्तम्—इतरेतरभावानुपपत्ताविति। इतरेतरभावः इतरेतरत्वं तादात्म्यमिति यावत्। तस्यानुपपत्ताविति। स्यादेतत्।

पुष्पलता

भाष्य में "इदमस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" यह पाठ होना चाहिए था, किन्तु, 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग अत्यन्त भेदका सूचक है। 'अहं' इस शब्द का प्रतियोगी जिस प्रकार 'त्वम्' शब्द है वैसा ही 'इदम्' यह शब्द नहीं है। ये हम, ये हमलोग बैठते हैं इस प्रकार अनेक प्रयोग देखते हैं। [यद्यपि 'त्वमहम्' इस प्रयोग में युष्मद् और अस्मद्शब्द का भी समानाधिकरण्य देखा जाता है, तथापि ऐसा विरल ही प्रयोग मिलता है, अतः, इस तरह के सामानाधिकरण्य की 'उपपत्ति' लक्षणा के आधार पर होती है। फलतः, यह प्रयोग युष्मद् और अस्मत् के अत्यन्त भेद का नाशक नहीं है।] चैतन्यस्वरूप आत्मा विषयी है एवं जडस्वभाव बुद्धि, इन्द्रिय और देह विषय समूह विषय हैं। कारण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि चैतन्यस्वरूप आत्मा को बद्ध करते हैं अर्थात् अपने आकार में निरूपित करते हैं—इसीलिए ये विषय हैं (दो वस्तुओं में) परस्पर अध्यास न होने के कारणस्वरूप अत्यन्त भेद में 'तमःप्रकाशवत्' यह दृष्टान्त है। आलोक एवं अन्धकार परस्परविभिन्नवृत्ति होने से कोई इन दोनों को अभिन्नरूप में अवगत नहीं कर सकता है।

(समुदाचरन्त्यो भेदेन प्रतिभासमाने वृत्ती वर्तने ययोः ते=समुदाचरद्वृत्तिनी) इसी को अवगत कराने के लिए भाष्यकार ने कहा है "इतरेतरभावानुपपत्तौ" इतरेतरभाव का अर्थ इतरेतरत्व है अर्थात् तादात्म्य। तादात्म्य की अनुपपत्ति अर्थ में ही इतरेतरभावानुपपत्ति शब्द का प्रयोग है। ऐसा ही हो।

भामती

मा भूद्धर्मिणोः परस्परभावः, तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्यनित्यत्वानित्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासः, यथा कुसुमाद्भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छतया जपाकुसुमप्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्यरुणः स्फटिक इत्यारुण्यविभ्रमः, इत्यत उक्तम्—तद्धर्माणामपीति। इतरेतरत्र धर्मिणि धर्माणां भावो विनिमयस्तस्यानुपपत्तिः।

अयमभिसन्धिः, रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि छायां गृह्णीयात्; चिदात्मा त्वरूपो विषयी न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति, यथाहुः—"शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता" इति तदिह पारिशेष्याद्विषयविषयिणोरन्योन्यात्मसम्भेदेनैव तद्धर्माणामपि परस्परसम्भेदेन विनिमयात्मना भवितव्यम्, तौ चेद्धर्मिणावत्यन्तविवेकेन गृह्यमाणावसम्भिन्नौ; असम्भिन्नाः सुतरां तयोर्धर्माः, स्वाश्रयाभ्यां व्यवधानेन दूरापेतत्वात्, तदिदमुक्तम्—सुतरामिति।

तद्विपर्ययेणेति। विषयविपर्ययेणेत्यर्थः। मिथ्याशब्दोऽपह्नववचनः। एतदुक्तं भवति—अध्यासो भेदाग्रहेण व्याप्तः तद्विरुद्धश्चेहास्ति भेदग्रहः, स भेदाग्रहं निवर्तयंस्तद्व्याप्तमध्यासमपि निवर्तयतीति। मिथ्येति भवितुं युक्तम् यद्यपि तथापीति योजना।

पुष्पलता

दो धर्मिओं का (जड और चैतन्य का) तदात्म्य न हो, किन्तु, इन दोनों के धर्मों का जडता और चैतन्य का, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि का परस्पर तादात्म्य तो हो सकता है। ऐसा देखा भी जाता है कि धर्मिओं का परस्पर भेद प्रतीत होने पर भी इनके धर्मों का अध्यास होता है। जैसे स्फटिकमणि जपा पुष्प से भिन्न प्रतीत होने पर भी उसमें अतिशय स्वच्छता के कारण जपाकुसुम के प्रतिविम्ब का ग्रहण कर लाल स्फटिक यह प्रतीति होती है। फलतः, आरुण्य=लालिमा का अध्यास स्फटिक में पाया जाता है। इसलिए भाष्य में कहा है—"तद्धर्माणामपि"। परस्पर धर्मिओं में धर्मों का भाव अर्थात् विनिमय उसकी अनुपपत्ति। इसका यह आशय है—अतिशय

स्वच्छ रूप रूपवान् द्रव्य के होने पर उस द्रव्य के समीप में रूपवान् द्रव्य का भिन्नरूप में ग्रहण होने पर भी स्वच्छरूपवान् द्रव्य अन्य रूपवान् द्रव्य के प्रतिबिम्ब का ग्रहण कर सकता है, किन्तु, चिदात्मा विषयी एवं रूपरहित है, अतः, वह विषय की छाया को अपने ऊपर आरोप करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। प्राचीनों ने कहा भी है—शब्द, गन्ध और रसकी कैसी प्रति विम्बता हो सकती है। फलतः, यह सिद्ध होता है कि विषय एवं विषयी का परस्पर ऐक्य या सम्बन्ध है तो उनके धर्मों का भी परस्पर सम्बन्ध होगा एवं व्यत्यास भी होगा। अन्योऽन्यसंभेद का अर्थ अन्योऽन्यतादात्म्याध्यास एवं परस्पर संभेद का अर्थ परस्परतादात्म्याध्यास होता है, भाव्यम् से तात्पर्य एक धर्मी में दूसरे के धर्म का अध्यास होना चाहिए। किन्तु, दोनों (आत्मा और अन्तःकरण या विषयी और विषयरूप धर्मी) धर्मी सर्वथा भिन्न रूप में गृहीत होते हैं और तादात्म्याध्यास से रहित हैं, तो निश्चित ही उनके धर्म भी परस्पर अमिश्रित ही रहेंगे। कारण, इन धर्मों के आश्रय = धर्मिओं में व्यवधान होने से धर्मों का विनिमय किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इसीको व्यक्त करने के लिए भाष्य में कहा है—"सुतराम्," "तद्विपर्ययेण"। तद्विपर्यय का अर्थ है विषय के = अचेतन के विर्यय से = चैतन्यरूप से। मिथ्या शब्द का अर्थ अपह्नव होता है। [चिदात्मा विषयी में देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विषयों का तादात्म्याध्यास नहीं हैं। अतः, विषयी में उक्त विषय के धर्मों का अध्यास नहीं है, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विषय में चिदात्मा का तादात्म्याध्यास नही है, फलतः, उक्तविषय में विषयी के धर्मों का अध्यास भी नहीं है।] इसके द्वारा यह कहा गया है—अध्यास का व्यापक भेद का अग्रहण है। प्रकृत में भेदाग्रह के विरुद्ध भेद का ग्रहण नहीं है, अतः, भेदाग्रह निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य अध्यास को भी निवृत्त कर देता है। 'मिथ्येति भवितुं युक्तम्' यहाँ तक भाष्य की यद्यपि से योजना है और आगे के भाष्य की 'तथापि' से योजना है।

कुसुमलता

आत्मा और अनात्मा ये दोनों सर्वथा विरुद्ध स्वभाव के हैं। आत्मा चैतन्य है और अनात्मा जड़ है। चैतन्य या आत्मा को अस्मत् अर्थात् अहं इस शब्द के द्वारा निर्देश करते हैं और आत्मा से भिन्न वस्तु को युष्मत् "त्वं" शब्द से निर्देश करते हैं। चैतन्य ज्ञानस्वरूप और जड संसार है। यह जड संसार चैतन्यरूप ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है। इसका विग्रह इस प्रकार है—युष्मच्च अस्मच्च युष्मदस्मदी, तावेव प्रत्ययौ गोचरौ चेति युस्मदस्मत्प्रत्ययगोचरौ तयोः युस्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः।

युष्मत् शब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति

इस प्रयोग में प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (पा० सू०) इस सूत्र से मपर्यन्तयुष्मद् एवं अस्मद् शब्द के स्थान में 'त्व' और 'म' का आदेश विधान होने से युष्मद् शब्द के अवयव युष्म के स्थान में त्व आदेश तथा अस्मद् शब्द के अवयव अस्म के स्थान में म आदेश होने से "त्वन्मत्प्रत्ययगोचरयोः" यह प्रयोग होना चाहिए।

त्वमावेकवचने इस पाणिनिसूत्र से एकवचन का अधिकार "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्र में है, अतः, एकवचन में ही मपर्यन्त युष्मद् और अस्मत् शब्द को 'त्व' और 'म' आदेश का विधान करता है। प्रकृत में एकवचन की विवक्षा न होने के कारण यहाँ 'त्व' और 'म' आदेश की प्रसक्ति नहीं है। अहं अद्वैत होने के कारण एक है, अतः, अस्मद् शब्द में एकत्व की विवक्षा तो अनिवार्य है। अस्मद् के अर्थ में वास्तविक भेद न होने पर भी औपाधिक भेद वर्तमान है, अतः, अस्मद् में एकत्व की विवक्षा न होने के कारण 'म' आदेश की प्रसक्ति नहीं है।

युष्मत् शब्द का प्रयोग सम्मुख अवस्थित पुरुष के प्रति होता है, त्वं शब्द के प्रयोग से सम्बोधन किया जाता है, अतः, त्वं शब्द से अहं चैतन्य की ही प्रतीति होती है, देह की प्रतीति नहीं होती है। मध्यमपुरुष में सम्बोधनार्थ की प्रतीति होती है। युष्मद् शब्द का प्रयोग अलिङ्ग चेतन के विषय में ही

होता है। भवत् शब्द का प्रयोग चेतन और अचेतन उभय साधारण है, इसी लिए इसका तीनों लिङ्गों में प्रयोग होता है। इसी विषय को भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

प्रत्यक्त्वापरभावश्चेत्युपाधी कर्तृकर्मणोः।
तयोः श्रुतिविशेषेण द्योतकौ मध्यमोत्तमौ ॥ वा०, प०

प्रत्यक्त्व और अपरत्व ये दो उपाधियाँ कर्त्ता और कर्म की हैं, उन्हीं के द्योतक मध्यम और उत्तम पुरुष है। आशय यह है कि मध्यम और उत्तम पुरुष के द्वारा चैतन्ययुक्त कर्त्ता और कर्म का बोधन होता है। त्वं शब्द के प्रयोग से कर्त्ता के अहङ्कारानास्पद चैतन्य प्रत्यक्त्व का बोध होता है और प्रयोगकर्त्ता का अहङ्कारास्पदचैतन्य परावक्त्व का बोध अहङ्कार शब्द से होता है। फलतः, दोनों के द्वारा चैतन्य का ही बोध होता है। अतः, जड विषय का बोधन दोनों में किसी शब्द के द्वारा नहीं हो रहा है, अतः, ये दोनों तम और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव के कैसे हैं ?

इस के उत्तर में वर्तिककार ने कहा है यद्यपि युष्मत् शब्द का प्रयोग सम्मुख स्थित चेतन में देखा है, तथापि प्रकृत में वह अर्थ सम्भव नहीं है। 'युषि हिंसायाम्' हिंसार्थक युष् धातु से युष्यसिभ्यां मदिक् [सू०सं०१३६] इस उणादिसूत्र से मदिक् प्रत्यय कर युष्मत् शब्द की सिद्धि होती है। हिंसाकर्मक युष्मत् शब्द होने के कारण यौगिक अर्थ लेकर हिंस्यमान पराग्वस्तु युष्मत् कहा जाता है। विषय भोग्य होने के कारण हिंस्य है। विषय की भोग्यता प्रदर्शन के लिए ही युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः—यह प्रयोग किया है। अत एव भाष्य में कहा गया है "विषयविषयिणोः" इदं शब्द की प्रतीति के योग्य दृश्य शरीर, अन्तःकरण आदि विषय है। विषयी दृग्रूप है, स्वयं प्रकाशमान अपने व्यवहार में अपने से अतिरिक्त की अपेक्षा नहीं रखनेवाला शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। दूसरे शब्द में प्रत्यक् चैतन्य अस्मद् शब्द का अर्थ है। अर्थात् कूटस्थरूप आत्मा अस्मत् शब्द का अर्थ होता है।

जैसे प्रकाश और अन्धकार में परस्पर सारूप्य या सम्बन्ध नहीं है,—वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं वैसे ही चैतन्यरूप आत्मा के साथ इस जड जगत् का

किसी प्रकार का सादृश्य या सम्बन्ध कुछ भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जड और चैतन्य का परस्पर किसी प्रकार का सादृश्य नहीं है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध-स्वभावता किस तरह की है? (१) निवर्त्यनिवर्त्तकभावरूप=जैसे प्रकाश अन्धकार का निवर्त्तक होता है। या (२) सहानवस्थायित्व=(एक साथ न रहना) जैसे अन्धकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकता है। विषय और विषयी में परस्पर निवर्त्यनिवर्त्तकभाव नहीं है, कारण, इन दोनों में निवर्त्य-निवर्तकभाव का अभाव है। इन दोनों का साथ में अवस्थान ही देखा जाता है। इन दोनों विरोधों को स्वीकार करने पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः, परस्पर विलक्षणता ही प्रकृत में विरुद्धस्वभावत्व है। अत्यन्त विलक्षणत्व दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समान रूप से वर्तमान है इसलिए वैलक्षण्य में ही यह दृष्टान्त है। अत्यन्तवैलक्षण्य होने से ही परस्पर तादात्म्याध्यास की सम्भावना नहीं है।

स्वरूपतः अत्यन्तवैलक्षण्य परस्पर–तादात्म्याध्यास न होने में कारण नहीं है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार में अत्यन्त वैलक्षण्य रहने पर भी उल्लू को प्रकाश में अन्धकार का तादात्म्याध्यास होता है। परस्पर भेदरूप में अवभासत्वलक्षण वैलक्षण्य परस्पर तादात्म्याध्यास न होने का कारण है। उल्लू को प्रकाश और अन्धकार में परस्पर भेद का अग्रहण होने से दोनों में तादात्म्य का आरोप होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भिन्नरूप से प्रतिभासमान अन्धकार और प्रकाश में परस्पर तादात्म्य अर्थात् अभेद नहीं हो सकता है। इसी अर्थ को अवगत कराने के लिए भाष्य में कहा गया है "इत-रेतरभावानुपपत्तौ" प्रकृत स्थल में इतरेतरभाव का अर्थ इतरेतरत्व अर्थात् तादात्म्य है। भिन्न धर्मी का भिन्न धर्मी में रहना इतरेतरभाव, इसकी अनुप-पत्ति, यह अर्थ स्वीकार करने से, धर्मी की धर्मी में स्थिति किसी सम्बन्ध से ही हो सकती है, अतः, इतरेतरभाव का पूर्वोक्त अर्थ स्वीकार करने पर दो धर्मी का तादात्म्याध्यास मानकर उनके संसर्गाध्यास का ही निषेध सिद्ध होगा, दो धर्मिओं के तादात्म्य का निषेध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सिद्ध का साधन

होगा। कारण, सिद्धान्ती ने दो धर्मिओं का तादात्म्य-अध्यास स्वीकार किया है और दो धर्मिओं का संसर्गाध्यास का निषेध किया है। इसलिए इतरेतर-भाव का अर्थ, भामतीकार ने इतरेतरत्व अर्थात् तादात्म्य स्वीकार किया है। "इतरेतरभावानुपपत्तौ" इस भाष्य का आशय व्यक्त करते हुए भामतीकार का यही तात्पर्य है कि—तादात्म्याध्यास की अनुपपत्ति सिद्ध होने पर। इसका अनुमान निम्नलिखित रूपमें प्रदर्शित किया जा सकता है—युष्मदस्मत्प्र-त्ययगोचर रूप से और विषयविषयीभाव से कथित अनात्मा और आत्मा, (पक्ष) परस्परतादात्म्यप्रतीत्यापन्न नहीं है, (साध्य) इतरेतरानात्मरूप से प्रतिभासमान होने से (हेतु) अन्धकार और प्रकाश के समान (उदाहरण)। प्रकृत में इतरेतरतादात्म्यापन्न नहीं है इसको साध्यरूप से स्वीकार करने पर सिद्धसाधन दोष होगा, कारण, अनात्मा और आत्मा परस्पर तादात्म्यापन्न नहीं है यह सिद्ध ही है, अतः, साध्यरूप में तादात्म्यप्रतीत्यापन्न नहीं है—यही साध्य है। कारण, अनात्मा और आत्मा में तादात्म्य की प्रतीति होती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि अनात्मा और आत्मा, इन दो धर्मिओं में परस्पर तादात्म्य अध्यास नहीं हो सकता है। किन्तु, उक्त धर्मिओं का तादात्म्य अध्यास नहीं होने पर भी इन दो धर्मिओं के धर्मों के अध्यास में क्या आपत्ति है? फलतः, अनात्मरूप विषय के धर्म जाड्य एवं अनित्यत्व आदिका और विषयिस्वरूप आत्मा के धर्म चैतन्य, नित्यत्व आदि का अर्थात् अनात्मभूत विषय में रहने वाले धर्मों का विषयीभूत आत्मा में एवं विषयीभूत आत्मा में रहनेवाले धर्मों का अनात्मभूत विषय में परस्पर अध्यास होने में क्या आपत्ति है? लौकिक उदाहरणों के विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि धर्मिओं का अध्यास होने पर ही धर्मों का अध्यास होता है। जैसे—रस्सी रूप धर्मी में सर्परूप धर्मी का अध्यास होने पर ही सर्प के धर्मों का भी अध्यास होता है। "यदि धर्मिओं के अध्यास के बिना भी धर्मों का अध्यास कहीं देखा जाता तो प्रकृत में इस सन्देह का औचित्य सिद्ध होता। इस आ-शङ्का को मन में रखकर ही मिश्र जी ने आगे के उदाहरण से धर्मी के अध्यास के बिना भी धर्म के अध्यास के स्थल को उद्धृत किया है। देखा जाता है कि

दो धर्मिओं का परस्पर भेद प्रतीत होने पर भी अनेक धर्मों का अध्यास होता है। जैसे—स्फटिकमणि जपा के पुष्प से भिन्नरूप में प्रतीत होने पर भी अर्थात् दोनों धर्मिओं का भेद रहने पर भी अत्यधिक स्वच्छता के कारण स्फटिकमणि जपा पुष्प का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लाल स्फटिक है यह प्रतीत होता है, जपा पुष्प से स्फटिकमणि का भेदरूप से ग्रहण होने पर भी जपापुष्प के धर्म लालिमा का अध्यास होता है। स्फटिक में जपा पुष्प में रहनेवाला आरुण्य धर्म (लालिमा) का अध्यास रहने पर भी जपापुष्प में स्फटिक में रहनेवाले धर्मों का अध्यास नहीं है। इस प्रकार धर्मिओं के अध्यास के बिना धर्मों के अध्यास का स्थल दिखाकर "लालस्फटिक" इस प्रतीति से लालिमा की भ्रान्ति का उदाहरण प्रदर्शित कर प्रकृत में आत्मा और अनात्मा में भेद रहने पर भी उनमें रहनेवाले धर्मों के अध्यास की आशङ्का से भाष्यकार ने कहा है-"उनके धर्मों का भी" भिन्न धर्मियों में अन्य धर्मी के धर्मों के अध्यास की अनुपपत्ति होगी।

दोनों धर्मियों में दोनों के धर्मों का अध्यास में पूर्वोक्त उदाहरण न रहने से इसके अनुसार दोनों धर्मियों में दोनों के धर्मों के भ्रम की सिद्धि न होने पर भी स्फटिक रूप धर्मी में जपाकुसुम के धर्म का अध्यास होने से प्रकृत में भी किसी एक धर्मी में भिन्न धर्मी के धर्मों का अध्यास मानने में क्या अनुपपत्ति है? इस विषय को सुस्पष्ट करते हुए तथा अध्यास की अनुपपत्ति का कारण वताते हुए भामतीकार ने—"अयमभिसन्धिः" इत्यादि कहा है। धर्म के अध्यास में दो कारणों की अभिव्यक्ति उक्त उदाहरणों से सिद्ध होती है (१)—दो धर्मियों में एक का दूसरी धर्मी से प्रतिबिम्ब होने पर धर्मों का अध्यास सम्भव है, जेसे—स्फटिकमणि में जपापुष्प के धर्मों का अध्यास। (२) दो धर्मियों में परस्पर तादात्म्याध्यास रहने पर उन दो धर्मियों में किसी एक के धर्मों का अध्यास सम्भव होता है। जैसे—शुक्ति और चांदी का तादात्म्याध्यास होने से शुक्ति में रजत के धर्मों का अध्यास होता है। प्रकृत में आत्मा और अनात्मा के धर्मों के अध्यास की सिद्धि के लिए प्रदर्शित दो धर्माध्यासों के निमित्तों में प्रथम निमित्त तो नहीं है। कारण, ऐसा देखा जाता है जो रूप-

वान् द्रव्य स्वच्छ रहता है, वह अत्यन्त स्वच्छता के कारण, भिन्नरूप से अनुभूत अन्य रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्बग्रहण करता है। प्रतिबिम्बग्राही उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित हो रहा है। प्रकृत में आत्मा रूपरहित विषयी (ज्ञान) है, अतः, रूपवान् न होने के कारण अनात्मा विषय में प्रतिबिम्बित होने में समर्थ नहीं हो सकता है, इसी प्रकार नीरूप आत्मा में भी विषय प्रतिबिम्बित होने में समर्थ नहीं हो सकता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त नियम = रूपवान् द्रव्य ही रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्बग्राही होता है—सार्वत्रिक नहीं है। कारण, नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब जल में देखा जाता है। आकाश का प्रतिबिम्ब प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है अतः, पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार है। ऐसी स्थिति में नीरूप आकाश के जल में प्रतिबिम्ब के समान नीरूप आत्मा का अनात्मा में प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? आचार्य वाचस्पति के मत में आकाश का प्रतिबिम्ब जल में नहीं होता हैं, वरन्, आकाश में अवस्थित सूर्य-किरण का प्रतिबिम्ब जल में होने से ही आकाश का जलमें प्रतिबिम्बत्व का भ्रम है सूर्य-किरण रूपवान् द्रव्य है, अतः, इसका जलमें प्रतिबिम्ब मानने पर भी पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार नहीं है, इसलिए, नीरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब विषय में नहीं हो सकता है। गुण में गुण नहीं रहता है, गुण द्रव्य में ही रहता है। रूप गुण है, अतः, रूप में रूप नहीं सकता है, फलतः, रूप नीरूप है और नीरूप रूप का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जैसे आरुण्य का प्रतिबिम्ब स्फटिकमणि में है, अतः, यहाँ भी नीरूप आत्मा का अनात्मा में प्रतिबिम्ब मानने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में इनका कहना है कि मैंने पूर्व में ही यह व्यक्त कर दिया है कि द्रव्य का प्रतिबिम्ब यदि कहीं होता है तो रूपवान् द्रव्य का ही होता है। उक्त स्थल में जो व्यभिचार है वह द्रव्य नहीं है रूप गुण है और मैंने द्रव्य के विषय में यह नियम स्वीकार किया है द्रव्य का प्रतिबिम्ब यदि होगा तो रूपवान् द्रव्य का ही होगा। चिदात्मा द्रव्य है, अतः,

इसका प्रतिविम्ब नहीं हो सकता है क्योंकि यह रूपवान् नहीं है।[1] इस विषय के समर्थन के लिए प्राचीनाचार्यों की उक्ति का उद्धरण भी आचार्य ने प्रस्तुत किया है—शब्द, गन्ध और रस का कैसा प्रतिबिम्ब हो सकता है।

इस प्रकार पूर्वकल्प के आधार पर धर्मी का प्रतिविम्ब न होने से धर्म का अध्यास सम्भव नहीं है-इसका विश्लेषण भामतीकार ने प्रदर्शन किया है।

द्वितीय कल्प के आधार पर धर्म के अध्यास की असम्भवता का प्रतिपादन आगे की पंक्तियों से हो रहा है। प्रकृतस्थल में विषय धर्मी और विषयी धर्मी का परस्पर ऐक्य या तादात्म्याध्यास सम्भव हो तो उनके धर्मों का भी सम्बन्ध या तादात्म्याध्यास सम्भव हो। जैसे तपे हुए लोहे में वह्नि का तादात्म्य हो जाने से वह्नि के धर्म का भी अध्यास होता है "अन्योऽन्यात्मसंभेदेनेव" परस्पर तादात्म्याध्यास होने पर ही। फलतः विषय = अनात्मधर्मी और विषयी चिदात्मधर्मी का परस्पर तादात्म्याध्यास होने पर ही इन दो धर्मिओं के धर्मों का भी परस्पर तादात्म्याध्यास रूप विनिमय होगा। अर्थात् दो में एक धर्मी में अन्य धर्मी के धर्म का अध्यास होगा। प्रकृत में आत्मा और अन्तःकरण अर्थात् विषय और विषयिरूप धर्मी परस्पर तादात्म्याध्यासानापन्न है अर्थात् ये दोनों धर्मी अत्यन्त भेदरूप से गृहीत होते हैं तब इन दो धर्मिओं के धर्म भी विनिमयरूप से परस्पर अध्यासानापन्न है अर्थात् इन दोनों के धर्म भी अमिश्रितरूप से ही रहेंगे। धर्मों के अध्यासानापन्न रहने में हेतु-का प्रदर्शन करते हुए भामतीकार ने कहा है—दोनों के धर्मों के आश्रय भिन्न-भिन्न धर्मी है। इन दो धर्मिओं का परस्पर भेद रहने से भिन्न धर्मी में आश्रित धर्मों का आश्रय अन्य धर्मी नहीं है अर्थात् अन्य धर्मी में अन्य धर्मी के धर्मों के अना-

---

१. इस स्थल में न्यायवासना प्रबल है। चिदात्मा के द्रव्य होने में कोई कारण नहीं है। द्रव्य का लक्षण चिदात्मा में घटित नहीं होता है साथ ही वेदान्तमत में द्रव्य और गुण का विभाजन भी इस प्रकार नहीं है जिसके आधार पर ब्रह्म को द्रव्य मान लिया जाय।

अयत्वज्ञान होने से धर्मों का विनिमय सम्भव नहीं है। इन धर्मों के दो आश्रयों का धर्मों के मध्य में परस्पर व्यधान रहने से धर्मों का विनिमय किसी भी तरह सम्भव नहीं है। विषय=अचेतन के विपरीत चैतन्यरूप में अवस्थित चिदात्मक विषयी का और उसके धर्मों का विषय में अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अध्यास मिथ्या है अर्थात् अध्यास नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है—मिथ्या शब्द अपह्नव अर्थात् प्रत्याख्यानपरक है। आशय यह है कि चिदात्मक विषयी में देह, इन्द्रिय, बुद्धि, आदि विषय का तादात्म्याध्यास नहीं है, इसीलिए चिदात्मक विषयी में देह, इन्द्रिय आदि विषय के धर्म का अध्यास भी नहीं है। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि विषय में चिदात्मक विषयी का तादात्म्याध्यास नहीं है और इसीलिए उक्त विषय में चिदात्मक विषयी के धर्मों का अध्यास भी नहीं है।

उक्त अध्यास न होने का कारण निरूपण करते हुए भामतीकार ने कहा है—जिस विषय का अध्यास जिसमें होता है उसके साथ उसका भेदाग्रह रहना आवश्यक है। भेदाग्रह अध्यास का व्यापक है और व्यापक के न रहने पर उसके व्याप्य का सद्भाव नहीं हो सकता है। प्रकृत में चिदात्मा में भामती में पूर्वोक्त प्रदर्शित रीति से देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विषयों का भेदग्रह सिद्ध है। अर्थात् शरीर आत्मा नहीं है, इत्यादि प्रतीति होने से शरीरप्रतियोगिक-भेद का अनुभव आत्मा में हो रहा है। अतः, भेदग्रह के रहने से भेदाग्रह को निवृत्त करता हुआ भेदाग्रह से व्याप्य अध्यास को निवृत्त कर देता है। अर्थात् भेदाग्रह अध्यास का व्यापक होने से व्यापकीभूत भेदाग्रह के अभाव में व्याप्यभूत अध्यास का अभाव है।

यद्यपि अहंकारातिरिक्त आत्मा में अहंकार से भेद का अग्रह न होने से आत्मा में अहंकारका तादात्म्याध्यास उचित है, अतः, अहंकारादिगत कर्तृत्वादि धर्म का अध्यास भी आत्मा में होना ही चाहिए। तथापि अहंकार से अतिरिक्त आत्मा में प्रमाण नहीं है। अहंकार से अतिरिक्त आत्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, कारण, अहम् (मैं) इस आत्मा का अहंकारात्मरूप से ही अनुभूत होता है। अनुमान प्रमाण भी नहीं है, कारण, उसकी व्याप्ति नहीं है।

आगम प्रमाण भी नहीं है, कारण, अहंकार से अतिरिक्त बोधक आत्मा में आगम प्रमाण रहने पर भी आत्मा का अहंकाररूप से जो प्रत्यक्ष हो रहा है, उस प्रत्यक्ष के विरोध से आगम को गौणार्थक ही मानना उचित होगा, इसी पूर्वपक्ष के आधार पर आगे की भामती की योजना होती है।

भामती में इस भाष्य के शङ्काग्रन्थ में 'यद्यपि' पद देकर योजना की है। "मिथ्येति भवितुं युक्तम्" यहां तक शङ्का ग्रन्थ है। इस शङ्काग्रन्थ के वाद 'तथापि' पद का प्रयोग होगा। "युष्मदस्मद्" इत्यादि भाष्य से "तथापि" इससे पूर्व के भाष्य से अध्यासाभाव का हेतु भेदग्रह है उसके रहने से अध्यास का अभाव है। "तथापि" इत्यादिपरिहार भाष्य के द्वारा भेदग्रह (अध्यास के अभाव का हेतु) ही असिद्ध है—यह सूचित होता है। इसी का विवरण आगे के भामती ग्रन्थ से होगा।

पूर्वोक्त भाष्य और भामती का संक्षिप्त सारांश।

ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए प्रथमतः वेदान्त वाक्यार्थका श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश वेदान्त में किया गया है। मनन अर्थात् विचार कार्य की सुविधा के लिए व्यासदेव ने इस वेदान्त दर्शन की रचना की है। यद्यपि अन्य दर्शनों का प्रणयन भी इसी उद्देश्य से हुआ है, तथापि इस दर्शन का वैशिष्ट्य यह है कि उपनिषद् के वाक्यार्थ के विचार-व्याज से दार्शनिक तत्त्वों की यथाक्रम में आलोचना हुई है, अर्थात् इस में उपनिषद्-वाक्यार्थ-विचार एवं दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का समावेश किया गया है।

इस ग्रन्थ के "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र में प्रथम आलोच्य विषय ब्रह्म का जिज्ञास्यत्व या विचार्यत्व है और "तद्विजिज्ञासस्व" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" आत्मा वारे द्रष्टव्य, श्रोतव्यः इत्यादि कुछ श्रुतिओं से एवं "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कतिपय श्रुतिवाक्यों से, उत्पन्न संशय की निवृत्ति है। द्वितीय पक्ष में ब्रह्मज्ञान से ही अनर्थनिवृत्तिरूपानन्दात्मकमुक्तिस्वरूप प्रयोजन सिद्ध होने से ब्रह्म का विचार्यत्व सिद्ध किया गया है।

आचार्य शंकर ने इस विषय को सुचारु रूप से अवगत कराने के लिए भाष्यारम्भ में ही उपक्रमणिका दी है। इस उपक्रमणिका का नाम अध्यास-भाष्य है। इस अध्यासभाष्य में उन्होंने कहा है कि अनादि अनन्त सकलजन-प्रत्यक्ष कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्त्तक सभी अनर्थों का साधन मिथ्याप्रत्ययरूप अध्यास की निवृत्ति के लिए वेदान्तशास्त्र में आत्मैकत्वविद्या कही गई है। अध्यास के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में उत्थापित आपत्तियों को ही संक्षेप में देने के लिए "युष्मदस्मत्" इत्यादि भाष्य से आरम्भकर "मिथ्येति भवितुं युक्तम्" यह भाष्य लिखा गया है। अत्यन्त विरुद्धपदार्थों की अभेदरूप में प्रतीति नहीं होती है और इसी कारण से एक पदार्थ के धर्म उससे अत्यन्त-विरुद्ध-पदार्थों के ऊपर आरोपित भी नहीं होते हैं, इसीलिए आत्मा में अनात्मा का अथ वा अनात्मधर्मों का भ्रम या अनात्मा में आत्मा का या आत्मधर्मों का भ्रम भी सम्भव नहीं होता है। अनन्तर आचार्य शंकर सकललोकव्यवहार से सिद्ध, इस भ्रम का लक्षण और भ्रम की निवृत्ति से सभी अनर्थहेतुसंशय को निवृत्ति साथ ही इस भ्रम की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है—इत्यादि विषयों का प्रदर्शनपूर्वक सूत्र की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रथम संक्रान्त अध्यास का पूर्ण स्वरूप और इसका कारण क्या है.—इसकी अवगति के लिए प्रथम यह समझना आवश्यक है कि—(१) वेदान्त का उद्देश्य क्या है (२) इस उद्देश्य की सिद्धि के उपाय के साथ अध्यास का सम्बन्ध क्या है, (३) इस अध्यास के विरुद्ध में क्या आपत्ति है?

इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि अध्यास के निरूपण के लिए उक्त तीन विषयों का ज्ञान नितान्त-एकान्त अपेक्षित है।

वेदान्त का उद्देश्य।

वेदान्त का उद्देश्य मुक्ति है। श्रुतिमें कहा गया है कि "सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१।३) "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० २।२।८) अर्थात्, ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं देश काल और वस्तु रूप परिच्छेद से रहित है। ब्रह्म एक ही अद्वितीय है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमपुरुषार्थ का लाभ

करता है। आत्मवेत्ता शोक से मुक्त होता है। ब्रह्मवेता ब्रह्म ही हो जाता है इत्यादि।

इन श्रुतिवाक्यों से यही प्रतिपादित हो रहा है कि जीव की ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति और अविद्यानिवृत्तिपूर्वक आनन्दरूपता ही मुक्ति है। इस मुक्ति के होने पर वह संसार से विमुक्त हो जाता है, संसार से पूर्व जिस प्रकार वह ब्रह्म था, अर्थात्, अध्यास से पूर्व कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित सर्वज्ञ था वैसे ही मोक्ष होने से भी उसी ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। यह जीवरूपता वास्तविक नहीं है। कारण, ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है और वह कूटस्थनित्य है, इसलिए, उसका विकास परिणाम या अवस्थान्तर नहीं हो सकता है। यह सत्य है कि वेदान्त में ब्रह्मस्वरूप आदि के निरूपण के लिए एकमात्र श्रुति ही प्रमाण है। अतः, उपनिषद् के आधार पर ही वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। अब यह विचारणीय है कि इसका साधन क्या है, और उसके साथ अध्यास का सम्बन्ध क्या है ?

वेदान्त के उद्देश्य की सिद्धि के उपाय के साथ अध्यास का सम्बन्ध।

यदि ब्रह्मभावापत्ति संसार-निवृत्ति या अविधास्तमय ही मुक्ति है तब संसार-निवृत्ति या अविधास्तमय का साधन ही मुक्ति का साधन है। संसार को वास्तव या यथार्थ मानने पर उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। संसार को अवास्तव या अयथार्थ मानने पर ही इसकी निवृत्ति सम्भव हो सकती है। शाङ्करवेदान्त सिद्धान्त में संसार को वास्तव या यथार्थ नहीं माना है। कारण, श्रुति के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की वास्तविक-सत्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में संसार का अस्तित्व रस्सी में परिकल्पित सर्प के समान अथवा शुक्ति में भ्रान्ति कल्पित चाँदी के समान आध्यासिक है—यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जिस वस्तु का अस्तित्व आध्यासिक रहता है, उसको निवृत्त करने के लिए उस वस्तु का स्वरूपज्ञान आवश्यक होता है, जिस वस्तु के अज्ञान के कारण उस आध्यासिक वस्तु की प्रतीति हो रही है।

जिस वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण आध्यासिक वस्तु की प्रतीति होती है उस वस्तु के स्वरूपज्ञान से अतिरिक्त आध्यासिक वस्तु के अस्तित्व की निवृत्ति के लिए अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए प्रकृत में अज्ञान या अज्ञान (अविद्या) निबन्धन संसार की निवृत्ति का एकमात्र साधन ब्रह्मज्ञान ही है। फलतः, यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म का स्वरूपज्ञान ही अज्ञान और उसके कार्य (संसार) की निवृत्ति का साधन है—यही अविद्यास्तमय अखण्डानन्द मोक्ष है।

इस विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

कभी-कभी अन्धकार में रस्सी को देखने से साँप की भ्रान्ति हो जाती है और इस भ्रान्ति से हमलोगों को भयकम्पन आदि होने लगता है। कभी कभी तो भागने के प्रसङ्ग में गिर जाने के कारण बहुत दुःखभोग करना पड़ता है। इस अनर्थ की निवृत्ति के लिए अन्धकार में उस कल्पित सर्प के ऊपर कितना भी दण्ड का प्रहार करें फिर भी उस सर्प की निवृत्ति नहीं होती है। किन्तु, यदि प्रकाश की सहायता से उस सर्पभ्रम के आधार रस्सी को अच्छी तरह देखलें तो उसी क्षण वह सर्पभ्रान्ति, वह कल्पित सर्प और वह भ्रान्तिमूलक भय निवृत्त हो जाते हैं। अतः, यही सिद्ध होता है कि कल्पितवस्तु की निवृत्ति करने के लिए उस भ्रान्ति का अधिष्ठान स्वरूप जो वस्तु है अर्थात्, जिस आधार वस्तु पर भ्रम के कारण कल्पित वस्तु की प्रतीति होती है उस आधार (स्वरूप वस्तु) का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है, अन्य किसी भी उपाय से भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में ब्रह्मविषयक जो अज्ञान वही इस संसार का मूल कारण है, एवं यह संसार ही हमलोगों के सभी अनर्थों का साधन है इसी लिए कोई भी दुःख से अमिश्रित सुख के लाभ करने में समर्थ नहीं होता है—यह सभी को सुस्पष्ट विदित है। इस संसार की निवृत्ति करने के लिए मणि, मन्त्र या अच्छी दवा का सेवन, चित्तवृत्तिनिरोधस्वरूप योग, यज्ञादिका अनुष्ठान या पूजा उपासनादि कुछ भी उपाय कार्यक्षम नहीं है। किन्तु ब्रह्मतत्त्वज्ञान ही इस अनर्थमय संसार की निवृत्ति के लिए साक्षात् साधन है। ऐसी स्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि मिथ्याज्ञान या

अध्यास ही संसार का कारण है। अध्यास या मिथ्याज्ञान को संसार का मूल न मानने पर ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अर्थात् अध्यास के अधिष्ठान जीवाभिन्नब्रह्मज्ञान से कभी भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। अध्यास या मिथ्याज्ञान को संसार का मूल न माना जाय तो संसार को सत्य मानना पड़ेगा, और संसार को वास्तविक मानने पर संसार की निवृत्ति नहीं होगी। अध्यास की सिद्धि होने पर ही मुक्ति का कथित उपाय उपायपदवाच्य हो सकता है, अन्यथा वह मुक्ति का उपाय नहीं होगा और साथ ही ब्रह्म जिज्ञास्य भी नहीं होगा।

अध्यास के सम्बन्ध में उत्थापित आपत्तियाँ।

प्रथम यह विचारणीय है कि पूर्व में प्रदर्शित मुक्ति का स्वरूप सङ्गत है या नहीं ? पूर्व प्रदर्शित मुक्ति का स्वरूप सङ्गत नहीं है। कारण, यदि जीव और ब्रह्म एक ही पदार्थ सिद्ध हो तब जीव और ब्रह्म का भेद कल्पित सिद्ध होगा। किन्तु, यह वास्तविक नहीं हो सकता है। कारण, वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सत्य ज्ञान और आनन्द कहा गया है। जैसे—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) एकमेवाद्वितीयम् (छा० ६।२।१) इत्यादि। इस ब्रह्म में जीव का धर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रह सकता है। उपनिषद् में भी जीव ही को भोक्ता और कर्त्ता कहा गया है। जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

(श्वेताश्वतर २। ३। १)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। एको बहूनां यो विदधाति कामान्॥

दो पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं, उनमें एक पिप्पल (कड़ुआ तीता) फल खाता है और दूसरा केवल दर्शन कर ही आनन्द करता है। अर्थात्, जीव कर्त्ता और भोक्ता है एवं ईश्वर केवल द्रष्टामात्र है। वह नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है। वह एक होकर भी अनेक जीवों की कामना पूर्ण करता है इत्यादि। इससे यह सुस्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म अभिन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी लोगों का अनुभव भी इसमें प्रमाण है। कारण,

अहं (मैं) यह अनुभव जीवात्मा को ही विषय करता है और यह जीव प्रत्येक देहभेद से भिन्न है, यह भी अनुभव के द्वारा ही अवगत हो रहा है। फलतः, श्रुतिवाक्य एवं सार्वजनिक अनुभव-इन दो प्रमाणों की सहायता से—यह विषय अवगत हो रहा है. कि—जीव और ब्रह्म कभी भी अभिन्न नहीं हो सकता है। इन दोनों का परस्पर भेद अज्ञानकल्पित या आध्यासिक भी नहीं हो सकता है। फलतः, पूर्व में जो कहा गया है—अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष है—यह भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक रहने पर इस जीव और ब्रह्म के भेद विषयकज्ञान को अज्ञान या भ्रम नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि जीव और ब्रह्म का भेद भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है और इसकी निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं—इत्यादि जो पूर्व में कहा गया है, यदि इसको स्वीकार किया जाय तब संसार भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है, अर्थात्, भ्रम या अज्ञान का कार्य ही यह संसार है-यह किसी प्रकार सङ्गत नहीं हो सकता है ,और ब्रह्मज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है—यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। कारण, भ्रम या अज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम। जैसे—शुक्ति में रजत का भ्रम। (२) एक धर्मी में अन्य धर्मी के धर्म का भ्रम। जैसे—स्फटिक में जपा पुष्प की लालिमा का भ्रम। अब यह विचारणीय है कि जगत् या संसार को भ्रम मानने पर इसको प्रथम प्रकार का भ्रम मानना पड़ेगा अर्थात्, एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम, कारण, अज्ञान या भ्रम जब होता है, तब इस भ्रम में एक आरोप्य और दूसरा अधिष्ठान अर्थात्, एक विशेष्य एवं दूसरा विशेषण होता है। जैसे—शुक्तौ इदं रजतम् (शुक्तिमें यह रजत है) —इस प्रकार भ्रमज्ञान होता है, तब इस भ्रमज्ञान में आरोप्य या विशेषण रजत होता है और अधिष्ठान या विशेष्य इदम् (यह) होता है। इनमें आरोप्य या विशेषण का पूर्व से अनुभव अपेक्षित है और विशेष्य या अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि अधिष्ठान या विशेष्य को ज्ञेय वस्तु होना चाहिए, अधिष्ठान ज्ञान का विषय (ज्ञेय) या ज्ञानविषय के योग्य नहीं हो तो उसमें भ्रम हो ही नहीं सकती है।

सांसारिक सभी ज्ञान को भ्रम मानने पर इसका अधिष्ठान या विशेष्य ब्रह्म है और आरोप्य या विशेषण जगत् होगा अथवा इस भ्रम का अधिष्ठान या विशेष्य जगत् या संसार और विशेषण या आरोप्य ब्रह्म होगा अर्थात्, ब्रह्ममें इस संसार का भ्रम या जगत् में ब्रह्म का भ्रम इन दो में एक मानना होगा।

किन्तु पूर्व में उल्लिखित वेदान्त में दो में किसी एक की सम्भावना नहीं है। कारण, प्रथम पक्ष का अवलम्बन कर यह कहा जाय कि ब्रह्म को अधिष्ठान कर इस जगत् का भ्रम होता है, तब शुक्तौ इदम् रजतम् इस स्थल में जैसे शुक्ति को ''इदं'' पद का वाच्य और इन्द्रियसन्निकृष्ट एवं ज्ञेय वस्तु स्वरूप माना जाता है, वैसे ही ब्रह्म को भी ''इदं'' पदवाच्य इन्द्रियसन्निकृष्ट और ज्ञेय वस्तु मानना होगा। किन्तु, वास्तव पक्ष स्वीकार करने पर अद्वैत वेदान्त में यह नहीं हो सकता है। कारण, वेदान्त में ब्रह्म सभी का आत्मभूत एवं सभी में अनुस्यूत व्यापक पदार्थ है। जो सर्वगत और सभी का आत्मभूत है, वह इन्द्रिय का सन्निकृष्ट नहीं हो सकता है। कारण, सनिकर्ष व्यवधान सापेक्ष है, व्यवधान नहीं रहने पर सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि इस मत में ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेय स्वरूप नहीं है वह स्वयं प्रकाश है ज्ञान से प्रकाश्य नहीं है। इसलिए, ब्रह्म जगत् रूप भ्रम का अधिष्ठान नहीं होता है।

यदि प्रदर्शित दोनों पक्षों में द्वितीय पक्ष माना जाय अर्थात् जगत् ही उक्त भ्रम का इदं पदवाच्य वस्तु के समान अधिष्ठान है, ब्रह्म ही रजत के समान आरोप्य या विशेषण स्वरूप है—यह कथन भी सङ्गत नहीं है। कारण, वेदान्तमत में जगत् की वास्तव सत्ता नहीं है और अधिष्ठान के सत्य न होने पर उसमें भ्रम भी नहीं हो सकता है। एक विषय यह भी देखने योग्य है कि वेदान्तमत में आरोप्य की सत्ता से अधिष्ठान की सत्ता न्यून या लघु होती है तब भ्रम नहीं होता है। इसलिए, वेदान्तमत में जगत् की व्यवहारिक सत्ता है और इस व्यावहारिक अस्तित्व वाले जगत् को भ्रम का अधिष्ठान माना जाय तो ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता अधिक या समान हो जायगी। अत एव पारमार्थिक सत्यता जगत् में नहीं हो सकती है। ऐसी स्थित में जगत् अज्ञानमूलक या भ्रान्तिमूलक सिद्ध नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जगत् का मूल भ्रम या अज्ञान प्रदर्शित द्वितीय प्रकार का भ्रम अर्थात्, स्फटिक में जपापुष्प के लौहित्य के भ्रम के समान धर्मी में धर्म का भ्रम है, तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, स्फटिक में जपालौहित्य का भ्रम होने पर जपापुष्प और स्फटिक परस्पर-भिन्नरूप में प्रतीत होने पर इन दोनों में सामीप्यरूप सम्बन्ध के कारण स्फटिक में जपालौहित्य धर्म का भ्रम सिद्ध होता है। प्रकृतस्थल में यह सम्भावना नहीं है। कारण, अन्धकार एवं आलोक के समान परस्पर विरुद्धस्वभाव जड और चैतन्य में सामीप्यरूप कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। धर्म का आरोपरूपभ्रम जिस स्थान में होता है, वहाँ अधिष्ठान रूपवान् द्रव्य ही होता है। किन्तु, प्रकृतस्थल में उपनिषद् में ब्रह्म को "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कहा है, अतः, स्फटिक के समान अर्थात्, रूपवान् वह नहीं है। फलतः, ब्रह्म को अधिष्ठान या आरोप्य मानकर अर्थात्, स्फटिकस्थानीय या जपालौहित्यस्थानीय मानकर भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि ब्रह्मविषयक अज्ञानमूलक संसार नहीं है। भ्रम का यह स्वभाव है कि जिस आकार का भ्रम होता है उसी आकार का एक प्रमाज्ञान इस भ्रम से पूर्व उस व्यक्ति को नितान्त आवश्यक है, और उस प्रमाज्ञान से जनित-संस्कार को उस भ्रम का मुख्य कारण माना जाता है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प का या शुक्ति में चांदी का भ्रम होता है, तो उससे पूर्व में जिस व्यक्ति को इस समय भ्रम हो रहा है उसको वास्तविक सर्प में "यह सर्प है" या प्रकृत रस्सी में "यह रस्सी है" और प्रकृत रजत में "यह चांदी है" इस प्रकार का भ्रम के आकार के समान प्रमाज्ञान या यथार्थज्ञान रहता है, इस प्रमाज्ञान से जनित-संस्कार ही बाद में भ्रम का हेतु होता है। इसलिए, सिद्ध होता है कि भ्रम का समानाकार यथार्थानुभव न रहने पर भ्रमज्ञान सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में ब्रह्म में जगत् का भ्रम या जगत् में ब्रह्म का भ्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कारण, यदि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है, तब पूर्व में भ्रमज्ञान का समानाकार प्रमाज्ञान हुआ था, अर्थात्, जगत् भ्रम के

आकार के समान आकार वाला एक यथार्थज्ञान हुआ था। इस प्रकार का प्रमा-ज्ञान स्वीकार करने पर जगत् को सत्य मानना पड़ेगा, और जगत् को सत्य मानने पर उसकी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है तब उक्त युक्ति के अनुसार जगत् एवं ब्रह्म दोनों को ही सत्य माना पड़ेगा, और इसके फलस्वरूप ब्रह्म को ज्ञेय मानना पड़ेगा तब ब्रह्मज्ञान से जगत् की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

यह जो कहा गया है कि अज्ञान ब्रह्म को आवृत कर स्वयं इस विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि करता है। यह जगत् अज्ञान का ही परिणाम है, जैसे शुक्ति के स्वरूप को आवृत कर अज्ञान शुक्ति को रजतरूप में परिकल्पित करता है, वैसे ही जगत् ब्रह्मावरक अज्ञान की ही सृष्टि है। किन्तु, यह भी कैसे सम्भव हो सकता है? कारण, ब्रह्म स्वयं प्रकाशस्वरूप है और अज्ञान अन्धकाररूप-आवरक वस्तु विशेष है। जैसे प्रचण्ड-प्रकाश-सूर्यमण्डल को अन्धकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता है, वैसे ही इस स्वप्रकाश सर्वव्यापी अविनाशी ब्रह्म को अज्ञान भी आवृत नहीं कर सकता है। आवरक एवं आवरणीय दो वस्तुओं में कोई सम्बन्ध सम्भव होने पर ही आवरणरूपकार्य सम्भव हो सकता है। प्रकृत स्थल में जब वैसा कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, तब अज्ञान ब्रह्म का आवरण कैसे कर सकता है? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि—जो अज्ञान ब्रह्मस्वरूप का आवरण कर संसाररूप अनर्थ की सृष्टि करता है, उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान हेतु नहीं हो सकता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, और उसकी स्थिति में ही अज्ञानावरण होने पर पुनः उसी के ज्ञान से उसी अज्ञानावरण का नाश कैसे सम्भव हो सकता है? यह कभी भी सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में वेदान्त शास्त्र में कहा गया ब्रह्मस्वरूप अधिष्ठान ज्ञान के के द्वारा कल्पित भ्रान्तिरूप संसार का निवृत्तिस्वरूप मोक्षफल किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है। इसका फल होगा कि जड और चेतन का परस्पर अध्यास भी मिथ्या हो जायेगा। इसलिए, अध्यास की निवृत्ति के

अहं (मैं) यह अनुभव जीवात्मा को ही विषय करता है और यह जीव प्रत्येक देहभेद से भिन्न है, यह भी अनुभव के द्वारा ही अवगत हो रहा है। फलतः, श्रुतिवाक्य एवं सार्वजनिक अनुभव–इन दो प्रमाणों की सहायता से—यह विषय अवगत हो रहा है. कि—जीव और ब्रह्म कभी भी अभिन्न नहीं हो सकता है। इन दोनों का परस्पर भेद अज्ञानकल्पित या आध्यासिक भी नहीं हो सकता है। फलतः, पूर्व में जो कहा गया है—अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष है—यह भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक रहने पर इस जीव और ब्रह्म के भेद विषयकज्ञान को अज्ञान या भ्रम नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि जीव और ब्रह्म का भेद भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है और इसकी निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं—इत्यादि जो पूर्व में कहा गया है, यदि इसको स्वीकार किया जाय तब संसार भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है, अर्थात्, भ्रम या अज्ञान का कार्य ही यह संसार है–यह किसी प्रकार सङ्गत नहीं हो सकता है ,और ब्रह्मज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है—यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। कारण, भ्रम या अज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम। जैसे—शुक्ति में रजत का भ्रम। (२) एक धर्मी में अन्य धर्मी के धर्म का भ्रम। जैसे—स्फटिक में जपा पुष्प की लालिमा का भ्रम। अब यह विचारणीय है कि जगत् या संसार को भ्रम मानने पर इसको प्रथम प्रकार का भ्रम मानना पड़ेगा अर्थात्, एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम, कारण, अ-ज्ञान या भ्रम जब होता है, तब इस भ्रम में एक आरोप्य और दूसरा अधिष्ठान अर्थात्, एक विशेष्य एवं दूसरा विशेषण होता है। जैसे—शुक्तौ इदं रजतम् (शुक्तिमें यह रजत है) —इस प्रकार भ्रमज्ञान होता है, तब इस भ्रमज्ञान में आरोप्य या विशेषण रजत होता है और अधिष्ठान या विशेष्य इदम् (यह) होता है। इनमें आरोप्य या विशेषण का पूर्व से अनुभव अपेक्षित है और विशेष्य या अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि अधिष्ठान या विशेष्य को ज्ञेय वस्तु होना चाहिए, अधिष्ठान ज्ञान का विषय (ज्ञेय) या ज्ञानविषय के योग्य नहीं हो तो उसमें भ्रम हो ही नहीं सकता है।

सांसारिक सभी ज्ञान को भ्रम मानने पर इसका अधिष्ठान या विशेष्य ब्रह्म है और आरोप्य या विशेषण जगत् होगा अथवा इस भ्रम का अधिष्ठान या विशेष्य जगत् या संसार और विशेषण या आरोप्य ब्रह्म होगा अर्थात्, ब्रह्ममें इस संसार का भ्रम या जगत् में ब्रह्म का भ्रम इन दो में एक मानना होगा।

किन्तु पूर्व में उल्लिखित वेदान्त में दो में किसी एक की सम्भावना नहीं है। कारण, प्रथम पक्ष का अवलम्बन कर यह कहा जाय कि ब्रह्म को अधिष्ठान कर इस जगत् का भ्रम होता है, तब शुक्तौ इदम् रजतम् इस स्थल में जैसे शुक्ति को "इदं" पद का वाच्य और इन्द्रियसन्निकृष्ट एवं ज्ञेय वस्तु स्वरूप माना जाता है, वैसे ही ब्रह्म को भी "इदं" पदवाच्य इन्द्रियसन्निकृष्ट और ज्ञेय वस्तु मानना होगा। किन्तु, वास्तव पक्ष स्वीकार करने पर अद्वैत वेदान्त में यह नहीं हो सकता है। कारण, वेदान्त में ब्रह्म सभी का आत्मभूत एवं सभी में अनुस्यूत व्यापक पदार्थ है। जो सर्वगत और सभी का आत्मभूत है, वह इन्द्रिय का सन्निकृष्ट नहीं हो सकता है। कारण, सनिकर्ष व्यवधान सापेक्ष है, व्यवधान नहीं रहने पर सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि इस मत में ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेय स्वरूप नहीं है वह स्वयं प्रकाश है ज्ञान से प्रकाश्य नहीं है। इसलिए, ब्रह्म जगत् रूप भ्रम का अधिष्ठान नहीं होता है।

यदि प्रदर्शित दोनों पक्षों में द्वितीय पक्ष माना जाय अर्थात् जगत् ही उक्त भ्रम का इदं पदवाच्य वस्तु के समान अधिष्ठान है, ब्रह्म ही रजत के समान आरोप्य या विशेषण स्वरूप है—यह कथन भी सङ्गत नहीं है। कारण, वेदान्तमत में जगत् की वास्तव सत्ता नहीं है और अधिष्ठान के सत्य न होने पर उसमें भ्रम भी नहीं हो सकता है। एक विषय यह भी देखने योग्य है कि वेदान्तमत में आरोप्य की सत्ता से अधिष्ठान की सत्ता न्यून या लघु होती है तब भ्रम नहीं होता है। इसलिए, वेदान्तमत में जगत् की व्यवहारिक सत्ता है और इस व्यावहारिक अस्तित्व वाले जगत् को भ्रम का अधिष्ठान माना जाय तो ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता अधिक या समान हो जायगी। अत एव पारमार्थिक सत्यता जगत् में नहीं हो सकती है। ऐसी स्थित में जगत् अज्ञानमूलक या भ्रान्तिमूलक सिद्ध नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जगत् का मूल भ्रम या अज्ञान प्रदर्शित द्वितीय प्रकार का भ्रम अर्थात्, स्फटिक में जपापुष्प के लौहित्य के भ्रम के समान धर्मी में धर्म का भ्रम है, तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, स्फटिक में जपालौहित्य का भ्रम होने पर जपापुष्प और स्फटिक परस्पर-भिन्नरूप में प्रतीत होने पर इन दोनों में सामीप्यरूप सम्बन्ध के कारण स्फटिक में जपालौहित्य धर्म का भ्रम सिद्ध होता है। प्रकृतस्थल में यह सम्भावना नहीं है। कारण, अन्धकार एवं आलोक के समान परस्पर विरुद्धस्वभाव जड और चैतन्य में सामीप्यरूप कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। धर्म का आरोपरूपभ्रम जिस स्थान में होता है, वहाँ अधिष्ठान रूपवान् द्रव्य ही होता है। किन्तु, प्रकृतस्थल में उपनिषद् में ब्रह्म को "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कहा है, अतः, स्फटिक के समान अर्थात्, रूपवान् वह नहीं हैं। फलतः, ब्रह्म को अधिष्ठान या आरोप्य मानकर अर्थात्, स्फटिकस्थानीय या जपालौहित्यस्थानीय मानकर भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि ब्रह्मविषयक अज्ञानमूलक संसार नहीं है। भ्रम का यह स्वभाव है कि जिस आकार का भ्रम होता है उसी आकार का एक प्रमाज्ञान इस भ्रम से पूर्व उस व्यक्ति को नितान्त आवश्यक है, और उस प्रमाज्ञान से जनित-संस्कार को उस भ्रम का मुख्य कारण माना जाता हैं। जैसे किसी को रस्सी में सर्प का या शुक्ति में चांदी का भ्रम होता है, तो उससे पूर्व में जिस व्यक्ति को इस समय भ्रम हो रहा है उसको वास्तविक सर्प में "यह सर्प है" या प्रकृत रस्सी में "यह रस्सी है" और प्रकृत रजत में "यह चांदी है" इस प्रकार का भ्रम के आकार के समान प्रमाज्ञान या यथार्थज्ञान रहता है, इस प्रमाज्ञान से जनित-संस्कार ही बाद में भ्रम का हेतु होता है। इसलिए, सिद्ध होता है कि भ्रम का समानाकार यथार्थानुभव न रहने पर भ्रमज्ञान सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में ब्रह्म में जगत् का भ्रम या जगत् में ब्रह्म का भ्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कारण, यदि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है, तब पूर्व में भ्रमज्ञान का समानाकार प्रमाज्ञान हुआ था, अर्थात्, जगत् भ्रम के

आकार के समान आकार वाला एक यथार्थज्ञान हुआ था। इस प्रकार का प्रमाज्ञान स्वीकार करने पर जगत् को सत्य मानना पड़ेगा, और जगत् को सत्य मानने पर उसकी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है तब उक्त युक्ति के अनुसार जगत् एवं ब्रह्म दोनों को ही सत्य माना पड़ेगा, और इसके फलस्वरूप ब्रह्म को ज्ञेय मानना पड़ेगा तब ब्रह्मज्ञान से जगत् की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

यह जो कहा गया है कि अज्ञान ब्रह्म को आवृत कर स्वयं इस विश्वप्रपञ्च की सृष्टि करता है। यह जगत् अज्ञान का ही परिणाम है, जैसे शुक्ति के स्वरूप को आवृत कर अज्ञान शुक्ति को रजतरूप में परिकल्पित करता है, वैसे ही जगत् ब्रह्मावरक अज्ञान की ही सृष्टि है। किन्तु, यह भी कैसे सम्भव हो सकता है? कारण, ब्रह्म स्वयं प्रकाशस्वरूप है और अज्ञान अन्धकाररूप-आवरक वस्तु विशेष है। जैसे प्रचण्ड-प्रकाश-सूर्यमण्डल को अन्धकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता है, वैसे ही इस स्वप्रकाश सर्वव्यापी अविनाशी ब्रह्म को अज्ञान भी आवृत नहीं कर सकता है। आवरक एवं आवरणीय दो वस्तुओं में कोई सम्बन्ध सम्भव होने पर ही आवरणरूपकार्य सम्भव हो सकता है। प्रकृत स्थल में जब वैसा कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, तब अज्ञान ब्रह्म का आवरण कैसे कर सकता है? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि—जो अज्ञान ब्रह्मस्वरूप का आवरण कर संसाररूप अनर्थ की सृष्टि करता है, उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान हेतु नहीं हो सकता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है, और उसकी स्थिति में ही अज्ञानावरण होने पर पुनः उसी के ज्ञान से उसी अज्ञानावरण का नाश कैसे सम्भव हो सकता है? यह कभी भी सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में वेदान्त शास्त्र में कहा गया ब्रह्मस्वरूप अधिष्ठान ज्ञान के के द्वारा कल्पित भ्रान्तिरूप संसार का निवृत्तिस्वरूप मोक्षफल किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है। इसका फल होगा कि जड और चेतन का परस्पर अध्यास भी मिथ्या हो जायेगा। इसलिए, अध्यास की निवृत्ति के

लिए ब्रह्मज्ञान भी निष्प्रयोजन है, और इस ब्रह्मज्ञान के लिए अद्वैतवेदान्तानुमोदित वेदान्तसूत्र का व्याख्यान भी निष्प्रयोजन है, अतः, वेदान्तशास्त्र का आरम्भ निष्फल है, अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती है।

यही मुक्ति एवं उसके साधननिर्णयमूलक अध्यास के विषय में पूर्वपक्षी की आपत्ति है। अद्वैतमतविरोधियों की इस प्रकार की आपत्तिओं को लक्ष्य कर आचार्य शङ्कर ने "युष्मदस्मत्प्रत्यय" से "मिथ्या भवितुं युक्तम्" भाष्य की रचना की है। इसमें अपने विरोधी दार्शनिकों के मतों का सार-सङ्कलन कर विरोधी दार्शनिकों के विभिन्न मतों का पर्यालोचन सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं इसमें द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, सिद्धान्त के आचार्य भास्कर रामानुजीय सभी वाद में होने वाले वेदान्तसूत्र के व्याख्याकार के आधार पर प्राचीनमतवादों के गूढ़ आशयों का एवं कपिल-कणाद गौतम-जैमिनि आदि आचार्यों के मर्मों का इस अध्यास भाष्य में सङ्कलन किया है। इतने संक्षेप में पूर्व मतवादों का प्रदर्शन कर अनवद्य अद्वैतमत की स्थापना ही इसका वैशिष्ट्य है और वैशिष्ट्य के गौरव के कारण इसको अतुलनीय माना गया है।

भामती :—

इदमत्राकूतम्—भवेदेतदेवम्–यद्यहमित्यनुभवे आत्मतत्त्वं प्रकाशेत, न त्वेतदस्ति। तथा हि समस्तोपाध्यनवच्छिन्नानन्तानन्दचैतन्यैकरसमुदासीनमेकमद्वितीयमात्मतत्त्वं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु गीयते।

पुष्पलता

(यद्यपि का व्याख्यान हो गया है प्रकृत भामती के द्वारा तथापि इत्यादि भाष्य की भूमिका कर रहे हैं।) इसका अभिप्राय यह है कि—यह ऐसा तव हो सकता, यदि अहं (मैं) इस अनुभव में आत्मतत्त्व प्रकाशित होता। किन्तु, ऐसा नहीं होता है। कारण, श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में इस प्रकार कहा गया है—आत्मा सभी प्रकार की उपाधिओं से अपरिच्छिन्न, (सभी प्रकार के विशेषणों से रहित) है अनन्त, आनन्द, चैतन्यैकरस, (चैतन्य एकरस भाव) उदासीन (निरपेक्ष) एक एवं अद्वितीय है।

भामती

न चैतान्युपक्रमपरामर्शोपसंहारैः क्रियासमभिहारेणेदृगात्मतत्त्वमभिदधति तत्पराणि सन्ति शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्तुम्। अभ्यासेन हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथा अहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीया सुन्दरीति, न न्यूनत्वमपि प्रगेवोपचरितत्वमिति।

अहमनुभवस्तु प्रादेशिकमनेकविधशोकदुःखादिप्रपञ्चोपप्लुतमात्मानमादर्शयन् कथमात्मतत्त्वगोचरः? कथं वाऽनुपप्लवः? न च—ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं चेति युक्तम्; तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतः सिद्धप्रमाणभावस्य, स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्। प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात्तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत्? न, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्।

उपक्रम=आरम्भ, परामर्श=पुनः पुनः कथन और उपसंहार=सामान्यभावों में पूर्व में कथित वस्तु का विशेषभाव से अन्त में निर्देश के द्वारा बार बार इस रूप में आत्मतत्त्व का उपदेश श्रुत्यादि वाक्यों के द्वारा किया गया है। इस कारण से इन सभी वाक्यों का आशय कथित आत्मस्वरूप में रहता है। इसलिए, इन्द्र में भी सामर्थ्य नहीं है कि इन वाक्यों को लाक्षणिक कर दें। शास्त्र में किसी एक वस्तु के पुनः-पुनः कथन होने से उस वस्तु की प्रधानता व्यक्त होती है जैसे, अहो देखने योग्य, अहो देखने योग्य इत्यादि, ऐसे स्थलों में उस वस्तु की न्यूनता नहीं हो सकती, इस तरह लक्षणा होने की सम्भावना ही नहीं है। अहं (मैं) इस प्रकार जो अनुभव है (वह आत्मतत्त्व का प्रकाश नहीं करता है) वह (मैं अनुभव) अनेक प्रकार के शोक-दुःखादिप्रपञ्चों से उपप्लुत (उपद्रवयुक्त) है, यह कैसे आत्मतत्त्व को विषय करेगा—यह किस तरह सम्भव होगा? किस तरह यह अबाधित होगा? यदि कहा जाय कि प्रथम होने वाले प्रत्यक्षरूपप्रमाण के साथ विरोध होने से उस प्रत्यक्षमूलक वेद का अप्रामाण्य या लाक्षणिकत्व होना उचित है—यह शङ्का भी युक्तियुक्त नहीं है।

न ह्यागमज्ञानं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति, येन कारणाभावान्न भवेत्, अपि तु तात्त्विकम् ।[1] न च तत्तस्योत्पादकम्, अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकप्रमाणेभ्यस्त[2]ज्ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् । तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्व[3]प्रतिपत्तिहेतवः । न हि लौकिका 'नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा' प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः । न चानन्यपरं वाक्यं स्वार्थे उपचरितार्थं युक्तम्,

पुष्पलता

कारण, वेद अपौरुषेय है, अतः सभी तरह के दोषों की आशङ्का से रहित है। इसी प्रकार वेद बोधकत्वरूप में स्वतः सिद्ध प्रमाण है, अतः, उसका अपना कार्य—प्रमाबोध का उत्पादन, इस विषय में वह किसी की अपेक्षा नहीं करता है। यदि, यह कहा जाय कि वेद प्रमाबोध की उत्पत्ति के विषय में प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं करता है, किन्तु, प्रमा अपनी उत्पत्ति के विषय में प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है और उसी प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से उसका अनुत्पत्तिलक्षण अप्रमाण्य हो सकता है—किन्तु यह भी ठीक नहीं है। कारण, उत्पादक के साथ वेद का किसी प्रकार का भी प्रतिद्वन्द्विभाव नहीं है। क्योंकि, आगमज्ञान प्रत्यक्ष के व्यवहारसिद्ध प्रामाण्य का व्याघात नहीं करता है। जिससे कारण नहीं रहने से आगमज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वेद प्रत्यक्ष के तात्त्विकप्रामाण्य का व्याघात व्याघात करता है, प्रत्यक्ष का तात्त्विकप्रामाण्य ही आगम के तत्त्वज्ञान का उत्पादक नहीं होता है। जिनका तात्त्विक प्रामाण्य नहीं है इस प्रकार के व्यावहारिक प्रमाणों से भी तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, जैसे लिपिबद्ध वर्ण में ह्रस्वत्व- दीर्घत्व आदि धर्म समारोपित होकर भी यथार्थज्ञान के कारण होते हैं। नाग शब्द से हाथी और नग शब्द से वृक्ष को जो समझते हैं, वे लौकिक व्यक्ति भ्रान्त कभी भी नहीं हो सकते हैं। जिस वाक्य का अन्य अर्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं है

१. न च तात्त्विकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति अधिकः पाठः। २. तत्त्वप्रतिपत्तिजननात्। ३ तत्त्व।

भामती

उक्तं हि–''न विधौ परः शब्दार्थः'' इति। ज्येष्ठत्वं चानपेक्षितस्य बाध्यत्वे हेतुर्न बाधकत्वे, रजतज्ञानस्य ज्यायसः, शुक्तिज्ञानेन कनीयसा बाधदर्शनात्। तदनपबाधने तदपबाधात्मनस्तस्योत्पत्तेरनुपपत्तेः। दर्शितं च तात्त्विकप्रमाणभावस्यानपेक्षितत्वम्। तथा च पारमर्षं सूत्रम्–''पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्'' (जै० अ० ६ पा० ५ सू० ५५) इति। तथा 'पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्। अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्॥' इति। अपि च येऽप्यहंकारास्पदमात्मानमास्थिषत तैरप्यस्य न तात्त्विकत्वमभ्युपेतव्यम्, 'अहमिहैवास्मि

पुष्पलता

वह वाक्य अपने अर्थ में लाक्षणिक कभी भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि, कहा गया है–विधि के विषय में लक्षणा के द्वारा शब्द का अर्थ नहींहो सकता है। जो अपेक्षित नहीं है ऐसा कोई पूर्ववर्ती ज्ञान यदि ज्येष्ठ होता है तब उस ज्ञानका ज्येष्ठत्व उसके बाध्य होने में ही कारण होता है बाधक होने में कारण नहीं हो सकता है। ऐसा देखा जाता है कि र जतज्ञान शुक्तिज्ञान से पूर्वभावी होने पर भी वाद में होने वाले शुक्ति ज्ञान से पूर्व में होने वाले उस रजतज्ञान का बाध ही होता है। यदि शुक्तिज्ञान से पूर्वज्ञान का बाध नहीं हो तो पूर्वज्ञान का बाधकस्वरूप जो परवर्त्ती शुक्तिज्ञान उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। तात्त्विकप्रमाणभाव निरपेक्ष हैं—यह पूर्व में ही व्यक्त किया है। परम ऋषि जैमिनि के द्वारा प्रणीत सूत्र में भी कहा गया है कि—''पूर्व और अपरभाव विद्यमान रहने पर पूर्व का ही दौर्बल्य रहता है प्रकृति के समान'' इति। और भी कहा गया है जिस स्थल में परस्पर अपेक्षारहित ज्ञानों की उत्पत्ति रहती है। उस स्थल में पूर्व प्रमाण की अपेक्षा परवर्ती प्रमाण का ही प्राबल्य रहता है, और भी जो आत्मा को ''अहं'' इस प्रकार की प्रतीति का विषय स्वीकार करते हैं वे भी ''अहं'' इस प्रकार की प्रतीति का तात्त्विकप्रामाण्य कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

सदने जानानः इति सर्वव्यापिनः प्रादेशिकत्वेन ग्रहात्--उच्चतरगिरिशिखर-वर्तिषु महातरुषु भूमिष्ठस्य दूर्वाप्रवालनिर्भासप्रत्ययवत्। न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वमनुभूयते न त्वात्मन इति साम्प्रतम्, न हि तदेवं भवति अहमिति गौणत्वे वा न 'जानान' इति।

अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तत इति यत्र प्रयोक्तृ-प्रतिपत्रोः सम्प्रतिपत्तिः स गौणः स च भेदप्रत्ययपुरःसरः "तद्यथा नैयमिकाग्नि-होत्रवचनोऽग्निहोत्रशब्दः" (जै० अ० १ पाद ४ सू० ४) प्रकरणान्तरावधृतभेदे कौण्डपायिनामयनगते कर्मणि "मासमग्निहोत्रं जुहोति" (जै० अ० ७ पा० ३ सू० १) इत्यत्र साध्यसादृश्येन गौणः माणवके चानुभवसिद्धभेदे सिंहात्

पुष्पलता

कारण, "मैं इस भवन में ही रहता हूँ यह जानता हूँ,' इस प्रकार के ज्ञान में सर्वव्यापी आत्मा को भी परिच्छिन्नरूप में ही विषय बनाया गया है उच्चतर-पर्वत-शिखर के ऊपर वर्तमान विशाल वृक्षों में भूमि में रहने वाले को दूर्वा के अंकुर की भ्रान्ति होती है, यह भी प्रतीति इसी प्रकार की है। यदि यह कहा जाय इन स्थलों में देह का ही परिच्छिन्नत्व अनुभूति का विषय होता है, आत्मा का नहीं—यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण, ऐसी स्थिति में अहं (मैं) इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती है, अथवा इस प्रकार के व्यवहार के गौणत्व पक्ष में "जानता हूँ" इस प्रकार का प्रयोग भी नहीं हो सकता है। और भी लक्ष्यमाण गुण का सम्बन्ध होने से अन्य अर्थ का बोधक अन्यत्र प्रयुक्त होता है, इस प्रकार जिस स्थल में शब्दप्रयोगकर्त्ता एवं शब्दार्थवेत्ता का निश्चय रहता है, उस स्थल में भी शब्दप्रयोग को गौण कहा जाता है, वह गौणप्रयोग शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का भेदज्ञानपुरःसर ही होता है। जैसे नित्य अग्निहोत्र शब्द का बोधक अग्निहोत्र शब्द प्रकरणान्तर के द्वारा भिन्नरूप में प्रतीत कौण्डपायी नामक वेदशाखियों के कर्म विशेष का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है, अर्थात् एकमास अग्निहोत्र याग करना चाहिए, इस प्रकार की श्रुति

भामती

सिंहशब्दः । न त्वहंकारस्य मुख्योऽर्थो निलुंठितगर्भतया देहादिभ्यो भिन्नोऽनुभूयते, येन परशब्दः शरीरादौ गौणो भवेत् । न चात्यन्तनिरूढतया गौणेऽपि न गौणत्वाभिमानः सार्षपादिषु तैलशब्दवदिति वेदितव्यम् । तत्रापि स्नेहात्तिलभवाद्भेदे सिद्ध एव सार्षपादीनां तैलशब्दवाच्यत्वाभिमानो, न त्वर्थयोस्तैलसार्षपयोरभेदाध्यवसायः । तत्सिद्धं गौणत्वमुभयदर्शिनो गौणमुख्यविवेकविज्ञानेन व्याप्तम्, तदिह व्यापकं विवेकज्ञानं निवर्तमानं गौणतामपि निवर्तयतीति । न च बालस्थविरशरीरभेदेऽपि सोऽहमित्येकस्यात्मनः प्रतिसन्धानाद् देहादिभ्यो भेदेनास्त्यात्मानुभव इति वाच्यम्, परीक्षकाणां खल्वियं कथा न लौकिकानाम् । परीक्षका अपि हि व्यवहार-समये न लोकसामान्यमतिवर्तते वक्ष्यत्य-

पुष्पलता

में प्रकृत अग्निहोत्र के साथ इसका सादृश्य होने से अग्निहोत्र शब्द गौण होता है। इसी प्रकार सिंह से अनुभवसिद्ध भिन्न माणवक को लक्ष्य कर प्रयुक्त सिंह शब्द गौण होता है। किन्तु, प्रकृत स्थल में अहंकार का मुख्य अर्थ व्यक्तरूप में देहादि से भिन्न अनुभूति का विषय नहीं होता हैं। यदि देहादि से भिन्न अहंकार का अर्थ अनुभूतिका विषय होता तो अन्य अर्थ का बोधक अहंकार शब्द शरीर में गौण होता। यदि कहा जाय कि अत्यन्त प्रसिद्ध होने से गौण होने पर भी ऐसे स्थलमें गौणत्वाभिमान नहीं होता है जैसे तैल शब्द का सरसों के तेल के व्यवहार के स्थल मे होता है। यह मत भी ठीक नहीं है। कारण, इस प्रकार के स्थल में भी तिल से उत्पन्न तेल से सरसों के तेल का भेद सिद्ध ही है मात्र सरसों के तेल में तेल शब्द के वाच्यत्व का अभिमान होता है। किन्तु तेल एवं सरसों से उत्पन्न स्नेहरूप दोनो अर्थों मे उनलोगों को अभेद का निश्चय कभी भी नहीं रहता है। अतः, यह सिद्ध हुआ कि जो व्यक्ति जिस स्थल में शक्य और लक्ष्य अर्थ को भिन्न रूप में समझते हैं उन्हीं के यहाँ गौण व्यवहार होता है (साथ ही यह गौण व्यवहार) गौण एवं मुख्य अर्थों के भेद ज्ञान से व्याप्त रहता है। प्रकृतस्थल मे व्यापक भेद ज्ञान के न होने से उक्त प्रयोग की गौणता को भी निवृत्त कर देता है।

नन्तरमेव हि भगवान् भाष्यकारः—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति बाह्या अप्याहुः—"शास्त्रचिन्तकाः खल्वेवं विवेचयन्ति न प्रतिपत्तार" इति। तदिह पारिशेष्याच्चिदात्मगोचरमहंकारमहमिहास्मि सदन इति प्रयुञ्जानो लौकिकः शरीराद्यभेदग्रहादात्मनः प्रादेशिकत्वमभिमन्यते नभस इव घटमणिकमल्लिकाद्युपाध्यवच्छेदादिति युक्तमुत्पश्यामः। न चाहंकारप्रामाण्याय देहादिवदात्मापि प्रादेशिक इति युक्तम्, तदा खल्वयमणुपरिमाणो वा स्याद् देहपरिमाणो वा, ? अणुपरिमाणत्वे 'स्थूलोऽहं दीर्घ' इति च न स्यात्। देहपरिमाणत्वे तु सावयवतया देहवत् अनित्यत्वप्रसङ्गः. किं चास्मिन् पक्षेऽवयवसमुदायो वा चेतयेत् प्रत्येकं वाऽवयवाः ? प्रत्येकं चेतनत्वपक्षे बहूनां चेतनानां स्वतन्त्राणामेकवाक्यताऽभावादपर्यायं विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरमुन्मथ्येत, अक्रियं वा प्रसज्येत। समुदायस्य तु चैतन्य योगे वृक्णे एकस्मिन्नवयवे चिदात्मनोऽप्यवयवो वृक्ण इति न चेतयेत्। न च बहूनामवयवानामविनाभावनियमो दृष्टो यदा एवावयवो विशीर्णस्तदा तद-

पुष्पलता

यदि कहा जाय कि बालक एवं वृद्ध का शरीर भिन्न होने पर भी वही मैं हूँ" इस प्रकार आत्मा का एकत्व ज्ञान रहने से देहादि से भिन्न रूप में आत्मा का अनुभव होरहा है। यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, यह कथन परीक्षको अर्थात् विवेकियों के वीच में ही हो सकता है, किन्तु साधारण पुरुषों के मध्य में इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। और यह भी द्रष्टव्य है कि परीक्षक भी व्यवहारकाल में साधारण लोगों का अतिक्रमण नहीं करते हैं। कुछ आगे ही भाष्यकार भी कहेंगे (व्यवहार के विषय में प्रमाता पुरुषका) पशु आदि से कोई विशेष नहीं पाया जाता है। अशास्त्रज्ञ पुरुष भी कहते हैं की शास्त्रचिन्तक ही इस प्रकार की विवेचना करते हैं, किन्तु, व्यवहर्ता अर्थात् सामान्य ज्ञाता इस प्रकार की विवेचना नहीं करते हैं। फलतः, अन्त में यही स्थिर हुआ कि "मैं इस घर में रहता हूँ" इस प्रकार लौकिकव्यवहारकर्त्ता चिदात्मगोचर अहङ्कार के प्रयोगकाल में भी शरीरादि के साथ इस चिदात्मा की अभेद बुद्धि होने से आत्मा का प्रादेशिकत्व ही समझता है। जेसे घट, प्रकाश दीपाधार आदि उपाधि के साथ सम्बन्ध होने से लोक में आकाश का भी प्रादेशिकत्व अवगत करते हैं।

भामती

भावे न चेतयेत्–विज्ञानालम्बनत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वं तदवस्थमेव, तस्य स्थिरवस्तुनिर्भासत्वादस्थिरत्वाच्च विज्ञानानाम्। एतेन 'स्थूलोऽहमन्धोऽहं गच्छामी'-त्यादयोऽप्यध्यासतया व्याख्याताः। तदेवमुक्तक्रमेणाहंप्रत्यये पूतिकूष्माण्डीकृते भगवती श्रुतिरप्रत्यूहं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखशोकाद्यात्मत्वमहमनुभवप्रसञ्जितमात्मनो निषेद्धुमर्हतीति। तदेवं सर्वप्रवादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रथितमिथ्याभावस्याहंप्रत्ययस्य स्वरूपनिमित्तफलैरुपव्याख्यानम्—अन्योऽन्यस्मिन्नित्यादि।

पुष्पलता

यही मैं युक्तियुक्त समझता हूँ। यदि यह कहा जाय कि इस अहं बुद्धि के प्रामाण्य के लिए देहादि के समान आत्मा भी प्रादेशिक है — यह मत भी ठीक नहीं है। कारण, ऐसा स्वीकार करने पर यह आत्मा अणु-परिमाण है या देह परिमाण है ? इस आत्मा को अणुपरिमाण मानने पर "मैं स्थुल हूँ" "मैं दीर्घ हूँ" यह बुद्धि नहीं होगी। किन्तु, सावयवत्व होने से देह के समान आत्मा का भी अनित्यत्व प्रसक्त होगा। और भी (विचारणीय है) इस पक्षमें (चेतन्य किस का धर्म है?) अवयव समुदाय चेतन है या प्रत्येक अवयव (चेतन है)। प्रत्येक अवयव का धर्म चैतन्य मानने पर अनेक स्वतन्त्र चेतनों की एकवाक्यता न होने से एकही समय भिन्न-भिन्न दिशाओं में भिन्न-भिन्न क्रियाओं की सम्भावना होगी और शरीर विनष्ट हो जायेगा अथवा निष्क्रिय हो जायेगा। अवयवसमूहका चेतन्य स्वीकार करने पर शरीर से एक अवयव के कट जाने पर चिदात्मा का भी अवयव छिन्न हो जाने से उसमे चेतन्य नहीं रहेगा। और भी अनेक अवयवों में अविनाभावरूप जो नियम है — वह नहीं देखा जाता है। जो अवयव नष्ट हो जायेगा उसी अवयव के अभाव के कारण आत्मा के चेतन्य के समाप्ति की सम्भावना रहेगी। अहं प्रत्यय विज्ञान का ही आलम्बन करता है (यह मानने पर भी) अहं प्रत्यय की पूर्वोक्त भ्रान्ति रूपता पूर्व के समान ही है। (कारण पूर्वोक्त) अहं प्रत्यय में स्थिर वस्तु ही प्रकाशित होती है और विज्ञान स्थिर नहीं है क्षणिक है। "मैं स्थूल हूँ" 'मैं अन्धा हूँ" मैं जाता हूँ" इस प्रकार की प्रतीतियां भी अध्यास रुप

में इस युक्ति के द्वारा व्याख्यात हो गई। इस तरह पूर्वोक्त विचार-क्रम से लौकिक अहं प्रत्यय सरे हुए कुष्माण्ड के समान असार होने से भगवती श्रुति अहं प्रत्यय आत्मा के ऊपर आरोपित कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख-दुःख शोकादिरूपता को निषेध करने में समर्थ हो सकती है। तब इस प्रकार परस्पर एकमत श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराण आदि से प्रसिद्ध मिथ्या रूप अहं प्रत्यय प्रतिपादित होने से—उस अहं प्रत्यय का क्या स्वरूप है ? क्या कारण है ? क्या फल है ? इनका विशदरूप में विवेचन इस "अन्योऽन्यस्मिन्" इत्यादि भाष्य के द्वारा कहागया है।

कुसुमलता

पुर्वपक्ष भाष्यमें कहा गया है कि अध्यास = मिथ्या शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हो सकता है। —

१ — अपह्नव अर्थात् अपलाप

२ — अनिवर्चनीय

प्रकृत में पुर्वपक्षीने अध्यास को मिथ्या कहा है। यह मिथ्या कथन अपह्नव अर्थ में कहे जाने पर भाष्यकार की सम्मति नहीं होगी और यदि मिथ्या शब्द अनिर्वचनीय अर्थ में कहा गया है तब भाष्यकार का कोई विरोध नहीं है। इस प्रसङ्ग में — अध्यास का अपलाप क्यों नहीं हो सकता है इसी का प्रदर्शन करने के लिएं भाष्यकारने "तथापि" से "लोकव्यवहारः" इतने भाष्य की रचना की है।

पूर्वप्रसङ्ग में यह सूचित किया है कि भेद-ग्रह अध्यासाभाव का कारण है और उसके रहने से प्रकृत में अध्यास का अभाव है। तथापि इस भाष्य से अध्यासाभाव के हेतु भेदग्रह की सद्धि की सूचना दी है। इस भामती की योजना निम्नलिखित है–सभी प्रकार के विशेषणों से रहित, अनन्त, चैतन्य, एकस्वभाव, निरपेक्ष एक, अद्वितीय आत्मतत्त्व श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण में जैसा कहा है वैसा ही आत्मतत्त्व यदि "अहं" इस अनुभव से प्रकाशित होता तब 'अहं' इस अनुभव में प्रकाशमान का कथित प्रकार से शरीरादि से भिन्नरुपमें अवगत होने से अध्यास का अभाव कहा जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि के वाक्य अनुभव विरोध होने से उपचरितार्थक (गौण) हैं ? उमक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल,

अर्थवाद और उपपत्ति, इन तात्पर्य-निर्णायक हेतुओं से अद्वितीय आत्मतत्त्व में निश्चिततात्पर्यवाले और उसी अद्वितीय आत्मतत्त्व के प्रतिपादक इन श्रुतिवाक्यों को उपचरितार्थक इन्द्र भी नहीं कर सकते हैं। परामर्श=मध्यमें निर्देश करना। क्रियासमभिहारः=पुनः पुनः। तात्पर्यनिर्णायक हेतुओं में कथित अभ्यास का अर्थ है=अद्वितीय आत्मतत्त्व प्रतिपादकरूप में श्रुतिवाक्यों की आवृत्ति।

अब यह जिज्ञासा होती है कि 'अभ्यास से क्या लाभ है? अभ्यास से प्रतिपादित अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। अभ्यास से अर्थ के आधिक्य को भामतीकार ने दृष्टान्त देकर समझाया है—जैसे अहो देखने योग्य देखने योग्य सुन्दरी। इस वाक्य में दर्शनीय के अभ्यास (आवृत्ति) से सुन्दरी मेंआधिक्य की प्रतीति होती है अर्थात् अधिक सौन्दर्य की अवगति होती है। फलतः प्रतिपादित अर्थ का आधिक्य अवगत होता है प्रतिपादित अर्थ कीन्यूनता की अवगति नहीं होती है। जब अभ्यास से न्यूनता की अवगति नहीं होती है तब उपचरितार्थत्व पहिले ही नहीं हो सकता है।

प्रकृत में "न न्यूनत्वम्" इस पद में प्रयुक्त नञ् का "उपचरितत्व" में भी अन्वय होता है। इसलिए फलितार्थ होता है—"अर्थस्य उपचरितत्वं प्रागेव न" अर्थ का न्यूनत्व जब अवगत नहीं होता है, तब अर्थ का उपचरितत्व तो पहले ही नहीं हो सकता है। "उपचरितार्थत्वमपि प्रागेव नेत्यर्थः"।

१. "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

यह प्राचीन उक्ति सभी दार्शनिकों के द्वारा अङ्गीकृत है। इस कारिका में तात्पर्य के निर्णायक छः हेतु कहे गये हैं:—

१ उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता। २ अभ्यास, ३ अपूर्वता, ४ फल, ५ अर्थवाद, ६ उपपत्ति।

इन प्रदर्शित हेतुओं का सामान्य परिचय प्रकृत में करा देना आवश्यक समझता हूँ। ग्रन्थ या प्रबन्ध का आदिभाग उपक्रम और अन्त्य भाग उपसंहार कहा जाता है। कथित कारिका में उपक्रम और उपसंहार इन दो पदों के द्वारा आद्यन्तभाग का एक अर्थ में ही पर्यवसान लक्षित होता है। जिस अर्थ में ग्रन्थ का उपक्रम और उपसंहार पर्यवसित होता है उसी अर्थ में उस

ग्रन्थ का अभिमत तात्पर्य अवगत होता है। इसी लिए यह उक्ति प्रचलित है—"येन चोपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते स एव शब्दार्थः"। रेखागणित में भी प्रतिज्ञावाक्य और उपसंहारवाक्य का एक अर्थ में पर्यवसान के द्वारा प्रतिज्ञा आदि सभी वाक्यों का तात्पर्य अवगत होता है।

तात्पर्य का निर्णायक द्वितीय हेतु—"अभ्यास" है। एक ही सिद्ध अर्थ का पुनः पुनः कथन अभ्यास है। जिस प्रबन्ध का जो प्रतिपाद्य अर्थ रहता है। उसी का कथन उस प्रबन्ध में पुनः पुनः रहता है। जो तात्पर्य–विषय भूत अर्थ नहीं रहता है उसका कथञ्चित् उल्लेख होने पर भी उसका पुनः पुनः उल्लेख सर्वथा असम्भव है। पुनः पुनः कथन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यही इस प्रबन्ध का तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ है।

तात्पर्य निर्णायक हेतुओं में तृतीय हेतु – अर्थवाद है स्तुति या निन्दा इन दोनों में किसी एक के बोधक वाक्य का नाम अर्थवाद हैं। स्तुति-प्रतिपादक–वाक्य प्रशंसार्थवाद और निन्दाप्रतिपादक–वाक्य निन्दार्थवाद है। प्रबन्ध के द्वारा प्रतिपाद्य या अभिप्रेत अर्थ की प्रबन्ध में स्तुति रहती हैं एवं निषेध योग्य अर्थ की निन्दा रहती है। स्तूयमान अर्थ ही विधीयमान रहता है। एवं निन्दित अर्थ ही निषिद्ध रहता है। निन्दा और स्तुति पर लक्ष्य करने से ही ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ की अवगति हो जाती हैं। स्तूयमान अर्थ ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य होता है।

यद्यपि पूर्वोक्त कारिका में अर्थवाद का पञ्चम स्थान है तथापि विशेष कारणवश इसका तृतीय स्थान में निर्देश किया गया है। उपक्रम और उपसंहार की एकता अभ्यास और अर्थवाद ये तीनों शब्द घटित होने से शब्दनिष्ठ है। उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता किस प्रकार वाक्य के तात्पर्य की निर्णायक हो सकती है? इस जिज्ञासा के उत्तर में वक्तव्य यही है कि वाक्य के तात्पर्य विषय के रूप में सन्दिग्ध अनेक अर्थों में जिस अर्थ में आद्यन्त भाग का पर्यवसान होता हैं – उस अर्थ में यदि तात्पर्य नहीं रहे तो उस अर्थ में आद्यन्त भाग का पर्यवसान व्यर्थ रहेगा।

अभ्यास के सम्बन्ध में यही कथन है कि सिद्ध वस्तु के विषय का पुनः पुनः कीर्त्तन उस पुनः पुनः श्रुत विषय में वाक्य के तात्पर्य का निर्णायक होता हैं। पुनः पुनः श्रुत सिद्धवस्तु में भी यदि वाक्य का तात्पर्य नहीं रहे तो पुनः पुनः कीर्त्तन व्यर्थ हो जायेगा। सिद्धवस्तु का पुनः पुनः कीर्त्तन उस वस्तु के आदर का ज्ञापक रहता है। यही विषय निरुक्त में भी कहा है— अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति (नि० ३०-४२) पुनः पुनः कथन के द्वारा जो आदरातिशय सूचित होता है। उसी को व्यक्त करने के लिए यास्क ने कहा है —

"अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया" इस प्रकार अभ्यास के द्वारा वक्ताने किसी सुन्दरी के सौन्दर्य में आदरातिशय का प्रकाश किया है। यद्यपि आदर के द्वारा उस वस्तु का प्राशास्त्य ही सिद्ध होता है। और इससे अभ्यस्यमान अर्थ विधेयत्वरूप अनुमान के द्वारा तात्पर्य-विषय होता है। अर्थवाद भी प्राशस्त्य-ज्ञापन द्वारा तात्पर्य विषय का ज्ञापक होता है। ऐसा होने पर भी अर्थवाद बोध्य प्राशस्त्य और अभ्यास बोध्य प्राशस्त्य एक नहीं है। अर्थवाद बोध्य प्राशस्त्य बलवदनिष्टाजनकत्व रूप और अभ्यास-बोध्य प्राशस्त्य अन्य अर्थ से उत्कृष्टत्व रूप है।

तात्पर्य निर्णायक हेतुओ में चतुर्थ हेतु "अपूर्वता" है "अपूर्वत्व" शब्द का अर्थ पूर्व में अज्ञातरूप होता है। अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है वह अर्थ उस वाक्यार्थ के ज्ञान से पूर्व में किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं था अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वाक्य ही अपूर्वार्थक होता है। अज्ञात विषय में ही वाक्यका तात्पर्य रहता है। ज्ञातज्ञापक अर्थ अनुवाद होता है।

तात्पर्य निर्णायक पञ्चमहेतु—फल है, फल का अर्थ प्रयोजन होता है। प्रयोजनयुक्त अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही सफल वाक्य हैं। निष्प्रयोजन अर्थ का प्रतिपादक वाक्य निष्फल वाक्य है।

तात्पर्य-निर्णायक छठा हेतु—"उपपत्ति" है वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है वह अर्थ किसी अन्य प्रमाण से बाधित तो नहीं है। अन्य

प्रमाण से अबाधित अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही उपपत्तियुक्त वाक्य कहा जाता है। अपूर्वत्व फल और उपपत्ति ये तीनों प्रमात्व-घटक अथवा सम्पादक होकर तात्पर्य के ज्ञापक होते हैं। इन तीनों में "अपूर्वत्व" अनुवाद-वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य वारण के लिए एवं "फल" निष्फल अर्थ में वाक्य का तात्पर्य वारण करने के लिए आवश्यक है उपपत्ति भी प्रमाणान्तरबाधित अर्थ में वाक्य का तात्पर्य निषेध करने के लिए आवश्यक है। जैसे—"ग्रावाणः प्लवन्ते" (पत्थर जल में तैरते हैं) इस वाक्य का अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, अतः, इस अर्थ में यह वाक्य तात्पर्य-रहित है—यही मानना होगा।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि उपक्रम और उपसंहार स्वतन्त्र रूप में तात्पर्य निर्णायक हेतु नहीं है। उपनिषद् वाक्यों के तात्पर्य-निर्णय के कतिपय अंशों को उद्धृत कर अवगत कराने की चेष्टा करता हूँ।

भा० द० स० पृ० १-३

छान्दोग्योपनिषद् का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य।

छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठप्रपाठक में 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (हे सौम्य यह पूर्व में सद्रूप एक और अद्वितीय था) इस से उपक्रम कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीति" (यह सभी आत्मरूप है वह सत्य है वह आत्मा तुम वही हो) इस से उपसंहार किया है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारकी एकरूपता है। इसी का "तत्त्वमसि" (वह तुम हो) इस के द्वारा नवबार अभ्यास किया है यह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व अन्य प्रमाणों से अधिगत नही है अतः इस में अपूर्वत्व है।

श्रुति आदि में जैसे आत्मतत्त्व का प्रकाश किया गया है वैसा आत्मतत्त्व "अहं" इस अनुभव में प्रकाशित नहीं होता है। यह पूर्व में कहा गया है— इसी का विश्लेषण आगे के भामती ग्रन्थ से किया है लौकिक "अहं" का अनुभव परिच्छिन्न तथा अनेक प्रकारके शोक-दुःख आदि उपद्रव-युक्त आत्मा का ज्ञान करता हुआ (यह "अहं" अनुभव) आत्मतत्त्व विषयक हो सकता है। अर्थात् अहं यह अनुभव श्रुति आदि से अवगत आत्मतत्त्व से विपरीत अर्थ को विषय कर रहा है। कारण, श्रुति आदि में प्रतिपादित आत्मतत्त्व अपरिच्छिन्न एवं शोक-

दुःख आदि से शून्य है। प्रकृत में "उपप्लव" का अर्थ विपर्यास होता है। अपरिच्छिन्न आत्मा को ("मैं इसी घर में हूँ") इत्यादि प्रतीति से विषयी करता हुआ "अहं" अनुभव विपर्यासवान् (विपरीतार्थक) है। "अहं" यह अनुभव विपर्यासवान् होने पर यह अहं अनुभव आत्मतत्त्व-विषयक-प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। यह उपनिषद् गम्य अद्वितीय आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अज्ञात है और अज्ञात अद्वितीय आत्मतत्त्व श्रुतिप्रमाण विषय अर्थात् श्रुति-प्रमेय होने से अज्ञातार्थबोधक होने से उसमें श्रुति का प्रामाण्य है, इस लिए श्रुति उपचरितार्थक नहीं है।

यह जिज्ञास्य है कि इन दो प्रमाणों से (प्रत्यक्ष और श्रुति से) आत्मतत्त्व की अवगति हो रही है। दोनों प्रमाणों से अवगत आत्मतत्त्व सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति के द्वारा अद्वितीय और अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व अवगत होता है एवं प्रत्यक्ष से शोक-दुःखादियुक्त परिच्छिन्न आत्मतत्त्व अवगत होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध से उपनिषत् का अप्रामाण्य होगा या उपनिषत्प्रामाण्य मानने पर प्रत्यक्ष का अप्रमाण्य रहेगा।—इसी का विचार प्रकृत-ग्रन्थ में भामतीकार ने किया है—

अहं सुखी (मैं सुखी हूँ।) इत्यादि जो "अहं" अनुभव है वह तो पूर्व प्रदर्शित रीति से प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा पूर्ववर्ती होने के कारण ज्येष्ठ (बलवान्) है, अतः ज्येष्ठप्रमाण का विरोध होने से उपक्रम आदि तात्पर्यनिर्णायक साधनों से अद्वितीय आत्मतत्त्व में निश्चिततात्पर्य-वाली प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखनेवाली श्रुति (वेद) का ही अप्रामाण्य और उपचरितार्थत्व होना उचित है। कारण, श्रुति का प्रामाण्य या, अबाधित अर्थ परक मानने पर प्रत्यक्ष गम्य अर्थ का ही अप्रामाण्य या विपरीतार्थकता करनी पड़ेगी। किन्तु यह अनुचित है।

इसी आशय को व्यक्त करते हुए भामतीकार ने कहा है कि—"प्रत्यक्ष-विरोधादाम्नायस्यैव"। अब यह विचारणीय है कि प्रत्यक्ष बलवान् है या आगम (शब्द-प्रमाण) प्रमाण बलवान् है। इतना सत्य है कि प्रत्यक्षप्रमाण

पूर्व में उत्पन्न होता है, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य-प्रमाणों की अपेक्षा ज्येष्ठ है, ज्येष्ठ प्रमाण होने से अन्य प्रमाणों का यह उपजीव्य भी है, किन्तु, इससे श्रुति का दौर्बल्य कैसे सिद्ध होगा ? कारण, मीमांसा में यह निर्णय किया गया है कि पूर्व-और पर की स्थिति में पूर्व ही पर की अपेक्षा दुर्बल होता है (पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यम्" अतः, पूर्व में उत्पन्न प्रत्यक्ष के ही दुर्बल होने से आगम प्रमाण ही बलवान् है। फलतः, आगम का विरोध होने से प्रत्यक्ष के द्वारा उसी अर्थ का बोध होगा जो आगम के द्वारा अधिगत अर्थ है. अतः, अज्ञात अर्थ का बोधक न होने से प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य ही रहेगा।

यदि यह कहा जाय कि आगम प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा है। अतः, सापेक्षत्व रूप अप्रामाण्य आगम में होने से सापेक्षत्वरूप अप्रामाण्य आगम में ही वर्तमान है।

आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा वलवत्तम है, कारण, प्रत्यक्षप्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा पूर्व में उत्पन्न होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वेद की अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवत्तर प्रमाण है।

प्रत्यक्ष के वेदभिन्न प्रमाणों की अपेक्षा वलवत्तम होने का कारण निम्नलिखित है—

अनुमान प्रमाण में व्याप्तिज्ञान आवश्यक है और इस व्याप्तिज्ञान के लिए हेतु और साध्य आदि का प्रत्यक्षात्मकज्ञान पूर्व में आवश्यक है, अतः, अनुमान के मूल में प्रत्यक्ष न रहने पर अनुमान सम्भव ही नहीं है। यथा—पर्वत, वह्निमान् है, धूम होने से। इस अनुमान में हेतु धूम है, साध्य वह्नि है और पर्वत पक्ष है। इस स्थल में हेतु धूम और साध्य वह्नि का साहचर्यनियम या अविनाभावरूप जो सम्बन्ध है—वही व्याप्ति है। इस व्याप्तिज्ञान के न रहने पर अनुमान नहीं हो सकता है। किन्तु व्याप्तिज्ञान के लिए पूर्व में धूम और वह्नि का साहचर्यदर्शनरूप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान आवश्यक होता है। किसी किसी स्थल में यह व्याप्तिज्ञान शब्द आदि प्रमाणों से जन्य भी हो सकता है, किन्तु इन स्थलों में भी उसके मूल में प्रत्यक्षज्ञान का रहना आवश्यक होता है। इस·

लिए अनुमान प्रत्यक्षापेक्ष होने से ज्येष्ठ प्रत्यक्षप्रमाण अनुमान की अपेक्षा बलवान् है इसमें सन्देह नहीं है।

शब्दप्रमाण के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। शब्द के द्वारा अर्थ-ज्ञान करने के लिए शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध बोधरूप शक्तिज्ञान आवश्यक होता है। यह शक्तिज्ञान साक्षात् या परम्परा क्रम में प्रत्यक्षमूलक होता है—यह सभी लोगों ने स्वीकार किया है। कारण, पद के शक्ति ज्ञान के लिए व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार और सिद्धपद का सान्निध्य इन छ कारणों में किसी एक की आवश्यकता होती है। किन्तु इन छ कारणों में व्यवहार ही सर्वप्रधान एवं सभी का मूल है। क्योंकि बालकों को व्यवहार दर्शन के विना अन्य उपायों से शक्तिज्ञान नहीं होता है। इस तरह साक्षात् या परम्परा क्रम में प्रत्यक्षप्रमाण शब्दप्रमाण में नितान्त आवश्यक रहता है। पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि किसी भी अर्थ को शब्द से अवगत करने से पूर्व प्रत्यक्षात्मकज्ञान की एकान्त आवश्यकता रहती है। इसलिए, यह मानना होगा कि प्रत्यक्षप्रमाण ही सभी प्रमाणों की अपेक्षा ज्येष्ठ (पूर्वभावी) प्रमाण है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष केवल पूर्ववर्ती होने से ही आगम की अपेक्षा बलवान् नहीं है, वरन् आगम प्रत्यक्ष सापेक्ष होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है और इसीलिए आगम का अप्रामाण्य है।

प्रकृत में विचारणीय यह है कि आगम किस अंश में प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है—१–क्या आगम से जन्य ज्ञान के प्रामाण्य के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है? २—या अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है? प्रथम कल्प में भी यह विचारणीय है कि अपने अप्रामाण्य शङ्का के निरास करने के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है? या अपने विषय के संवाद के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है?

इन्हीं आशंकाओं को दूर करने के लिए आगे का भामती ग्रन्थ है। प्रथम प्रश्न के प्रथम कल्प का ही पूर्व में निरसन कर रहे हैं अर्थात्, आगम-जन्यज्ञान के अप्रामाण्यशंका को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं है। कारण, आगम अपौरुषेय है, अतः, अपौरुषेय होने से नित्य निर्दोष है, इसलिए

अप्रामाण्यशंका का प्रसङ्ग ही नहीं है, अतः, अप्रामाण्यप्रयोजक-शंका को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा आगम को नहीं है। फलतः, नित्यनिर्दोष होने से ही प्रामाण्य होने से प्रथमकल्प के प्रथमपक्ष की प्रसक्ति ही नहीं है। इसी विषय को भामतीकार ने कहा है कि आगम (वेद) अपौरुषेय होने से सभी दोषों की आशंका से रहित है।

प्रथम कल्प के द्वितीय पक्ष अर्थात् आगम-प्रामाण्य अपने विषय के संवाद के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है—यह पक्ष भी ठीक नहीं है। आगम-प्रमाण अज्ञात अर्थ का बोधक है, अतः, आगम में स्वतःसिद्धप्रामाण्य है इसलिए अपने विषय में अपने प्रामाण्य संवाद की अपेक्षा नहीं है। फलतः, प्रथम कल्प का द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है। इसी विषय की अभिव्यक्ति भामतीकार ने की है कि बोधकतया=अज्ञात अर्थ का बोधक होने से, स्वतः सिद्ध-प्रमाणभावत्वात्=प्रामाण्य होने से स्वकार्ये प्रमितौ=अपने कार्य प्रामाण्य में। प्रमिति यह भावप्रधान निर्देश होने से प्रमितित्व अर्थ का बोधक है।

इस प्रथमप्रकल्प का निरसन हो जाने से प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा न होने पर भी द्वितीय कल्प के अनुसार अर्थात् आगम से प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा है, अतः, प्रत्यक्ष का विरोध होने से आगम प्रामाण्य का व्याघात होने से (बाध होने से) आगम में याथार्थ्यरूप प्रमा का उत्पाद न होने से अनुत्पत्ति स्वरूप अप्रामाण्य का आगम में निवारण नहीं किया जा सकता है। किन्तु, यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, उत्पादक अंश में दोनों प्रमाणों में किसी प्रकार का विरोध ही नहीं है जिससे प्रत्यक्ष के विरोध से आगम प्रामाण्य की उत्पत्ति न हो। इस विषय का प्रतिपादन भामतीकार ने "उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्" इस पद से किया है। प्रत्यक्ष का प्रमा के उत्पादक आगम के साथ विरोध नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि आगम के साथ प्रत्यक्ष का विरोध है। यहां दो प्रकार का विरोध हो सकता है। (१) आगम प्रामाण्य का प्रत्यक्ष के व्यावहारिक प्रामाण्य के साथ विरोध है ? या (२) प्रत्यक्षगत (प्रत्यक्ष में रहने वाले) तत्त्वबोधक प्रामाण्य के साथ आगम प्रामाण्य का विरोध है ? इसमें

प्रथमपक्ष ठीक नहीं है। कारण, आगमज्ञान प्रत्यक्ष के व्यावहारिक-प्रामाण्य का विघातक नहीं है। इसका अर्थ है प्रमारूपज्ञान की उत्पत्ति का प्रयोजक आगमगत प्रामाण्य का विघातक नहीं होता है। अतः अप्रतिहत प्रामाण्य होने से आगम-प्रामाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। प्रत्यक्षगत व्यावहारिक प्रामाण्य के साथ आगम के तात्त्विक प्रामाण्य का कोई विरोध नहीं है, अतः, विरोधरूप कारण का अभाव होने से अप्रतिहत प्रामाण्य-रूप कारणाभाव से आगम प्रामाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है "आगमज्ञान" सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का विघात नहीं करता है, जिससे प्रतिहतप्रामाण्यरूप कारण के सद्भाव से आगमप्रामाण्य की उत्पत्ति न हो। फलतः विघातक के अभाव से आगम-प्रामाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि प्रत्यक्षगतसांव्यवहारिक प्रामाण्य आगम प्रामाण्य का विघातक नहीं है तो आगमप्रामाण्य का कौन विघातक है? आगम में तात्त्विक प्रामाण्य है, अतः, तात्त्विकप्रामाण्य ही आगम प्रामाण्य का विघातक हो सकता है। अस्तु प्रदर्शित द्वितीय पक्ष ही ठीक है। प्रत्यक्षगत-तात्त्विकप्रामाण्य ही आगमगतप्रामाण्य का विघातक है। प्रत्यक्ष में तात्त्विक-प्रामाण्य नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष में व्यावहारिक प्रामाण्य होने से तात्त्विक प्रामाण्य नहीं है। आगम ही तत्त्वावेदक प्रमाण है, वेद ही तत्त्व का आवेदक है, अतः, वेद में ही तत्त्वावेदक प्रामाण्य है। अतः, प्रत्यक्ष में तात्त्विकप्रामाण्य न होने से आगमगततात्त्विक प्रामाण्य का विघातक यह नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि जो तत्त्वज्ञान का जनक होता है वही तत्त्वावेदक प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष भी तत्त्वज्ञान का जनक है, इसलिए प्रत्यक्ष भी तत्त्वा-वेदक प्रमाण है। तत्त्वावेदकप्रमाण ही तत्त्वज्ञान का उत्पादक नहीं होता है। यदि ऐसा नियम रहता तो प्रत्यक्ष को भी तत्त्वका उत्पादक प्रमाण कहा जाता। कारण, लौकिक प्रमाणों से भी (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान रूप सांव्यवहारिक प्रमाणों से भी) अभ्रान्तज्ञान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान से जायमान ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं होता है, वरन् प्रत्यक्ष आदि

प्रमाणाभास से उत्पन्न ज्ञान ही भ्रमात्मकज्ञान होता है। यह सभी को विदित है कि लौकिकशब्दों से जन्य ज्ञान भी अभ्रान्त ज्ञान रहता है। कारण, वर्ण में (लिपि में) ह्रस्वत्व और दीर्घत्व आदि अपना धर्म नहीं है, उच्चारण के आधार पर ही ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का विभाजन किया गया है। काल के कारण उच्चारण में भेद होता है और इसीका वर्ण में आरोप कर समझा जाता है, जैसे "नाग" शब्द से हाथी अर्थ को एवं "नग" शब्द से वृक्ष अर्थ को जानने वाला व्यक्ति भ्रान्त नहीं होता है। अतः, यह मानना पड़ेगा कि तत्त्वावेदक प्रमाण ही तत्त्वज्ञान का जनक नहीं होता है। इसलिए यही मानना होगा कि भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता है ऐसे तत्त्व का बोधक प्रमाण ही तत्त्वावेदक प्रमाण है और इसका आवेदक प्रमाण श्रुति आदि स्वरूप ही है, इस श्रुतिप्रमाण का प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से बाध नहीं होता है। फलतः, प्रत्यक्ष तत्त्वावेदक प्रमाण न होने से भी इसमें तात्त्विकप्रामाण्य नहीं है और तात्त्विकप्रामाण्य ही श्रुति प्रामाण्य का विघातक हो सकता है, इसलिए, प्रत्यक्ष आम्नाय-प्रामाण्य का विघातक नहीं हो सकता है, अतः, द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है।[1]

---

1. श्रुति के साथ इस बलवत्तर-प्रत्यक्ष-प्रमाण का विरोध होने से श्रुति का ही दौर्बल्य स्वीकार करना उचित है साथ ही श्रुति का दौर्बल्य होने से आत्मतत्त्व-बोधक श्रुतिवाक्यों का लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना ही उचित है। इसके उत्तर में भामतीकारने कहा है कि वेद ही प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा बलवान् है। कारण, श्रुति अपौरुषेय है अर्थात्, पुरुष बुद्धि से उत्पन्न प्रमाण-विशेष नहीं है—यह स्वतः सिद्ध प्रमाण पक्ष निर्दुष्ट है। प्रत्यक्षादिप्रमाण पौरुषेय प्रमाण है इसलिए भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं अनवधानता प्रभृति दोष से दुष्ट है। निर्दोष प्रमाण के साथ दोषयुक्त प्रमाण का विरोध होने पर निर्दोष प्रमाण का ही प्राधान्य होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

स्वतः सिद्ध प्रमाण शब्द का अर्थ—

हमलोगों को जो ज्ञान होता है वह यथार्थ है कि नहीं—इसको समझने का क्या उपाय है ? नैयायिकों का कथन है कि इसके लिए अनुमान की आवश्यकता है। हमलोगों को जब ज्ञान होता है, उसी समय उसको यथार्थ या अयथार्थ नहीं समझ पाते है, वरन् बादमें यह देखते हैं कि जिन कारणों से इसकी उत्पत्ति है वे कारण निर्दोष हैं कि नहीं। यदि वे कारण निर्दुष्ट रहते हैं तब हमलोग अनुमान करते हैं कि-ज्ञान, यथार्थ है, निर्दुष्ट कारणों से उत्पन्न होने से और यदि ज्ञान कारणों में दोषदर्शन होता है तब हमलोग अनुमान करते हैं कि ज्ञान अयथार्थ या भ्रम है, दुष्टकारणों के द्वारा उत्पन्न होने से। इस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद की स्थापना की है।

किन्तु वेदान्ती एवं मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान का स्वभाव है कि जो ज्ञान हमलोगों को उत्पन्न होता है उसको हमलोग प्रमा ही समझते हैं—यही ज्ञान का स्वभाव है। उत्पन्नज्ञान का प्रमात्वबोध करने के लिए यदि दूसरे ज्ञान की अपेक्षा हो तो वह अपेक्षणीय ज्ञान प्रमा है कि नहीं—यह जानने के लिए एक दूसरे ज्ञान की अपेक्षा करनी होगी एवं यह अपेक्षणीय ज्ञान प्रमा है कि नहीं यह समझने के लिए एक तीसरे ज्ञान की अपेक्षा करनी पड़ेगी—इसी प्रकार इस ज्ञान के प्रमा और अप्रमा को समझने के लिए चतुर्थ ज्ञान की अपेक्षा होगी— फलतः, इस रूपमें अनवस्थादोष उपस्थित होगा और इसका परिणाम होगा कि किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य स्थिर नहीं होगा। इसलिए परतः प्रामाण्यवाद ठीक नहीं अर्थात् ज्ञानमात्र स्वतः प्रमाण है। इस प्रकार ज्ञानमात्र की प्रथमतः प्रमारूप में प्रतीति होने पर भी यदि वाद में अनुसन्धान करने पर ज्ञान कारण में दोष दर्शन होगा तव हमलोग मनमें अवगत कर लेते हैं कि हमलोगों ने जिस ज्ञान को प्रमा समझा था वह ज्ञान प्रमा नहीं है। इस तरह ज्ञान का अप्रामाण्य ही वादमें अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है किन्तु, प्रामाण्य ज्ञान के उदय होने के साथ ही सिद्ध हो जाता है। इसी को वेदान्त-सम्मत—स्वतःप्रामाण्यवाद कहते हैं।

अब यह विचारणीय है कि सभी प्रमाण स्वतः सिद्ध प्रमाण होने पर वेद का विशेषरूप में आदर क्यों होता है ?

प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतः सिद्ध प्रमाण होने पर भी उसके कारण इन्द्रिय आदि में दोष देखने पर उसके प्रामाण्य का बाध या अपवाद होने की आशङ्का बनी रहती है। इसी प्रकार लौकिक शब्द-प्रमाण स्वतः सिद्धप्रमाण होने पर भी उसके कारण शब्द-प्रयोगकर्त्ता में भ्रम, प्रमाद आदि दोषों के देखने पर उसके प्रामाण्य के बाध या अपवाद होने की शङ्का रहती है, किन्तु अपौरुषेय वेदरूप शब्दप्रमाण में उक्त दोषों की आशङ्का न होने से उसके प्रामाण्य का बाध या अपवाद होने की सम्भावना नहीं है। इसलिए यह सिद्ध होगा कि वेद ही सभी प्रमाणों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाण है। फलतः, प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने पर श्रुतिवाक्यों की लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्यार्थ-कल्पन समीचीन नहीं है।

पूर्वोक्त युक्ति से वेद स्वजन्य प्रामाण्य अंश में प्रत्यक्षनिरपेक्ष एवं प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रेष्ठ होने पर भी उसकी उत्पत्ति तो प्रत्यक्षमूलक ही स्वीकार करनी होगी, अतः, वह प्रत्यक्ष का बाधक कैसे हो सकता है ? जो अपनी उत्पत्ति के लिए जिसकी अपेक्षा करता है, वह उसका बाधक नहीं हो सकता है। जैसे—पट अपनी उत्पत्ति के लिए तन्तुसंयोग की अपेक्षा करता है, इसलिए पट तन्तु-संयोग का विरोधी नहीं हो सकता है। अतः श्रुतिप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण का विरोधी नहीं हो सकता है।

यह कथन समीचीन नहीं है। कारण, तन्तुसंयोग और पटका दृष्टान्त समवायी और असमवायी कारण के साथ कार्य के सम्बन्ध का लक्ष्य करके ही कहा गया है, दण्डादि निमित्तकारण को लक्ष्य करके नहीं कहा गया है। किन्तु इन दोनों में इस प्रकार का कोई कार्यकारणभाव नहीं है। वरन् कुम्भ-कार के साथ घट के निमित्तनैमित्तिकभाव सम्बन्ध के समान ही है। निमित्त-कारण का बाधक होकर भी कार्य विद्यमान रह सकता है—यह सभी ने स्वीकार किया है। जैसे—"यह रजत है" इस पूर्ववर्ती ज्ञान का "यह रजत नहीं है" यह परवर्ती ज्ञान बाधक होकर ही रहता है। इस भ्रमस्थल में "यह रजत नहीं है" यह ज्ञान कार्य है और "यह रजत है" यह ज्ञान उसका कारण है। कारण, अभाव के ज्ञान के प्रतियोगी का ज्ञान एकान्त आवश्यक है। जिस

अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान नहीं रहता उस अभाव का भी ज्ञान नहीं रहता है। इसलिए शब्दजन्य प्रमाज्ञान की उत्पत्ति के विषय में प्रत्यक्षरूप निमित्त-कारण की अपेक्षा होने पर भी वह प्रत्यक्ष का बाधक हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि आगमज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का बाधक नहीं हो तब भी प्रकृत में कोई बाधा नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष का प्रामाण्य व्यावहारिक प्रामाण्य है एवं आगमजन्य ज्ञान का प्रामाण्य पारमार्थिक प्रामाण्य है। आगमजनित पारमार्थिक ज्ञान से व्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण का पारमार्थिकत्व अपहृत होने पर भी उसका व्यावहारिक प्रामाण्य अपहृत नहीं होता है। प्रत्यक्ष का स्वभाव जो व्यावहारिकत्व, उसका आगमज्ञान से किसी काल में भी बाध नहीं होता है। इसलिए आगमज्ञान प्रत्यक्ष का विरोधी होता है—यह कथन भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

प्रत्यक्ष से पारमार्थिक प्रमाण नहीं होने पर पारमार्थिक आगमज्ञान का उत्पादक किस प्रकार होता है? व्यावहारिक ज्ञान रहने पर भी पारमार्थिकज्ञान का उदय सम्भव है। जैसे पुस्तकादि अध्ययन के समय में लिपि में शब्दात्मक वर्णज्ञान भ्रमात्मक या व्यावहारिक होने पर भी, उससे वस्तुविषयक यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है। लिपिओं में शब्दके रूपमें जो ज्ञान होता है वह व्यवहार का उपयोगी होने पर वस्तुतः भ्रमज्ञान है एवं इस प्रकार के व्यवहारोपयोगी ज्ञान से उत्पन्न घटादिविषयकज्ञान अपेक्षाकृत पारमार्थिक होता है। फलतः प्रत्यक्षपारमार्थिक न होने पर भी प्रत्यक्ष से पारमार्थिक आगमजनितज्ञान उत्पन्न हो सकता है। बाधकज्ञान परवर्ती ही होता है। आगमजनित आत्मविषयकज्ञान ही मनुष्य के लिए अन्तिम ज्ञान है, इस ज्ञान के बाद ज्ञातव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है, इसीलिए यह पूर्वभावी व्यावहारिक आत्मज्ञान का बाधक होगा।

पूर्वोक्त विश्लेषण से श्रुति के अप्रामाण्य का निरसन होने पर भी श्रुति का अर्थ उपचरित (गौण) क्यों नहीं होता है? "तत्पराणि शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्तुम्" इस भामती के विश्लेषण से पूर्व में ही सिद्ध

हो गया है कि तत्परक वाक्य उपचरितार्थक नहीं होता है अर्थात् उस अर्थ में जिस वाक्य का निश्चिततात्पर्य रहता है वह उपचरितार्थक नहीं हो सकता है। इस तरह यह पूर्व में ही सिद्ध है कि तत्परकशब्द अनुपचरित अर्थ को कहते हैं। तब पुनः भामतीकारने तत्परक वाक्य अनुपचरितार्थक है यह पुनरुक्ति क्यों की है? विषय के भेद से पुनरुक्ति नहीं है। कारण, पूर्व में अध्यास के प्रयोजक भेदाग्रह की सिद्धि के लिए "अनुपचरितार्थत्व" कहा गया था और प्रकृत में उपजीव्य-प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरोध का परिहार करने के लिए कहा गया है। अतः, दोनों स्थलों में पुनरुक्ति दोष नहीं है। जिस अर्थ को कहने वाला शब्द होता है वही उस शब्द का मुख्य रूप से प्रतिपाद्यमान अर्थ होता है, वह उपचरित अर्थ नहीं होता है। इस विषयका भामतीकार ने शबरस्वामी की उक्ति से भी समर्थन किया है विधायक वाक्य में लक्षणा या गौणी वृत्ति द्वारा प्रतीयमान अर्थ शब्दार्थ नही होता है, किन्तु, जो तात्पर्य विषयी-भूत अर्थ होता है, वही शब्दार्थ होता है। प्रकृत में वेदान्त श्रुतियों का भी अपरिच्छिन्न अद्वितीय सत्, चित्, आनन्द ब्रह्ममें उपक्रम आदि छ लिङ्गों से तात्पर्य रहने से पूर्वोक्त ब्रह्म ही वेदान्त श्रुति का अर्थ है। अहं अनुभव का तो पूर्वोक्त अर्थ विषय नहीं होता है। जिससे पूर्वोक्त रीति से "अहं" इस अनुभव गोचर का देह आदि से भेदग्रह होने से अध्यास नहीं है यह कहा जाय।

वह जो कहा गया है प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है अतः, प्रत्यक्ष-प्रमाण आम्नाय का बाधक है। अब यह प्रश्न है कि क्या ज्येष्ठत्व उपजीव्यत्व है या ज्येष्ठत्व मात्र पूर्वोत्पन्नत्वरूप मुख्यत्व है? इन दो पक्षों में प्रत्यक्ष का उपजीव्यत्व-रूपज्येष्ठत्व तो पूर्वोक्त युक्ति से निराकृत हो गया है। द्वितीय कल्प के अनुसार ज्येष्ठत्व पूर्वोत्पन्नत्वरूप मुख्यत्व है तब आगम में अनपेक्षित होने पर भी पूर्वोत्पन्नत्व मात्र ज्येष्ठत्व 'प्रत्यक्ष में मानने पर पूर्वोत्पन्नत्व बाध्य होने का कारण होता है, कारण, भ्रमज्ञान स्थल में मात्र पूर्वोत्पन्नत्व रूप ज्येष्ठता शुक्ति स्थल में भ्रमात्मक रजतज्ञान में होने पर भी बाद में उत्पन्न होने वाले कनिष्ठ शुक्तिज्ञान से रजत ज्ञान का बाध हो जाता है। भ्रमज्ञान का बाधक होने से ही यह शुक्ति नहीं है यह ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः, शुक्ति में यह रजत है इस ज्ञान का

बाध न मानने पर अनन्तर उत्पन्न ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ होने पर भी अनन्तर उत्पन्न अनपेक्षित आम्नाय के द्वारा वह बाधित होगा। पूर्व उत्पन्नज्ञान बाद में उत्पन्न होने वाले ज्ञान से बाधित हो जाता है, इस विषय में जैमिनि के वचन को प्रमाण के रूप में प्रदर्शित किया है पूर्वापरभाव विद्यमान रहने पर पूर्व ही दुर्बल होता है प्रकृति के समान। इस न्याय का यह आशय है। मीमांसा के छट्ठे अध्याय में कहा गया है अग्निष्टोम में परस्पर सम्बद्ध होकर (एक दूसरे पर हांथ रखकर) यज्ञशाला से जाते हुये ऋत्विजों के अलग होने पर प्रायश्चित्त कहा गया है— यदि उद्गाता छोड़ दे तो विना दक्षिणा लिए ही यज्ञ का सम्पादन करे, और प्रतिहर्त्ता अलग हो जाय तो सर्बस्व दक्षिणा के रूप में देकर यज्ञ करे। उद्गाता और प्रतिहर्ता इन दोनों का क्रमपूर्वक विच्छेद होने पर विना दक्षिणा याग और सर्वस्व दक्षिणा पूर्वक याग इन परस्पर विरुद्ध प्रायश्चित्त की प्राप्ति होने से दोनों का एक साथ अनुष्ठान सम्भव नहीं हैं, अतः, क्रमिक दोनों का अनुष्ठान प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में पूर्व में विना दक्षिणा के यागानुष्ठानरूप प्रायश्चित्त किया जायेगा या सर्वस्व दक्षिणावाला यागानुष्ठानरूप प्रायश्चित्त का सम्पादन किया जायेगा इस प्रकार संशय होने पर प्रतिहर्त्ता के वाद में अलग होने पर भी उद्गाता पूर्व में ही अलग होता है, अतः उद्गाता के विच्छेद काल में प्रतिहर्त्ता का विच्छेद न होने से किसी प्रकार के विरोध का प्रसङ्ग न होने से पूर्वप्राप्त बिना दक्षिणा के याग का अनुष्ठान ही पूर्व में होना चाहिए— यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त किया गया हैं। —प्रायश्चित के निमित्तभूत दोनों विच्छेदों का पूर्वापरभाव होने पर पूर्वप्राप्त अदक्षिण याग दुर्बल होता है और बाद में प्राप्त निरपेक्ष सर्वस्व दक्षिणावाला याग पूर्व में प्राप्त अदक्षिणा वाले याग को बाधन कर ही उदय होने से पूर्व अदक्षिण याग की प्राप्ति के काल में सर्वस्व दक्षिणा वाला याग को प्राप्ति न होने सेपूर्व में उसका बाध सम्भव नहीं है, अतः, उत्तरवर्त्ती से पूर्व का बाध होजाने से सर्वस्वदक्षिणा वाले याग का अनुष्ठान ही विहित होता हैं। इसी विषय को कहा गया है—पहले बाद वाले की प्राप्ति न

होने से विना बाधन किए ही पूर्व की प्रसक्ति होती है, वाद वाले की अन्यथा उपपत्ति न होने से पूर्व का बाधन कर ही सम्भव होता हैं। अर्थात् बिना पूर्व का बाधन किये उत्तर की सम्भावना ही नहीं हैं।

पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते।
परस्यानन्यथोत्पादान्न त्वबाधेन सम्भवः॥

प्रकृति याग में कुशमय वर्हि के आस्तरण का उपदेश किया गया है। अतः कुशमय वर्हि का आस्तरण (फैलाना) प्राप्त होता हैं विकृति याग में भी प्रकृति के समान विकृति का भी अनुष्ठान करना चाहिए इस अतिदेश से कुशमय वर्हि का ही फैलाना प्रसक्त होता है। किन्तु, पृथक् विकृति याग में सुना गया है कि शरमय वर्हि का आस्तरण करना चाहिए। अब यह सन्देह होता है कि विकृति याग में कुशमय वर्हि का आस्तरण करना चाहिए अथवा शरमय वर्हि का आस्तरण करना चाहिए। प्रकृतवत् विकृतिः कर्तव्या प्रकृति के समान विकृति याग करना चाहिए इस अतिदेश से प्राप्त होने से कुशमय वर्हि का ही आस्तरण विकृति में भी करना चाहिए—यह पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त किया गया है कि कुश का उपकार प्रकृति याग में निश्चित है और शर के उपकार की कल्पना करनी पड़ेगी दूसरी बात यह है जि कुशों का आस्तरण प्रकृति याग में होने से यह कुश का आस्तरण सावकाश है शरों का आस्तरण अन्यत्र किसी भी स्थल में सावकाश नहीं है, अतः, सावकाश और निरवकाश में निरवकाश ही बलवान् होता है (सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशः बली) इस न्याय से विकृति याग में निरवकाश शर का आस्तरण अन्त में प्राप्त होने पर भी पूर्ववर्ती प्रकृतियाग में सावकाश कुश के आस्तरण का बाध हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता हैं कि परस्पर निरपेक्ष पूर्ववर्ती और परवर्ती में पर बलवान् होता है एवं पूर्व का बाध हो जाता है। इसी विषय की पुष्टि करते हुए भामतीकार ने अन्य प्राचीनाचार्यों की उक्ति का भी उद्धरण दिया है—

परस्पर निरपेक्ष ज्ञानों की उत्पत्ति होने पर पूर्ववर्तीप्रमाण की अपेक्षा परवर्ती ज्ञान बलवान् होता है।

"पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्॥

इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि श्रुत्यादि से गम्य अहं प्रत्यय विषय अद्वितीय आत्मतत्त्व का देह इन्द्रिय आदि से भेदग्रह रहने पर भी उक्त आत्मतत्त्व का देह आदि से भेदाग्रह होने से अध्यास संभव होता है।

आगे की पंक्तियों से भामतीकार ने यह कहा है कि 'अहं' के द्वारा तात्त्विक आत्मा का ज्ञान भी नहीं होता है। क्यों कि "अहमिहैवास्मि सदने जानानः (ज्ञान करता हुआ मैं इसी गृह में हूँ) इस व्यावहारिक प्रयोग के द्वारा सर्वत्र व्याप्त आत्मा की प्रादेशिकत्व (अल्पपरिमाणवान्) के रूप में प्रतीति हो रही है।जैसे उच्चतर पर्वत के शिखर पर स्थित विशाल-वृक्ष भूमि पर रहने वाले को दूर्वा के समान प्रतीत होते हैं। "अहमिहैव" इत्यादि के ज्ञान से शरीर का ही प्रादेशिकत्व अनुभूत होता है आत्मा का प्रादेशिकत्व अनुभूत नहीं होता है। अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान देहप्रादेशिकत्वविषयक है आत्मप्रादेशिकत्व-विषयक नहीं है, किन्तु, यह कथन समीचीन नहीं है। कारण, अहं ज्ञान शरीरादिभिन्न आत्म-ज्ञान है अहं से देहादि-भिन्न आत्म-विषयक ज्ञान होने से पूर्वोक्त ज्ञान देह के प्रादेशिकत्व को विषय नहीं कर रहा है। देह के प्रादेशिकत्व-विषयक-प्रतीति में "अहं" इस रूप में प्रतीति नही हो सकती है। अहं प्रत्यय देहादि से भिन्न आत्मा को विषय करता है। अतः, अहं प्रत्यय प्रादेशिक शरीर को विषय नही कर रहा है। "अहमिहैव" इस में अहं शब्द का देह में गौण प्रयोग हैं। देह अहं शब्द का गौण अर्थ मान कर पूर्वोक्त प्रयोग में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार गौण प्रयोग मान कर उपपत्ति प्रदर्शन का खण्डन करते हुए भामतीकारने कहा है कि देह के प्रादेशिकत्व की उपपत्ति होने पर भी "जानानः" इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, अहं शब्द अपने शक्य अर्थ आत्मा को छोड़ कर आत्मभाव का जिसमें उपचार है उह देह अर्थ का बोधक है। अतः. उपचरित आत्मरूप देह में ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है देह ज्ञाता नहीं हो सकता है, अतः, "जानानः" यह प्रयोग अहं का देह में गौण

मानने पर उपपन्न नहीं हो सकता है, कारण, जानानः यह प्रयोग "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे "३ | २ | १२४" इस पाणिनिसूत्र के द्वारा ज्ञाधातु से लट् के स्थान में शानच् (आन) प्रत्यय कर "जानानः प्रयोग सिद्ध होता है, यद्यपि लट् के स्थान में आदेश हुए विना प्रयोग नहीं होता है, अतः, किसी भी सुबन्त के साथ सामानाधिकरण्य (अभेदान्वय) सम्भव नहीं है। तथापि शतृ और शानच् प्रत्यय से युक्त प्रयोगों के साथ सामानाधिकरण्य होता है। इसलिए शतृ और शानच् के स्थानों में भी सामानाधिकरण्य की कल्पना की जाती है।

प्रकृतमें "जानानः" का ज्ञान के अनुकूल व्यापार का आश्रय अह अर्थ होता है, कारण, प्रातिपदिक में द्रव्य की प्रधानता होती है। अतः, ज्ञान के अनुकूल व्यापार का आश्रय अहं यह अर्थ होने से "अहं" का शरीर में गौण प्रयोग मानने पर शरीर को ज्ञान का आश्रय मानना पड़ेगा, अन्यथा जानानः यह प्रयोग ही उपपन्न नहीं हो सकता है। और शरीर ज्ञान का आश्रय नहीं है, इसलिए भामतीकार ने कहा है— "गौणत्वे वा न जानानः"

पूर्वोक्त अनुपपत्ति का परिहार करने के लिए यदि यह कहा जाय कि अहं के समान ही "जानानः" यह भी देह में गौण है। अर्थात् "जानानः" इसका गौण प्रयोग होने के कारण देह में ज्ञातृत्व की गौण प्रतीति है। प्रकृत वाक्य के द्वारा वक्ता अपने ज्ञान का ही प्रकाशन कर रहा है, अतः, अज्ञाता शरीर में जानानः यह गौण प्रयोग नहीं कर सकता है। "अहं" ज्ञान का विषय आत्मा ही है इस आत्मा में देह के प्रादेशिकत्व का उपचार "इहैव' इस शब्द से होता है। ऐसा मानने पर देह के प्रादेशित्व का बोधक "इहैव' शब्द का आत्मा में और "अहं" शब्द का देह में गौण प्रयोग है—यह मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अर्थात् "इहैव" शब्द का आत्मा में और "अहं" शब्द का देह में गौण-प्रयोग मानने पर देह और आत्मा में भेदग्रहण आवश्यक है। इसी विषय को अभिव्यक्त करते हुए भामतीकारने कहा है-दूसरे अर्थ के बोधक शब्द का अपने अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो धर्म उस धर्म के सम्बन्ध के

कारण होता है। अतः, जहाँ प्रयोग करने वाले और इस प्रकार जानने वाले को इस प्रकार का अर्थ अवगत होता है-वहाँ गौण प्रयोग होता है। गौणत्व दो प्रकार का है [१] साम्प्रतिक-गौण [२] निरूढ़- गौण "सिंहो माणवकः" (माणवक सिंह है) इस प्रयोग में बालक में सिंह शब्द का प्रयोग साम्प्रतिक-गौण प्रयोग है। सिंह में रहने वाली जो शूरता तथा क्रूरता है वह बालक में उपलब्ध होती है, अतः, इस गुण के सम्बन्ध के कारण बालक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग होता है—यही साम्प्रतिक गौण प्रयोग है। दूसरा गौण प्रयोग सरसों के रस में तैल शब्द का प्रयोग है। तिल से उत्पन्न को तैल कहते हैं, किन्तु स्नेह के [रस के] कारण तैल शब्द का सरसों के तैल में गौण प्रयोग है—यह निरूढ़ गौण प्रयोग है। प्रकृत में यह विचारणीय है कि देह में अहं शब्द का गौणत्व सिंह का माणवक में गौण शब्द के प्रयोग के समान साम्प्रतिक गौणत्व है, या सरसों के रस में तैल शब्द के प्रयोग के समान निरूढ़ गौणत्व है? इनमें साम्प्रतिक गौणत्व का खण्डन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि "परशब्दः" अन्य अर्थ का बोधक शब्द अन्यत्र मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो धर्म उस धर्म का सम्बन्ध होने के कारण प्रयुक्त रहता है, जहाँ इस प्रकार शब्द-प्रयोग-कर्त्ता ही अर्थ का ज्ञाता रहता है वहाँ गौण होता है। जैसे—माणवक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग "सिंहो माणवकः" इस वाक्य में होता है। इस वाक्य में सिंह शब्द के मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो शूरता एवं क्रूरता इन धर्मों को माणवक में देखकर यह गौण प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ सिंह के शक्य अर्थ सिंह और लक्ष्य अर्थ माणवक का भेदज्ञान रहने से ही हो रहा है।

वाक्यार्थ निर्णयमें मीमांसकों का प्रामाण्य सभी लोगों के द्वारा स्वीकृत है, अतः, अपने पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते हुए भामतीकार ने मीमांसक सिद्धान्तों का प्रदर्शन किया है "तद्यथा" प्रमाण लक्षण में कहा गया है "अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः" यह तैत्तिरीयसंहिता का वाक्य है। इस वाक्य में सन्देह होता है कि अग्निहोत्र शब्द से अग्नि-देवता-रूप-गुणविशेष का विधान है या यह कर्म का ज्ञान है? इस संशय में पूर्वपक्षी का कथन है कि अग्निहोत्र शब्द में बहुव्रीहि-समास मानने पर अग्नये होत्रं—हविः यस्मिन् [अग्नि के लिए होत्र अर्थात् हविः है जिसमें] इसके अन्तर्गत अग्नि शब्द में जो चतुर्थी

विभक्ति से अग्नि की होम में देवतात्व की प्रतीति होने से होमरूप कर्म अग्नि देवता के लिए है यह पूर्वोक्त वचन अग्निदेवतारूप गुण विधि है। पूर्वपक्षी का यह आशय है कि "अग्निहोत्र" पद के द्वारा कर्म का नाम नहीं कहा जा सकता है। कारण, इसको कर्म का नाम मानने पर याग का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य और देवता ये ही दो याग के रूप होते हैं। इनमें इस स्थल में "अग्निहोत्र" इस शब्द के द्वारा गुण का विधान पूर्वोक्त विग्रह वाक्य में स्थित अग्नि शब्द से आई हुई चतुर्थी विभक्ति के आधार पर हो सकता है और अग्निदेवतात्वरूपगुण का विधान होने से कर्म का स्वरूप सिद्ध होता है। इसको कर्म का नाम मानने पर द्रव्य एवं देवता इन दोनों में एक की भी स्थिति न रहने के कारण कर्म का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। अतः "अग्निहोत्र जुहोति" यह अग्निदेवता रूप गुण विधि है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि "यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति" इस शास्त्र से अग्निदेवता रूप गुण का विधान होता है, अतः, अग्नि-होत्रं जुहोति" इस वाक्य के द्वारा विधान किये जाने वाले गुण की प्रदर्शित वाक्य से प्राप्ति होने से यह गुण विधि नहीं है, कर्म का ही नाम है। जिसमें अग्निदेवता के उद्देश्य से होम होता है,, वह अग्निहोत्र है, यह यौगिक अर्थ स्वीकार कर अग्निहोत्र शब्द को कर्म का नाम मानने पर कोई अप्रसिद्ध कल्पना नहीं होती है। देवतारूप गुण का अन्य शास्त्र से विधान हो जाने से कर्म का नाम मानने पर याग के स्वरूप की सिद्धि में कोई अनुपपत्ति नहीं है, किन्तु, पूर्वोक्त समास के अन्तर्गत प्रदर्शित चतुर्थी विभक्ति के बल से अग्नि देवता रूप गुण की विधि कही गई है यह अनुपपत्ति वर्तमान है। यजमान के द्वारा अग्नि का विकार नहीं हो सकता है! आशय यह है कि जहाँ तादर्थ्य में चतुर्थी रहती है वहाँ प्रकृति-विकृति-भाव रहता है, जैसे "कुण्डलाय हिरण्यम्" यूपाय दारु" (यूप के लिए लकड़ी) कुण्डलाय हिरण्यम् (कुण्डल के लिए सोना) इत्यादि तादर्थ्य में चतुर्थी का उदाहरण है। इन उदाहरणों में कुण्डल और यज्ञीय पशुबन्धन-स्तम्भ विकृति है एवं हिरण्य और लकड़ी प्रकृति है। फलतः, तादर्थ्य में

चतुर्थी होने पर प्रकृतिविकृतिभाव रहता है। प्रकृत में अग्नि यजमान हविः का विकार नहीं है, इसलिए तादर्थ्य में चतुर्थी समास नहीं है। अतः प्रकरणान्तर से अग्निदेवतात्व की प्राप्ति होने से यह कर्म का ही नाम है। इसी प्रकार नित्य अग्निहोत्र वाचक अग्निहोत्र शब्द का गुण के योग से अन्य कर्म में वृत्ति कहने के लिए मुख्य नित्य अग्निहोत्र अर्थ से भेद का ग्रहण कर यह कर्म अवस्थित है। इसीका प्रतिपादन "नैयमिकाग्निहोत्र" इत्यादि कहा है। "कुण्डपायिनामयन" नामक यज्ञ विशेषके प्रकरणमें श्रुतियों के मध्य में कहा है--"मासमग्निहोत्रं जुहोति" "मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्यादि। इस स्थलमें यह संशय होता है कि नित्य अग्निहोत्र में मासरूपगुणका विधान है अर्थात् मासगुणविशिष्ट कर्म है। इसमें पूर्वपक्षियों ने कहा है कि इन वचनों के द्वारा नियत अर्थात् यह नित्म अग्निहोत्रप्रभृति कर्म में मासादिरूपकालका ही विधान किया गया है, अतः यह गुणविधि है। कारण, "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य में अग्निहोत्र प्रभृति कर्म का ही विधान किया गया है—यह पूर्व में ही कहा गया है और इस स्थल में इस वाक्य में उस नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म में अप्राप्तमासादिकालरूपगुण विहित होता है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि इसमें यह संशय होता हैकि अग्निहोत्र नाम से नित्य प्रसिद्ध अग्निहोत्र का अनुवाद कर मासगुण का विधान है या "जुहोति" इस तिङन्त से प्रसिद्ध अग्निहोत्र का अनुवाद कर मास गुण का विधान है। इनमें द्वितीय पक्ष अर्थात् "जुहोति" इस तिङन्त से प्रसिद्ध अग्निहोत्र का साध्यावस्थापन्न कर्म का ही बोध होने से सन्निहित अर्थ का ही बोध होगा। तिङन्त असत्त्वभूत=साध्यावस्थापन्न कर्म का ही बोधक होता है सिद्धावस्थापन्न कर्म का बोधक नहीं होता है। अतः, सिद्ध एवं व्यवहित प्रसिद्ध अग्निहोत्र का परामर्श "जुहोति" इस तिङन्त से सम्भव नहीं है। प्रथम कल्प भी ठीक नहीं है, कारण, अग्निहोत्र नामक धातुसमानाधिकृत ही धात्वर्थ से बोधित होता है, अतः, सन्निहित का ही परामर्श होगा भिन्न एवं व्यवहित अर्थका बोध नहीं हो सकता है साथ ही मास कालरूप है और काल पुरुषव्यापार से सम्पादित नहीं होता है, अतः कालरूपगुण का विधान अनुपादेय है, इसलिए इसका विधान नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि मास-

रूप गुण का अनुवाद कर नित्य अग्निहोत्र का ही विधान है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, नित्य अग्निहोत्र का "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इससे ही विहित होने के कारण विहित का ही पुनः इस वाक्य से विधान नहीं हो सकता है। "जुहोति" के द्वारा या अग्निहोत्रनाम से असन्निहित नित्य अग्निहोत्र का परामर्श सम्भव नहीं है—यह पूर्व में ही कहा गया है। यह भिन्न प्रकरण होने से और पूर्व कर्म असन्निहित होने से यह मासगुण विशिष्ट अतिरिक्त कर्म ही है। इसीलिए विधेयभावना का भेद है। अब यह प्रश्न होता है कि अग्निहोत्र शब्द का कुण्डपायिनामयन कर्म में नित्य अग्निहोत्रवाची अग्निहोत्रशब्द के गौण प्रयोग में क्या लाभ है? क्या नित्य अग्निहोत्र के साथ कुण्डपायिनामयन कर्म में क्रियादि का सादृश्यबोध करना प्रयोजन है या अन्य कुछ प्रयोजन है, क्योंकि गौण प्रयोग निष्प्रयोजन तो नहीं हो सकता है। सादृश्य-बोधन अकिञ्चित्कर होने से स्वयम् अप्रयोजन होने से व्यर्थ है और अन्य किसी प्रयोजन की अवगति भी नहीं हो रही है। इसी शंका की निवृत्ति के लिए भामती में कहा है "साध्यसादृश्येन" साध्य कुण्डपायिनामयन कर्म में नित्याग्निहोत्र के सादृश्य से प्रयुज्यमान अग्निहोत्र शब्द गौण है अर्थात् नित्य अग्निहोत्रादि में द्रव्य, धर्म, देवता आदि का अतिदेश ही प्रयोजन है।

इसकी व्याख्या शाबरभाष्य में निम्नलिखित है—प्रकरण का भेद होने से कर्म का भेद होता है। "कुण्डपायिन" नामक यज्ञ के प्रकरण में श्रुतियों में कहा गया है—"मासमग्निहोत्रं जुहोति" "मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते" इत्यादि। इस प्रकार के स्थल में यह सन्देह होता है—यह गुण विधि है या भिन्न कर्म का उपदेश किया गया है? इस संशय में पूर्वपक्षी का कहना है कि इन वचनों के द्वारा नियत अर्थात् नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म में मासादि रूप काल का ही विधान होता है, अतः, यह गुणविधि है। "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वचनों से अप्राप्त मासादिकालरूप गुण विहित होता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि "प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्" (२।३।२४) जो वाक्य अन्य प्रकरण में निबद्ध हैं वे जिस प्रकरण में पढ़े गये हैं उसीके वाचक होंगे। "मासमग्निहोत्रम्" वाक्य अयन-प्रकरण में पढे गये

हैं, अतः अन्य कर्म के ही विधायक हैं। वाक्य-भेद दोष की आपत्ति होने से यह पूर्वोक्त गुण विधि नहीं है। कारण, इस स्थल में "उपसद्भिश्चरित्वा अग्निहोत्रं जुहोति" इस प्रकार का वचन होने से केवल मासरूप गुण का ही विधान नहीं हो सकता है, वरन् मास एवं उपसत् (होम विशेष) इन दो गुणों का विधान करना होगा। क्योंकि अग्निहोत्र या दर्शपूर्णमास में "उपसत्" गुण की प्राप्ति नहीं है। अन्य वचन के द्वारा विहित कर्म में एक साथ अनेक गुण का विधान वाक्य-भेद के बिना सम्भव नहीं है। इन्हीं कारणों से यह गुणविधि नहीं है। कथित कारणों से यह गुण-विधि न हो किन्तु यह स्वतन्त्र कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि "प्रकरणान्तरत्व" ही कर्म-भेद का हेतु है। कारण यह अग्निहोत्रादि का प्रकरण नहीं है, वरन् अयन (यज्ञ विशेष) का ही प्रकरण है। प्रकरण का अर्थ पूर्व कर्म का असन्निधान होता है। पूर्व कर्म के समीप में किसी प्रकार का उपदेश होने पर सामीप्य के कारण पूर्वक्रम का ही ज्ञान हो जाता है और ऐसी स्थिति में गुणविधि का प्रसङ्ग हो सकता था, किन्तु इस स्थल में "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य अग्निहोत्रं जुहोति इस वाक्य के द्वारा कथित अग्निहोत्रादि कर्म के समीप में नहीं कहा गया है, अतः सान्निध्य न होने केकारण पूर्व कर्म की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है। ऐसा न होने पर पूर्व-कर्म के साथ अभेद का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्राप्त कर्म में गुण विधिका प्रसङ्ग ही नहीं होता है। फलतः, "प्रकरणान्तरत्व" भिन्न प्रकरणत्व रूप कारण से कर्मभेद ही है।

अधिकरण का प्रयोजन यह है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार अग्निहोत्र में यावज्जीवन रूप काल के साथ मासादि काल का विकल्प एवं कुण्डपायिनामयन नामक कर्म में अग्निहोत्र का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता है। सिद्धान्ती के मत में विकल्प नहीं है, किन्तु अग्निहोत्र का अनुष्ठान कुण्डपायिनामयन नामक यज्ञ में करना पड़ता है।

ऋजुप्रकाशिकाकारने इस मीमांसावाक्य के अन्य प्रश्न का समाधान निम्नलिखित किया है—कुण्डपायिनामयन कर्म में अग्निहोत्र शब्द नित्य

अग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश[1] करेगा या नहीं ? यदि इस सत्र विशेष में अग्निहोत्र शब्द को गौण माना जाय तब नित्य अग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश करेगा। किन्तु प्रकृत में अग्निहोत्र शब्द गौण नहीं हो सकता है। अग्निहोत्र शब्द का जुहोति के साथ सामानाधिकरण्य नित्य अग्निहोत्र शब्द के समान यहाँ भी वर्तमान है। अतः, नाम एक होने से इस यज्ञ-विशेष में अग्निहोत्र शब्द को गौण नहीं माना जा सकता है। अग्निदेवता के विधान के लिए होने से भी यहाँ पर अग्निहोत्र शब्द गौण नहीं हो सकता है। अतः, अग्निहोत्र शब्द कुण्डपायिनामयन (यज्ञ विशेष) में नित्य अग्निहोत्र धर्म का अतिदेश नहीं करता है।

---

१ जिस विधि वाक्य में "इस प्रकार करें" इस प्रकार प्रत्यक्ष भाव में इतिकर्तव्यता का निर्देश रहता है—वह "उपदेश विधि" होती है। जिस विधि में "इस रूप में करें" इस रूप में किसी कर्म विशेष का धर्म्म विशेष अर्थात् इतिकर्तव्यता का निर्देश रहता है—वह "अतिदेशविधि" होती है।

प्राकृत कर्म से इतिकर्तव्यता रूप सकल धर्म उसके सजातीय अन्य कर्मों में प्रदिष्ट अर्थात् प्रापित होता है, इसी कारण से क्रिया के द्वारा प्राकृत कर्म से धर्म्म प्रदिष्ट होता है, उसीका नाम अतिदेश होता है। जिस कर्म में सभी अङ्गकलापों का उपदेश रहता है—वह प्राकृत कर्म होता है। जिसमें कतिपय अङ्गों का उपदेश नहीं रहता है अन्य कर्म के अङ्ग का ग्रहण होता है—वह विकृति या वैकृत कर्म कहा जाता है।

यह अतिशय (१) नाम के अनुसार एवं (२) शास्त्रीय वचन के अनुसार—दो प्रकार का होता है। (१) जहां अनेक कर्मों का एक ही नाम रहता है उस स्थान में उसी नाम के एक कर्म का धर्म्म अर्थात् "इतिकर्तव्यता" उस नाम के अन्य कर्म में अतिदिष्ट होती है। नाम सादृश्य होने से "नित्य अग्निहोत्र" कर्म के सभी धर्मों का "मासाग्निहोत्र" नामक कर्म में अतिदेश होता है। इस स्थल में नाम ही अतिदेश का प्रापक होता है। इसीलिए इसको नामातिदेश कहा जाता है।

शास्त्रीय वचन भी कहीं-कहीं अतिदेशक होता है। इस स्थल में आगे के ग्रन्थ के साथ अविरोध की रक्षा करने के लिए यौगिक नाम अतिदेशक नहीं होता है यह कहा है। कर्मनाम एवं संस्कारनाम ही अतिदेशक होता है।

आशय यह है कि पूर्वपक्षवादी में यह कथन है कि नैयमिक अग्निहोत्र का मासाग्निहोत्र धर्म में अतिदेश नहीं हो सकता है। कारण, नित्य अग्निहोत्र एवं मासाग्निहोत्र ये दोनों ही कर्म अपूर्व हैं अर्थात् पूर्व में अप्राप्त होने से दोनों समान युक्ति के आधार पर नामधेय है और दोनों के नामधेय में युक्ति की समानता है, तब दोनों का ही समान विधान होगा अर्थात् दोनों में ही अपनी-अपनी विधि से अपना-अपना सकल धर्म प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में नित्य अग्निहोत्र में उपदेश और मासाग्निहोत्र में अतिदेश—यह नहीं हो सकता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि अग्निदेवता के विधान के लिए मासाग्निहोत्रशब्द में अग्निहोत्र शब्द नहीं है। "यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति" इत्यादि से अग्निदेवतात्व विहित होने से विहित का पुनः विधान सम्भव नहीं है। पूर्व कथन के अनुसार चतुर्थी समास के बल से भी अग्नि देवता की विधि सम्भव नहीं है। कारण, चतुर्थी समास यहाँ सम्भव नहीं है। प्रकृति-विकृति भाव में ही चतुर्थी समास होता है—यह पूर्व में ही कहा गया है। इसलिए कर्म-भेद सिद्ध होने से दोनों स्थलों में प्रयुक्त एक अग्निहोत्र शब्द नित्य-अग्निहोत्र में अग्निहोत्र नाम पद-प्रवृत्ति-निमित्त और अग्नि देवता का सम्बन्ध वर्त्तमान होने से यहां पर मुख्य प्रयोग है और कुण्डपायिनामयन में मुख्य जो नित्य अग्निहोत्र है उसका सादृश्य अवलम्बन कर प्रवृत्त यह अग्निहोत्र शब्द गौण है। मुख्य अग्निहोत्र का प्रकृत में सादृश्य है—कर्तव्य अर्थ बोधक तिङन्त समभिव्याहृत नाम से बोध्य है। इसलिए अग्निहोत्र के समान हवन करता है इस साध्यत्व से वह विधेय है। इसकी सिद्धि के लिए नित्य अग्निहोत्र धर्मों का अतिदेश इस अग्निहोत्र में होगा ही।

शाबरभाष्य में इसका आशय व्यक्त करते हुए कहा है—अर्थ के साथ शब्द का स्वाभाविक सम्बन्ध है। एक ही शब्द का अनेकार्थकत्व उचित नहीं है।अतः अग्निहोत्र शब्द नित्यहोत्र एवं मासाग्निहोत्र दोनों का वाचक नहीं हो सकता है, एक ही अर्थ का वाचक हो सकता है और अन्य अर्थ में इसका गौण प्रयोग मानना होगा। ऐसी स्थिति में जो प्रथम प्राप्त होगा उसीका वाचक होगा। नित्य अग्निहोत्र ही प्रथमप्राप्त है, अतः, उसीका वाचक होने से मासाग्निहोत्र में

अग्निहोत्र शब्द गौणी वृत्ति का आश्रयण कर ही बोधक होता है। नित्य अग्निहोत्र में रहने वाले सभी धर्म इस मास अग्निहोत्र में भी वर्तमान हैं अतः, गुणगत-सादृश्य होने से "अग्निर्माणवकः" माणवक अग्नि है, "सिंहो देवदत्तः" "देवदत्त सिंह है" इत्यादि स्थलों के समान लक्षणाण गुण के सम्बन्ध से अग्निहोत्र शब्द मासाग्निहोत्र का भी बोधक होता है। धर्मों के अतिदेश के बिना गुणगत सादृश्य सम्भव नहीं है, इसलिए, नित्याग्निहोत्र के सभी धर्म मासाग्निहोत्र में अतिदिष्ट होंगे। इस प्रकार वेद में मासाग्निहोत्र से नित्य अग्निहोत्र का भेद सिद्ध रहने पर मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द का गौण प्रयोग माना गया है।

इस प्रकार वेद में गौण प्रयोग का निर्देश कर लौकिक गौण प्रयोग का अभिधान कर रहे हैं। "सिंहो माणवकः" माणवक सिंह है। सिंह से माणवक में भेद सिद्ध रहने के कारण सिंह से अन्य माणवक में मुख्यार्थभूत सिंह में स्थित जो क्रौर्य आदि गुण उसके सम्बन्ध से माणवक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग है। प्रकृत में देह आदि में "अहं" शब्द का गौण प्रयोग मानने पर देह से अहं पद के मुख्य अर्थ का भेद अवश्य ही मानना होगा। किन्तु यह भेदग्रह नहीं है—"अहं" पद का मुख्य अर्थ (निर्लुठित-गर्भतया = निष्कृष्य लुठितः, प्रतिभासितः गर्भः = असाधारणाकारो यस्य तथा।) अहङ्कारात्मवादी जो अनुभव करते हैं अर्थात् अहं का असाधारण आकार प्रतिभासित हो जाने से पूर्वोक्त रीति के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप अहंकार से भिन्न रूप में इसको अनुभूत नहीं करते हैं। यदि भिन्न रूप से अनुभूत होता तब "अहमिहैव" इस प्रतीति में देह में इसको गौण स्वीकार करते। यदि यह कहा जाय कि अत्यन्त निरूढलक्षणा होने के कारण गौण होने पर भी गौणत्व का अभिमान नहीं होता है—जैसे सरसों के तेल में तैल शब्द का प्रयोग। इसमें तिल से उत्पन्न तेल के साथ सरसों से उत्पन्न तेल का भेद रहने पर ही सरसों से उत्पन्न रस में तैल शब्द का व्यवहार होता है! इस प्रकार निरूढ गौण-प्रयोग स्थल में भी गौण और वास्तविक अर्थ में तादात्म्य नहीं है। प्रयोग के आधिक्य के कारण ही इसको निरूढ गौण कहा जाता है। सरसों के रस और तिल के रस में

अभेद-निश्चय के कारण तैल शब्द का प्रयोग नहीं है। प्रकृत में देह और आत्मा में अभेद प्रतीति हो रही है। पूर्वोक्त विश्लेषण से यह निर्णय हो चुका है कि गौणत्व दोनों के देखने वाले के गौण और मुख्य के भेदज्ञान से व्याप्त है। प्रकृत में गौण देह और मुख्य आत्मा का भेद-ज्ञान जो गौणत्व का व्यापकीभूत है उसकी निवृत्ति रहने से गौणत्व की भी निवृत्ति कर देता है। ज्ञानरूप अहं से देहात्मा के भेदकी असिद्धि होने पर भी प्रत्यभिज्ञा रूप से देह और आत्मा का भेद सिद्ध है। इसी विषय का प्रतिपादन भामतीकार ने "न च बालस्थविर" इत्यादि से कहा है, बालक और वृद्ध के शरीर में भेद रहने पर भी "वह मैं" इस प्रत्यभिज्ञा से एक ही आत्मा का ज्ञान होने से देहादि से भिन्न आत्मा का अनुभव हो रहा है। अतः, गौणत्वव्यवहार के लिए आवश्यक जो भेदज्ञान है उसकी उपलब्धि रहने से प्रकृत में अहं को गौण मानने में क्या आपत्ति है ? इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि साधारण व्यक्ति की दृष्टि से यह विवेचन नहीं हो सकता है, वरन् विवेचकों की दृष्टि से शरीर और आत्मा का भेद सिद्ध है। किन्तु परीक्षकों को युक्ति के आधार पर भेदज्ञान रहने पर भी प्रत्यक्ष-भेद-भ्रम का उच्छेद नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि विवेचक भी व्यवहार में साधारणलोगों की उपेक्षा नहीं करते हैं। इसी कथन के समर्थन में भाष्य-वचन का भी निर्देश किया है—"पश्वादिभिः" शास्त्र-चिन्तक ऐसा कहते हैं। शास्त्रचिन्तक लोक के अनुसार ज्ञाता होते हैं। इस उपक्रम का उपसंहार करते हुए कहा है प्रादेशिकत्व-भ्रम में दृष्टान्त देते हुए कहा है कि लौकिक-व्यक्ति शरीरादि के साथ आत्माका अभेदग्रह होने से आत्मा का प्रादेशिकत्व अनुभव करते हैं।

पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार पर यह भ्रम हो सकता है कि यदि आत्मा सर्वगत अर्थात् व्यापक हो तब देहतादात्म्य-भ्रम से आत्मा में प्रादेशिकत्व का ज्ञान भ्रमात्मक होगा, आत्मा सर्वगत नहीं है, वरन् प्रादेशिक ही है। फलतः आत्मा में प्रादेशिकत्व-ज्ञान भ्रमात्मक नहीं है। इसी विषय की आशङ्का करते हुए भामतीकार ने "न च अहंकारप्रामाण्याय" इत्यादि कहा है। पूर्व-कथित "अहमिहैवास्मि" इस ज्ञान के प्रामाण्य के लिए देह आदि के समान आत्मा भी प्रादेशिक ही है। यदि आत्मा प्रादेशिक है—यह स्वीकार किया जाय तब यह

संशय होगा कि आत्मा अणुपरिमाण वाला है या देहपरिमाणवाला है ? यदि आत्मा को अणुपरिमाणवाला माना जाय तब "अहं स्थूलः" [मैं मोटा हूँ] अहंदीर्घः [मैं लम्बा हूँ] इत्यादि प्रतीति नहीं होगी। कारण, अणुपरिमाणवाले में "अहं दीर्घः" स्थूलः, आदि व्यवहार नहीं हो सकता है। अस्तु, प्रथम पक्ष न होने पर भी देहपरिमाण ही आत्मा को माना जाय तो क्या आपत्ति है ? देहपरिमाण आत्मा का मानने पर अवयव से आरब्ध यह आत्मा है ? अर्थात् अवयव-क्रम से आरम्भ होकर आत्मा देहपरिमाण धारण करता है ? या अवयव-समुदायरूप आत्मा है ? प्रथम पक्ष से इसमें वैलक्षण्य यह है कि प्रथम में अवयव-क्रम से देह-परिमाणवाले आत्मा की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और द्वितीय पक्ष में पृथक्-पृथक् अवयव एकत्र होकर समुदाय रूप में देहपरिमाणवाला होगा। इन दो पक्षों को हृदय में धारण कर आगे की पंक्ति में दो आपत्तियों का उद्भावन किया है। प्रथम कल्प मानने पर देह-परिमाण-आत्मा सावयव होने से जन्य होगा और जन्य वस्तु अनित्य होती है, इसलिए आत्मा को अनित्य मानना पड़ेगा। यदि अवयव-समुदाय को आत्मा माना जाय तब यह प्रश्न उठता है कि अवयव-समुदाय का चैतन्य मानते हैं या प्रत्येक अवयव का चैतन्य स्वीकार करते हैं ? प्रत्येक अवयव का चेतनत्व स्वीकार करने पर अनेक स्वतन्त्र चेतन की एक शरीर में स्थिति माननी पड़ेगी। इन स्वतन्त्र अनेक चेतनों की एकवाक्यता न होने के कारण एकवाक्यता के अभाव में विरुद्ध दिशाओं की क्रियाओं के एक साथ सम्पादन की स्थिति में शरीर के उन्मथन या अक्रिय होने की प्रसक्ति होगी। अतः प्रत्येक अवयव का चैतन्य पक्ष सम्भव नहीं है।

समुदाय के चैतन्य पक्ष में भी यह प्रश्न उठता है कि अनेक अवयवों का संयोग-रूप समुदाय की प्राप्ति शरीरौपाधिक है ? या स्वाभाविक है ? अथ वा काकतालीयन्याय से आकस्मिक है ? इन पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। कारण, समुदाय में चैतन्य रहने पर शरीर के किसी एक अवयव के अलग होने पर चिदात्मा का भी अवयव भिन्न हो गया, अतः समुदाय के न रहने के कारण चैतन्य भी नहीं रहेगा। एक अवयव संश्लेष के नष्ट हो जाने से अवयवसंश्लेषरूप समुदाय नहीं रहेगा, अतः अवयव-भेद से चैतन्य नहीं

रहेगा—यह कहा गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, अनेक अवयवों का अविनाभावनियम रहता, अर्थात् अनेक अवयव एक समुदाय रूप में हुए विना रह ही नहीं सकते तब स्वाभाविक समुदाय की प्राप्ति स्वीकार की जाती, किन्तु, ऐसा कोई अविनाभाव नियम नहीं है। अतः समुदाय की प्राप्ति स्वभाविक नहीं होने पर उसका चैतन्य भी स्वाभाविक नहीं रहेगा।

तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, 'काकतालीय' न्याय से अकस्मात् (विना किसी कारण के) अवयवों के संश्लेष के समान ही अकस्मात् अवयवों का विश्लेष भी उसी न्याय के अनुरूप हो जायगा। अतः स्वस्थ व्यक्ति भी अकस्मात् अचेतन हो जायगा। इस तृतीय पक्ष का खण्डन भामतीकार ने "यदैवावयवो" इत्यादि पंक्ति से किया है।

अहं प्रतीति से विज्ञान का ही अवलम्बन किया जा रहा है। विज्ञान का आलम्बन "अहं" इस प्रतीति से मानने पर अहं प्रत्यय का भ्रान्तत्व अपरिहार्य ही रहेगा। कारण, विज्ञान तो क्षणिक है और "अहं" प्रत्यय के द्वारा स्थिर वस्तु का ही ज्ञान हो रहा है, जो मैं पूर्व में था वही मैं इस समय भी हूँ इस ज्ञान के द्वारा पूर्व और उत्तर-काल से अवच्छिन्न एक ही स्थिर-वस्तु ही अह प्रत्यय का विषय हो रही है।

इस प्रकार अहं प्रत्यय को गौण स्वीकार करने वाले मुख्य और गौण वस्तु के भेदग्रहण का उपपादन कर "मैं दुर्वल हूँ" "मैं अन्धा हूँ" इत्यादि प्रत्ययों को गौण कहा है, किन्तु, वह कथन भी भेद का ग्रहण न होने के कारण स्थित नहीं रह सका, कारण, गौणप्रयोग भेदग्रह से व्याप्त है—यह पूर्व में ही कहा गया है। अतः इसको गौण-प्रयोग स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। भ्रम अध्यास शब्द का अर्थ है। पूर्व एवं आगे के ग्रन्थों में भ्रम ही अध्यास शब्द का अर्थ माना गया है। भ्रम अध्यास होने से भामतीकार ने "अध्यासतया" यह प्रयोग किया है। इस प्रकार देहादि से अविविक्त (अभिन्न) आत्मविषय

अहं प्रत्यय भ्रमरूप होने से अहं प्रत्यय का विषय अहंकारगत-कर्तृत्व आदि, आत्मा में कर्तृत्व के आश्रय अहंकार का तादात्म्य (अभेद) अध्यास होने से अध्यस्त है। अतः कर्तृत्व आदि आत्मा में अवास्तविक होने से अकर्त्ता, अभोक्ता, शोकादिरहित, भूख-प्यास से अतीत अद्वितीय आत्मतत्त्व ही वेदान्त-शास्त्र का परिपाद्य है—इस आशय से इस शास्त्र के विषय की सिद्धि कहकर प्रयोजन की सिद्धि का प्रतिपादन करते हुए भामतीकार ने कहा है—इस प्रकार अहं ज्ञान को सारे कुष्माण्ड फल के समान दुर्गन्धित कर देने पर श्रुति के द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-विशिष्ट रूप में अहं अनुभव से प्रसक्त आत्मा का निषेध कर सकती है। इस प्रकार परस्पर एकवाक्यतापन्न वेद, स्मृति, इतिहास और पुराण से प्रसिद्ध अहं प्रत्यय का मिथ्यास्वरूप, निमित्त और फल विशद रूप में इस "अन्योऽन्यस्मिन्" भाष्य के द्वारा कहा गया है। आत्मा और शरीर में परस्पर अभेदाध्यास और दोनों में दोनों के धर्मों का अध्यास—स्वरूप है। एक का दूसरे के साथ भेद का अग्रहण—निमित्त है। व्यवहार फल है[1]।

शाङ्करभाष्यम्

तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतराविवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

पुष्पलता

ऐसा होने पर भी परस्पर में एक में दूसरे की स्वरूपता और एक में दूसरे के धर्मों का अध्यास कर परस्पर भेद के अग्रहण से अत्यन्त भिन्न धर्म और धर्मी का मिथ्याज्ञान-निमित्तक सत्य और मिथ्या को एकत्र कर मैं यह [हूँ] 'मेरा यह [है] यह स्वाभाविक लोक व्यवहार होता है'।

कुसुमलता

"अत्यन्तविविक्तयोरितरेतराविवेकेन 'अहमिदमिति' अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकताम्, ममेदमिति अन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य, सत्यानृते मिथुनीकृत्य मिथ्याऽज्ञाननिमित्तोऽयं लोकव्यवहार; यह भाष्य की योजना है।

महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री जी के अनुसार इस भाष्य का आशय यह होता है कि सादृश्यज्ञान भ्रम सामान्य के प्रति कारण नहीं है। कारण, सादृश्य के बिना भी केतकी-पुष्प के गन्ध में सर्प के गन्ध-भ्रम से जानते हैं—यह प्रतीति होती है। अतः विशेष दर्शन के द्वारा अध्यास का प्रतिबन्ध होने पर ही सादृश्यज्ञान को अध्यास के प्रति कारण मानना उचित है, अध्यासमात्र के प्रति सादृश्यज्ञान की कारणता समीचीन नहीं है। प्रतिबन्धक के रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए यह तो मानना पड़ेगा कि विशेष-दर्शन-सामग्री का अभाव भी अध्यास के प्रति कारण है, विशेष दर्शन-सामग्री ही अध्यास का प्रतिबन्धक है, इसलिए उक्त सामग्री के अभाव को प्रतिबन्धकाभाव रूप में कारण-कोटि में सन्निविष्ट करना ही होगा और इसको कारण कोटि में सन्निवेश करने से ही जब कार्य सिद्ध हो सकता है तब अध्यास में अतिरिक्त सादृश्य-ज्ञान को कारण रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह प्रश्न हो सकता है कि सादृश्यज्ञान को अध्यास का कारण न मानने पर सर्वथा विरुद्ध पदार्थ में भी अध्यास हो सकता है, जैसे कोयला में रजत का अध्यास। क्योंकि आपकी दृष्टि में सादृश्यज्ञान की कारणता मानी ही नहीं गई है; अतः पूर्वोक्त परस्पर विसदृश पदार्थों में भी अध्यास मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके उत्तर में सादृश्य-ज्ञान को कारण न मानने वालों का समाधान यह है कि प्रकृत में यह दोष तब सम्भव था जब अध्यास की सभी सामग्रियाँ रहतीं, किन्तु प्रकृत में विशेष-दर्शन-सामग्री का अभाव नहीं है वरन् नीलत्व आदि विशेष-दर्शन-सामग्री ही यहां सुलभ है, अतः अध्यास-कारण के अभाव से ही यहाँ अध्यास नहीं होता है। उपसंहार में कहा है कि सादृश्य की कारणता यदि मान भी ली जाय तब भी आपत्ति नहीं है। कारण, आत्मा और अन्तःकरण ज्ञान और जड रूप में परस्पर विरुद्ध स्वभाव के होने पर भी सत्त्व धर्म से दोनों में सादृश्य है। अतः विरुद्ध स्वभाववाले आत्मा और अन्तःकरण सत्त्वादि रूप से सदृश हैं, इसलिए परस्पर अध्यास होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। इस प्रकार सादृश्य ज्ञान का अभाव होने

से आत्मा और अन्तःकरण में अध्यास नहीं हो सकता है—यह शङ्का नहीं हो सकती है, इसलिए भेद के अग्रहण से अध्यास नहीं हो सकता है, इस शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—अन्योऽन्यस्मिन्—लोकव्यवहार इति।

परस्पर भेद के अग्रहण से एक का दूसरे में तादात्म्य और एक में दूसरे के धर्मों का अध्यास होता है। "अहमिदं" इस भाष्य में इदं शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है जिससे यह अवगत हो कि अध्यास में अन्तःकरण का अंश भी प्रतीत होता है, अतः "इदं रजतम्" इत्यादि अध्यास में जैसे इदं और रजत, इन दो अंशों से घटित अध्यास है वैसे ही यहाँ दो अंशों से घटित अध्यास है। यह भी हो सकता है कि कहीं दोनों अंश स्पष्ट रहते हैं, कहीं एक अंश स्पष्ट रहता है, और दूसरा अंश अस्पष्ट रहता है। जैसे—लोहा जलता है (अयो दहति) यहाँ वह्नि अंश अस्पष्ट है और लौह अंश स्पष्ट है। अतः एक अंश अस्पष्ट रहने पर "अहं" का अध्यास भी होता है। "लोकव्यवहार" इस भाष्य के पद से प्राणिमात्र ऐसा व्यवहार करता है—यह सूचित होता है। अध्यास का व्यवहार करने वाला व्यक्ति ही मिथुनीकरण का भी कर्ता है, अतः "अध्यस्य, मिथुनीकृत्य च" इस प्रयोग में समान कर्ता होने से समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३ । ४ । २१) इस पाणिनि-सूत्र से समानकर्तृकक्त्वाल्यप्प्रत्ययघटित प्रयोग की उपपत्ति होती है। यद्यपि अध्यास और मिथुनीकरण ये दोनों एक ही हैं तथापि प्रथम सामान्य रूप से और दूसरा विशेष रूप से कहा गया है।

यद्यपि प्रतिवादियों के मतमें अध्यास मिथ्या है, इस प्रकार का प्रतिकूल मत आपाततः रमणीय प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी अनादि काल से लोगों के द्वारा जो यह व्यवहार होता है कि "मैं गोरा हूँ" "मैं दुर्बल हूँ" "मेरा शरीर है" यह भ्रान्तिमूलक है, यह सभी लोगों को मानना होगा। द्वैतवादी भी यह मानते हैं कि "मैं गोरा हूँ" "मेरा शरीर है", इस प्रकार का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। कारण, देह तो कभी भी आत्मा नहीं हो सकती है।

अतः द्वैतवादियों को भी कहना होगा कि सभी लोगों के द्वारा स्वीकृत आत्म-ज्ञान—यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इस समय यह देहात्मज्ञान यदि विपरीत ज्ञान हो तो यह मानना पड़ेगा कि देह में आत्मज्ञान कभी यथार्थ ज्ञान था। द्वैतवादी या अद्वैतवादी - सभी को वाध्य होकर मान लेना होगा कि मूल में समान आकार का यथार्थज्ञान न रहने पर उसी प्रकार का विपरीत ज्ञान अकस्मात् नहीं हो सकता है। भ्रान्ति ज्ञान के पूर्व में ऐसा ज्ञान होना चाहिए वह ज्ञान भले ही यथार्थ हो या अयथार्थ, इतना सत्य है कि भ्रान्तिज्ञान अपने पूर्व में किसी भ्रान्ति ज्ञान या यथार्थ ज्ञान की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होता है—यही बुद्धिसङ्गत सिद्धान्त है, यही द्वैतवादियो को भी मानना होगा। कारण, ऐसा न मानने पर सभी द्वैतवादी देहात्मवादी हो जायेंगे। इसलिए ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त संसार दशा में सभी ज्ञानों को भ्रान्तिज्ञान मानने में क्या आपत्ति है ? यही इस भाष्य का संक्षिप्त आशय है। इस मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान मूलक व्यवहार का कारण है सत्य और मिथ्या वस्तु का एक हो जाना। सत्य और मिथ्याज्ञान इन दोनों के एक होने का कारण है—इन विरुद्ध स्वभाव के वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना—इतर का इतर से भेद का अग्रहण। इस अविवेक के अधीन होकर हमलोग जड और चेतन के स्वभाव को एक रूप में समझ लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जड का धर्म चैतन्य में और चैतन्य का धर्म जड में आरोपित कर लेते हैं। यह मिथ्याज्ञान ही देहात्म के व्यवहार का कारण है और यह भ्रमज्ञान का पूर्ववर्ती और मिथ्याज्ञान-जनित-संस्कार का कार्य है, अर्थात् इस मिथ्या ज्ञान का मूल कुछ नहीं मिलता है और मिथ्याज्ञान के अनादि प्रवाह के फल स्वरूप देहात्मव्यवहार चलता रहता है। भ्रम का यह स्वभाव होने से इसका आदि करण क्या है—समझने की शक्ति किसी में नहीं है। किन्तु इसका मूल नहीं अवगत होता है, इसलिए यह मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञान मूलक द्वैतव्यवहार नहीं है या यह प्रत्यक्षप्रमाण से असिद्ध है—यह कोई भी नहीं कह सकता है। यह स्थिर

होने पर पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति की "वेदान्तशास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए"—यह सर्वथा अनुचित है ।

भामती

अत्र चान्योऽन्यस्मिन् धर्मिणि=आत्मशरीरादौ अन्योऽन्यात्मकताम्, अध्यस्य अहमिदम्=शरीरादीति । इदमिति च वस्तुतः, न प्रतीतितः । लोकव्यवहारः=लोकानां व्यवहारः, स चायमहमिति व्यपदेशः । इतिशब्दसूचितश्च शरीराद्यनुकूलं प्रतिकूलं च प्रमेयजातं प्रमाय प्रमाणेन तदुपादानवर्जनादिः । अन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य अन्योऽन्यस्मिन् धर्मिणि देहादिधर्मान् जन्ममरणजराव्याध्यादीनात्मनि धर्मिणि अध्यस्तदेहादिभावे समारोप्य, तथा चैतन्यादीन् आत्मधर्मान् देहादावध्यस्तात्मभावे समारोप्य ममेदं जरामरणपुत्रपशुस्वाम्यादीति व्यवहारो व्यपदेशः, इसिशब्दसूचितश्च तदनुरूपः प्रवृत्त्यादिः ।

अत्र चाध्यासव्यवहारक्रियाभ्यां यः कर्तोन्नीतः स समान इति समानकर्तृकत्वेनाध्यासस्य व्यवहार इत्युपपन्नम्; पूर्वकालत्वसूचितमध्यासस्य व्यवहाकारणत्वं सूचयति—मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः । मिथ्याज्ञानम्=अध्यासः, तन्निमित्तः । तद्भावानुविधानाद् व्यवहारभावाभावयोरित्यर्थः । तदेवमध्यासस्वरूपं फलं च व्यवहारमुक्त्वा तस्य निमित्तमाह—इतरेतराविवेकेन । विवेकाग्रहणेनेत्यर्थः । अथाविवेक एव कस्मान्न भवति ? तथा च नाध्यासः, इत्यत आह—अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः । परमार्थतो धर्मिणोरतादात्म्यं विवेकः धर्माणां चासंकीर्णता विवेकः । स्यादेतत्—विविक्तयोर्वस्तुसतोर्भेदाग्रहनिबन्धनस्तादात्म्यविभ्रमो युज्यते; 'शुक्तेरिव रजताद्भेदाग्रहे रजततादात्म्यविभ्रमः, इह तु परमार्थसतश्चिदात्मनो न भिन्नं देहाद्यस्ति वस्तुसत्' तत्कुतश्चिदात्मनो भेदाग्रहः ? कुतश्चतादात्म्यविभ्रमः ? इत्यत आह—सत्यानृते मिथुनीकृत्य । विवेकाग्रहादध्यस्येति योजना । सत्यं चिदात्मा अनृतं बुद्धीन्द्रियदेहादि, ते द्वे धर्मिणी मिथुनीकृत्य युगलीकृत्येत्यर्थः । न च संवृतिपरमार्थसतोः पारमार्थिकं मिथुनमस्तीत्यभूततद्भावार्थस्य च्वेः प्रयोगः । एतदुक्तं भवति—अप्रतीतस्यारोपायोगादारोप्यस्य प्रतीतिरुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति । स्यादेतत्—आरोप्यस्य प्रतीतौ सत्यां पूर्वदृष्टस्य समारोपः, समारोपनिबन्धना च प्रतीतिरिति दुर्वारं परस्पराश्रयत्वमिति ? अत आह—नैसर्गिक इति । स्वाभाविकोऽनादिरयं व्यवहारः । व्यवहारानादितया तत्कारणस्याध्यासस्यानादितोक्ता; ततश्च पूर्वपूर्वमिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य बुद्धीन्द्रियशरीरादेरुत्तरोत्तराध्यासोपयोग इत्यनादित्वाद्बीजाङ्कुरवन्न परस्पराश्रयत्वमित्यर्थः ।

पुष्पलता

इस भाष्य में अन्योऽन्यस्मिन् शब्द का अर्थ धर्मी में अर्थात् आत्मा और शरीरादि में अन्योऽन्यात्मकता = अन्योऽन्यतादात्म्य का अध्यास कर "मैं यह शरीरादि" यह (अवगत कर) इदं शब्द का प्रयोग वस्तु के स्वभाव के अनुसार किया गया है प्रतीति के स्वभाव के अनुसार नहीं किया गया है। लोक-व्यवहार शब्द का अर्थ लोगों का व्यवहार और वह यह मैं इस प्रकार का व्यवहार है। इति शब्द के द्वारा शरीरादि के अनुकूल और प्रतिकूल विषयों को प्रमाण के द्वारा समझ कर उन विषयों का ग्रहण या परित्याग आदि होता है। "अन्योऽन्य-धर्मान् अध्यस्य" परस्पर धर्मी में देहादि के धर्म—जन्म, मरण, जरा और व्याधि प्रभृति का अध्यस्त देहभाव-आत्मरूप धर्मी में समारोप कर एवं चैतन्य आदि धर्मों का अध्यस्त-आत्मधर्मों का अध्यस्त आत्मरूपवाले देहादि में समारोप कर मेरा ही जरा, मरण पुत्र पशु-स्वामित्व आदि है—यह व्यवहार अर्थात् व्यपदेश (होता है) इति शब्द के द्वारा तदनुरूप प्रवृत्ति आदि सूचित होती है। इस स्थल में अध्यास और व्यवहार रूप दो क्रियाओं से जिन कर्ताओं की प्रतीति होती हैं वे दोनों एक ही है इसलिए "अध्यस्य व्यवहारः" समान-कर्तृक क्त्वाल्यप्‌काप्रयोग किया गया है वह उपपन्न होता है। पूर्वकालत्व के द्वारा अध्यास में व्यवहार-कारणता "मिथ्याज्ञाननिमित्तः व्यवहारः" इस भाष्य के द्वारा सूचित होती है। मिथ्याज्ञान ही अध्यास है उससे उत्पन्न। मिथ्याज्ञान की सत्ता एवं अभाव के अनुसार ही व्यवहार की सत्ता एवं अभाव यही अभिप्राय है। इस प्रकार उस अध्यास का स्वरूप एवं व्यवहार स्वरूप जो फल उसका प्रतिपादन कर उस अध्यास का क्या निमित्त है यह कहते हैं--इतरेत-राविवेकेन" इसका अर्थ—विवेक (भेद) के अग्रह से अर्थात् विवेक के अग्रह-निबन्धन। अविवेक ही क्यों नहीं होता है, अध्यास आरोप क्यों है ? ऐसा मानने पर अध्यास नहीं मानना पड़ेगा। अतः, कहा है कि "अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः" पारमर्थिक रूप से दो धर्मियों का अतादात्म्य (अनेकत्व) विवेक है एवं धर्मों की असंकीर्णता विवेक है। ऐसा ही हो। यदि कहा जांय कि वास्तविक दो भिन्न सत्पदार्थों में परस्पर भेद का ज्ञान न रहने पर उन दोनों में ऐक्य भ्रान्ति होती है, जैसे रजत से शुक्ति का भेदज्ञान न रहने पर शुक्ति में

रजत के तादात्म्य का भ्रम होता है। किन्तु इस स्थल में पारमार्थिक सत्य चिदात्मा से भिन्न देहादि की वास्तविक सत्ता ही नहीं है, तब कैसे [देह का] चिदात्मा से भेद का अग्रहण होगा? और किस कारण से वहां तादात्म्य का भ्रम होगा? इस आशङ्का के उत्तर में कहा है—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य" अर्थात् त्रिवेकाग्रह-निबन्धन अध्यास कर--इस प्रकार से योजना इस स्थल में करनी होगी। सत्य शब्द का—चिदात्मा, अनृत शब्द का अर्थ- बुद्धि, इन्द्रिय और देह प्रभृति, इन दो धर्मिओं को "मिथुनीकृत्य" अर्थात् मिलाकर। आविद्यिक और परमार्थ सत्य दो वस्तुओं का मिथुन भाव नहीं है—इसी को समझाने के लिए अभूततद्भाव में [जो नहीं था उसको उसीका स्वभाव होना] च्वि प्रत्यय किया गया है। अर्थात् यही कहा गया है कि अप्रतीत का आरोप नहीं हो सकता है। इसलिए मात्र आरोप का ज्ञान ही उपयोगी होता है, उसकी वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं है। ऐसा ही हो। [ऐसा मानने पर] आरोप्य की प्रतीति होने पर ही पूर्वानुभूत वस्तु का आरोप होगा, इस प्रकार आरोप होने पर [आरोप्य की] प्रतीति होगी—इस रूप में अन्योऽन्याश्रय दोष का निवारण नहीं हो सकता है। इसी आशंका के उत्तर में कहा है—"नैसर्गिक" इत्यादि। यह व्यवहार स्वाभाविक अर्थात् अनादि है। व्यवहार के अनादित्व होने से उसका कारण स्वरूप अध्यास की भी अनादिता मानी गई है। उसके द्वारा अर्थात् पूर्व-पूर्व मिथ्याज्ञान के द्वारा उपदर्शित बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर प्रभृति उत्तरोत्तर अध्यास का उपयोगी होता है। इस प्रकार अनादित्व होने से बीज और अङ्कुर के समान अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है—यही अर्थ सिद्ध होता है।

कुसुमलता

इस प्रकरण में भामतीकार ने भाष्य के पदों की व्याख्या कर अध्यास भाष्य की भूमिका के रूप में कथित विषय में ही भाष्य का तात्पर्य है—इसी की व्यवस्था गम्भीर-विवेचना के साथ की है। वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या में अपूर्व कौशल है।

भामतीकार ने "अन्योऽन्यस्मिन्" इस भाष्य की व्याख्या करते हुए एक धर्मी का अन्य धर्मी में अध्यास कर लोकव्यवहार चलता है—यह कहा है।

प्रकृत में आत्मारूप धर्मी का शरीर, अहंकारादि धर्मी में एवं शरीर, अहंकार, इन्द्रिय आदि का आत्मा में तादात्म्याध्यास होता है। इस तादात्म्याध्यास होने के फलस्वरूप शरीरादि में अहं का व्यवहार होता है। भाष्यकार के 'अहमिदम्" इस वाक्य का आशय दिखाते हुए भामतीकार ने कहा है कि वस्तुतः अहमिदम् [मैं यह] ऐसा प्रयोग हमलोगों के अनुभव का विषय नहीं होता है, कोई भी व्यक्ति "अहमिदम" यह प्रयोग नहीं करता है, वरन् यही कहता है "मैं गोरा हूँ" मैं मोटा हूँ" इत्यादि। अतः "अहमिदम्" यह प्रयोग भाष्यकार ने क्यों किया? इन्हीं आशङ्काओं की निवृत्ति के लिए भामतीकार ने कहा है कि—"वस्तुतः न प्रतीतितः" हमलोगों की प्रतीति "मैं गोरा हूँ" इत्यादि ही होती है, किन्तु गौर, स्थूल आदि शब्दों के द्वारा जिसे अवगत कराया जाता है, वस्तुतः उसका इदम् शब्द के अर्थ में ही पर्यवसान होता, है। आशय यह है कि "मैं यह शरीर' यह प्रतीति होने पर व्यवहार होगा किन्तु ऐसी प्रतीति तो नहीं होती है, अतः भामतीकार ने कहा है कि इदं यह वस्तुतः चाहिए, प्रतीति से नहीं चाहिए। अहं गौरः [मैं गोरा हूँ] इत्यादि प्रतीति होने पर इदं की प्रतीति न होने पर भी शरीर में अवास्तवत्व अनात्मत्व है, अतः इदं शब्द का प्रयोग होता है।

वाचस्पति मिश्र ने "लोकानां व्यवहारः" इस प्रकार षष्ठी समास स्वीकार किया है। व्यपदेश शब्द को व्यवहार शब्द के पर्याय के रूप में स्वीकार किया है। षष्ठीतत्पुरुषसमास स्वीकार करने के प्रसङ्ग में ऋजुप्रकाशिकाकार ने कहा है कि षष्ठीसमास से अतिरिक्त कर्मधारय आदि समास के भ्रम का निवारण करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने यह विग्रह प्रदर्शित किया है। पंचपादिकाकार ने लोकव्यवहार में मध्यमपदलोपी समास स्वीकार किया है। इसी पर कटाक्ष करने के लिए ऋजुप्रकाशिका में यह कहा गया है। अभिज्ञा, अभिवदन उपादान और अर्थक्रिया ये चार व्यवहार हैं। इनमें प्रकृत स्थल में व्यवहार शब्द के द्वारा मात्र अभिवदन अर्थ ही गृहीत होता है। इसीलिए भामती में व्यवहार शब्द के पर्याय में व्यपदेश शब्द का निर्देश किया है।

"ममेदम् इति" इस स्थल में भाष्यकार ने इति शब्द का प्रयोग किया है। अहमिदम् और ममेदम् इन दोनों में इति शब्द का अन्वय होता है। इस इति शब्द के प्रयोग से हमलोगों के शरीरादि के अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों को प्रमाण के द्वारा अवगत कर शरीरादि के अनुकूल विषयों का ग्रहण और शरीरादि के प्रतिकूल विषयों का परित्याग सूचित होता है। इति शब्द का प्रयोग कर भामतीकार ने यही सूचना दी है कि व्यवहार कहने पर केवल अध्यास या अज्ञानमूलक "मैं गोरा हुँ" इत्यादि शब्द प्रयोग मात्र ही अवगत होता है ऐसी बात नहीं है, वरन् इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं का ग्रहण और परिवर्जन पर्यन्त तक अवगत होता है। भाष्य में व्यवहार शब्द का यही अर्थ भामती की दृष्टि से अभिप्रेत है। भामती के "प्रमाय प्रमाणेन" इस प्रयोग में व्यत्यास कर अन्वय होता है—"प्रमाणेन प्रमाय" (प्रमाण से अवगत कर) "अहमिदम्" इस भाष्य में इदं शब्द का प्रयोग "अहम्" के अध्यास में अन्तःकरण अंश भी प्रतीत होता है यह सूचित करने से "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रमज्ञान में दो अंश रहते हैं—इसकी बाधा-रहित प्रतीति होती है।

भाष्य में "अध्यस्य व्यवहारः" अध्यस्य यह क्त्वा के स्थान में ल्यप् प्रत्यय-करके प्रयोग किया गया है, अतः, अध्यास को व्यवहार का पूर्वकालीन माना गया है। अध्यास और व्यवहार को समानकर्तृक कहा गया है अर्थात् अध्यास का कर्ता और व्यवहार का कर्ता दोनों एक ही है। "अध्यस्य व्यवहारः" इस प्रकार पद का प्रयोग करने से यह भी अवगत हो सकता है कि व्यवहार ही अध्यास क्रिया का कर्ता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है; व्यवहार क्रिया और अध्यास क्रिया का कर्ता एक ही व्यक्ति है—यही इस स्थल में अवगत हो रहा है। इस स्थल में "जनस्य" इस पद का अध्याहार कर पूर्वोक्त ग्रन्थ की सङ्गति करनी पड़ेगी। अहमिदं ममेदमिति अध्यस्य जनस्य व्यवहारः "अर्थात् जिसको अज्ञान रहता है वही व्यवहार करता है यही बताने के लिए इस वाक्य की अवतारणा की गई है। यद्यपि अध्यास और मिथुनीकरण दोनों एक ही है, तथापि प्रथम सामान्य रूप से और दूसरा विशेष रूप से कहा गया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है। अध्यास व्यवहार का कारण है, इसी विषय

को सूचित करने के लिए भामतीकार ने कहा है-"मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः" भाष्य के अन्त में स्थित व्यवहार पद को पूर्व में स्थित मिथ्याज्ञान-निमित्त पद से संयोजित किया जाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि मिथ्याज्ञान को अध्यास का निमित्त सिद्ध करने पर भी पूर्वोक्त भाष्य से यह तो अवगत नहीं होता है कि अध्यास व्यवहार का निमित्त है। इस आशंका की निवृत्ति के लिए ही भामतीकार ने कहा—"मिथ्याज्ञानम् = अध्यासः" इसका आशय यह है—मिथ्याज्ञान = अध्यास निमित्त है जिसका, यहाँ अन्य पदार्थ व्यवहार है। अध्यास के रहने पर व्यवहार ओर अध्यास के न रहते पर व्यवहार का अभाव यही प्रकृत में विवक्षित है।

प्रकृत में यह विचारणीय है कि अध्यास से व्यवहार का भेद सिद्ध होने पर ही अध्यास को पूर्व और व्यवहार को वाद में मानकर अध्यास को व्यवहार का कारण और व्यवहार को कार्य माना जा सकता है, किन्तु इन दोनों में भेद नहीं है—आशय यह है कि उपक्रम में "नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः यह कहकर "एवमनादिरनन्तः" इत्यादि उपसंहार भाष्य में नैसर्गिक अध्यास है—इस कथन से अध्यास को नैसर्गिक कहा है, अतः नैसर्गिक अध्यास और व्यवहार के एक होने से इन दोनो में पूर्व और पर भाव की सिद्धि नहीं होगी, पूर्व और पर भाव की सिद्धि न होने पर दोनों में कार्य-कारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके उत्तर में भामतीकारका यह तात्पर्य है कि अध्यास के कार्य में व्यवहार नैसर्गिक होने पर उसका कारण अध्यास भी नैसर्गिक है—यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। नैसर्गिकत्व-विशिष्ट-कारणीभूत अध्यास के उपसंहार में उपसंहार वाक्य का तात्पर्य रहने से उपसंहार का विरोध नहीं है। मात्र नैसर्गिकत्व विशेषण दोनों में होने से ही उन दोनों में अभेद है- यह नहीं कहा जा सकता है। इन दोनों में नैसर्गिकता होने पर भी एक कारणीभूत है और दूसरा कार्यभूत है।

"अध्यस्य व्यवहारः" इसके द्वारा ही अध्यास और व्यवहार में कार्यकारण-भाव कह दिया गया है। मिथ्याज्ञान ही अध्यास है, अतः, मिथ्याज्ञान-

निमित्तक व्यवहार है (मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः) इसके द्वारा मिथ्याज्ञान-लक्षण अध्यास को व्यवहार का निमित्त है—यह कहना पुनरुक्ति ही होगी। इसके समाधान में सोकर उठा (सुप्तोत्थितः) इत्यादि शयन में पूर्वकालीनत्व होने पर भी उत्थान का कारण शयन नहीं होता है, वैसे ही "अध्यस्य व्यवहारः" इस कथन से व्यवहार की पूर्वकालीनता अध्यास में सिद्ध होने पर भी व्यवहार की कारणता अध्यास में सिद्ध नहीं होगी, अतः, इस आशङ्का के निराकरण करने के लिए अर्थात् अध्यास में व्यवहारकारणता स्पष्ट करने लिए ही "मिथ्याज्ञान-निमित्तो व्यवहारः" यह कहा गया है, अतः, पुनरुक्तिदोष नहीं है।

भाष्यकार ने अध्यास को मिथ्या कहा है, मिथ्या शब्द के द्वारा अध्यास का स्वरूप उसका फल एवं उसका निमित्त कुछ भी नहीं है—यही वे कहना चाहते हैं। आगे अध्यास की सिद्धि के उद्देश्य से "लोकव्यवहारः" इस पद के द्वारा अध्यास का स्वरूप प्रत्यक्षसिद्ध है—यही प्रदर्शित किया है, एव "ममेदमिति" इसमें इति पद के द्वारा कार्यलिङ्गक अनुमान के द्वारा अर्थात् कार्य को हेतु कर अनुमान के द्वारा अध्यास प्रमाण-सिद्ध है यह भी भाष्यकार ने प्रदर्शित किया है। अर्थात् हमलोगों की इष्ट और अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप कार्य के द्वारा उस कार्य के मूल में अध्यास रहता है यही अनुमान के द्वारा प्रदर्शित होता है।

अनन्तर "मिथ्याज्ञाननिमित्त" इस शब्द के द्वारा भाष्यकारने अध्यास के कारण के सम्बन्ध में पूर्वपक्षियों के आक्षेप का उत्तर दिया है। अर्थात् अध्यास का कारण मिथ्याज्ञान है। पूर्वपक्षियों ने जो वह कहा था कि मिथ्याज्ञान के मूल में मिथ्याज्ञान के आकार के समान आकार वाला यथार्थ ज्ञान आवश्यक होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होने से पूर्व में सर्प का यथार्थ ज्ञान आवश्यक होता है वैसे ही अध्यास के कारण के रूप में किसी यथार्थज्ञान का रहना आवश्यक है। यह पूर्वपक्षियों का कथन ठीक नहीं है। इस विषय का विचार भामतीकार ने विस्तार पूर्वक किया है।

इस विषय में भामतीकार ने कहा है कि भ्रम से पूर्व में भ्रम के समान आकार का ज्ञान होना चाहिए यह सत्य है, किन्तु वह ज्ञान प्रमात्मक ही होना

चाहिए ऐसी बात नहीं है भ्रमात्मक ज्ञान होने पर भी कोई क्षति नहीं है, उनके मत के अनुसार पूर्ववर्ती ज्ञान को प्रमात्मक मानने पर देहात्मवादी होना पड़ेगा। कारण, देह में जो अहं की प्रतीति होती है, उक्त नियम के अनुसार यह प्रतीति भ्रमज्ञान के समान आकार वाले प्रमाज्ञान वाली होगी अर्थात् इस भ्रम ज्ञान के पूर्व में प्रमाज्ञान है यह मानाजाय तो भ्रमज्ञान से पूर्व में देह में अहं प्रत्यय यथार्थ ज्ञान था यह अवश्य ही मानना होगा। देह में अहं प्रत्यय की प्रतीति और इस प्रतीति को सत्यज्ञान माना जाय तो यह देहात्मवाद से भिन्न और क्या हो सकता है? देह आत्मा नहीं है यह पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती इन दोनों को ही अभिमत है। इसका विश्लेषण भामतीकार ने अध्यास की भूमिका में ही कर दिया है। अतः भ्रम के पूर्व में प्रमाज्ञान की आवश्यकता नहीं है। भ्रम से भ्रम उत्पन्न होता है, उससे पुनः भ्रम उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अनादि भ्रम की धारा संसार के भ्रम के मूल में मानना ही होगा। संसार की अनादिता को मानने में किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। अतः, अनादि पूर्व-पूर्व भ्रम ही आगे के भ्रम का कारण है यह मानना होगा। भ्रम भ्रम का जनक होता है-यह अद्वैतवेदान्तियों के सिद्धान्त में भामतीकार की अपनी देन है।

रत्नप्रभा के अनुसार अध्यास की भूमिका— इस प्रसङ्ग में भामतीकार के विस्तृत विश्लेषण देने से पूर्व रत्नप्रभा से कतिपय विषयों को प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूँ। रत्नप्रभा में अध्यास भाष्य की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि अध्यास न होने का क्या कारण है? क्या अयुक्त है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? अथ वा भान अयुक्त है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? या अध्यास के कारण का अभाव है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? इन तीन पक्षों में प्रथम अर्थात् असङ्ग स्वप्रकाश आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है—यह कथन हमको भी इष्ट है, अतः, मेरे अभिमत विषय का प्रकाशन होने से यह मेरे लिए अलङ्कार स्वरूप है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए "तथापि" पद का प्रयोग किया जा रहा है। द्वितीय पक्ष—

अध्यास का भान नहीं हो सकता है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है—यह कथन ठीक नहीं है। कारण, अध्यास का प्रत्यक्ष भान होता है इसी बात को व्यक्त करने के लिए "अयं लोकव्यवहारः इसमें "अयं" पद का प्रयोग किया गया है। मैं अज्ञ हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होने से मैं=आत्मा में अज्ञत्व कर्तृत्व, मनुष्यत्व आदि अनात्मा का भान प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः आत्मा में अध्यास का भान नहीं होता है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है—यह कथन अनुचित है।

तृतीय पक्ष अध्यास के कारण के अभाव से अध्यास नहीं हो सकता है, यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास के कारण हैं। अतः प्रत्यगात्मा में अध्यास का प्रवाह अनादि है। इस प्रसङ्ग में यदि यह कहा जाय कि प्रवाह कोई वस्तु नहीं है जिसका प्रवाह चलता है, ऐसी कोई अनादि अध्यास व्यक्ति नहीं है, वरन् सभी सादि हैं। ऐसी स्थिति में अध्यास का प्रवाह अनादि कैसे माना जा सकता है? इस शङ्का का निराकरण करते हुए रत्नप्रभाकार ने कहा है कि काल अनादि है और अध्यास व्यक्तियों में से किसी भी व्यक्ति के बिना अनादि काल नहीं रहता है, अध्यासों में कोई अध्यास अनादिकाल में अवश्य रहता है—यही कार्य के अनादित्व का स्वरूप है। अतः अध्यास का कोई कारण नहीं है, इसलिए अध्यास नहीं है—इस शङ्का का निराकरण हो जाता है। नैसर्गिक पद से यह सिद्ध होता है कि संस्कार अध्यास का कारण है। पूर्व में प्रमात्मकज्ञान रहता है और उस प्रमात्मकज्ञान से उत्पन्न संस्कार ही अध्यास का कारण है यह नियम नहीं है। प्रमात्मकज्ञान की अपेक्षा लाघव से पूर्वानुभवजन्य संस्कार को ही अध्यास का कारण मानना उचित है। अतः पूर्वाध्यास से संस्कार उत्पन्न होता है।

"मिथ्याज्ञाननिमित्त" इस शब्द से अध्यास के उपादान कारण को कहा गया है, मिथ्या अज्ञान जिसका निमित्त हो, उसको मिथ्याज्ञाननिमित्त कहा जाता है। यद्यपि अज्ञान उपादान कारण है, तथापि इसको निमित्त कहा गया है, प्रकाशस्वरूप आत्मा का आवरण करने से मिथ्याज्ञानदोषरूप है, अहङ्कार

का अध्यास करनेवाले ईश्वर का उपाधि रूप से एवं मिथ्याज्ञान, संस्कार, काल, कर्म आदि निमित्त रूप में परिणत होकर अध्यास के निमित्त हैं—इसी की अभिव्यक्ति निमित्त पद के द्वारा की गई है। आत्मा स्वप्रकाश एवं असङ्ग है। अतः, इस आत्मा में अविद्या का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? कारण, अध्यास की सामग्री संस्कार एवं सादृश्य का अभाव है। इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए "मिथ्या" पद का प्रयोग किया गया है, प्रचण्ड-सूर्य-प्रकाश में भी दिवान्ध होने से उल्लू अन्धकार का अनुभव करता है, इसी प्रकार अहमज्ञः (मैं अज्ञ हूँ) इस अनुभव के द्वारा सिद्ध अज्ञान का अपह्नव नहीं हो सकता है। कल्पित पदार्थ अधिष्ठान का स्पर्श नहीं कर सकता है एवं नित्य-स्वरूप-ज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता है—इसी की अभिव्यक्ति के लिए 'मिथ्या' पद का प्रयोग किया है। अथ वा यह भ्रम न हो जाय कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है—इस भ्रम को दूर करने के लिये मिथ्या शब्द का प्रयोग किया गया है। मिथ्या होकर साक्षात् ज्ञान से जिसका नाश होता है उस अज्ञान को मिथ्या-ज्ञान पद से कहा जाता है। ज्ञान अज्ञान का नाश करता हुआ बन्ध का भी नाशक होता है। अतः, बन्ध में अज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, इसलिए उसका निवारण करने के लिए 'साक्षात्' पद का प्रयोग किया गया है। इसके आगे अध्यास की दृढता के लिए अहमिदम्, ममेदम् इत्यादि का व्याख्यान किया है। संसर्गाध्यास एवं ज्ञानध्यास का विश्लेषण किया गया है जिसका निरूपण विवरण मत में विस्तारपूर्वक मिलता है।

ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति है—यह पूर्व में ही कहा गया है। इसी विषय पर लक्ष्य कर भगवान् वेदव्यास ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र की रचना की है। किन्तु जगत् का आध्यासिकत्व या भ्रमकल्पितत्व के बिना ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है—यह किसी भी तरह सम्भव नहीं है। इसी लिए आचार्य शङ्कर ने प्रथम सूत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में ही संसार का मिथ्यात्व या आध्यासिकत्व की सिद्धि के लिए उद्यत हो गये हैं। अद्वैतवेदान्ती से अतिरिक्त प्रायः सभी आस्तिक दार्शनिक इस सिद्धान्त के विरोधी है। उनलोगों के मत में संसार भ्रमकल्पित नहीं वरन् सत्य है। आचार्य शङ्कर ने इन्हीं आशयों का सार संगृहीत कर पूर्वपक्ष के रूप में सभी लोगों के मत से अध्यास निरूपित किया

है। अन्य दार्शनिकों ने मिथ्याशब्द का अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा गृहीत अनिर्वचनीयत्व अर्थ स्वीकार नहीं किया है। इनलोगों ने मिथ्याशब्द का अपह्नव या अपलाप अर्थ ग्रहण कर अद्वैतवेदान्तियों के विरुद्ध आपत्तियों का उद्भावन करते हैं। भाष्यकार ने "तथापि" से लेकर "लोकव्यवहार" पर्यन्त भाष्य की रचना कर अध्यास अनिर्वचनीय होने से इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः इस स्थल में अध्यास का स्वरूप अथ वा उसका फल एवं उसके निमित्त आदि के द्वारा भी कुछ सिद्ध नहीं होता है, यही पूर्वपक्षियों की आपत्ति का रहस्य है तथा सिद्धान्तियों ने भी उत्तर में जो कहा है, उसमें भी उस अध्यास के स्वरूप एवं उसके फल एवं उसके निमित्त आदि के द्वारा भी वह व्यवहार-सिद्ध एवं युक्तियुक्त है--यही प्रदर्शन किया है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान का फल मुक्ति है, एवं ब्रह्मज्ञान का निवर्त्य अध्यास है--यह जो अद्वैतवेदान्ती सिद्ध करना चाहते हैं, यह स्वरूपतः असिद्ध है। कारण, हमलोगों को जो यह प्रपञ्च की प्रतीति होती है, यह यथार्थज्ञान है अर्थात् हमलोगों को जो अहं (मैं) ज्ञान होता है, यही आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान है, इसमें किसी प्रकार भी भ्रमरूपता नहीं है। "अहं" कहने से ही हमलोग देह-इन्द्रिय इत्यादि से सम्पूर्ण रूप में भिन्न आत्मा की अवगति करते हैं। कारण, देह आदि ज्ञेय पदार्थ है और अहं ज्ञाता है। इस लिए अहं की प्रतीति भ्रमरूप नहीं है, अतः इसकी अध्यासरूपता असिद्ध है। अर्थात् अध्यास का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है।

जगत्रूप कार्य को देखकर अध्यास का अनुमान कर लिया जायेगा यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, भ्रम से जो कार्य उत्पन्न होता है, वह सत् नहीं हो सकता है और अध्यासवादियों के मत में अध्यास ही जगत् का कारण है। अतः, प्रत्यक्ष सद्रूप जगत् का असत् अध्यास कारण कैसे हो सकता है ? इसलिए जगत् रूप कार्य के द्वारा अध्यास का अनुमान नहीं हो सकता है। अर्थात् फलतः भी अध्यास का स्वरूप असिद्ध है।

इसी प्रकार अध्यास के निमित्त की विवेचना करने से भी अध्यास के स्वरूप की असिद्धि ही है। क्योंकि, भ्रमज्ञान के मूल में उस भ्रम के समान आकारवाला एक प्रमाज्ञान आवश्यक है--यही व्यवहार सिद्ध नियम है। जैसे

सत्य रजत के विषय में "यह रजत है" यह यथार्थज्ञान जिसको पूर्व में नहीं रहता है, उसको शुक्ति में "यह रजत है" यह भ्रमज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है। वैसे ही "अहं" यह यथार्थ अनुभव पूर्व में नहीं होने पर "अहं" यह भ्रान्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए अध्यास के निमित्त का निर्णय करने का प्रयास करने पर अध्यास का स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाता है। अर्थात् निमित्त से भी अध्यास असिद्ध है।

ये ही तीन आपत्तियाँ "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो" से लेकर "युक्तम्" इस भाष्य के द्वारा कही गई है एवं "तथापि" से "लोकव्यवहारः" इस भाष्य से इसका समाधान कहा गया है। इसका विश्लेषण पूर्व व्याख्यान में ही सुस्पष्ट है।

अध्यास की स्वरूपतः सिद्धि—अहं की प्रतीति भ्रम स्वरूप है इसमें सन्देह नहीं है। कारण, आत्मा अपरिच्छिन्न, सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है—यह उपनिषद् के द्वारा सिद्ध है। किन्तु "अहं" कहने से इस अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। अहं शब्द का व्यवहार करने से किसी परिच्छिन्न पदार्थ का ज्ञान हमलोगों को होता है। अपरिच्छिन्न वस्तु को परिच्छिन्न रूप में अवगत करना ही भ्रम है। अतः अध्यास की स्वरूपतः असिद्धि कैसे होगी ? इस विषय का विचार भामती के आरम्भग्रन्थ के विश्लेषण से स्पष्ट कर दिया है।

द्वितीय आपत्ति के विषय में मेरा यह कहना है कि अध्यास के कार्य को देखकर भी अध्यास का अनुमान किया जा सकता है। उनलोगों का यही कथन है कि सत् जगत् की असत् अध्यास से उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? किन्तु इसमें सिद्धान्ती का कथन है कि संसार सत् है यह कैसे समझते हैं ? जो तीन काल में अविनाशी एक रूप में रहता है उसी को सत्त कहा जाता है। किन्तु यह संसार सदा इसी रूप में रहता है यह कैसे सिद्ध हो सकता है। कारण जगत् परिवर्तनशील है यह तो सभी मानते हैं। परिवर्तनशील होने पर जगत् का आदि और अन्त भी है—यह मानना ही पड़ेगा। फलतः जगत् सत् नहीं है। इसलिये, असत् ससार का मूल असत् अध्यास को माना जाय तो इस में पूर्वपक्षियों को क्या बाधा हो सकती है ?

इसी प्रकार पूर्वपक्षियों ने जो तृतीय आपत्ति दी है कि निमित्त का विचार करने से भी अध्यास का स्वरूप असिद्ध होता है—यह भी ठीक नहीं है। कारण-इसका निमित्त पूर्व-पूर्व अनादि अध्यास की धारा है। भ्रमज्ञान के पूर्व में समानाकारक यथार्थज्ञान आवश्यक है यह कथन ठीक नहीं है। समानाकार ज्ञान रहने से ही उससे उत्पन्न संस्कार के द्वारा भ्रमज्ञान उत्पन्न हो सकता है। भ्रम का समानाकारकज्ञान भ्रमज्ञान से पूर्व में होना चाहिये वह ज्ञान यथार्थ=सत्य हो या मिथ्या हो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि प्रमाज्ञान को ही भ्रमज्ञान का मूल माना जाय तो देह से भिन्न आत्मा है इस मत को स्वीकार करने वाले दार्शनिकों के मत में देहात्मवाद सत्य ही मानना पड़ेगा, अर्थात् सभी को देहात्मवादी होना पड़ेगा। कारण, "मैं गोरा हूँ" "मैं मोटा हूँ" इस प्रकार के ज्ञान को प्रमामूलक मानना होगा और इसको प्रमामूलक मानने पर अनायास ही वे सब देहात्मवादी हो जायेंगे।

इस प्रकार अध्यास का स्वरूप उसका कार्य एवं उसका निमित्त इनमें एक भी असिद्ध नहीं है। अध्यास स्वरूपतः सिद्ध है वैसे ही उसके फल और निमित्त को देखकर भी वह सिद्ध हो सकता है। अद्वैतवेदान्ती प्रत्यक्ष और अनुमान के बल से अध्यास को सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से ही मुक्ति होती है यह भी सिद्ध होता है और उसी ब्रह्मज्ञान के लिये ही भगवान् बादरायण ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा की कर्तव्यता का उपदेश किया है। इसी विषय को कहने के लिए भाष्यकार ने अध्यास-भाष्य की अवतारणा की है।

नैयायिकों की आपत्तियों और उनका समाधान :—ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये कि नहीं इस विषय में सिद्धान्ती ने अनुमान किया है कि—ब्रह्म, जिज्ञास्य है, सन्दिग्ध और सप्रयोजन होने से। इसके विरुद्ध पूर्वपक्षी ने कहा कि—ब्रह्म अजिज्ञास्य है, असन्दिग्ध और निष्प्रयोजन होने से, जैसे पूर्णप्रकाश में अवस्थित समनस्कव्यक्ति के इन्द्रिय सन्निकृष्ट घट अथवा काक का दाँत। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित हेतु सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित हेतु के समान बल का नहीं है, अतः, पूर्वपक्षी के द्वारा उद्भावित सत्प्रतिपक्ष से कोई हानि नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षी का हेतु दुर्बल होने से सिद्धान्ती की अनुमिति का प्रतिबन्ध या उसमें

संशय का उत्पादन नहीं हो पाता है उनलोगों के द्वारा सत्प्रतिपक्ष के प्रदर्शन का उद्देश्य था कि यह शास्त्र अध्ययन या आलोचना के योग्य नहीं है। किन्तु यह उद्देश्य सफल नहीं हो सका। कारण, इसके सप्रयोजनत्व की सिद्धि के लिए वे अनुमान करते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र [पक्ष] सप्रयोजन है [साध्य] बन्ध के निवर्तकज्ञान का साधन होने से [हेतु] जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति से युक्त व्यक्ति के लिए प्रयुक्त "यह रस्सो है" यह वाक्य (उदाहरण)।

इस अनुमान के द्वारा शास्त्र का सप्रयोजनत्व सिद्ध होता है। अनन्तर इस शास्त्र का आरम्भ सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित अनुमान दिया गया है। वेदान्तशास्त्र [पक्ष] आरम्भ के योग्य है (साध्य), सप्रयोजन होने से [हेतु], जैसे भोजनादि क्रिया [उदाहरण], इस अनुमान के द्वारा वेदान्तशास्त्र का आरम्भणीयत्व सिद्ध होता है, साथ ही पूर्वपक्षियों ने जो पूर्वोक्त सत्प्रपक्ष का उद्भावन किया है उसका भी निराकरण हो जाता है। उनलोगों के अनुसार वेदान्तशास्त्र के प्रतिपाद्य-ब्रह्म में यदि निष्प्रयोजनत्व और असदिग्धत्व-निबन्धन अजिज्ञास्यत्व रहे तब शास्त्र का अनारम्भणीयत्व स्थिर हो सकता है।

इस प्रकार ब्रह्म का अजिज्ञास्यत्व प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्षी ने असन्दिग्धत्वरूप हेतु का प्रदर्शन किया है, इसके विरुद्ध में सिद्धान्तियों का अनुकूल—अनुमान निम्नलिखित है।—ब्रह्म, [पक्ष] सन्दिग्ध है, [साध्य] ब्रह्म के विषय में अनेकवादियों के अनेक प्रकार के विप्रतिपत्ति-वाक्य देखने से, [हेतु] जैसे इन्द्रियादि का भौतिकत्व [उदाहरण] इससे ब्रह्म जिज्ञास्य है—यह सिद्ध होता है।

शाङ्करभाष्यम्

आह—कोऽयमध्यासो नामेति, उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

पुष्पलता

(प्रतिवादी) जिज्ञासा करता है—यह अध्यास क्या है ? कहते हैं—स्मृतिरूप अन्य वस्तु में पूर्वदृष्ट का अवभास है।

कुसुमलता

प्रतिवादी जिज्ञासा करता है—इस अध्यास का क्या लक्षण है। इसके उत्तर में कहा है—स्मृति के समान एक ज्ञान-विशेष है, एव यह अन्यवस्तु में पूर्वदृष्ट वस्तु के समान एक वस्तु का ज्ञान है, और यह बाद में होनेवाले ज्ञान के द्वारा बाधित होता है तथा कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है। जैसे—रस्सी में सर्प के ज्ञान के समय में पूर्व में देखे गये सर्प के समान रस्सी में एक मिथ्या अनिर्वचनीय साँप का ज्ञान होता है, यह पूर्व में देखे गये साँप के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से उत्पन्न होता है एवं "यह रस्सी है" इस ज्ञान के होने पर विनष्ट होता है साथ ही द्रष्टा को भय आदि का उत्पादन नहीं करता है।

भामती

स्यादेतत्। अद्धा पूर्वप्रतीतिमात्रमुपयुज्यते आरोपे, न तु प्रतीयमानस्य परमार्थसत्ता, प्रतीतिरेव तु अत्यन्तासतः गगनकमलिनीकल्पस्य देहेन्द्रियादेः न उपपद्यते, प्रकाशमानत्वमेव हि चिदात्मनोऽपि सत्त्वम् न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायः अर्थक्रियाकारिता वा; द्वैतापत्तेः। सत्तायाः च सत्तान्तरार्थक्रियाकारितान्तरकल्पने अनवस्थापातात्। प्रकाशमानता एव सत्ता अभ्युपेतव्या, तथा च देहादयः प्रकाशमानत्वात् न असन्तः चिदात्मवत्। असत्त्वे वा न प्रकाशमानाः, तत्कथं सत्यानृतयोः मिथुनीभावः, तदभावे वा कस्य कुतः भेदाग्रहः, तदसम्भवे कुतः अध्यासः इत्याशयवान्—"आह" आक्षेप्ता "कोऽयम् अध्यासः नाम।" क इति आक्षेपः। समाधाता लोकसिद्धम् अध्यासलक्षणम् आचक्षाण एव आक्षेपं प्रतिक्षिपति—"उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।" अवसन्नः अवमतः वा भासः। प्रत्यन्तरबाधः च अस्य अवसादः अवमानः वा। एतावता मिथ्याज्ञानम् इति उक्तं भवति। तस्य इदम् उपव्याख्यानम्—"पूर्वदृष्ट" इत्यादि। पूर्वदृष्टस्य अवभासः पूर्वदृष्टावभासः। मिथ्याप्रत्ययश्च आरोपविषयारोपणीयस्य[1] मिथुनम् अन्तरेण न भवति इति पूर्वदृष्टग्रहणेन अनृतम् आरोपणीयम् उपस्थापयति। तस्य च दृष्टत्वमात्रम् उपयुज्यते न वस्तुसत्ता इति दृष्टग्रहणम्। तथापि वर्तमानं दृष्टं दर्शनं न आरोपोपयोगि इति

१ आरोपविषयारोपणीययोः इति पाठान्तरम्।

पूर्वेत्युक्तम्। तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सत् अपि आरोपणीयतया अनिर्वाच्यम् इति अनृतम्। आरोपविषयं सत्यम् आह—"परत्र" इति। परत्र शुक्तिकादौ परमार्थसति, तत् अनेन सत्यानृतमिथुनम् उक्तम्। स्यात् एतत्। "परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इति अलक्षणम्, अतिव्यापकत्वात्। अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाक्ष्याम् अवभासः, अस्ति च पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्याम् अवभासः समीचीनः। अवभासपदं च समीचीने अपि प्रत्यये प्रसिद्धम्, यथा नीलस्य अवभासः, पीतस्य अवभासः इति, अतः आह—"स्मृतिरूपः" इति। स्मृतेः रूपमिव रूपम् अस्य—इति स्मृतिरूपः। असन्निहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वं, सन्निहितविषयत्वं च प्रत्यभिज्ञानं समीचीनम् इति न अतिव्याप्तिः। नापि अव्याप्तिः। स्वप्नज्ञानस्य अपि स्मृतिविभ्रमरूपस्य एवं रूपत्वात्। तत्रापि हि स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लववशात् असन्निधानापरामर्शे, तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्य एव सन्निहितदेशकालत्वस्य समारोपः। एवं पीतः शङ्खः, तिक्तः गुडः इति। अत्रापि एतल्लक्षणं योजनीयम्। तथा हि बहिर्विनिर्गच्छदत्यच्छनयनरश्मिसंपृक्तपित्तद्रव्यवर्तिनीं पीततां पित्तरहिताम् अनुभवन्, शङ्खं च दोषाच्छादितशुक्लिमानम् अनुभवन्, पीततायाः च शङ्खसम्बन्धम् अननुभवन्, असम्बन्धाग्रहणसारूप्येण पीतं तपनीयपिण्डं पीतं बिल्वफलम् इत्यादौ पूर्वदृष्टं सामानाधिकरण्यं पीतशङ्खत्वयोः आरोप्य आह—"पीतः शङ्खः" इति। एतेन तिक्तः गुडः इति प्रत्ययः व्याख्यातः। एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेषु आदर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नम् अपि बलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयत् दोषवशात् तद्देशताम् अनभिमुखतां च मुखस्य अग्राहयत्; पूर्वदृष्टाभिमुखादर्शोदकदेशताम् आभिमुख्यं च मुखस्य आरोपयति इति प्रतिबिम्बविभ्रमः अपि लक्षितः भवति। एतेन द्विचन्द्रदिङ्मोहालातचक्र-गन्धर्वनगर-वंशोरगादिविभ्रमेषु अपि यथासम्भवं लक्षणं योजनीयम्। एतत् उक्तं भवति—न प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वम्, येन देहेन्द्रियादेः प्रकाशमानतया सद्भावो भवेत्। न हि सर्पादिभावेन रज्ज्वादयः वा रक्तादिगुणयोगिनः न प्रतिभासन्ते, प्रतिभासमाना वा भवन्ति, तदात्मानः तद्धर्माणः वा। तथा सति मरुषु मरीचिषु उच्चावचम् उच्चलत्तुङ्गतरङ्गभङ्गमालेयम् अभ्यर्णम् अवतीर्णा मन्दाकिनी, इति अभिसन्धाय प्रवृत्तः तत् तोयम् आपीय[1]

१ आपीय अपि=आपीय इति पाठान्तरम्।

अपि पिपासाम् उपशमयेत्। तस्मात् अकामेन अपि[1] आरोपितस्य प्रकाशमानस्य अपि न वस्तुसत्त्वम् अभ्युपगमनीम्। न च मरीचिरूपेण अपि असन्तः—इति अनुभवागोचरत्वात् कथम् आरोप्यते इति साम्प्रतम्, यतः, यदि असन्तः न अनुभवगोचराः, कथं तर्हि मरीच्यादीनाम् असतां तोयतया अनुभवगोचरत्वम्। न च स्वरूपसत्त्वेन तोयात्मना अपि सन्तः भवन्ति। यदि उच्यते न अभावः भावात् अन्यः कश्चित् अस्ति, अपि तु भाव एव भावन्तरात्मना अभावः, स्वरूपेण तु भावः, यथाहुः—

"भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया" इति।

ततश्च भावात्मना उपाख्येयतया अस्य युज्यते अनुभवगोचरता। प्रपञ्चस्य पुनः अत्यन्तासतः निरस्तसामस्तसामर्थ्यस्य निस्तत्त्वस्य कुतः अनुभवविषयभावः, कुतः वा चिदात्मनि आरोपः। न च विषयस्य समस्तसामर्थ्यस्य विरहे अपि ज्ञानम् एव तत् तादृशं स्वप्रत्ययसामर्थ्यासादिताद्दष्टान्तसिद्धस्वभावभेदम् उपजातम् असतः प्रकाशनम्, तस्मात् असत्प्रकाशनशक्तिः एव अविद्या इति साम्प्रतम्, यतः, या इयम् असत्प्रकाशनशक्तिः विज्ञानस्य, किं पुनः अस्याः शक्यम्? असत् इति चेत्, किं तत्कार्यम्? आहोस्वित् अस्य ज्ञाप्यम्? न तावत्कार्यम्। असतः तत्त्वानुपपत्तेः। नापि ज्ञाप्यम्; ज्ञानन्तरानुपलब्धेः, अनवस्थापातात् च। विज्ञानस्वरूपम् एव असतः प्रकाश इति चेत्, कः पुनः सदसतोः सम्बन्धः। असदधीननिरूपणत्वं सतः ज्ञानस्य असता सम्बन्ध इति चेत्, अहो वत अयम् अतिनिर्वृतः प्रत्ययतपस्वी यस्य असति अपि निरूपणम् आयतते, न च प्रत्ययः तत्र आधत्ते किञ्चित्, असत आधारत्वायोगात्। असदन्तरेण प्रत्ययः न प्रथते इति प्रत्ययस्य एव एष स्वभावः न तु असदधीनम् अस्य किञ्चित् इति चेत् आहो वत अस्य असत्पक्षपातः यत् अयम् असदुत्पत्तिः असदात्मा च तदविनाभावनियतः प्रत्यय इति। तस्मात् अत्यन्तासन्तः शरीरेन्द्रियादयः निस्तत्त्वा न अनुभवविषया भवितुम् अर्हन्ति इति अत्र क्रमः—निस्तत्त्वं चेत् न अनुभवगोचरः, तत् किम् इदानीं मरीचयः अपि तोयात्मना सतत्त्वाः यदनुभवगोचराः स्युः। न सतत्त्वाः, तदात्मनां मरीचीनाम् असत्त्वात्। द्विविध च वस्तूनां तत्त्वं—सत्त्वम् असत्त्वं च। तत्र पूर्वं स्वतः परं तु परतः। यथाहुः—

१ अकामेन अपि=अकामेन इति पाठान्तरम्।

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद्रूपं कैश्चित् कदाचन ॥" इति

तत् किं मरीचिषु तोयनिर्भासप्रत्ययः, तथा च समीचीन इति न भ्रान्तः नापि वाध्येत। अद्धा न वाध्येत, यदि मरीचीन् अतोयात्मतत्त्वान् अतोयात्मना गृह्णीयात्, तोयात्मना तु गृह्णन् कथम् अभ्रान्तः कथं वा अवाध्यः। हन्त, तोयाभावात्मनां मरीचीनां तोयभावात्मत्वं तावत् न सत्; तेषां तोयाभावात् अभेदेन तोयभावात्मतानुपपत्तेः। नापि असत्, वस्त्वन्तरम् एव हि वस्त्वन्तरस्य असत्त्वम् आस्थीयते—

"भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदनिरूपणात्"

इति वदद्भिः। न च आरोपितं रूपं वस्त्वन्तरम्। तत् हि मरीचयः वा भवेत्, गङ्गादिगतं तोयं वा पूर्वस्मिन् कल्पे मरीचयः इति प्रत्ययः स्यात् न तोयम् इति। उत्तरस्मिन् तु गङ्गायां तोयम् इति स्यात्, न पुनः इह इति, देशभेदास्मरणे तोयम् इति स्यात्, न पुनः इह इति। न च इदम् अत्यन्तम् असत् निरस्तसमस्तस्वरूपम् अलीकम् एव अस्तु इति साम्प्रतम्; तस्य अनुभवगोचरत्वानुपपत्तेः इति उक्तम् अधस्तात्। तस्मात् न सत् नापि असत् परस्परविरोधात्--इति अनिर्वाच्यम् एव आरोपणीयं मरीचिषु तोयम् आस्थेयम्। तत् अनेन क्रमेण अध्यस्तं तोयं परमार्थतोयम् इव अत एव पूर्वदृष्टम् इव, तत्त्वतः तु न तोयम्, न च पूर्वदृष्टम्, किन्तु अनृतम् अनिर्वाच्यम्। एवं च देहेन्द्रियादिप्रपञ्चः अपि अनिर्वाच्यः, अपूर्वः अपि पूर्वमिथ्याप्रत्ययोपदर्शित इव परत्र चिदात्मनि अध्यस्ते इति उपपन्नम्, अध्यासलक्षणयोगात्। देहेन्द्रियादिप्रपञ्चबाधनं च उपपादयिष्यते। चिदात्मा तु श्रुतीतिहासपुराणगोचरः तन्मूलतदविरुद्धन्यायनिर्णीतशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सत्त्वेन एव निर्वाच्यः। अबाधिता स्वयंप्रकाशता एव अस्य सत्ता, सा च स्वरूपम् एव चिदात्मनः, न तु तदतिरिक्तं सत्तासामान्यसमवायः अर्थक्रियाकारिता वा इति सर्वमवदातम्।

पुष्पलता

अच्छा, ऐसा ही हो [यह] सत्य है कि भ्रम के स्थल में मात्र पूर्व प्रतीति ही उपयोगी है, प्रतीयमानवस्तु की पारमार्थिक सत्ता उपयोगी नहीं है। किन्तु, आकाशकमलिनी के समान अत्यन्त असत् देह इन्द्रिय आदि की प्रतीति भी तो उपपन्न नहीं होती है। क्योंकि, प्रकाशमानत्व ही चिदात्मा की भी सत्ता प्रकाशमानत्व ही है, प्रकाशमानत्व से अतिरिक्त सत्तारूप सामान्य (जाति) का समवाय [नित्यसम्बन्ध] अथ वा अर्थक्रियाकारिता (प्रयोजनसाधक कार्य की जनकता)—ये सब सत्ता नहीं है, [कारण] ऐसा मानने पर द्वैत की आपत्ति होगी सत्ता एवं अर्थक्रियाकारिता की [सत्ता या अर्थक्रियाकारिता के निर्णय के लिए] अतिरिक्त सत्ता [और] अतिरिक्त अर्थक्रियाकारिता की

कल्पना करने पर अनवस्था [दोष] की आपत्ति होगी। [आशय यह है कि सत्ता में अतिरिक्त सत्ता मानने पर ही सत्ता की सत्ता सिद्ध होगी एवं अर्थक्रियाकारिता में भी अर्थक्रियाकारिता मानने पर ही अर्थक्रियाकारिता सिद्ध होगी, इसी क्रम में तृतीय सत्ता या अर्थक्रियाकारिता में भी अतिरिक्त सत्ता या अर्थक्रियाकारिता माननी होगी, फलतः, इसका अवसान न होने से अनवस्था दोष होगा, इसलिए प्रकाशमानत्व ही सत्ता माननी होगी। ऐसी स्थिति में देहादि (भी) चिदात्मा के समान प्रकाशमान होने से असत् नहीं हो सकते हैं। (देहादि को) असत् होने पर (वे) प्रकाशमान नहीं हो सकते हैं, तब किस प्रकार सत्य और अनृत का मिथुनीभाव होगा? और मिथुनीभाव न होने पर किसका किससे भेद का अग्रहण होगा? भेदाग्रह के न रहने पर अध्यास कैसे होगा? इसी आशय से (पूर्वपक्षी ने) कहा है—यह अध्यास क्या है? "कोऽयमध्यासो नाम" इस वाक्य में "कः" इस पद के द्वारा आक्षेप सूचित होता है (अर्थात् तिरस्कार या तुच्छता की सूचना दी है) सिद्धान्ती लोकप्रसिद्ध अध्यास-के लक्षण को कहता हुआ (कहने के लिए उद्यत होते हुए) 'उच्यते' इत्यादि वाक्य के द्वारा (पूर्वपक्षी के) आक्षेप का निराकरण करता है। [अध्यास का लक्षण है—"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" अवसन्न या अवमत भास अर्थात् ज्ञान को ही अवभास कहा जाता है। अन्यज्ञान के द्वारा बाध होनाज्ञान का अवसाद या अवमान है। इसके द्वारा मिथ्याज्ञान ही अध्यास का लक्षण कहा जाता है। "पूर्वदृष्ट" इत्यादि पद केद्वारा इस लक्षण की ही व्याख्या की जाती है। पूर्वदृष्ट का अवभास [ज्ञान] पूर्वदृष्टावभास है पूर्वदृष्ट का अवभास अर्थ मेंही पूर्वदृष्टावभास शब्द का प्रयोग होता है। आरोप विषय एवं आरोपणीय [भ्रम का विशेष्य एवं विशेषण] इन दो वस्तुओं के बिना मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता है, इसी लिए पूर्वदृष्ट पद का ग्रहण किया गया है एवं पूर्वदृष्ट पद के द्वारा आरोपणीय वस्तु मिथ्या है—यही कहा गया है। आरोपणीय वस्तु का ज्ञान ही अपेक्षित है, उसकी वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं है—इसी को समझाने के लिए 'दृष्ट' पद का ग्रहण किया गया है। तथापि दर्शन की वर्तमानता आरोप के लिए उपयोगी नहीं है—इसको समझाने के लिए "पूर्व" यह कहा गया है। भ्रम में पूर्वदृष्टवस्तु स्वरूपतः विद्यमान होने पर भी आरोपणीयभाव में अनिर्वाच्य होने से मिथ्या है। आरोप विषय [विशेष्य] सत्य ही रहता है—यहा "परत्र" शब्द के द्वारा कहा गया है। परत्र [भिन्न वस्तु में] शुक्तिकादि (रूप) पर-

मार्थ सद्वस्तु में [यह समझना होगा] इस प्रकार सत्य और अनृत ये दोनों इसमें कहे गये हैं। अच्छा, यह मान लिया, [किन्तु] "परत्र पूर्वदृष्टावभासः" यह [भ्रमका] लक्षण नहीं हो सकता है, कारण, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। [क्योंकि] स्वस्तिमती गौ में पूर्वदृष्ट गोत्व का परत्र कालाक्षी [नाम की दूसरी] गौ में ज्ञान होता है और पाटलीपुत्र में पूर्वदृष्ट देवदत्त का माहिष्मती (नामक अन्य स्थान) में समीचीन ज्ञान होता है। [इन दोनों ज्ञानों में भ्रम का लक्षण घटता है, किन्तु ये दोनों भ्रमज्ञान नहीं है] अवभास शब्द समीचीनज्ञान में भी प्रसिद्ध होता है, जैसे नील का ज्ञान, पीत का अवभास इत्यादि। (आशय यह है कि अवभास शब्द का प्रयोग मात्र भ्रमज्ञान में ही होता तब उक्तस्थल समीचीनज्ञान है, वहाँ पर अवभास शब्द का प्रयोग न होने के कारण अतिव्याति दोष नहीं होता, कारण, पूर्वदृष्ट का अवभास नहीं है, किन्तु नील का अवभास, पीत का अवभास आदि प्रयोग देखने से यह पता लगता है कि अवभास शब्द का प्रयोग समीचीन ज्ञान में भी होता है।) पूर्वोक्त अतिव्याप्ति दोष के कारण लक्षण में कहा है—"स्मृतिरूपः" स्मृति के रूप के समान रूप जिसका वह स्मृतिरूप है। 'स्मृतिरूप शब्द का प्रयोग स्मृति का रूप अर्थ में नहीं होता है, वरन् इस स्थल में 'स्मृतिरूप' शब्द का प्रदर्शित ही अर्थ होता है' असन्निहित वस्तु का प्रकाश करना ही स्मृति का स्वभाव है और सन्निहित 'समीपस्थ' वस्तु का प्रकाशक ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है 'जो' समीचीन 'ज्ञान' है इसलिए 'भ्रमलक्षण की' अतिव्याप्ति नहीं है। 'गोत्व दोनों गौओं में सन्निहित है तथा देवदत्त भी दोनों स्थलों में सन्निहित है, अतः "स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभासः" इस अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है' इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी नहीं है। स्मृतिविभ्रमरूप स्वप्नज्ञान भी (स्मृतिविषय में विपरीतज्ञान) इसी प्रकार का है (अर्थात् इस लक्षण का लक्ष्य है)। क्योंकि, स्वप्न स्थल में भी स्मर्यमाण पित्रादि, निद्रारूपदोष से सन्निहित नहीं है—इस प्रकार ज्ञान का विषय नहीं होता है। इस प्रकार उस पिता आदि पदार्थ में पूर्वदृष्ट जो सन्निकृष्ट जो देश या काल उसीका सम्बन्ध आरोपित होता है। इसी प्रकार पीला शंख, तीता गुड़ आदि भ्रमस्थल में भी इस लक्षण की योजना करनी होगी। जैसे—बाहर निकलते हुए अतिशय स्वच्छ नेत्र के प्रकाश के

साथ संयुक्त जो पित्तद्रव्य उस में विद्यमान जो पीलापन, उसका पित्त के साथ असम्बन्धाभाव के रूप में जब लोग अनुभव करते हैं और दोष के द्वारा जिसके शुक्लभाव का आच्छादन हो गया है—इस प्रकार शंख का जब लोग अनुभव करते हैं एवं इस समय पीतता के साथ शंख का सम्बन्ध नहीं हो सकता है—यह अनुभव नहीं रहता है उस समय असम्बन्ध के अज्ञानरूप सादृश्य के कारण पीत सुवर्ण' पीला वेलफल इत्यादि स्थलों में पूर्व में देखे गये सामानाधिकरण्य का शंख में आरोप कर पीला शख ' यह भ्रम होता है '। ' अर्थात् पीतत्व और सुवर्ण का सम्बन्ध गृहीत न होने पर इन दोनों का असम्बन्ध गृहीत नहीं होता है; इसी प्रकार पीतत्व और शंख का वर्तमान असंसर्ग गृहीत नहीं होता है - यही असम्बन्ध के अग्रहण का सारूप्य है। पीतत्व और सुवर्ण का सामानाधिकरण्य पूर्वदृष्ट है, इसी पूर्वदृष्ट सामानाधिकरण्य का आरोप कर पीत शंख इस भ्रम में पूर्वदृष्टत्व-घटित-लक्षण का समन्वय होता है। इस प्रकार "तीता गुड" इस भ्रम में लक्षण व्याख्यात हुआ। (इस लक्षण का समन्वय करना चाहिए। 'ऐनक एव' जल आदि में समारोपित ग्रीवा में स्थित अपना मुख अपने नेत्र के द्वारा पूर्व में दृष्ट न होने के कारण इस भ्रमलक्षण की अव्याप्ति होती है इस आशङ्का से आगे का भामती ग्रन्थ दिया गया है।) इसी प्रकार विज्ञाता पुरुष सम्मुखस्थित स्वच्छ ऐनक में या जल आदि में चक्षु-सम्बन्धी तेज या चक्षु के अवयवभूत तेज के संलग्न होने पर भी वह प्रबल सूर्य-सम्बन्धी तेज के द्वारा प्रतिकूल दिशा में प्रत्यावर्तित होकर ' लौटकर ' 'अपने' मुख के साथ संयुक्त होकर 'अपने' मुख का ही प्रत्यक्ष कराता है, किन्तु दोष के कारण मुख की ग्रीवा के स्थान में स्थिति और अनभिमुखत्व का ग्रहण नहीं कराता है एवं पूर्व दृष्ट सम्मुखस्थिति ऐनक या जल का आधारभूत स्थान का सम्बन्ध तथा अभिमुखता (ये दोनों) मुख पर आरोपित होते हैं। (पूर्व दृष्टयोरभिमुखादर्शोदकयोर्देश एव देशो यस्य तत्, तथोक्तम्, तस्य भावः, तत्ता, तां तयोराभिमुख्यं च; इस प्रकार प्रतिबिम्बभ्रम में भी लक्षण समन्वित होता है। इसी प्रकार दो चन्द्रों का दर्शन 'पूर्व दृष्ट द्वित्वका चन्द्र में आरोप' दिग्भ्रम, [पूर्व आदि में पूर्वत्व आदि का पश्चिम आदि में आरोप] अलातचक्रज्ञान, (मसाल आदि के घूमाने से जो चक्र के आकार में आग की रेखा होती है उसीको अलातचक्र

कहा जाता है, इस स्थल में शीघ्र भ्रमित अलात ज्वालाओं में पूर्व दृष्ट चक्र के आकारत्व का आरोप होता है।) गन्धर्वनगरदर्शन, [आकाश में दृश्यमान नगरविशेष, इस स्थल में आकाश में पूर्वदृष्ट नगर का आरोप है] एवं बाँस में सर्प ज्ञान [लोचन से ग्राह्यवंशों में पूर्व दृष्ट सर्पत्वादि का आरोप] आदि भ्रमों में भी यथासम्भव [पूर्व दृष्टत्व-घटित] लक्षण को समन्वय करना चाहिए। इस स्थल में यही कहा गया है कि प्रकाशमानत्व ही वस्तु की सत्ता नहीं है, जिससे देह, इन्द्रिय आदि की प्रकाशमानता से [देह, इन्द्रिय आदि का] सद्रूप होगा। [प्रकाशमानत्व ही सत्त्व नहीं है इसी को व्यतिरेकरूप से कहा गया है] रस्सी आदि सर्प आदि के रूप में या स्फटिक आदि लालिमा आदि गुणों के युक्त रूप में [हमलोगों की] प्रतीति का विषय नहीं होता है, ऐसी [बात] नहीं है। [रस्सी आदि सर्प आदि के रूप से स्फटिक आदि लालिमा आदि से संयुक्तरूप में भासित होते हैं, इस पंक्ति में दो निषेधों का प्रयोग होने से प्रकृत अर्थ का बोध होता है, द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः इति न्यायात्) एवं इस प्रकार प्रतीतिगोचर होने से ही ये सर्प या रक्त वस्तु हो जायँगे या सर्प का या रक्त वस्तु का धर्म प्राप्त करलेंगे—यह भी नहीं है। अर्थात् रस्सी या स्फटिक सर्प या रक्तवस्तु या इसमें सर्प का या रक्तवस्तु के धर्म की प्राप्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। (अर्थात् भासमानता मात्र से वस्तु की सत्ता नहीं होती है, यदि भासमानता मात्र से वस्तु की सत्ता हो तो सभी स्थलों में जो जो जिस-जिस रूप में भासित होते हैं उसकी उसरूप में पारमार्थिक सत्ता मानी जाय। यदि उस रूप में पारमार्थिक सत्ता मान ली जाय तो क्या आपत्ति है ? इसी के समाधान के लिए आगे की पंक्तियाँ दी जा रही है) ऐसा मानने पर मरुभूमि में सूर्य्य-किरण के ऊपर उन्नत-अवनत चञ्चल अभ्युन्नततरङ्गभङ्ग से सम्पन्न मन्दाकिनी समीप में अवतीर्ण हुई है—इस प्रकार अवगत कर प्रवृत्त व्यक्ति, उसका [उस मन्दाकिनी का] जलपान कर अपनी प्यास को भी शान्त कर सकता है। इस लिए इच्छा न रहने पर भी मानना ही होगा कि आरोपित-वस्तु के प्रकाशित होने पर भी उसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि यह कहा जाय कि मरीचि के रूप में जल मिथ्या हो सकता है;

किन्तु स्वरूप से वह परमार्थ सत् ही है। परन्तु देह, इन्द्रिय आदि वस्तु तो स्वरूप से भी सत् नहीं है, अतः, वे अनुभवगोचर नहीं हो सकते हैं, इस लिए ये कैसे आरोपित हो सकते हैं? यह कथन भी ठीक नहीं है। (इस भामती में "न च" इसका "साम्प्रतम्" इसके साथ सम्बन्ध है, आशय यह है कि सत् से विलक्षण अनिर्वचनीय असत् अनुभव गोचर नहीं हो सकते है। "कथं तर्हीति" इस पंक्ति से असत् की अनुभवगोचरता का प्रतिपादन किया जा रहा है।) क्योंकि यदि असत् होने से (वस्तु) अनुभव का गोचर नहीं होता है, [यही अभिमत है) तब किस प्रकार असत् मरीचि आदि [वस्तु] जलरूप से अनुभव गोचर होते हैं। [मरीचि आदि स्वरूपः सत् है अतः, असत् कैसे हो सकते हैं?) ये वस्तु स्वरूपतः सद् होने के कारण जल के रूप में भी सत् होते हैं। यदि यह कहना चाहते हैं भाववस्तु से अन्य अभाव नाम का कोई पदार्थ नहीं है, वरन् भाव (पदार्थ) ही दूसरे भाव [पदार्थ] के रूप में [प्रतीयमान होकर] अभाव (कहा जाता) है, किन्तु स्वरूप से वह भाव (ही) है। जैसा कहा जाता है—

किसी प्रकार के भिन्न वस्तु की अपेक्षा से भाव (वस्तु) ही किसी अन्य भाववस्तु के रूप में प्रतीत होने पर—वह अभाव पद से कहा जाता है। (ऐसी स्थिति में) और इस कारण से अपने भाव रूप में निर्वचनीय होने से इस प्रपञ्च की भी अनुभवगोचरता समीचीन ही है। किन्तु, जिनके मत में प्रपञ्च अत्यन्त असत् है अतः, जिनमे किसी प्रकार से अर्थक्रियाकारिता नहीं है, वे निस्तत्त्व पदार्थ कैसे अनुभव के विषय हो सकते हैं, एवं किस प्रकार से चिदात्मा के ऊपर उनका आरोप हो सकता है? सभी प्रकार की अर्थक्रिया के असम्भव होने से बाह्य विषय न होने पर भी ज्ञान ही विषय के आकार में प्रतिभासमान होता है एव अपने पूर्ववर्ती सामर्थ्य से अपने असाधारण स्वरूप स्वभाव-विशेष को प्राप्त करता है, इस प्रकार उत्पन्न होकर वह ज्ञान ही असत् का प्रकाश कर देता है—इस लिए कहना पड़ेगा कि ज्ञान में जो असत्-प्रकाशन-शक्ति है—वही अविद्या है—यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, यह जो विज्ञान की असत्-प्रकाशन-शक्ति है—इसका क्या शक्य है? [यदि यह कहा जाय कि] असत् ही इसका शक्य है। (ऐसा मानने पर यह जिज्ञासा होगी कि)

यह शक्य इसका कार्य है अथ वा इसका ज्ञाप्य है ? इसको कार्य नहीं कहा जा सकता है, कारण, असत् की कार्यता ही अनुपपन्न है। ज्ञाप्य भी नहीं (हो सकता है, कारण, जब बाह्य विषय वास्तविक सत् नहीं है तब ज्ञान को ही ज्ञाप्य मानना होगा, किन्तु इस काल में इस विज्ञान से व्यतिरिक्त एक और भी ज्ञाप्य ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है, और इसी प्रकार ज्ञान के द्वारा ज्ञान ज्ञाप्य होता है—इस प्रकार कल्पना करने पर अनवस्था दोष की भी प्रसक्ति होगी। यदि कहा जाय कि असत् का प्रकाशन ही विज्ञान का स्वरूप है। (ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होगा कि) सत् और असत् का क्या सम्बन्ध है? यदि कहा जाय कि अद्भूत ज्ञानवस्तु का असद्भुत विषय के द्वारा निरूपित होना ही सम्बन्ध है, (सत् और असत् का सम्बन्ध है)। ऐसी स्थिति में यही कहूँगा, अहो ? यह अतिशय-सन्तुष्ट तपस्वी ज्ञान [विचारा ज्ञान) है जो असत् के भी निरूपण में यत्न करता है। (किसी के रहने पर किसी का उपकार होता है, प्रत्यय का निरूपण असत् पदार्थ पर भी होता है उपकारी के न रहने पर कोई किसी का प्रति उपकार नहीं करता है, इसलिए ज्ञान अतिशय तपस्वी है—यह उपहास किया गया है।) ज्ञान असत् के ऊपर किसी धर्म का आधान नहीं करता है। (नहीं कर सकता है) कारण, (जो असत् रहता है, वह किसी का आधार नहीं हो सकता है) असत् मे आधारता नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि असत् के न रहने पर ज्ञान प्रकाशित नहीं होता है, इसलिए, प्रत्यय का ही यह स्वभाव है—(यही कहना है) (वस्तुतः) यह असत् के अधीन नहीं है। (ऐसी स्थिति में यही कहना है कि) इस सद्भूत ज्ञान का कैसा विचित्र असत् के प्रति पक्षपात है कि यह असत् से उत्पन्न नहीं है, असत् स्वरूप भी नहीं है, फिर भी असत् के साथ अविनाभूत है (अर्थात् असत् के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध में रहता है) इसलिए शरीर और इन्द्रिय आदि (जो) अत्यन्त असत् (और) तत्त्वरहित (हैं वे) कभी अनुभव के विषय नहीं हो सकते हैं। (इस कथन से यह अनुमान सूचित होता है—"देह आदि, सत् हैं, भासमान होने से जैसे—आत्मा"। इस प्रकार सत् का ही प्रकाश होता है—यह पूर्वपक्षियों के द्वारा कहने पर "अत्र ब्रूमः" से सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है) इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि [सत् पदार्थ ही अनुभव-

गोचर होता है] यदि निस्तत्त्व अनुभव—गोचर नहीं होता है, तो क्या तोयरूप से मरीचि भी सतत्त्व है। (अर्थात मरीचि तोयरूप में अनुभवगोचर होता है, आपके मत में निस्तत्त्व वस्तु अनुभवगोचर नहीं होती है, अतः, जलरूप में भासमान मरीचि उस रूप में सत् है) किन्तु मरीचि जलरूप से सत् नहीं है, कारण, जलरूप में सूर्य-किरण की सत्ता कभी भी नहीं हो सकती है। वस्तुओं के दो स्वरूप देखे जाते हैं—सत्त्व और असत्त्व। इनमें सत्त्व अपने स्वरूप से, असत्त्व दूसरे के रूप से। (आचार्यों ने) जैसा कहा है—वस्तु स्वरूप एवं दूसरे के रूप के द्वारा सदा ही सत् और असत् रूप होते हैं, वस्तु में किसी रूप को [सत्त्वरूप या असत्त्वरूप को) कभी किसी के द्वारा अवगत किया जाता है। (आशय यह है कि भाव ही अन्य भाव पदार्थ के रूप से अभाव है और स्वरूप से भाव है इसलिए दोनों प्रकार के भाव ही हैं=सत्त्व ही है अतः, तोयरूप से असत् मरीचि का भान होने से आसत्ख्याति की सम्भावना नहीं है। ऐसी स्थिति में सूर्य-किरण में जलाकार ज्ञान—क्या तत्त्वगोचर है? ऐसा मानने पर—इसको समीचीन ज्ञान मानना होगा, समीचीन ज्ञान भ्रान्त नहीं होता है और कभी वाधित भी नहीं होता है। यह सत्य है, न वाधित होता (यह भ्रान्त नहीं होता) यदि अजलस्वरूप मरीचि को अजलस्वरूप से ग्रहण करें, किन्तु मरीचि को जलस्वरूप से ग्रहण करने पर वह ज्ञान कैसे अभ्रान्त हो और कैसे अबाध्य होगा? जलाभाव स्वरूप मरीचि की जलरूपता सत् नहीं है, कारण, जलाभाव से अभिन्न मरीचि की जलरूपता अनुपपन्न है। (इस प्रकार जलाभावस्वरूप सूर्यकिरणों में जलरूपता भ्रमविषय है, यह आपने कहा यह जलरूपता) असत् नहीं है, कारण, (आपने ही स्वीकार किया है कि) वस्त्वन्तर की वस्त्वन्तररूपता ही असत् होता है, आपने ही कहा है—भावान्तर ही अभाव है इससे अतिरिक्त अभाव के अन्यस्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता है। आरोपितरूप कभी भी वस्त्वन्तर नहीं हो सकता है। कारण, वह मरीचि होगा, या गङ्गागत जलरूप होगा। पूर्वकल्प मानने पर मरीचि यह ज्ञान हो सकता जल यह ज्ञान नहीं हो सकता है। द्वितीयकल्प मानने पर गङ्गा में जल यह ज्ञान हो सकता है, यहाँ ज़ल अर्थात् मरुभूमि में जल—यह ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि देशविशेष का असमरण होता है, ऐसी

स्थिति में जल यह ज्ञान हो सकता है यहाँ जल यह ज्ञान नहीं हो सकता है। यह अत्यन्त असत् है, इसका कोई स्वरूप ही नहीं है, अतः, यह सर्वथा अलीक है—यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। कारण, अलीक पदार्थ अनुभव-गोचर नहीं हो सकता है—यह पहले ही कहा गया है। इसलिए यह मानना होगा कि मरीचिजल सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, यह सत्-असत् भी नहीं है, सत् और असत् का परस्पर विरोध होने से [एक वस्तु विरुद्ध दो रूप में नहीं हो सकती है] अतः, मरीचि में दृश्यमान तोय को अनिर्वचनीय ही मानना होगा। [आशय यह है कि जलाभाव-स्वरूप सूर्य किरणों में जलरूपता भ्रम-विषय है—यह आपने माना है। अब विचारणीय है कि यह जलरूपता सत् है, या असत् है, या सत्-असत् उभयरूप है या अनिर्वचनीय है ? सत् भी नहीं हो सकता है, कारण, मरीचि जलाभाव से अभिन्न है और जल मरीचि के अभाव से अभिन्न है—यह आपने माना है, अतः, मरीचि में जल सत् नहीं हो सकता है। असत् भी नहीं हो सकता है, कारण, असत् मानने पर तीन कल्प होगा। मरीचि की तोयात्मता जो असत् कही गई है—वह क्या मरीचि स्वरूप है ? या वस्त्वन्तर है ? या तुच्छ है ? इनमें एक भी पक्ष ठीक नहीं है, कारण, वस्त्वन्तर को मरीचि आदि वस्त्वन्तर ही अभाव माना है; क्योंकि, "भावान्तरमभावः" यह आपने ही माना है। अतः, मरीचि की जल-रूपता मरीचि स्वरूप ही रहेगी—वह असत् नहीं है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, मरीचि में भ्रमात्मक जलनिर्भासज्ञान में मरीचि और जल दोनों वस्तु भासमान हो रहे हैं, वस्त्वन्तर का भान नहीं होता है, इस लिए वस्त्वन्तर का अभाव होने से वह वस्त्वन्तर क्या है, इस विचार में मरीचि को या गङ्गागत जल को वस्त्वन्तर कहा जायगा, किन्तु, ये दोनों ही वस्त्वन्तर नहीं हो सकते है। [इसका खण्डन "पूर्वस्मिन् न पुनरिहेति" इन पंक्तियों से किया गया है। तृतीय पक्ष तुच्छ का खण्डन "न च इदम्" आदि पंक्तियों से किया गया है। सत्पक्ष और असत्पक्ष का खण्डन कर तृतीय सदसत्पक्ष का खण्डन कर स्वाभिमत अनिर्वचनीयपक्ष का समर्थन किया है।]

[अब यह विचारणीय है कि मरीचि आदि में अभिनव उत्पन्न अनिर्वच-नीय जलादि की मात्र भ्रम काल में वृत्ति होने से इससे पूर्व इसका अभाव होने

से अनिर्वचनीय वस्तु पूर्वदृष्ट इस विशेषण से घटित लक्षण की अव्याप्ति इस स्थल में होगी, अर्थात् इस स्थल में इस लक्षण का समन्वय नहीं होगा] इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि [मरुभूमिस्थ मरीचि में] अध्यस्त जल वास्तविक जल के समान प्रतीत होता है इसी लिए पूर्वदृष्ट के समान है, वस्तुतः, यह जल नहीं है या पूर्वदृष्ट कोई वस्तु भी नहीं है. किन्तु यह अनृत एवं अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय आदि प्रपञ्च भी अनिर्वचनीय है। (आशय यह है कि वस्तु वस्तुतः पारमार्थिक नहीं है, अतः, पूर्वदृष्ट पद पूर्वदृष्टसजातीय अर्थ का बोधक है। इसलिए जलादि का साजात्य अभिनव उत्पन्न अनिर्वचनीय आदि में भी समन्वित होता है।] देह इन्द्रिय आदि प्रपञ्च अपूर्व होने पर भी पूर्व उत्पन्न मिथ्याज्ञान के द्वारा ही उपस्थापित होने के समान अपने से भिन्न [परत्र] चिदात्मा में आरोपित होता है—यह उपपन्न होता है एवं अध्यास लक्षण भी समन्वित होता है। देह, इन्द्रिय आदि प्रपञ्च के बाध की उपपत्ति आगे प्रदर्शित करुँगा। [इस प्रकार देह, इन्द्रिय, अहङ्कारादि का आत्मा में अध्यस्त होने से उनके धर्म भी अध्यस्त होने से, वास्तव नहीं होने से निर्धर्मक आत्मा में ब्रह्म से अभिन्नत्व योग्यता है—इसको सूचित करते हुए देहादि से उसकी विलक्षणता का प्रतिपादित कर रहे हैं] किन्तु चिदात्मा श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण के द्वारा प्रतिपादित होता है एवं उनके अविरुद्ध युक्तियों के द्वारा, उसका शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव भी निर्णीत होता है, अतः, यह चिदात्मा सत् रूप में ही निर्वचनीय है। इसकी सत्ता अबाधित स्वयं प्रकाशरूप है एवं यह सत्ता चिदात्मा स्वरूप ही है। चिदात्मा से अतिरिक्त सत्तासामान्यसमवाय या अर्थक्रियाकारितारूप सत्ता नहीं है। इस प्रकार लक्षणद्वारा सिद्ध अध्यास अनिर्वचनीय एवं सभी परीक्षकों के द्वारा स्वीकृत है।

कुसुमलता

भाष्य में कहा गया कि अध्यास का अर्थ है—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। किन्तु इस लक्षण के कहने से पूर्व ही प्रतिवादी को सम्मुख मानकर उनके द्वारा यह प्रश्न उपस्थापित किया है—कोऽयमध्यासो नाम ? अध्यास का क्या लक्षण है ? अतः, भामतीकार ने भी इस वाक्य की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रथम पूर्वपक्षियों के अभिप्रायों को व्यक्त किया है और बाद में अध्यास लक्षण की व्याख्या की है।

इस पूर्वोक्त भाष्य की जिज्ञासा वाक्य में किम् शब्द का प्रयोग है 'किम' शब्दका प्रयोग जिज्ञासा एवं आक्षेप दोनों अर्थों में होता है, किन्तु प्रकृत में "किम्" शब्द के द्वारा आक्षेपही अर्थ अवगत हो रहा है। पूर्वपक्षियों ने कहा है--"आह कोऽयमध्यासो नाम" अर्थात् उन लोगों ने कहा है कि अध्यास क्या है ? अर्थात् अध्यास कुछ भी नहीं है, यह अध्यास निरूपण के योग्य ही नहीं है, फलतः अध्यास के लक्षण आदि के कथन की आवश्यकता ही नहीं है। पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से अध्यास के लक्षण की जिज्ञासा नहीं कर रहे हैं, वरन् उनकी दृष्टि से इसका लक्षण सम्भव ही नहीं है।

उनलोगों के इस आक्षेप का कारण भामतीकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है।—पूर्वपक्षियों का कथन है कि यह मान लेता हूँ कि भ्रमस्थल में जिस वस्तु का भ्रम होता है उस वस्तु का ज्ञान होने से ही कार्य चल सकता है, उस वस्तु की पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा नहीं है। जैसे रस्सी में जो साँप का भ्रम होता है वहाँ पर साँप की सत्ता की अपेक्षा नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त विवरण के अनुसार सत्ता की अपेक्षा न रहने पर भी अद्वैतवादियों के मत में देहादि की यदि वास्तविक कोई सत्ता हो नहीं है तब वह गगनपुष्प के समान अलीक है, ऐसी स्थिति में जिज्ञासा करने पर भी वह प्रकाशमान कैसे हो सकता है ? कारण, अद्वैतमत में प्रकाशमानत्व ही वस्तु की सत्ता है। चिदात्मा की जो सत्ता है वह प्रकाशमानत्व से अतिरिक्त तो नहीं है। नैयायिक मत में वस्तु में समवाय सम्बन्ध से सत्तारूप जाति का सम्बन्ध ही वस्तु की सत्ता होती है, बौद्ध के मत में अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु की सत्ता है। किन्तु सत्तारूप जाति अथवा अर्थक्रियाकारित्व जो सत्ता वह सत् है कि नहीं ? इस जिज्ञासा में सत्तामें भी सत्ता की समवाय सम्बन्ध से स्थिति या अर्थक्रियाकारिता का योग आवश्यक होगा, इसी प्रकार उस सत्ता की भी सत्ता स्वीकार करने के लिए सत्ता का सम्बन्ध अथ वा अर्थक्रियाकारिता का योग मानना आवश्यक होगा, इस प्रकार सत्ता या अर्थक्रियाकारिता का योग मानने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा, अतः, न्याय एवं बौद्धों की सत्ता का निर्वचन सम्भव नहीं है। इस प्रकार नैयायिक एवं बौद्धों का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी ने अद्वैत मत का भी खण्डन किया है। इस पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जो प्रकाशमान है वह वस्तु

असत् नहीं हो सकती है, कारण, प्रकाशमानत्व से अतिरिक्त किसी सत्ता का निर्वचन नहीं किया जा सकता है। जगत् यदि प्रकाशमान है तब यह जगत् अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है ?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती अद्वैतवेदान्ती का कथन है कि सद्वस्तु सदा सत् ही रहती है वह कभी भी असत् या अभावरूप नहीं हो सकती है। प्रपञ्च यदि सत् हो तो चिदात्मा के समान वह भी सदा सत् ही रहेगा। किन्तु प्रपञ्च की उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन देखा जाता है। अतः, प्रपञ्च सदा एक-रूप में नहीं रहता है। इसलिए अद्वैत मत में यह जगत् प्रकाशमान रहने पर भी असत् है, जगत् प्रकाशमान है, अत एव सत् ही है- यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। फलतः, प्रपञ्च असत् होने से इसकी जो प्रतीति है वह प्रमा या यथार्थ नहीं हो सकती है। जगद्विषयक प्रतीति को ही भ्रम कहा जाता है। आचार्य ने इसी अभिप्राय से भ्रम का लक्षण कहा है।

इस अध्यास लक्षण को तीन भागों में विभक्त कर अवगत किया जाता है। प्रथम भाग अवभास, द्वितीय भाग—परत्र पूर्वदृष्ट और तृतीय भाग है—स्मृतिरूप। यद्यपि पूर्वदृष्टावभास पद पूर्वदृष्ट और अवभास इन दोनों पदों का समास कर एक पद निष्पन्न होता है, यथापि इन दोनों को अलग कर ही इसका अर्थ अवगत करना होगा यही भामतीकार का आशय है। वस्तुतः, इनके मध्य में अवभास पद के द्वारा भ्रम का प्रकृत और पूर्ण लक्षण कह दिया गया है। अतिरिक्त दो विशेषणों के द्वारा मात्र उनका परिचय प्रदान किया गया है।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि अवभास शब्द का क्या अर्थ है ? अव शब्द का अर्थ अवमत या अवसन्न होता है। भास शब्द का अर्थ ज्ञान या ज्ञेय होता है। भास धातु से भाव अर्थ में घञ्प्रत्यय करने पर भास का अर्थ ज्ञान होता है और कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर भास शब्द का अर्थ ज्ञेय होता है। फलित यह हुआ कि भाववाच्य घञ् प्रत्ययान्त भास शब्द का अर्थ ज्ञान होता है और कर्मवाच्य घञ् प्रत्ययान्त भास शब्द का अर्थ ज्ञेय होता है। प्रकृत में अवभास शब्द का अथ यह होता है कि जो ज्ञान या ज्ञेय अवसन्न या अवमत होते हैं वे ही अवाभास या अध्यास है। अवसन्न और अवमत अर्थ के विवरण से ही अवभास अर्थ की अवगति हो जाती है। जो अवसाद को

प्राप्त करता है ऐसे ज्ञान या ज्ञेय को अवसन्न कहा जाता है। बाधित होना ही ज्ञान या ज्ञेय का अवसाद है। उत्तरज्ञान (परवर्ती ज्ञान) के उत्पन्न होने से ज्ञान या ज्ञेय की अनुवृत्ति न होना ही इनका अवसाद है। जैसे शुक्तौ इदं रजतम्, शुक्ति में यह रजत है, इस रजत ज्ञान होने के बाद नेदं रजतम् शुक्तिरियम्" यह रजत नहीं है यह शुक्ति ही है, इस बाधक यथार्थज्ञान की आपत्ति होने पर रजत ज्ञान की या ज्ञेय रजत की अनुवृत्ति नहीं होती है—पूर्व रजत ज्ञान या ज्ञेय रजत का अवसाद है। आशय यह है कि अधिष्ठान अर्थात् अधिकरणतत्त्व के साक्षात्कार से पूर्व ज्ञान या ज्ञेय की निवृत्ति उसका अवसाद है। इसी प्रकार जो ज्ञान या ज्ञेय अवमानयुक्त होता है उन्हीं को अवमत कहा जाता है। कार्य करने की शक्ति का अभाव होने से वे अवमत होते हैं। जब तक शुक्ति का यथार्थज्ञान नहीं होता है तबतक रजतभ्रम भ्रान्त-व्यक्ति को रजत के ग्रहण में प्रवृत्त करता है, अर्थात् रजत-विषय में लाभादि-युक्त रखता है, किन्तु, यह शुक्ति है रजत नहीं है इस यथार्थज्ञान होने के बाद हमलोग रजत के ग्रहण के लिए प्रवृत्त नहीं होते हैं अर्थात् हमलोगों के लिए रजतभ्रम की या रजत की कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है। आशय यह है कि अवमान में ज्ञान या ज्ञेय का युक्ति-सहकृत-ज्ञान के द्वारा बाध होता है। अवसाद में अधिष्ठान-तत्त्व के साक्षात्कार से और अवमान में यौक्तिक ज्ञान से भ्रान्तज्ञान या ज्ञेय वस्तु का बाध होता है। पूर्व ज्ञान का बाध अवभास का सामान्य अर्थ है। भामतीकार ने अवयवार्थ लेकर अवसाद और अवमान रूप से ही अवभासशब्द का दो व्याख्यान प्रस्तुत किया है, अवसन्न ज्ञान या अवमानज्ञान ही अवभास है, अधिष्ठानतत्त्व के साक्षात्कार ज्ञान होने से बाध होना अवसाद है और यौक्तिक ज्ञान के आधार पर ज्ञान का तिरस्कार होना अवमान है। दोनों ही स्थितियों में अवभासशब्द का अवयवार्थ लेकर यही लक्षण है कि अवसन्न अवमत ज्ञान अध्यास है। किन्तु, अन्य आचार्यों ने ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास इन दो अध्यासों को स्वीकार किया है। अतः, अवभास शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ मानकर ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों ही अर्थ स्वीकार किये हैं, अवभास शब्द रूढ अर्थ ज्ञान को लेकर स्मृति रूप इत्यादि अध्यास लक्षण का व्याख्यान है, या यह कहा जा सकता है कि

अवभासशब्द की व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ का यह उपव्याख्यान अर्थात् विस्तृत विवरण है।

अवभासलक्षण से लक्षित अध्यास के इस विस्तृत व्याख्यान में "परत्र" एवं "पूर्वदृष्ट" का व्याख्यान प्रथम उपस्थित कर रहा हूँ। "परत्र" शब्द का अर्थ पृथक् या भिन्न होता है। यद्यपि न्यायमत में पार्थक्य को गुण और भेद को अन्योऽन्याभाव माना है तथापि वेदान्तमत में इन दोनों अर्थों में भेद नहीं है। "पूर्वदृष्ट" शब्द का दो अर्थ होता है—(१) जो पूर्व में दृष्ट है अर्थात् पूर्व-दर्शनज्ञान विषय (२) पूर्ववर्ती दर्शन अर्थात् पूर्ववर्ती दर्शन ज्ञान एवं ज्ञेय इन दो अर्थों के बोधक अवभास शब्द के साथ पूर्वदृष्ट शब्द का समास होने पर इस पूर्वदृष्टावभास शब्द का अर्थ पूर्ववर्ती दर्शन के समान जो ज्ञान, एवं पूर्वदृष्ट वस्तु के समान जो ज्ञेय यह होता है। इस 'पूर्वदृष्टावभास' शब्द का 'परत्र' शब्द के साथ अन्वय होने पर अर्थ होता है कि पृथक् [भिन्न] वस्तु में पूर्वदृष्ट किसी एक भिन्न वस्तु के समान ज्ञेय वस्तु अथ वा भिन्न वस्तु में पूर्ववर्ती ज्ञान के समान किसी पृथक् वस्तु का ज्ञान, इस प्रकार इसके द्वारा भ्रमज्ञान का स्वरूप एवं उस भ्रमज्ञान के विषय का स्वरूप कहागया है। जगत्प्रपञ्चविषयक जो भ्रान्ति है और उस भ्रान्ति का विषय जो जगत्प्रपञ्च है इन दोनों भ्रान्तियों का स्वरूप कहा गया है।

अब यह विचारणीय है कि परत्र पद का प्रयोग इस लक्षण में नहीं किया जाय तो क्या हानि है? परत्र शब्द का प्रयोग लक्षण में न देने पर "इदं रजतम्" [यह रजत है] इस स्थल में इदं पदार्थ की सत्ता रजत पदार्थ की सत्ता से अधिक है—यह अवगति नहीं होती है। "परत्र" शब्द के द्वारा भ्रम में आरोप विषय की सत्ता भ्रम के आरोप्य या विशेषण की सत्ता से अधिक और विलक्षण होती है, यही कहा गया है।

इस रूप में भ्रमज्ञान और भ्रमज्ञान के स्वरूप को कहा गया है, इसका क्या आशय है? इसके द्वारा यही कहा गया है कि नैयायिक आदि द्वैतवाद को माननेवाले आचार्यों ने भ्रमस्थल में अर्थात् शुक्ति में रजत के ज्ञान स्थल में भ्रम का विषयीभूत रजत का जो प्रकाश होता है वह बाजार में पूर्वदृष्ट सत्य-रजत से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यह जो व्यक्त किया है, यह गृहीत

होता है।

भाष्यकार ने इस अध्यास के स्वरूप-निर्णय के लिए उद्भावित आपत्तियों का उत्तर इस रूप में किया है। पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि —प्रपञ्च (पक्ष) मिथ्या नहीं है=अध्यस्त नहीं है (साध्य) ज्ञान निवर्त्य होने से [हेतु] जैसे शुक्ति में रजत या रस्सी में साँप (उदाहरण)। इसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि अध्यास प्रत्यक्षसिद्ध है अर्थात् अपलाप के योग्य नहीं है। यहाँ पर यह कहना है कि भ्रमस्थल में अर्थात् शुक्ति में रजत का ज्ञान जिस भ्रम में होता है वहाँ भ्रम का विषयीभूत या विशेषणभूत रजत बाजार आदि में पूर्व-दृष्ट सत्य रजत नहीं है, किन्तु यह उसी रजत के समान अनिर्वचनीय एक पदार्थ है। आशय यह है कि भ्रम को द्वैतवादी नैयायिक भी मानते हैं और अद्वैतवादी भी मानते हैं, किन्तु नैयायिक भ्रम के विषय को सत्य मानते हैं और अद्वैतवेदान्ती भ्रम के विषय को अनिर्वचनीय मानते हैं। प्रभाकर-मतानुयायियों ने, भ्रमस्थल में शुक्ति में रजत के व्यवहार-स्थल में जो ज्ञान होता है वह एक ज्ञान नहीं है वरन् दो ज्ञान हैं एवं उन दोनों ज्ञानों का विषय सत्य है, भ्रम कोई अतिरिक्त-ज्ञान नहीं है, यह कहा है—यह मत भी सूचित होता है। आशय यह है कि प्रभाकर के मत म "इदं" विषयक एक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है एवं रजत-विषयक स्मरणरूप उससे अतिरिक्त एक ज्ञान है, किन्तु, रजत-विषयक-स्मरणात्मक ज्ञान और इदं-विषयक-प्रत्यक्षात्मकज्ञान में परस्पर भेद-ज्ञान नहीं रहता है एवं रजत की स्मृति में रजतगत जो तत्ता अंश है, अर्थात् वही रजत है इस में जो "वह" अंश है, उसका स्फुरण न होने से सत्य रजत स्थल में हमलोगों की जिस प्रकार रजत के ग्रहण आदि में प्रवृत्ति होती है एवं 'इदं रजतम्" [यह रजत है] यह व्यवहार आदि होता है, प्रकृत में भी प्रभाकरमतानुयायियों का कहना है कि शुक्ति में रजत का व्यवहार रूप भ्रम-स्थल में जो रजत का ज्ञान होता है वह नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार एक अतिरिक्त विशिष्टज्ञान नहीं है, वरन् पूर्व में जो रजत का प्रत्यक्ष हुआ था उसके संस्कार से स्वयं ही मात्रस्मृतिरूप में परिणत हो गया है। अतः, यह स्मृतिरूप ज्ञान पूर्व में उत्पन्न रजत के ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो संस्काररूप में अव्यक्त था वही तत्तांशरहित होकर स्मृतिरूप में व्यक्त हो

जाता है। यह स्मृतिरूपज्ञान में पूर्व उत्पन्न रजत के अनुभव में परस्पर कोई वैलक्षण्य नहीं है। इस मत की भी स्वीकृति, पूर्वज्ञानसदृश इस स्थल में सदृश पद के द्वारा दी गयी है। इन दोनों मतों का आगे युक्तियों के द्वारा भाष्य और भामती की व्याख्या में विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है। सदृशपद के प्रयोग से स्मृतिरूप में रजतज्ञान और प्रत्यक्षात्मक इदं ज्ञान से भिन्न एक तृतीयज्ञान है यह वेदान्तियों ने स्वीकार किया है एवं उस स्मृतिरूप ज्ञान का जो विषय उसके सदृश एक अनिर्वचनीय विषय उक्त प्रत्यक्षात्मकज्ञान के विषय रूप में प्रतीयमान होता है। अतः, वेदान्ती के भ्रमज्ञान का जो विषय हैं वह नैयायिक और प्राभाकर-सम्मत सत्य विषय नहीं वरन् अनिर्वचनीय या मिथ्यावस्तु विशेष है। आचार्य शङ्कर ने इस भ्रम के लक्षण में इन सभी विषयों का सङ्केत दिया है।

स्मृतिरूप पद का अर्थ

इस भ्रमलक्षण में "स्मृतिरूप" पद का स्मृति के समान रूप है जिसका यह अर्थ होता है। स्मृति का रूप=संस्कारजन्यत्व, अर्थात् जो संस्कार से उत्पन्न होता है, उसका भाव। स्मृति जिस प्रकार संस्कार से उत्पन्न होती है वैसे ही भ्रम भी संस्कार से उत्पन्न होता है, किन्तु दोनों का स्वरूप विभिन्न हैं। संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति में मात्र उद्बोधक की आवश्यकता होती है, किन्तु भ्रम की उत्पत्ति में उद्बोधक और आगन्तुक दोष की आवश्यकता होती है। जैसे श्याम और राम को एक साथ टहलते हुए देखने के बाद यदि श्याम को देखा जाय तो राम का स्मरण होता है, इस स्थल में राम की स्मृति का उद्बोधक श्याम का स्मरण होता है। कारण, दोनों को एक साथ देखने से उन दोनों में किसी एक साथी को देखने पर दूसरे साथी का स्मरण ज्ञान होता है। इसी तरह प्रकृत में शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर शुक्ति के चाकचिक्य का ज्ञान उद्बोधक होता है, एवं इन्द्रिय की दुर्बलता तथा दूरत्व आदि दोष रहता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि भ्रमज्ञान को संस्कारान्तर कहने से यह कहा गया है कि हमलोगों को जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे ज्ञान संस्काररूप में विद्यमान रहते हैं। इसमें वास्तवपक्ष से कुछ भी नूतनता नहीं रहती है। अनादिकाल से हमलोगों के हृदय में जो संस्कार रूप में संचित

है काल और अदृष्ट आदि शक्ति रहने से उसी का क्रमिक विकास होता है। इसमें न नूतनता है और न इसका आदि ही है। इसकी उत्पत्ति के विषय में स्वतन्त्र रूप में किसी का यत्न ही नहीं है। वेदान्त के इस रहस्य की अभिव्यक्ति भी "स्मृति रूप" पद से ही होती है। स्मृति का विषय स्मरण कर्ता पुरुष के लिए असन्निहित रहता है। भ्रम का विषयीभूत वस्तु भी भ्रान्त पुरुष के लिए असन्निहित ही रहती है। इसके फलस्वरूप प्रत्यभिज्ञा रूप संस्कार से उत्पन्न ज्ञान से भ्रम का वैलक्षण्य रहता है—यह भी व्यक्त ही है। कारण, प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न होने पर भी उसका विषय असन्निहित नहीं रहता है। यही कारण है कि "स्मृति रूप" पद का व्याख्यान करते हुए भामतीकार ने 'स्मृतेःरूपं स्मृतिरूपम्' इस व्युत्पत्ति को न मान कर "स्मृतेः रूपमिव रूपं यस्य" यह व्युत्पत्ति मानी है। इसके द्वारा स्मृति का सादृश्य विवक्षित होता है। यह सादृश्य ज्ञानत्व रूप से एवं संस्कार जन्यत्व रूप से माना जा सकता है। किन्तु यह मानने पर प्रत्यभिज्ञा एवं जाति रूप समीचीन ज्ञान में भ्रम की आपत्ति नहीं होती है। आशय यह है कि किसी स्थानविशेष का नाम पाटलीपुत्र है और किसी का नाम माहिष्मती है। पाटलीपुत्र में किसी ने देवदत्त को देखा है। इसी देवदत्त को माहिष्मती नगरी में भी तब अवभास या ज्ञान होता है कि 'यह वही देवदत्त है" [स एवायं देवदत्तः] यह ज्ञान समीचीन ज्ञान है, यह ज्ञान भी परत्र पूर्व दृष्ट का ज्ञान होने से भ्रम रूप होगा, अतः समीचीन ज्ञान में भी अध्यास के लक्षण की आपत्ति होगी। इसी प्रकार किसी गाय विशेष की स्वस्तिमती संज्ञा है और किसी गाय का कालाक्षी नाम है। यह गाय [इयं गौः] यह स्वस्तिमती गाय विशेष में दृष्ट गोत्व है उस गोत्व का अन्यत्र कालाक्षी गाय में ज्ञान होता है—यह गाय है, यह अवभासन समीचीन है। यह गाय का ज्ञान भी स्वस्तिमती गाय विशेष में दृष्ट का परत्र [कालाक्षी गाय में] ज्ञान होता है, अतः इस समीचीन ज्ञान स्थल में इस अध्यास लक्षण का समन्वय होने से इस अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि 'अवमतो भासः अवभासः' इस पूर्वप्रदर्शित अवभास की व्युत्पत्ति के अनुसार मिथ्या ज्ञान ही अवभास है। अतः

अवभास पद से पूर्वोक्त दोनों समीचीन ज्ञानों की व्यावृत्ति हो जायगी, अर्थात उक्त स्थल में अतिव्याप्ति का निरास हो जायगा, इस शंका का समाधान करते हुए भामतीकार ने कहा है कि अवभास पद का प्रयोग समीचीन ज्ञान में भी होता है। जैसे–नील का अवभास इत्यादि। अतः, इन स्थलों में अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति की निवृत्ति करने के लिए ही 'स्मृतिरूप' पद का भी सन्निवेश किया गया है।

स्मृतिरूप पद का प्रदर्शित व्याख्यान स्वीकार करने से असन्निहित विषय ही स्मृतिरूप हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा में विषय सन्निहित ही रहता है असन्निहित नहीं रहता है। यथार्थ स्मृति में भी विषय असन्निहित रहता है किन्तु "परत्र" पद रहने के कारण अन्यत्र अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि उक्त अध्यास लक्षण का इस प्रकार समन्वय होने पर भी स्वप्नरूप भ्रम में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी। कारण स्वप्न में पिता आदि का सामने ही अनुभव होने से उसका—स्वप्नज्ञान का विषय असन्निहित नहीं है। पिता आदि का अनुभव सन्निहित रूप में पूर्वदृष्ट है उसी का स्वप्न में स्मृत पिता आदि में आरोप होता है। पिता आदि का तो स्वप्न में सामने अनुभव होता है। पूर्वदृष्ट जो अनुभूयमानता है उसी का स्वप्न में आरोप होता है।

आशय यह हैकि अवभास यह अध्यास का लक्षण है, अतिरिक्त परिचायक विशेषण है। कोई पुरुष स्वर्गीय अपने पिता का स्वप्न में दर्शन करता है। यह दर्शन "स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास" होता है। 'स्मृतिरूप" पद का विश्लेषण करने से यह सुस्पष्ट हो गया है कि इनका अर्थ संस्कारजन्य और असन्निहित विषय होता है। स्वप्न देखनेवाले का जो ज्ञान पिता आदि को विषय करता है, यह ज्ञान पूर्व काल में पितृदर्शनजनित एवं संस्कारजन्य होता है साथ ही उस समय में उसके पिता आदि उस स्थान में असन्निहित हैं इसमें सन्देह नहीं है। केवल निद्रा रूप दोष के कारण उस स्मर्य्यमाण पिता आदि का अतत्कालवृत्तित्व एवं अतद्देशवृत्तित्वरूप दो धर्म हमलोगों को अनुभव गोचर नहीं होता है, वरन् उसमें

उन दोनों धर्मों के विरुद्ध तद्देशवृत्तित्व एवं तत्कालवृत्तित्व रूप दो धर्म भासमान होते हैं। 'परत्र" शब्द से सूचित होता है, आरोप्यमाण वस्तु की अपेक्षा आरोप विषय स्वरूप वस्तु की अधिक सत्ता और उक्त दोनों वस्तुओं का परस्पर भेद। स्वप्न स्थल में यह भी उपलब्ध है। जिस पिता का स्मरण किया जाता है उसकी जो सत्ता है. वह आरोप्यमाण जो तद्देशवृत्तित्व एवं तत्कालवृत्तित्व रूप प्रातिभासिक सत्ता है, उसकी अपेक्षा अधिक है. साथ ही इन दोनों में परस्पर भेद भी है कारण, आरोप्य विषय विशेष्य जो पित्रादि एवं आरोप्यमाण या विशेषण जो तद्देशवृत्तित्व और तत्कालवृत्तित्व, इनका परस्पर भेद भी है। क्योंकि आरोप विषय की सत्ता व्यावहारिक सत्ता होती है एवं आरोप्यमाण की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता होती है। व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता से भिन्न है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसके वाद पूर्वदृष्ट पद में जो कहा गया है वह भी प्रयुक्त होता है। कारण, पूर्वदृष्टका अर्थ पूर्वदृष्ट के समान है—यह भी यहाँ विद्यमान है। क्यों कि पिता आदि में जो देश और कालका सम्बन्ध अनुभूत हुआ था उसके समान देश और कालका सम्बन्ध स्वप्न काल में स्मर्यमाण पिता आदि में आरोपित होता है।

अवभास का अर्थ भी स्वप्न में संघटित होता है। अवभास अर्थात् जो ज्ञान से बाधित हो एवं जिसकी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाय। स्वप्नदृष्ट पिता आदि में यह सर्वथा संप्रयुक्त है। कारण, इस काल में स्मर्यमाण पिता आदि में तद्देश और तत्काल ये दो कल्पित धर्म आरोपित होते हैं, वे जागने पर अतत्काल और अतद्देशवृत्तित्वरूप अधिक सत्ता वाले बाधक ज्ञानों के द्वारा बाधित हो जाते हैं एवं स्वप्न काल के ज्ञान के कार्य जो हर्ष आदि हैं वे भी निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् उस स्वाप्न ज्ञान की कार्यकारिणी शक्ति भी नष्ट हो जाती है।

"पीतः शङ्खः" (पीला शङ्ख) इस स्थल में भी पूर्व प्रदर्शितभ्रमलक्षण संघटित होता है। शंख को पीली रोग से ग्रस्त व्यक्ति पीला देखता है। हमलोगों के नेत्र से जो निकलता है और शंख से सम्बद्ध होता है। यह तेज नयन गोचर जो पीला द्रव्य है उससे संयुक्त होकर ही निकलता है। अर्थात् किसी पीत वर्ण पिण्ड से तेज का संसर्ग गृहीत रहता है। पीत धर्मी

द्रव्य में रहने वाला जो उसका धर्म पीलापन उस धर्म का उस धर्मी के साथ जो सम्बन्ध है वह नेत्र के दोष के कारण ज्ञान का विषय नहीं होता है और शंख का जो शुक्ल रूप धर्म है उसके साथ जो शंख का आधाराधेय-भाव सम्बन्ध है (शंख आधार है और शुक्लत्व गुण उसका आधेय है) यह भी दोषवश से गृहीत नहीं होता है एवं शंख के साथ पीतिमा का जो असं-सर्ग है यह ज्ञात नही रहता हैं। अर्थात् पीतत्व और तपनीय पिण्ड के साथ संसर्ग गृहीत होने पर भी असंसर्ग गृहीत नहीं होता है और पीत्-त्व एवं शंख में वर्तमान जो असंसर्ग है वह भी ज्ञात नहीं होता है यही इन दोनों में असम्बन्ध के अग्रहण का सारूप्य है। अनन्तर उस नयन-रश्मिगत पीत द्रव्य की पीतिमा का सम्बन्ध शंख के ऊपर आरोपित होता है। यह सम्बन्ध ही इस स्थल में आरोप्यमाण या विशेषण है एवं शंख आरोप विषय या विशेष्य है।

इस भ्रमलक्षण में 'स्मृतिरूप" यह विशेषण दिया है, इसकी भी संगति प्रकृतस्थल में होती है। पूर्व में ही कहा है कि 'स्मृतिरूप" पद का अर्थ संस्कारजन्य एवं असन्निहित विषय होता है। प्रकृतस्थल में संस्कार-जन्यत्व इस ज्ञान में हैं। कारण, सुवर्ण पिण्ड अथवा पके हुए विल्वफल में "यह पीला है" इस प्रकार के पूर्व अनुभव से जन्य संस्कार विद्यमान रहता है, और इस संस्कार से यह भ्रम उत्पन्न होता है। इसलिए "पीतः शंखः" यह भ्रम संस्कार जन्य है। इसी तरह यह भ्रम असन्निहित विषय भी है। कारण, सुवर्ण और विल्वफल के साथ पीतिमा का जो सम्बन्ध है वह सम्बन्ध इस स्थल में नहीं है। किन्तु उसके समान एक कल्पित-सम्बन्ध इस स्थल में आरोप्यमाण होता है और वह इस स्थल में वस्तुतः वर्तमान नहीं है। इसलिए असन्निहित और संस्कार जन्य होने से "स्मृति रूप" का अर्थ विद्यमान है।

भ्रमलक्षण में द्वितीय पद "परत्र" है। परत्र भी प्रकृतस्थल में उपयुक्त होता है। कारण, इसका अर्थ है आरोप्यमाण से अधिक सत्ता-युक्त एवं उससे भिन्न जो वस्तु उसमें—प्रकृत में परत्र पदार्थ शंख होता है। क्योंकि शंख आरोप्यमाण पीतिमा के सम्बन्ध से अधिक सत्ताविशिष्ट एवं उससे भिन्न भी है।

भ्रमलक्षण में तृतीय पद "पूर्वदृष्टावभासः" है। यह भी प्रकृत स्थल में सुसंगत होता है। कारण, इस स्थल में शंख में जो पीतिमा का सम्बन्ध है वह सुवर्णादि में पूर्वदृष्ट पीतिमा के सम्बन्ध के समान एक अनिर्वचनीय कुछ वस्तु है, शंख में पीतिमा का सम्बन्ध घट पट के समान व्यावहारिक सत्य नहीं है। कारण इसका वाध हो जाता है और जो सत्य रहता है उसका वाध नहीं होता है।

इस प्रकार अवभास का अर्थ भी प्रकृत में संगत होता है। अवभास का अर्थ है जो वाधित होता है एवं बाधित होने पर जिसकी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती हैं। प्रकृत में शंखमें पीतिमा या प्रत्यक्ष ज्ञान का आँख का दोष नष्ट होने पर "शंखः शुक्लः" इस प्रकार के विरोधी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो जाता है साथ ही 'शंख पीला है" इस ज्ञान से जन्य कार्य भी निवृत्त हो जाता है। अतः अध्यास लक्षण "पीतः शङ्खः" इस स्थल में सर्वथा सुसंगत है।

इस प्रकार "तीता गुड़" इसमें भी यह लक्षण सुसंगत है। इस ज्ञान में तिक्त रस का आधिक्य हम लोगों की जिह्वा में दोष के कारण हो जाता है। अनन्तर मधुर रसयुक्त गुड़ के साथ जब जिह्वा का सम्बन्ध होता है तब दोष के कारण तिक्त रस के साथ तिक्तता का सम्बन्ध एवं गुड़ के साथ उसके माधुर्य का जो सम्बन्ध एवं गुड़ के साथ तिक्तता का असम्बन्ध अज्ञात रहता हैं। इस अज्ञान के कारण जिह्वा सन्निकृष्ट गुडद्रव्य में उस तिक्त रसगत तिक्तता का जो सम्बन्ध वह आरोपित होता है। अतः "तिक्तो गुड़ः" इस स्थल में आरोप्यमाण वस्तु है तिक्तता का सम्बन्ध और आरोपविषय है गुड़।

पूर्व में जो तिक्त द्रव्य का आस्वादन किया है उससे तिक्त द्रव्य के साथ तिक्तता के सम्बन्ध का संस्कार उत्पन्न होता है वही संस्कार इसस्थल में इस भ्रम का जनक होता है एवं आरोप्यमाण यह सम्बन्ध वास्तव संबंध नहीं है, अतः असन्निहित है, सन्निहित नहीं है। इस लिए प्रकृत भ्रम में "स्मृतिरूप" का अर्थ सुसंगत होता है।

इसी प्रकार आरोप्यमाण उक्त सम्बन्ध से विशेष्यगुडभिन्न एवं अधिक सत्ता विशिष्ट है। इसलिए आरोप्यमाण से भिन्न एवं अधिक

सत्ता विशिष्ट में इस अर्थ को कहने वाला "परत्र" शब्द भी सुसंगत होता है।

प्रकृत में भ्रम के समय अनुभूयमान सम्बन्ध भी पूर्वदृष्ट तिक्त वस्तु के साथ तिक्तता के सम्बन्ध के समान एक अनिर्वचनीय है। अतः पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश इस अर्थ में पूर्वदृष्ट भी सुसंगत है।

"तिक्तो गुड़ः" यह ज्ञान गुड तीता नहीं है गुड़ मधुर ही है इस ज्ञान के द्वारा बाधित होता है जब मानसिक खेद आदि नष्ट होता है। अतः बाधित एवं बाधित होने पर कार्यकारिणी शक्ति जिसकी नष्ट हो जाती है ' इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला अवभास पद भीं प्रकृत भ्रम में सुसंगत होता है।

इन तीन भ्रमों का निरूपण कर जल में या ऐनक में मुख का प्रतिबिम्ब होता है——इस भ्रम में लक्षण का संगमन किया है। जल में या ऐनक में गर्दन पर स्थित जिस मुख का आरोप होता है वह अपनी आँख से पूर्व में दृष्ट नहीं है, अतः उक्त लक्षण की संगति वहां नहीं हो सकती है। इसकी संगति प्रदर्शित करते हुए भामतीकारने कहा है कि सामने स्थित ऐनक एवं स्वच्छ जल में जब हम लोगों का मुख प्रतिबिम्बित होता है तब हम लोगों की नयनरश्मि स्वच्छ आदर्श या स्वच्छ जल में संलग्न हो कर प्रवल सूर्य आदि के तेज के द्वारा प्रतिहत हो कर प्रतिकूल दिशा अर्थात् मुख की ओर आती है। उस समय जिस स्थान में वास्तविक मुख रहता है, उसी स्थान के साथ मुख का सम्बन्ध है, यह दोष के कारण नहीं समझ पाते हैं साथ ही जिस स्थान में ऐनक या जल है उसके साथ मुख के असम्बन्ध को भी हमलोग दोष के कारण ही नहीं समझ पाते हैं जिस ओर मुखघुमा कर खड़े रहते हैं, उस दिशा की ओर मुख का सम्बन्ध या अभिमुखता को भी भूल जाते हैं, इसके वाद दर्पण में मुख का आरोप करते हैं अर्थात् हमलोग अपने ही मुख में दर्पणदेशत्व और विपरीत अभिमुखत्व का आरोप करते हैं। अतः इस स्थल में आरोप्यमाणवस्तु दर्पण देशत्व एवं विपरीताभिमुखत्व है एवं आरोपविषय या विशेष्य मुख है। मुख छोड़ कर अन्य वस्तु प्रतिबिम्ब रूप में आगत नहीं होती है।

सभी लोगों को ऐनक देख कर दर्पणस्थित-वस्तु में दर्पणदेशत्व या दर्पण और दर्पणदेशस्थ के साथ सम्बन्ध का अनुभव होता है। उसी अनुभवजन्य संस्कार से यह भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है एवं मुख में दर्पण के स्थान का जो सम्बन्ध वह वास्तव न होने से असन्निहित भी है। अतः संस्कार जन्य और स्मृतिविषयक यह भ्रम होने से इसमें "स्मृतिरूप" अर्थ संगत होता है। इसी प्रकार विपरीतमुखत्व रूप आरोप्यमाण का ज्ञान होता है। एवं सन्निहित होने से वह आरोप्यमाण नहीं होता है किन्तु उस का सम्बन्ध ही आरोप्यमाण होता है। प्रथम प्रकार के भ्रम को प्रकार एवं सम्बन्ध इन दोनों को अध्यासरूपभ्रम कहा जाता है एवं द्वितीय प्रकार के भ्रम को केवल संसर्गाध्यासरूप भ्रम कहा जाता है।

प्रकाशमानत्व ही वस्तु की सत्ता नहीं है। कारण, जो प्रकाशमान होता है वह असत् भी हो सकता है। देह इन्द्रिय आदि भी प्रकाशमान होते हैं, अतः उनकी भी सत्ता माननी ही पड़ेगी यह कोई आवश्यक नहीं है। रस्सी सर्परूप में प्रकाशित होती है, स्फटिक रक्त रूप में प्रकाशित होता है, किन्तु इनको कौन स्वीकार करता है? ऐसी स्थिति में रस्सी सर्प नहीं हो जाती है या सर्प के धर्म रस्सी में नहीं आजाते हैं। इसी प्रकार स्फटिक लाल नहीं हो जाती है या लाल पदार्थ का धर्म ही स्फटिक में नहीं आ जाता है। इसलिए मात्र भासमान होने से वस्तु सत् नहीं हो जाती है। भासमान होने से यदि कहीं किसी की सत्ता स्वीकृत हो जाय तब सभी स्थलों में जो वस्तु जिस रूप में भासित होती हैं, उन वस्तुओं की उस रूप में परमार्थ-सत्ता माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में मरुभूमि में सूर्य किरण समूह उन्नत उठती हुई तरङ्गों से युक्त मन्दाकिनी के रूप में अवगत होता है, उस मन्दाकिनी के जल के पान से लोगों के प्यास की निवृत्ति भी होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि आरोपित पदार्थ प्रकाशमान होने पर भी वस्तु सत् अर्थात् वास्तविक सत्ता से युक्त नहीं हो सकती है।

इसमें पूर्व पक्षियों का कथन है कि मरुभूमि में जिस जल का प्रकाश होता है वह सत्य है, किन्तु मरीचि रूप में जल कभी भी सत्वस्तु नहीं हो

सकता है, पर वही जल अपने रूप में वस्तु सत् ही है। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त में देह, इन्द्रिय आदि की स्वरूपतः भी जब कोई सत्ता नहीं है तब अनुभव का विषय होकर किस प्रकार आरोपित हो सकता है ?

यह भी संस्कारजन्य एवं असन्निहित विषयक है यह स्वीकार करना होगा।

इसी प्रकार "परत्र" पदार्थ भी विद्यमान है। मुखगत दर्पण गतत्व रूप आरोप्यमाण से विशेषणरूप वास्तवमुख भिन्न एवं अधिकसत्ताविशिष्ट है। यह पूर्व में ही कहा गया है कि आरोप्यमाण से भ्रमके विशेष्यका सत्ताधिक्य एवं भेद ही "परत्र" पदका अर्थ है।

पूर्वानुभूत वस्तु सदृशरूप पूर्व दृष्ट भी प्रकृत में संगत है। दर्पण-स्थित वस्तु में जो दर्पण देश सम्बन्ध है वह जो इस स्थल में पूर्वानुभूत है। मुखगतरूप से प्रतीयमान जो दर्पणदेशसम्बन्ध वह उसके सदृश है अर्थात् वह इस स्थल में आरोप्यमाण होने से अनिवर्चनीय अर्थात् मिथ्या है।

अवभासत्व भी प्रकृत भ्रम में सुसङ्गत होता है। भ्रम का कारण जो दर्पण उसको हटाने पर मुख दर्पण स्थान से सम्बन्ध और विपरीताभि-मुख नहीं है इस प्रकार का यथार्थज्ञान होने पर दर्पणदेशस्थितमुख है इस भ्रम ज्ञान की निवृत्ति होती है।

इसी प्रकार चन्द्र में द्वित्वभ्रम अलातचक्र भ्रम एवं वंशदण्ड में सर्प भ्रम आदि में प्रदर्शित भाष्यलक्षण सुसङ्गत होता है। आचार्य वाचस्पति ने दृष्टान्त प्रदर्शन कर दो प्रकार के भ्रमों का परिचय दिया है। कतिपय भ्रमों में आरोप्यमाण एवं उनके सम्बन्ध ये दोनों ही अनिर्वचनीय अर्थात् कतिपय भ्रमों में आरोप्यमाण का सम्बन्ध ही अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या होता है। प्रथम भ्रम का दृष्टान्त रस्सी में सर्प का भ्रम या शुक्ति में रजत का भ्रम आदि है। दूसरे प्रकार के भ्रम का दृष्टान्त 'पीतशङ्ख, तिक्तगुड़, आदर्श मुख आदि हैं। रस्सी में जब सर्प का भ्रम होता है यहाँ पर सर्प नहीं रहता है, अतः सर्प और उसका सम्बन्ध ये दोनों ही आरोप्य-माण होते हैं एवं पीतः शंखः इत्यादि भ्रम में पीतत्व आदि इन्द्रिय-सन्निकृष्ट एव सन्निहित होने से वहां आरोप्यमाण नहीं होता है किन्तु उसका

सम्बन्ध ही आरोप्यमाण होता है। प्रथम प्रकार के भ्रम को प्रकार एवं सम्बन्ध इन दोनों का अध्यासरूप भ्रम कहा जाता है एवं द्वितीय प्रकार के भ्रम को केवल संसर्गाध्यासरूप भ्रम कहा जाता है।

यह शङ्का समीचीन नहीं है, कारण असत् वस्तु अनुभव का गोचर नहीं होती है यह मानने पर जल रूप में मरीचि सत् नहीं है तब वह अनुभव का विषय कैसे होती है? जल की स्वरूप सत्ता मरीचि की सत्ता नहीं हो सकती है, किन्तु मरीचि जल रूप में प्रकाशमान होती है, अतः प्रकाशमान होने से ही कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती है।

प्रभाकर मतवालों का कथन है कि इस संसार में अभाव के रूप में कोई पदार्थ ही नहीं है, सभी वस्तु भाव स्वरूप हैं। किसी भाव पदार्थ को अन्य किसी भाव वस्तु के रूप में अवगत करते हैं, तभी वह पदार्थ अभाव-वाच्य होता है। अभाव रूप में वाच्य होने पर भी अभाव वस्तु स्वरूपतः भाव वस्तु ही है। जो जिसका स्वरूप है उसको उससे कभी भी हटाया नहीं जा सकता है। अतः अभाव या असत् कोई भी पदार्थ नहीं है। प्रभाकर के मतवाले सत्ख्यातिवादी हैं।

इस मत का प्रकाशन श्लोकवार्तिक में आचार्य कुमारिल ने निम्न-लिखित रूप में किया है। भाव वस्तु विशेष ही किसी भाव वस्तु विशेष की अपेक्षा कर अभाव रूप में व्यवहृत होते हैं। हमलोग सभी वस्तुओं को दो रूप में देखते हैं। कभी उसको भाव रूप में देखते हैं और कभी उसको अभाव रूप में देखते हैं। जब उस वस्तु के अपने स्वरूप को देखते हैं तब उसको भाव के रूप में निर्दिष्ट करते हैं और जब उसको किसी अन्य वस्तु के स्वरूप में देखते हैं तब उसको अभाव के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। जब यह कहते हैं कि "पृथिवी घटाभाववती है" तब शुद्ध भूतल के स्वरूप की अवगति हमलोगों को नहीं होती है वरन् घट आदि पदार्थों का भाव मन में उदित होता है उस समय उसके साथ घट आदि को मिलाकर उस रूप में भूतल को समझना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में भूतल को घटाभाव वान् के रूप में निर्देश करते हैं।

इस समय वास्तविक घटाभाव कहकर भूतल का कोई एक धर्म या पदार्थान्तर हमलोगों को अनुभव का गोचर होता है ऐसी बात नहीं है वरन् विरोधी घटरूप में भूतल की भावना ही घटाभाव की भावना है। घट के रूप में भूतल की भावना ही भूतल में घटाभाव की भावना है। घटरूप में भूतल का ज्ञान ही उस समय भूतल में घटाभाव का ज्ञान है। ऐसे स्थल में आरोपित घटवस्तु सत् है एवं जिस भूतल में इस वस्तु का आरोप होता है वह भी सत् है। भूतल अपने रूप में सत् रूप में व्यवहृत होता है और वह घटरूप में घटाभाव रूप में अर्थात् अभाव रूप में विवेचित होता है। अभाव इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस मत में सभी ज्ञानों में किसी भी स्थल में असत् वस्तु का प्रकाश नहीं होता है। दो भाव पदार्थों को ही लेकर मात्र विशेष्य-विशेषणभाव होता है। एक भाव पदार्थ किसी अन्य भाव के द्वारा जब अवगत किया जाता है तब उसको असत् कहकर निर्देश किया जाता है, वस्तुतः असत् वस्तु नहीं है। कारण, ज्ञान में दो भाव पदार्थ ही प्रकाशित होते हैं। कोई अपने रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं तो कोई अन्य के रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं। स्व और पर वस्तु ये दोनों ही सत् हैं। इसी रूप में प्रभाकर-मतावलम्बी अपने मत की दृढ़ता के लिए ही बौद्ध-मत का खण्डन करते हैं।

मीमांसकों के द्वारा बौद्धमत का खण्डन

बौद्धों के मत में सत्ता नहीं मानी गयी है। कारण, अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु की सत्ता है, इस मतमें किसी भी बाह्य पदार्थ में अर्थ-क्रियाकारिता नहीं है। अपने पूर्ववर्तिज्ञान के द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है एवं वही पूर्वज्ञान के प्रभाव से अपने असाधारण स्वभाव का ही लाभ कर वे असत् का ही प्रकाश करते हैं और यह असत् के प्रकाशन करने की शक्ति के ज्ञान में विद्यमान रहता है, यही अविद्या है।

इस विषय में प्रभाकर का कहना है कि यह बौद्धमत संगत नहीं है। कारण, ज्ञान में असत्प्रकाशनशक्ति रूप जो अविद्या स्वीकार की गई है, उस शक्य वस्तु का क्या स्वभाव है? अर्थात् इस शक्ति के

द्वारा कौन कार्य साधित होता है—यह जानना आवश्यक है। क्या इस शक्ति के द्वारा जो कार्य होता है वह असत् है? ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि असत् शब्द का क्या अर्थ है? यह कार्य या ज्ञान से प्रकाश्य है? असत् को कार्य मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो असत् है वह कार्य कैसे हो सकता है। असत् को ज्ञानप्रकाश्य भी नहीं माना जा सकता है। कारण बौद्ध मत में जब ज्ञानव्यतिरिक्त कोई विषय ही नहीं है तब ज्ञाप्य कहने पर एक ज्ञान को ही इस ज्ञान का विषय मानना पड़ेगा। किन्तु प्रकृतस्थल में ज्ञान का विषय एक और ज्ञान अनुभूत नहीं होता है। घट पट आदि के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह दो ज्ञान नहीं होता है वरन एक ही ज्ञान होता है यही सर्वसम्मत है। यदि ज्ञान के विषय के रूप में एक और ज्ञान को स्वीकार किया जाय तब वह विषयीभूत जो ज्ञान है वह निर्विषयक नहीं हो सकता है, अतः उसका भी एक विषयीभूत ज्ञान है यह मानना पड़ेगा। साथ ही वह विषयीभूत ज्ञान भी ज्ञान के स्वभाव से निर्विषयक नहीं हो सकता है और इस प्रकार ज्ञान के विषय को ज्ञान कहने पर अनवस्थादोष होगा, अतः ज्ञान का विषय ज्ञानान्तर होता है यह स्वीकार करना उचित नहीं है।

सत्ख्यातिवादियों के अनुसार अभाव की सत्ता न मानने से प्रकृत में यह कहना था कि मरुमरीचि में जल भाव रूप से कहने योग्य होने से जल अनुभव गोचर हो सकता है किन्तु प्रपञ्च तो सर्वथा असत् एवं अर्थक्रियाकारित्व आदि सामर्थ्यशून्य निस्तत्त्व है, अतः वह कैसे अनुभव का विषय हो सकता है और कैसे आत्मा में देह का एवं उसके धर्म का आरोप हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि असत् विषय देहादि में सभी सामर्थ्यों का अभाव होने से स्वयं ज्ञान विषय भाव में सामर्थ्य होने पर भी ज्ञान ही अपने ज्ञान सामर्थ्य से असद्विषयप्रकाशन स्वरूप होगा—इस शून्यमत का सत्ख्यातिवादियों ने आशङ्का कर निराकरण किया है। इस मत का विश्लेषण पूर्व में किया है पुनः इसमें अन्य शङ्काओं का उद्भावन कर निराकरण की प्रक्रिया का प्रदर्शन कर रहा हूँ। उनलोगों का यह कथन है कि विज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह असत् का प्रकाश करता है। इस विषय में यह जिज्ञास्य है कि सत्स्वरूप ज्ञान का असत्स्वरूप विषय के साथ क्या

सम्बन्ध है ? क्या असत् के अधीन निरूपण होना सत्स्वरूप ज्ञान का असत् विषय के साथ सम्बन्ध है या दोनों में अविनाभावरूप सम्बन्ध है ? इनमें प्रथम सम्बन्ध मानने पर उपहासपूर्वक आपत्ति प्रदर्शन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि यह ज्ञान अतिशय तपस्वी है जो असत् का भी निरूपण करता है। किसी वस्तु के रहने पर कोई उसका उपकार करता है किन्तु ज्ञान का निरूपण असत् में भी होता है। जिसका उपकार करना है उसके न रहने पर उसके प्रति उपकार कोई नहीं करता है, अतः ज्ञान को अतिशय तपस्वी ही कहना पड़ेगा अर्थात् असत् के साथ सत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। आशय यह है कि ज्ञान अतिशय शोचनीय है क्योंकि इसका स्वरूपनिरूपण करने में असत् का साहाय्य ग्रहण किया जाता है। असत् में यह साहाय्य करने की कौन शक्ति है ? यदि कोई शक्ति उसमें रहती तो वह असत ही नहीं रहता ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही उसमें इस शक्तिका आरोप कर देता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण असत् शक्ति का आधार कैसे हो सकता है ? द्वितीयपक्ष अर्थात् असत् न रहने पर ज्ञान का आत्मस्वरूप ही प्रकाशित नहीं होगा यही ज्ञान का स्वतः सिद्ध स्वभाव है—यह कथन भी ठीक नहीं है। वास्तविक असत् वस्तु के द्वारा ज्ञान का जिस किसी प्रकार साहाय्य किया जाता है—यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में ज्ञानका विचित्र असत्के साथ पक्षपात स्वभाव मानना होगा ? यह असत् से उत्पन्न नहीं होता है। अथवा इसका असत् स्वभाव भी नहीं है। फिर भी असत् के विना प्रकाशित नहीं हो सकता है—यह कथन सर्वथा असङ्गत है। अतः यह बौद्धमत युक्ति-सङ्गत नहीं हो सकता है। यही बौद्धों के असत्ख्याति का प्रभाकर के द्वारा निराकरण है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि शरीर, इन्द्रिय आदि नितान्त असत् हैं, उनमें किसी प्रकार का तत्त्व नहीं है यह मानने पर वे किसी प्रकार अनुभव के विषय नहीं हो सकते हैं--इन्हीं कारणों से मीमांसकों ने स्वीकार किया है कि अभाव रूप में कोई पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ भाव स्वरूप हैं। अतः वेदान्त-मत में भ्रम का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण, भ्रम-स्थल में वेदान्त मत में आरोप्यमाण असत् है। इसमें यह अनुमान भी प्रदर्शित किया जा सकता है—देहादि (पक्ष) सत् है (साध्य भासमान होने से हेतु) आत्मा के समान (उदाहरण)।

इसके समाधान में भामतीकार ने कहा है कि यदि असद् वस्तु अनुभवगोचर न हो तो क्या माना जायगा कि जल रूप में जो सूर्यरश्मि प्रकाशित होती है वह सत् है ? क्योंकि उसी रूप में वह अनुभव गोचर होता है। आशय यह है कि सत् ही अनुभव गोचर होता है निस्तत्त्व अनुभव-

गोचर नहीं होता है, अन्यथा जल रूप में भासमान मरीचि जल रूप से सत् होगी। क्योंकि मरीचि जल रूप से अनुभव गोचर होती है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि मरीचि जल रूप से सद्रूप नहीं हो सकती है। कारण जल रूप से सूर्यमरीचि का असत्त्व हमलोगों के मत में भी अभीष्ट है। इसमें सिद्धान्ती की यह शङ्का है कि मरीचि जल रूप से प्रकाशित होती है? या नहीं? जलरूपसे प्रकाशित नहीं होती है यह अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें अनुभव-विरोध होता है। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो जलरूपसे मरीचि का आप असत्त्व स्वीकार करते हैं और असत् जो जलरूप से मरीचि है उसका प्रकाश स्वीकार करने पर असत्ख्याति की आपत्ति होगी? इसके उत्तर में मीमांसकों ने कहा है कि वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है। एक सत्त्व और दूसरा असत्त्व। इनमें सत्त्वरूप स्वतः होता है। वस्तु अपने स्वरूप से ही सत्त्व है और असत्त्वस्वरूप अन्य वस्तु की अपेक्षा कर होता है अर्थात अन्यवस्तु के स्वरूपसे वस्तु असत्त्व होता है। जैसे मरुमरीचिका स्थल में सूर्यरश्मि सत् है और उसमें जलरूपता असत्त्व है। यहाँ जल के अनुभव से उत्पन्न जो जल संस्काररूप अन्य पदार्थ है उसकी अपेक्षा करके ही यह होता है। इस विषय में आचार्यों का भी कथन है वस्तु सदा ही अपने स्वरूप एवं दूसरे के स्वरूपसे सत् एवं असत् कही जाती हैं। ऐसी स्थिति में कोई रूप कभी कोई जानता है और कभी नहीं जानता है। फलतः भाव पदार्थ ही अन्य भाव पदार्थ के स्वरुपसे अभाव होता है और स्वरूप से भाव रहता। अतः ये दोनों भावस्वरूप हैं। अतः भान होने पर भी पूर्वोक्त असत्ख्याति की आपत्ति नहीं है। कारण की विचित्रता से ही कोई कभी वस्तु को सत् और असत् रुप में अनुभव करने में समर्थ होता है।

प्रभाकर ने जो यह कहा है कि मरुमरीचि में जो जल का ज्ञान होता है, यह यथार्थ ज्ञान है, इसका बाध नहीं होता है। किन्तु कैसे हो सकता है? इस ज्ञान का बाध तो सभी सिद्धान्तों में माना गया है। जो जल नहीं है उसको जल नहीं है इस रूप में ज्ञान करने पर ही उसका बाध नहीं होगा। किन्तु जो जल नहीं है उसको जल के रूप में ग्रहण किया जाय तब यह कैसे कह सकते हैं कि यह ज्ञान भ्रान्त नहीं है? अथवा यह बाधित होने योग्य नहीं है? उनके मत में मरीचि की जलाभावरूपता स्वतः सिद्ध है। अतः उसकी जलरूपता कभी भी सत् नहीं हो सकती है एवं उसको असत् भी नहीं कहा जा सकता है। कारण, आप के मत में अन्य वस्तु ही अन्य वस्तु की असत्ता है। क्योंकि आपने पूर्व में ही कहा है कि भावान्तर

ही अभाव है इससे अतिरिक्त अभाव कुछ भी नहीं है, अतः वह असत् नहीं हो सकता है। मरीचि के ऊपर आरोपित जो जलरूप है, वह कोई व्यावहारिक वस्त्वन्तर नहीं हो सकता है। कारण, क्या वह मरीचि होगा? या गङ्गा में जल होगा? यदि इसको मरीचि माना जाय तब उसको देखकर "यह मरीचि है" यह प्रतीति ही उचित है "यह जल है" यह ज्ञान होना उचित नहीं है। यदि उसको गंगा का जल है मरीचि नहीं है यह कहा जाय तब उसको देख कर गङ्गा का जल है यह ज्ञान होना ही उचित है। इस स्थल में मरुभूमि में जल---यह ज्ञान कैसे होगा? यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः जिस स्थान में गङ्गा में जल पहले देखा गया है, मानसिक दुर्बलता आदि दोषों के कारण वह देश विशेष स्मृतिगोचर नहीं होता है, केवल जल ही ज्ञानगोचर होता है, यह भी कथन समीचीन नहीं है। कारण, ऐसा होने पर शुद्ध जल यह प्रतीति होगी "यहाँ जल" यह ज्ञान कैसे होगा? अतः, मीमांसकों के द्वारा मरुमरीचिका में जल–भ्रान्ति स्थल में भी जो सत्य प्रतीति स्वीकार की गई है—यह किसी तरह भी युक्ति-संगत नहीं हो सकती है।

अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि इस प्रकार के भ्रमस्थल में जो आरोप्यमाण होता है वह सत् अर्थात पारमार्थिक या व्यावहारिक नहीं हो सकता है एवं वह गगनपुष्प के समान अलीक तुच्छ भी नहीं हो सकता है, वरन् वह अनिर्वचनीय है! यदि वह परामार्थिक या व्यावहारिक सत्य होता तो व्यवहार काल में उसका बाध कभी भी नहीं होता। यदि बन्ध्यापुत्र या गगन पुष्प के समान तुच्छ होता तो वह कभी भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता अतः वह असत् नहीं हो सकता है। जो सत् या असत् नहीं हो सकता है वह सत् और असत् का मिलित रूप कैसे हो सकता है? अतः इसकी अनिवर्चनीयता ही माननी पड़ेगी। अनिर्वचनीय सत्ता ही अद्वैतवेदान्त प्रातिभासिक सत्ता मानी गई है।

प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर यही सिद्ध हुआ कि मरुमरीचिका आदि में अध्यस्त जलादि सत्य जलादि के समान प्रतीत होता है. किन्तु वह वास्तविक जल नहीं है। इसलिए वह पूर्वदृष्ट नहीं है वरन् पूर्वदृष्ट जल के समान प्रतीत होता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह जल भी नहीं है एवं पूर्वदृष्ट अन्य वस्तु भी नहीं हैं। इस प्रकार की वस्तु को अनृत या अनिर्वचनीय कहा जाता है। इसी रूप में देह इन्द्रिय आदि प्रपञ्च अनिर्वाच्य सिद्ध होता है। यह वस्तुतः पूर्वदृष्ट न होने पर भी पूर्वदृष्ट के समान प्रतीत

होता है। पूर्व-पूर्व मिथ्याज्ञान से उत्पन्न जो संस्कार यह उसीका परिणाम है. इस प्रपञ्च से अत्यन्त विलक्षण परमार्थ सत् जो चैतन्य रूप ब्रह्म उसी में यह आरोपित होता है। अतः प्रदर्शित यह अध्यास का लक्षण यहां सुसङ्गत होता है।

इस अध्यास लक्षण का अवभास अंश ही प्रकृत लक्षण है और पद परिचायक विशेषण हैं। इस परिचायक विशेषण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तरमें यही कहना उचित होगा कि अन्य दार्शनिकों के अनुसार भ्रम के जो चार स्वरूप वर्णित होगें उससे इसका पार्थक्य समझना इस विशेषण के विना असम्भव हो जायेगा। अतः ये विशेषण किये गये है। जैसे—सौत्रान्तिक, वैभाषिक और विज्ञानवादी की आत्मख्याति, शून्यवादी बौद्धों की असत्ख्याति, प्राभाकर मीमांसकों की अख्याति एवं नैयायिकों की अन्यथा ख्याति है। अद्वैतवेदान्त मत में स्वीकृत अनिर्वचनीय ख्याति का प्रदर्शन करने के लिए उक्त विशेषण किये गये हैं। अन्यथा जो बाधित होता हैं वही भ्रम है यही अवभास पद का अर्थ होगा। इस प्रकृतलक्षण से अध्यस्त विषय एवं अध्यास इन दोनों का स्वरूप वर्णन कर दिया है।

यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा भी अनिर्वचनीय क्यों नहीं होता है ? आत्मा चैतन्य रूप परमार्थ सत् है। यह श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराणादिशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि के अनुकूल जो युक्तियाँ हैं, उनके द्वारा आत्मा का स्वभाव नित्य शुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त प्रतिपादित किया गया है। अतः चैतन्य आत्मा अनिर्वचनीय नहीं हो सकती है। अबाधित स्वयं प्रकाशरूपता ही आत्मा की सत्ता है। यह सत्ता आत्मस्वरूप है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह सत्ता नैयायिकों की सत्ता-सामान्य-समवाय या बौद्ध-सम्मत अर्थक्रियाकारित्वरूप आत्मा का धर्म-विशेष नहीं है।

प्रकृत में यह ध्यान देने योग्य बाते हैं कि रत्नप्रभाकार ने इस स्थल में भ्रमलक्षण के व्याख्याप्रसङ्ग में प्रपञ्च मिथ्यात्व के प्रति अधिक लक्ष्य किया है। भामतीकार ने भ्रम और भ्रम के विषय प्रपञ्च इन दोनों पर ध्यान दिया है।

रत्नप्रभाकार के मत में 'परत्र अवभासः' और भामतीकर के मत में 'अवभासः' इतना ही लक्षण माना गया है। भामतीकार ने अवभास शब्द का जो व्याख्यान किया है उसके द्वारा इतना ही भ्रमका सर्वमत-साधारण पूर्ण-लक्षण होने पर भी रत्नप्रभाकार के द्वारा "परत्र" शब्द का ग्रहण करने से भाष्य के उपसंहार में "सर्वथापि अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति" अर्थात् सभी मतों में अन्य का अन्य धर्म के रूप में प्रकाश होना ही भ्रमका साधारण स्वरूप है, उसका अन्यथा नहीं होता है, इस वाक्य के साथ अतिशय सामञ्जस्य होता है। भाष्यकार की इस उक्ति से अवगत होता है कि भ्रम के साधारण लक्षण में 'परत्र" पद उनको अभिप्रेत है अन्यथा "सर्वत्र अवभासतां न व्यभिचरति" इसी वाक्य का प्रयोग करते। किन्तु भामतीकार का अर्थ गम्भीर एवं प्रकृतोपयोगी है।

भाष्योक्त अध्यासलक्षण की व्याख्या के प्रसङ्ग में रत्नप्रभाकार ने स्वयं एक अध्यास का लक्षण किया है—"एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यस्तत्वम्" "एक ही अंश में अपने साथ संसृष्ट होकर प्रतीत, और अपने अत्यन्ताभाव से युक्त जो वस्तु, उसमें जो अवभासित होती है—वही अध्यस्त अर्थात् अध्यास है"। इस अध्यासलक्षण के द्वारा अध्यस्त विषय का ही स्वरूपनिरूपण प्रधान रूप से किया गया है इसीलिए अध्यास पद का अर्थ अध्यस्त कहा है। अध्यास की निष्पत्ति—अधि + अस् + कर्मवाच्य घञ् प्रत्यय के द्वारा की है।

शुक्ति में रजत के अध्यास स्थल में इस लक्षण का संगमन निम्नलिखित रूप में होता है—एक ही अंश में संसृष्ट होकर प्रतीत इसके द्वारा शुक्तिगत इदन्ता अंश में संसृष्ट रजत अवगत होता है, अपने अत्यन्ताभावयुक्त वस्तु के द्वारा इदन्ताविशिष्ट शुक्ति अवगत होता है। इसमें जो अवभासित होता है इससे रजत पदार्थ अवगत होता है—यही अध्यास अर्थात् अध्यस्त वस्तु है। इसका अर्थ होता है रजत से अत्यन्त भिन्न अर्थात् रजत के अत्यन्ताभाव से युक्त जो शुक्ति उस शुक्ति में रजत का संसर्ग रहता है एवं उसी शुक्ति में रजत आरोपित होता है। उपनिषद् में भी "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि जो वाक्य है उसके द्वारा

अध्यस्त का यह लक्षण ही समर्थित होता है। कारण इदं शब्द का अर्थ अखिल प्रपञ्च के सत् आधार रूप में प्रतीयमान जो ब्रह्म, उसमें "किञ्चन नाना" अर्थात् विभिन्न रूप में विद्यमान कोई भी वस्तु नहीं है। ब्रह्म प्रपञ्च संसृष्टरूप में प्रतीय-मान होने पर भी वस्तुतः उसमें तीनों कालमें कोई प्रपञ्च नहीं है, ब्रह्म इन सभी प्रपञ्चों के अत्यन्ताभाव से युक्त है, सभी प्रपञ्च ब्रह्म में ही आरोपित या संसृष्ट होकर प्रतीत होते हैं। अतः रत्नप्रभाकार का लक्षण भी सुसङ्गत होता है।

शाङ्करभाष्यम्

तं केचित् अन्यत्र अन्य धर्माध्यास इति वदन्ति केचित् तु यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रहनिबन्धनः भ्रमः इति, अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते इति।

पुष्पलता

उसको कोई अन्यधर्मी में अन्यके धर्मका आरोप भ्रम है यह कहते हैं, किन्तु कोई जिस स्थानमें जिसका अध्यास होता है उसके भेद का आग्रह निबन्धन भ्रम है—यह कहते हैं, किन्तु अन्य व्यक्ति जिस स्थान में जिसका अध्यास होता है उसकी ही विपरीत धर्मत्वकी कल्पना होती है—यह कहते हैं।

कुसुमलता

इस स्थलमें भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के अभीष्ट अध्यास लक्षणों के निरूपण के प्रसङ्ग में तीन दार्शनिकों के लक्षण का प्रदर्शन भाष्य में किया है। इनमें प्रथम लक्षण आत्मख्यातिवादी वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञान-वादी एवं असत्ख्याति शून्यवादी बौद्धके मत के अनुसार किया गया है। द्वितीय लक्षण के द्वारा अख्यातिवादी प्रभाकर के मत का और तृतीय लक्षण के द्वारा अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक मत का संग्रह किया गया है। स्वमत से अध्यास के लक्षण का निरुपण कर उसकी परिशुद्धि के लिए अन्य वादियों का लक्षण दिया है। वार्तिककार प्रदीपकार ने प्रथम लक्षण को अन्यथाख्यातिवादी का माना है, पञ्चपादिकाकार एवं भाष्यभावप्रका-शिकाकारने प्रथम लक्षण को अन्यथाख्याति और आत्मख्यातिवादी का माना है। अन्यत्र = शुक्तिका आदि में, अन्यधर्मस्य = रजत आदिका अध्यासः

=भ्रमात्मक ज्ञान। "अन्यधर्मस्य" में दो समास माना है। १ अन्यश्चासौ धर्मः, या अन्यस्य=ज्ञानादिका धर्म अन्यधर्म अर्थात् आत्मरूप (ज्ञानाकार) रजतादि का=ज्ञानके धर्म रजतादि का अध्यास बाहर के समान उसके अभेद रूपसे ज्ञान। रत्नप्रभा, भामती और न्यायनिर्णय आदि में असद् रूप रजत का अध्यास मानकर प्रथम लक्षणको आत्मख्याति और असत्ख्याति का भी परामर्शक माना है। यही कारण है कि आत्मख्याति और असत्ख्याति के भी अन्यथाख्याति का ही भावान्तर भेद माना है। द्वितीय लक्षण में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है, सभी आचार्यों ने इसको अख्यातिवादी का माना है। यत्र=शुक्ति आदि में यदध्यासः जो रजतका अध्यास=भ्रम यह व्यवहार होता है, वह शुक्ति और रजत में (अनुभव और स्मरण के विषयमें) भेद का अग्रहण निमित्तक भ्रम यह व्यवहार होता है, वस्तुतः भ्रमज्ञान नाम का कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् शुक्ति और रजतमें और शुक्तिज्ञान और रजत ज्ञान में दोष के कारण भेद का ग्रहण न होने से "यह रजत है" इत्यादि संसर्ग व्यवहार होता है, संसर्ग व्यवहार के लिए विवेकाग्रहण मानना आवश्यक है। तृतीय लक्षण का भामती के अनुसार विवरण · यत्र=इदम् में (शुक्ति में) यदध्यासः=रजत का अध्यास होता है, तस्यैव=इदम् में (शुक्ति में) ही विपरीतधर्मत्वकल्पना=अपने में न रहने वाले रजत धर्म का भान है। पञ्चपादिका आदि के अनुसार शुक्तिका आदिमें रजत आदि का अध्यास है उसी शुक्तिखण्ड का विपरीत धर्मत्व की भाषान्तरत्व या शून्यत्व रूप से सत्ताहीन की ही भासमानता है—यह भावान्तराभाववादी और शून्यवादियों का कथन है। इस प्रकार अध्यासलक्षण का निरूपण कर भाष्यकार ने अनिर्वचनीयभ्रम का समर्थन किया है।

सः च अयम् एवंलक्षणकः अध्यासः अनिर्वचनीयः सर्वेषाम् एवं संमतः परीक्षकाणाम्, तद्भेदे परं विप्रतिपत्तिः इति अनिर्वचनीयतां द्रढयितुम् आह— "तं केचिदन्यत्र अन्यधर्माध्यासः इति वदन्ति"। अन्यधर्मस्य=ज्ञानधर्मस्य रजतस्य, ज्ञानाकारस्य इति यावत्। अध्यासः अन्यत्र=बाह्ये। सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यम् अस्ति वस्तु सत्, तत्र ज्ञानाकारस्य आरोपः। विज्ञानवा-

दिनाम् अपि यद्यपि न बाह्यं वस्तु सत् तथापि अनाद्यविद्यावासनारोपितम् अलीकं बाह्यम्, तत्र ज्ञानाकारस्य आरोपः। उपपत्तिश्च यद् यादृशम् अनुभवसिद्धं रूपं तत् तादृशम् एव अभ्युपेतव्यम् इति उत्सर्गः, अन्यथात्वं पुनः अस्य बलवद्बाधकप्रत्ययवशात्, "न इदं रजतम्" इति च बाधस्य इदन्तामात्रबाधेन उपपत्तौ न रजतगोचरता उचिता रजतस्य धर्मिणः बाधे हि रजतं च तस्य च धर्मः इदन्ता बाधिते भवेताम्. तद् वरम् इदन्ता एव अस्य धर्मः बाध्यतां न पुनः रजतम् अपि धर्मि। तथा च रजतं बहिर्बाधितम् अर्थात् आन्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठते इति ज्ञानाकारस्य बहिः अध्यासः सिध्यति। "केचित् तु" ज्ञानाकारख्यातौ अपरितुष्यन्तः वदन्ति "यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति" अपरितोषकारणं च आहुः—विज्ञानाकारता रजतादेः अनुभवात् वा व्यवस्थाप्यते अनुमानात् वा ? तत्र अनुमानम् उपरिष्टात् निराकरिष्यते। अनुभवः अपि रजतप्रत्ययः वा स्यात्-बाधकप्रत्ययः वा ? न तावत् रजतानुभवः। स हि इदंकारास्पदं रजतम् आवेदयति, नतुआन्तरम्,अहम् इति हि तदा स्यात्,प्रतिपत्तुःप्रत्ययात् अविवेकात्। भ्रान्तं विज्ञानं स्वाकारम् एव बाह्यतया अध्यवस्यति। तथा च न अहङ्कारास्पदम् अस्यगोचरः। ज्ञानाकारता पुनःअस्य बाधकप्रत्ययप्रवेदनीया-इति चेत्, हन्त बाधकप्रत्ययम् आलोचयतु आयुष्मान्। किं पुरोवर्ति द्रव्यं रजतात् विवेचयति, आहो ज्ञानाकारताम् अपि अस्य दर्शयति। तत्र ज्ञानाकारतोपदर्शनव्यापारं बाधकप्रत्ययस्य ब्रुवाणः श्लाघनीयप्रज्ञः देवानांप्रियः। पुरोवर्तित्वप्रतिषेधात् अर्थात् अस्य ज्ञानाकारता इति चेत् ? न। असन्निधानाग्रहनिषेधात् असन्निहितं भवति प्रतिपत्तुः अत्यन्तसन्निधानं तु अस्य प्रतिपत्रात्मकं कुतस्त्यम्। न च एष रजतस्य निषेधः, न च इदन्तायाः, किन्तु विवेकाग्रहप्रसञ्जितस्य रजतव्यवहारस्य। न च रजतम् एव शुक्तिकायां प्रसञ्जितं रजतज्ञानेन। नहि रजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तम्, अनुभवविरोधात्। न खलु सत्तामात्रेण आलम्बनम्, अतिप्रसङ्गात्। नापि कारणत्वेन, इन्द्रियादीनाम् अपि कारणत्वात्। तथा च भासमानता एव आलम्बनार्थः। न च रजतज्ञाने शुक्तिका भासते, इति कथम् आलम्बनम्, भासमानताऽभ्युपगमे वा कथं न अनुभवविरोधः।

अपि च इन्द्रियादीनां समीचीनज्ञानोपजनने सामर्थ्यम् उपलब्धम् इति कथम् एभ्यः मिथ्याज्ञानसम्भवः। दोषसहितानां तेषां मिथ्याप्रत्यये अपि सामर्थ्यम् इति चेत्? न। दोषाणां कार्योपजननसामर्थ्यविघातमात्रे हेतुत्वात्, अन्यथा दुष्टात् अपि कुटजबीजात् वटाङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अपि च स्वगोचरविचारे विज्ञानानां सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गः। तस्मात् सर्वं ज्ञानं समीचीनम् आस्थेयम्। तथा च रजतम् इदम् इति च द्वे विज्ञाने स्मृतानुभवरूपे, तत्र इदम् १ विवेकाग्रहप्रसञ्जितस्य रजतमेव इति रजतव्यवहारस्य इति पाठान्तरम्।

इति पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणं दोषवशात् तद्गतशुक्तित्वसामान्यविशेषस्य अग्रहात्, तन्मात्रं च गृहीतं सदृशतया संस्कारोद्बोधक्रमेण रजते स्मृतिं जनयति। सा च गृहीतग्रहणस्वभावा अपि दोषवशात् गृहीतत्वांशप्रमोषाद् ग्रहणमात्रम् अवतिष्ठते, तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतः विषयतश्च भेदाग्रहात्, सन्निहितरजतगोचरज्ञानसारूप्येण इदं रजतम् इति भिन्ने अपि स्मरणग्रहणे अभेदव्यवहारं च सामानाधिकरण्यव्यपदेशं च प्रवर्तयतः। क्वचित् पुनः ग्रहणे एव मिथ अगृहीतभेदे, यथा पीतः शङ्खः इति। अत्र हि विनिर्गच्छन्नयनवर्तिनः पित्तद्रव्यस्य काचस्य इव स्वच्छस्य पीतत्वं गृह्यते, पित्तं तु न गृह्यते। तद् अनयोः गुणगुणिनोः असंसर्गग्रहसारूप्यात् पीततपनीयपिण्डप्रत्ययाविशेषेण अभेदव्यवहारः समानाधिकरण्यव्यपदेशश्च। भेदाग्रहप्रसञ्जिताऽभेदव्यवहारबाधनात् च न इदम् इति विवेकप्रत्ययस्य बाधकत्वम् अपि उपपद्यते, तदुपपत्तौ च प्राक्तनस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वम् अपि लोकसिद्धं सिद्धं भवति। तस्माद् यथार्थाः सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देह विभ्रमाः प्रत्ययत्वात्, घटादिप्रत्ययवत्। तद् इदम् उक्तम्—"यदध्यासः" इति। यस्मिन् शुक्तिकादौ यस्य रजतादेः अध्यासः इति लोकप्रसिद्धिः न असौ अन्यथाख्यातिनिबन्धना, किन्तु गृहीतस्य रजतादेः तत्स्मरणस्य च गृहीतांशप्रमोषेण गृहीतमात्रस्य य इदम् इति पुरः अवस्थितात् द्रव्यमात्रात् तत्प्रज्ञानात् च विवेकः, तदग्रहणनिबन्धनः भ्रमः। भ्रान्तत्वं च ग्रहणस्मरणयोः इतरेतरसामानाधिकरण्यव्यपदेशः रजतादिव्यवहारश्च इति। "अन्ये तु"—अत्रापि अपरितुष्यन्तः "यत्र

यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते ।"

अत्र इदम् आकूतम्—अस्ति तावत् रजतार्थिनः रजतम् इदम् इति प्रत्ययात् पुरोवर्तिनि द्रव्ये प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यव्यपदेशश्च इति सर्वजनीनम् । तत् एतत् न तावद् ग्रहणस्मरणयोः तद्गोचरयोः च मिथ्या भेदाग्रहमात्रात् भवितुम् अर्हति ग्रहणनिबन्धनौ हि चेतनस्य व्यवहारव्यपदेशौ कथम् अग्रहणमात्रात् भवेताम् । ननु उक्तं न अग्रहणमात्रात्, किन्तु ग्रहणस्मरणे एव मिथः स्वरूपतः विषयतश्च अगृहीतभेदे समीचीनपुरःस्थित-रजतविज्ञान-सादृश्येन अभेदव्यवहारं सामानाधिकरण्यव्यपदेशं च प्रवर्तयतः । अत्र समीचीनज्ञानसारूप्यम् अनयोः गृह्यमाणं वा व्यवहारप्रवृत्तिहेतुः, अगृह्यमाणं वा सत्तामात्रेण ? गृह्यमाणे अपि समीचीनज्ञानसारूप्यम् अनयोः इदम् इति रजतम् इति च ज्ञानयोः इति ग्रहणम् । अथवा तयोः एव स्वरूपतः विषयतश्च मिथः भेदाग्रहः इति ग्रहणम् । तत्र न तावत् समीचीनज्ञानसदृशी इति ज्ञानसमीचीनज्ञानवद् व्यवहार प्रवर्तकम् न हि गोसदृशः गवयः इति ज्ञानं गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति । अनयोः एव भेदाग्रहः इति तु ज्ञानं पराहतम्, न हि भेदाग्रहे अनयोः इति भवति, अनयोः इति ग्रहे भेदाग्रहणम् इति च भवति । तस्मात् सत्तामात्रेण भेदाग्रहः अगृहीतः एव व्यवहारहेतुः इति वक्तव्यम् । तत्र किम् अयम् आरोपोत्पादक्रमेण व्यवहारहेतुः, अहो अनुत्पादितारोपः एव स्वतः इति । वयं तु पश्यामः—चेतनव्यवहारस्य अज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्तेः, आरोपज्ञानोत्पादक्रमेण एव इति । ननु सत्यं चेतनव्यवहारः, किन्तु अविदितविवेकग्रहणस्मरणपूर्वक इति । मा एवम् । न हि रजत—प्रातिपदिकार्थमात्रस्मरणं प्रवृत्तौ उपयुज्यते । इदंकारास्पदाभिमुखी खलु रजतार्थिनां प्रवृत्तिः इति अविवादम् । कथं च अयम् इदंकारास्पदे प्रवर्तेत, यदि तु न तद् इच्छेत् । अन्यत् इच्छति अन्यत् करोति इति व्याहतम् । न चेत् इदंकारास्पदं रजतम् इति जानीयात् कथं रजतार्थी तद् इच्छेत् । यदि अतथात्वेन अग्रहणात् इति ब्रूयात्, स च प्रतिवक्तव्यः, अथ तथात्वेन अग्रहणात् कस्माद् न उपेक्षेत इति । सः अयम् उपादानोपेक्षाभ्याम् अभिमतः आकृष्यमाणः चेतनः अव्यवस्थितः इदंकारास्पदे रजतसमारोपेण उपादान एव व्यवस्थाप्यते इति भेदाग्रहः समारोपोत्पादक्रमेण चेतनप्रवृत्तिहेतुः ।

तथा हि—भेदाग्रहात् इदंकारास्पदे रजतत्वं समारोप्य तज्जातीयस्य उपकारहेतुभावम् अनुचिन्त्य, तज्जातीयतया इदंकारास्पदे रजते तम् अनुमाय, तदर्थी प्रवर्तते-इतिआनुपूर्व्यं सिद्धम्। नच तटस्थरजत स्मृतिःइदंकारास्पदस्य उपकारहेतुभावम् अनुमापयितुम् अर्हति,रजतत्वस्य हेतोः अपक्षधर्मत्वात्। एकदेशदर्शनं खलु अनुमापकं न तु अनेकदेशदर्शनम्। यथाहुः—“ज्ञातसम्बन्धस्य एकदेशदर्शनात्” इति। समारोपे तु एकदेशदर्शनम् अस्ति, तत् सिद्धम् एतत् विवादाध्यासितं रजतादिज्ञानम्, पुरोवर्तिवस्तुविषयम्, रजताद्यर्थिनः तत्र नियमेन प्रवर्तकत्वात्, यद् यदर्थिनः यत्र नियमेन प्रवर्तयति तज्ज्ञानं तद्विषयम्, यथा उभयसिद्धसमीचीनरजतज्ञानम्, तथा च इदम्, तस्मात् तथा इति यत् च उक्तम् अनवभासमानतया न शुक्तिः आलम्बनम् इति, तत्र भवान् पृष्टः व्याचष्टाम्, किं शुक्तिकात्वस्य इदं रजतम् इति ज्ञानं प्रति अनालम्बनम् आहोस्वित् द्रव्यमात्रस्य पुरःस्थितस्य सितभास्वरस्य। यदि शुक्तिकात्वस्य अनालम्बनत्वम्, अद्धा। उत्तरस्य अनालम्बनत्वं ब्रुवाणस्य तव एव अनुभवविरोधः। तथाहिरजतम् इदम् इति अनुभवम् अनुभविता पुरोवर्तिं वस्तु अङ्गुल्यादिना निर्दिशति। दृष्टं च दुष्टानां कारणानाम् उत्सर्गिककार्यप्रतिबद्धे न कार्यान्तरोपजननसामर्थ्यम्, यथा दावाग्निदग्धानां वेत्रबीजानां कदलीकाण्डजनकत्वम्, भस्मकदुष्टस्य च औदर्यस्य तेजसा बह्वन्नपचनम् इति। प्रत्यक्षबाधापहृतविषयं च विभ्रमाणां यथार्थत्वानुमानम् आभासः, हुतवहानुष्णत्वानुमानवत्। यत् च उक्तं मिथ्याप्रत्ययस्य व्यभिचारे सर्वप्रमाणेषु अनाश्वासः इति। उद्बोधकत्वेन स्वतः प्रामाण्यं न अव्यभिचारेण इति व्युत्पादयद्भिः अस्माभिः परिहृतं न्यायकणिकायाम् इति न इह प्रतन्यते। दिङ्मात्रं च अस्य स्मृतिप्रमोषभङ्गस्य उक्तम्। विस्तरः तु ब्रह्मतत्वसमीक्षायाम् अवगन्तव्यः इति, तदिदम् उक्तम्—“अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्य एव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते इति।” “यत्र” शुक्तिकादौ “यस्य” रजतादेः “अध्यासः” “तस्य एव” = शुक्तिकादेः, “विपरीतधर्मकल्पनां” = रजत धर्मकल्पनाम् इति योजना।

और वह इस प्रकार के लक्षण से युक्त यह अध्यास (भ्रम) अनिर्वचनीय है एवं सभी परीक्षकों को अभिमत है। [परीक्षकों का मतभेद देखने पर भी सभी परीक्षकों की भ्रमकी अनिर्वचनीयता में सम्मति किस प्रकार मानी जा सकती है ?] किन्तु परीक्षकों की उसके भेद में (भ्रम के अवान्तर भेद में) मतभेद है, इसलिए अनिर्वचनीय भ्रम को दृढ़ करने के लिए (भिन्न-भिन्न मतों को) कहा है। (आशय यह है कि अध्यास प्रदर्शित स्वाभिमत लक्षण का लक्ष्य होने में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु, भ्रम के अधिष्ठान और आरोप्य विषयविशेष में ही मतभेद है, अतः सम्मति विरोध नहीं है) रजतरूप ज्ञानधर्म रजत का ज्ञानाकार का बाह्यस्थित वस्तु में अध्यास = आरोप रहे, [परमार्थ सत् रूप ही अधिष्ठान में अपने से भिन्न का आरोप कहना होगा, अतः अपरमार्थ सत् रूप बाह्य वस्तु में ज्ञानाकार रजत आदि का अध्यास कैसे कहा है ?] सौत्रान्तिक मतमें (बौद्धविशेष के मत में) सभी बाह्यपदार्थ सत् है, उनपर ज्ञानाकार का (रजतका) आरोप [होता है] यद्यपि विज्ञानवादियों के मत में बाह्यपदार्थ सत् नहीं है, तथापि अनादि अविद्या-संस्कार के द्वारा आरोपित बाह्य पदार्थ अलीक है, उस अलीक बाह्य वस्तु में ज्ञानाकार आरोपित होता है। [इस मतमें यह] युक्ति है कि जिस वस्तु का जो अनुभवसिद्ध स्वरूप है, उसको उसी रूपमें स्वीकार करना उचित है—यही साधारण नियम है। किन्तु, बलवान् बाधक ज्ञान रहने पर उस अनुभवसिद्ध वस्तुका भी अन्यथाभाव होता है। "यह रजत नहीं है" इस बाधक ज्ञान की इदन्तामात्र के बाध से ही उपपत्ति हो जाती है, अतः इस बाध की रजत गोचरता उचित नहीं है। [आशय यह है कि बाधकज्ञान से पूर्व परमार्थ सत् ही रहता है, अतः उसका प्रामाण्य रहता है। शरीर में अहं प्रत्यय का प्रत्यक्षबाध न होने पर भी युक्ति के द्वारा बाध होने से अपरमार्थता रहती है, बाह्य परमार्थ सत् है, क्योंकि, बाह्यमें इदं यही ज्ञान होता है, यह नहीं है यह ज्ञान नहीं होता है, अतः बाधकज्ञान न रहने से बाह्य पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता है, इस प्रकार ज्ञानाकार रजत बाह्य में अध्यास दृढ़ करता है—यह रजत नहीं है इस बाध से इदन्त्वविशिष्ट रजत का बाध होता है, या रजतमें इदन्त्वमात्र का

वाध होता है। इस विकल्प में द्वितीय विकल्प को स्वीकार कर इदन्ता-मात्र का वाध कहा है, इदन्त्व विशिष्ट रजतका वाध नहीं होता है—यही "न रजत गोचरतोचिता" इस पंक्तिका अभिप्राय है।" रजतरूप धर्मी का यदि वाध होता तो रजत और उसके धर्म इदन्ता का भी वाध हो जाता, अतः इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि रजत का जो इदन्तारूप धर्म है वही वाधित हो, रजतरूप धर्मी का भी वाध नही हो। ऐसी स्थिति में रजत रूप धर्मी बाहर वाधित होनें पर (इदन्ता का वाध ही वहिरवाधित कहा गया है) आन्तर ज्ञान के ही ऊपर अवस्थित होता है। (ज्ञानाकार हो जाता है।) अतः ज्ञानाकार का वाहर अध्यास सिद्ध होता है। जहां जो वाधित होता है, वहां वह पूर्व में अध्यस्त रहता है, "नेदं रजतं" इसके द्वारा इदन्ता का वाध होने से वाद में बाहर में वाधित ज्ञानाकार रजत का पूर्व में वाहर अध्यास था—यह सिद्ध होता है।] किन्तु कतिपय [आचार्य] इस ज्ञाना-कार भ्रम में असन्तुष्ट होकर कहते हैं—जिस स्थान में (शुक्तिका आदि में) जिसका रजतादिका) अध्यास होता उनके भेदका अग्रहण निबन्धन ही भ्रम है [यह रजत है यह ज्ञान होता है] [असन्तोष के कारण यदि पक्षा-न्तर की अवतारणा की गई है, तो अपरितोष का कारण कहना होगा क्या कारण है ?] अपरितोष का कारण कहते हैं — रजतादि की विज्ञा-नाकारता अनुभव के द्वारा या अनुमान के द्वारा व्यवस्थापित होती है ? [यदि अनुमान के द्वारा व्यवस्थापित होती है—यह कहते हैं] तो अनुमान का वाद में निराकरण करेगें। [यदि अनुभव के द्वारा होती है— यह प्रथम पक्ष मानते हैं] तब यह अनुभव भी रजतप्रत्यय होगा या बाधक प्रत्यय होगा। [यह रजत है—यह ज्ञान होता है या यह रजत नहीं है-यह ज्ञान होता है] इनमें प्रथम पक्ष का खण्डन कर रहे हैं] रजतानुभव नहीं हो सकता है। [रजतज्ञान रजतकी विज्ञानाकारता का साधक नहीं हो सकता] यह रजत है यह ज्ञान इदंकारास्पद रजत की ही अवगति कराता है आन्तर ज्ञान की अवगति नहीं कराता है, यदि रजतानुभव ज्ञानाकारत्व का बोधक होता तो अहं इस आकार का होता। कारण, वह ज्ञाता के ज्ञानसे अ-भिन्न है। अहमर्थ के ज्ञाता होने से रजतादि के ज्ञानाकार होने पर अहं

यही प्रत्यय होता, यह रजत है—यह ज्ञान नहीं होता] भ्रान्तिज्ञान यहाँ के अहं रूप में उल्लेखयोग्य अपने आकार को[रजत को]इदन्ता के रूप से अवगत(प्रकाशित) कराता है। (भ्रान्त ज्ञान = दोषजन्य ज्ञान) इसलिए

अहंकारास्पद इसका उल्लेखविषय नहीं होता है। [ऋजु-प्रकाशिकामें इसकी "वस्तुतस्तु" के द्वारा अन्यथा व्याख्या भी की है-अहं के द्वारा उल्लेख योग्य रजतका भ्रमवश इदन्ता से प्रतीति होती है—इसीकी आशंका-भ्रान्तमित्यादि से की है। क्योंकि, भ्रान्तिरूपविकल्पका स्वरूप भी कल्पक ग्रहण करना चाहिए वही बाध्यरूपसे सविकल्परूपसे समझना चाहिए।] [ज्ञानाकारता सिद्ध होने पर इस प्रकार कल्पना होनी चाहिए, वही कैसे? इसी का उत्तर "ज्ञानाकारता" आदि पंक्तियों से दिया गया] यह ज्ञानाकारता यह रजत नहीं है इस बाधक ज्ञान के द्वारा बोधित होती है, विस्मय के साथ कहा जा रहा है कि आप बाधक-प्रत्ययका विचार करें। [बाधक प्रत्यय (ज्ञान) साक्षात् ज्ञानाकारता का प्रदर्शन करता है या अर्थतः रजत की ज्ञानाकारता का प्रदर्शन करता है? इनमें प्रथममें अनुभव का विरोध होने से ही उपेक्षित करते हैं यह बाधक ज्ञान सम्मुख-स्थित द्रव्यको रजतसे भिन्न कर देता है; या वह उसकी ज्ञानाकारता का भी बोधन कराता है? इस स्थल में बाधकज्ञान ज्ञानाकारता का प्रदर्शन करता है—ज्ञानाकारता ही उसका कार्य है- यह जो कहता है—वह देवानां प्रियः' = मूर्ख है। [द्वितीय विकल्प की आशङ्का कर समाधान किया जा रहा है। रजत की सम्मुखस्थिति का निषेध होने से रजत की ज्ञानाकारता सिद्ध होती है यह कथन भी ठीक नहीं है। असन्निधान के आग्रह का निषेध होने पर ज्ञातासे असन्निहित ही होगा,अत्यन्त-सन्निधान ज्ञानाकारता उसकी कैसे हो सकती है? [अख्यातिमत में भ्रमस्थल में रजत के असन्निधान का आग्रह वस्तु के सामीप्यव्यवहार का कारण होने से भ्रम है, असन्निधान के आग्रहका निषेध असन्निधान ग्रह रूप है और बाध है, कारण बाध प्रागभावकी निवृत्तिरूप है, फलतः, आरोप्य रजत ज्ञाता का असन्निहित होता है और "देवानां प्रियः" यह शब्द बौद्धयुगमें देवताओं का प्रिय प्रशंसा अर्थमें प्रयुक्त होता था, किन्तु, पाणिनि एवं परवर्ती आचार्योंने

देवताओं का प्रिय पशु अर्थात् मूर्ख इस अर्थ में इसका प्रयोग किया है। अत्यन्त सन्निधान होनेपर ही ज्ञानाकारता हो सकती है] न यह रजतका निषेध है और न इदन्ता का निषेध है वरन् भेद के आग्रह के द्वारा प्रसक्त यह रजत है इस रजत व्यवहारका निषेध है। [इस पक्षमें सर्वसम्मत व्यवहार मात्र का वाध स्वीकार करने से किसी' अर्थ का वाध न होने से अतिशय लाघव है।] यह आशंका हो सकती है कि केवल व्यवहार ही निषेध के योग्य नहीं है वरन् शुक्तिमें प्रतीत रजत भी निषेध के योग्य है, फलतः अन्यथा ख्याति की प्रसक्ति है ? रजतज्ञान के द्वारा शुक्तिका के ऊपर रजत का ही आरोपित होता है — यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, 'रजत' इस अनुभव का विषय शुक्तिका होगी। कारण इसमें अनुभव का विरोध है। (यह स्वीकार करने पर भी कि रजतज्ञान में शुक्ति का भान नहीं होगा, किन्तु सम्मुख में उसकी सत्ता होने से वह आलम्बन क्यों नहीं होगी ? माना शुक्ति की सत्ता है अतः वह आलम्बन होगी यह भी ठीक नहीं है, अतिप्रसक्ति दोष होगा। [सम्मुखस्थित लोहा आदि] सभी पदार्थों की सत्ता में विशेष न होने से उसके आलम्बनत्व की भी प्रसक्ति होगी। शुक्तिका कारण है, अतः रजत ज्ञान आलम्बन है ? [अर्थात् रजत के समान शुक्तिखण्ड में रजतज्ञान हेतुभूत संस्कारोद्बोधकता होने से शुक्तिका रजत का आलम्बन है] यह कथन ठीक नहीं है, इन्द्रियआदि की भी कारणता होने से वह भी आलम्बन होगी। अतः भासमानता ही आलम्बन शब्दका अर्थ है। रजतज्ञानमें शुक्ति की भासमान नहीं होती है; इसलिए वह किस प्रकार आलम्बन हो सकती है ? रजतज्ञानमें शुक्तिका को भासमान मानने पर अनुभव का विरोध क्यों नहीं होता है ? (शुक्ति इदं ज्ञान का आलम्बन होता ही है, जल ज्ञान का आलम्बन नहीं होता है, यदि यह कहा जाय कि शुक्तिकार की आलम्बनता नही है, किन्तु इदमाकार की आलम्वनता है, कारण, "इदं रजतम्" इसमें इदमाकार की भासमानता में किसी प्रकार भी अनुभव का विरोध नहीं है। अतः, "अपि च" इसे अन्य दोष का उद्भावन कर रहे हैं अथवा आरोपित अर्थ का प्रतिषेध कर मिथ्याज्ञान का भी निषेध कर रहे हैं] और भी इन्द्रियादि का यथार्थज्ञानमें ही सामर्थ्य देखा गया है, अतः, इन्द्रियोंके द्वारा

मिथ्याज्ञान कैसे सम्भव है ? [आशय यह है कि शुक्तिका इदं ज्ञानका आलम्बन होता है, रजतज्ञान का आलम्बनत्व उसमें नहीं है, यदि इदं को रजतज्ञान का आलम्बन माना जाय तो अनुभव का विरोध है। कारण, रजतका ज्ञान है और शुक्तिका आलम्बन है—यह स्पष्ट अनुभवका विरोध है। अन्य बात यह है कि रजतज्ञान का विषय यदि शुक्ति रहेगा तो वह मिथ्याज्ञान ही रहेगा, मिथ्याज्ञान में आपत्ति ही क्या है ? सत्यज्ञान के प्रति निश्चित कारणों के द्वारा मिथ्याज्ञान संभव नहीं है] दोषसहकृत इन्द्रियों का मिथ्याज्ञान के उत्पादन में सामर्थ्य है—यह भी नहीं कह सकते हैं, कारण, दोषसमूह की कार्य की उत्पत्ति के सामर्थ्य के विनाशमात्र में साधनता है यदि ऐसा नहीं माना जाय तो दुष्ट कुटज से वटके अंकुर की उत्पत्ति की आपत्ति होगी। [दोषोंकी प्रकृत शुक्तित्व विशेषज्ञानकी प्रतिबन्धकता ही है, विपरीतरजतविषयकमिथ्याज्ञान की साधनता नहीं है] दूसरी बात यह है कि विज्ञान समूह यदि अपने विषयका व्यभिचारी होगा तो सभी स्थान में अविश्वास प्रसक्त हो जायगा। इसलिए सभी ज्ञान को यथार्थ मनना चाहिए। [सम्मुखस्थित —विषयक —रजतज्ञान को मिथ्याज्ञान स्वीकार करने पर रजत के सम्मुखमें नहीं रहने के कारण ज्ञान बिषयका व्यभिचारी रहेगा ऐसी स्थिति में ज्ञानमात्र में व्यभिचार की आशङ्का से अविश्वास होने के कारण ज्ञानसे कहीं भी प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होगी] ऐसी स्थितिमें यह रजत है इस स्थलमें रजत और यह इस प्रकार स्मृति एवं अनुभव इन दो विभिन्न ज्ञानोंको मानना पड़ेगा। इन दो ज्ञानों में यह [इदं] यह ज्ञान सम्मुखस्थित द्रव्यमात्र का प्रकाश करता है एवं दोषवश उस सम्मुखस्थित वस्तु में शुक्तित्वरूप जातिविशेष का ग्रहण न होने से 'इदं' मात्र ही गृहीत होता है। [इसके द्वारा अनुभवरूप ज्ञानका अभिधान कर स्मृतिरूपज्ञान का प्रदर्शन आगे की पंक्तियों से कर रहे हैं इदं यह सम्मुखस्थित द्रव्यमात्र का ग्रहण शुक्ति और रजतमें चाकचिक्य आदि के द्वारा सादृश्य के कारण उसको देखने से संस्कार का उद्बोध होता है, 'इदं' यह अनुभव है और रजत यह स्मरण है, इन दोनों ज्ञानों के भेद का अग्रहण ही अख्यातिवादी की अख्याति है।] यद्यपि स्मृति का स्वभाव अनु-

भूत वस्तु का ही ग्रहण करना है, तथापि दोषवश उस वस्तु के गृहीतत्व अंश का [तत्ता अंश का] प्रमोष हो जाने से ग्रहणमात्र ही (स्वरूपही अवस्थित रहता है। [आशय यह है कि प्रत्यभिज्ञा के स्थल में जिस प्रकार, तत् वह] यह भी ज्ञानमें उल्लिखित रहता है वैसे ही यहां पर इदं तदूरजतम् यह ज्ञान होना चाहिए, किन्तु इस विषयमें अख्यातिवादियों का कथन है कि यद्यपि स्मृति के द्वारा अनुभूत विषय का ही ज्ञान होता है— यही स्मृति का स्वभाव है तथापि तत्ता अंश से रहित स्वरूपमात्र का ही ज्ञान दोष के कारण है।] इस प्रकार रजत का स्मरण एवं सम्मुखस्थित द्रव्यमात्र के ज्ञान का परस्पर स्वरूपतः तथा विषयतः भेद का ज्ञान न रहने के कारण रजत सन्निधान स्थलमें यथार्थ रजतगोचरज्ञान के साथ सादृश्य रहने के कारण 'यह रजत है' यह व्यवहार होता है। इस व्यवहार का कारण इदम् और रजत ग्रहण और स्मरणरूप में भिन्न होने पर भी अभेदव्यवहार और सामानाधिकरण्यरूप व्यवहार को प्रवृत्त करता है। कहीं-कहीं दोनों अनुभवात्मक ज्ञान रहने पर भी भेदग्रह न होने से पीला शंख इस व्यवहार को उत्पन्न करता है। [इदं विषयकज्ञान अनुभवात्मक है और रजतविषयकज्ञान स्मरणात्मक है, इसलिए, दो ज्ञान हैं, और दो ज्ञान मानने पर भेद व्यवहार एवं असामानाधिकरण्यका व्यवहार होना चाहिए, 'इदं रजतं' यह अभेदव्यवहार एवं दोनों में सामानाधिकरण्य का व्यवहार नहीं होना चाहिए किन्तु स्वरूपतः एवं विषयतः भेदका अग्रह होने से अभेद और सामानाधिकरण्य व्यवहार (होता है) 'पीतः शंखः' इत्यादि स्थलमें निकलती हुई नेत्रज्योति में विद्यमान पित्त द्रव्य की पीतता काचादि स्वच्छ द्रव्य के समान गृहीत होती है, किन्तु पीत द्रव्य गृहीत नहीं होता है शंख में भी शुक्लगुण से रहित स्वरूप मात्रसे गृहीत होता है। दोनों के पीतत्वरूप गुण और शंखरूप द्रव्यमें संसर्ग का अग्रहरूप समानता रहने से एवं पीत सुवर्णपिंड' इस ज्ञान से भेद न रहने से यहां अभेद व्यवहार और सामानाधिकरण्यव्यवहार होता है और भेद के अग्रह से प्रसक्त अभेद व्यवहार का बाध होने पर 'यह रजत नहीं है, इस भेदज्ञान की बाधकता भी उपपन्न

होती है। और इसकी उपपत्ति होने पर पूर्व ज्ञान का लोक व्यवहार में भ्रान्त ज्ञान का कथन भी सिद्ध होता है। इसलिए विवादविषयीभूत सन्देह एवं विभ्रम ज्ञान होने के कारण घटादिज्ञान के समान ही यथार्थज्ञान है। इसी कारण से यदध्यास यह भाष्यमें कहा गया है। शुक्तिका आदि का रजत आदि का भ्रम अन्यथाख्यातिनिबन्धन नहीं है, वरन् अनुभूत रजत आदि का एवं रजत विषय के स्मरण का गृहीतत्व अंश का प्रमोष होने से गृहीतमात्र वस्तु का यह इस प्रकार ज्ञात सम्मुखस्थित द्रव्यमात्र से (रजत से) भेद मात्र दो विषयों में ही भेद के अग्रहण से भ्रम नही है वरन् ग्रहण और स्मरणज्ञान में भी परस्पर भेद के अग्रहण से भ्रम होता है। ग्रहण और स्मरणरूप दो ज्ञानों का परस्पर सामानाधिकरण्य का व्यवहार एवं रजत आदि व्यवहार ही भ्रान्ति है।

अन्य आचार्य अख्यातिमत से अपरितुष्ट होकर यत्र यदध्यास; तस्यैव विपीरधर्मत्वकल्पना यह अध्यास का लक्षण कहते हैं। प्रकृत स्थल में भाष्यकारका यह आशय है कि 'यह रजत है' इस ज्ञान के बाद रजतार्थी व्यक्तिकी सम्मुखस्थित वस्तुमें प्रवृत्ति होती है एवं वह व्यक्ति, यह रजत है इस प्रकार सामानाधिकरण्य का व्यवहार भी करता है—सभी लोगों ने स्वीकार किया है। यह प्रवृत्ति एवं समानाधिकरण्य [एक स्थान में दोनों का रहना] व्यवहार और स्मरण का तथा उनके विषयों के परस्पर भेद के मात्र अग्रहण से नहीं हो सकता है। चेतन व्यक्ति का व्यवहार और निर्देश ग्रहण मूलक होते हैं. अतः केवल भेद के अग्रहण से कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि पूर्व में ही कहा है कि केवल अग्रहण होने से ही ऐसा नही होता है वरन् ग्रह एवं स्मरण जब स्वरूपतः तथा विषयतः भेदग्रह का विषय नहीं होता है तब यथार्थसम्मुखस्थित वस्तु विषयक रजतज्ञान का सादृश्य ही अभेद-व्यवहार एवं सामानाधिकरण्य के निर्देशको प्रवर्तित करता है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि ग्रहण और स्मरण रूप दो ज्ञानों का यथार्थ-ज्ञान के साथ जो सादृश्य है वह गृहीत अर्थात् ज्ञात होकर व्यवहार और प्रवृत्तिका उपयोगी होता है या अज्ञात रहता हुआ प्रवृत्ति का हेतु है अर्थात् गृहीत न होने पर भी मात्रस्वरूपसत्ता मात्र से ही व्यवहार और प्रवृत्तिका कारण होता

है ? यदि यह कहा जाय कि गृहीत = ज्ञात होकर ही यह सादृश्य कारण होता है। तब यह जिज्ञास्य है कि 'इदं' यह ज्ञान और रजत यह ज्ञान, इन दोनों का यथार्थज्ञान के साथ सादृश्य है इस प्रकार का जो सादृश्यज्ञान वह कारण होता है ? या यथार्थज्ञान सदृश इन दोनों का ग्रहण और स्मरण का स्वरूपतः और विषयतः परस्पर भेद का अग्रहण यह ज्ञान, अर्थात् अभेदज्ञान नहीं है – यह ज्ञान कारण होता है ? [इनमें प्रथमकल्प यथार्थज्ञान के सादृश्य का ज्ञान] प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है, कारण, दो ज्ञान किसी यथार्थ ज्ञान सदृश है इस प्रकार का ज्ञान कभी भी यथार्थ-ज्ञान के समान—व्यवहार का प्रवर्तक नहीं हो सकता है, क्योकि गौ के सदृश गवय है, इस प्रकार का ज्ञान गवार्थी व्यक्तिको गवयमें प्रवृत्त नहीं करता है। इन दो वस्तुओं के भेद का ज्ञान नहीं है—इस प्रकार का ज्ञान भी व्यवहार का कारण स्वीकृत नहीं हो सकता है; इन दोनों का ही (ग्रहण और स्मरणज्ञान में) भेद का अग्रह – यह ज्ञान ही नहीं हो सकता है, दोनों में भेद का अग्रहण रहने पर अनयोः अर्थात् द्विवचनान्त शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है। दो के रूपमें ज्ञान होने पर भेदका अग्रहण नहीं हो सकता है, अतः ग्रहण और स्मरण इन दोनों में भेद का अग्रहण यह नहीं हो सकता है। (द्विवचन रहने से इन दोनों में भेद का ग्रहण है, भेद रहने से भेद ग्रहण होने पर भेद का अग्रहण यह भी नहीं सम्भव हो सकता है, भेद के अग्रहण का ग्रहण भेदाग्रहण पूर्वक ही रहता है।) सत्ता-मात्र से भेदाग्रह अगृहीत ही व्यपदेश और व्यवहार का हेतु है—यह मानना होगा। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि यह अगृहीत भेदाग्रह भ्रमज्ञान को उत्पन्न करके व्यवहार का कारण होता है, या भेदज्ञान को उत्पन्न किये विना ही स्वतः ही व्यवहार का कारण होता है ? किन्तु हम तो देखते हैं कि ज्ञाता का व्यवहार कभी भी ज्ञानाभावपूर्वक नहीं हो सकता है, अतः, यह भेदाग्रह भ्रमज्ञान को उत्पन्न कर उसके द्वारा व्यवहार का कारण होता है। [इस प्रकार प्रथम कल्प रह जाता है, आरोप होने पर वह विशिष्ट एक ज्ञानरूप होता है, अतः ज्ञानद्वय की असिद्धि होने से अख्यातिवादी का मत ही असिद्ध हो जायगा। इसके वाद प्रवृत्तिव्यवहार रूप चेतनव्य-

वहार के सम्भव की शङ्का कर रहे हैं] यदि यह कहें कि यह सत्य है कि ज्ञाता का व्यवहार अज्ञानपूर्वक नहीं होता है, किन्तु जिस ग्रहण और स्मरण का भेद गृहीत नहीं होता है वैसे ग्रहण और स्मरण पूर्वक ही यह व्यवहार प्रवृत्ति का कारण है—यह कथन भी ठीक नहीं है कारण केवल रजत इस शब्द के अर्थमात्र का स्मरण वैसी प्रवृत्ति का उपयोगी नहीं हो सकता है। कारण रजतार्थी की प्रवृत्ति इदंकारास्पद वस्तु के अभिमुख ही होती है—इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। [अविदितविवेकग्रहण......से लेकर ....नहि रजतेति इन पंक्तियों का यह आशय है—क्या ग्रहण मात्र व्यवहार का हेतु है ? या रजतस्मरण मात्र व्यवहार का हेतु है ? या दोनों मिलित व्यवहारका हेतु है ? इनमें प्रथम कल्प ठीक नहीं है, कारण, इदंज्ञान को प्रवर्तक मानने पर लौह आदि में भी प्रवृत्ति होने लगेगी। अन्त्य पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण, ज्ञान क्रमिक होता है, अतः, दो ज्ञानों का एक साथ मिलना सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से "मैवम्" इत्यादि पंक्ति के द्वारा भामतीमें खण्डन किया है। द्वितीय पक्षमें रजत इस प्रातिपदिक के अर्थमात्र का स्मरण प्रवृत्ति का हेतु है—यह व्यक्त होता है, इस पक्ष का दूषण "न हि रजतं" इत्यादि पंक्तियों से किया गया है। कैसे उपयोग नहीं होता है इत्यादि विश्लेषण 'इदंकारा' इत्यादि पंक्तिसे किया गया है] ऐसी स्थिति में रजत प्रातिपदिक के अर्थमात्र का स्मरण रखने वाला व्यक्ति इदंकार के विषयीभूत वस्तु को लक्ष्य कर कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? यदि रजत का स्मरण इदं विषयक न हो तब इदं पदार्थ के अविषय रजतमात्र का स्मरण करनेवाला व्यक्ति कैसे इदं में प्रवृत्त हो सकता है ? यदि रजतार्थी-रजतमात्र स्मरण रखने वाला व्यक्ति इदं में प्रवृत्त होगा तो अन्य वस्तुकी इच्छा करता है और अन्य वस्तुको चेष्टाका विषय करता है—यह संगत नहीं है। [असंगति का निरूपण कर रहे हैं] रजत इदं की प्रतीति का विषय नहीं है तब किस प्रकार रजतार्थी उसकी इच्छा करेगा। यदि यह कहा जाय कि रजत नहीं है—यह ज्ञान न होने से रजतार्थी की इदंकारास्पद वस्तुमें प्रवृत्ति होती है ? ऐसी स्थिति में पुरोवर्ती द्रव्य का रजतस्वरूप में ग्रहण न होने से [पुरोवर्ती द्रव्य रजतज्ञान का अविषय होने से]

रजतार्थी उसकी उपेक्षा क्यों नहीं करता है ? अतः इस स्थिति में रजतार्थी व्यक्ति ग्रहण एवं उपेक्षा इन दोनों से आकृष्ट होकर निश्चयरहित [सन्दिग्ध] हो जायगा । इसलिए पुरोवर्ती वस्तु में रजत समारोपपूर्वक रजतोत्पादन की अपेक्षा से संशय की निवृत्तिकर रजतार्थी प्रवृत्त कराता है। [पुरोवर्ती इदंवस्तु में प्रवृत्ति के लिए रजत को पुरोवर्ती इदं वस्तु विषय अवश्य ही मानना पड़ेगा,] अतः अख्यातिवादी के अभीष्ट दो ज्ञानों की सिद्धि नहीं हो सकती है।] फलतः दोनों में भेद का अग्रहण होने से इदं पदार्थ में रजतत्व का आरोप कर एवं पुरोवर्ती में आरोपित उस जाति [बाजार में स्थित रजतका अलङ्कार आदि उपकार हेतुता जो पूर्वदृष्ट है उसका] का अनुचिन्तन कर (स्मरण कर) उपकार साधन रजत के समान जाति का होने से इदंकारास्पद रजत में अलङ्कारादि उपकारकत्वका अनुमान कर रजतार्थी प्रवृत्त होता है। यह पौर्वापर्य की सिद्धि है । [अनुमानका आकार, यह पुरोवर्ती द्रव्य अलङ्कार आदि का उपकारक है, रजतत्व होने से अभ्रान्त रजत के समान।] उदासीन रजतकी स्मृति इदंपदार्थ में उपकार साधनता की अनुमापक नहीं हो सकती है, कारण, उस उपकारकत्व का व्यापक रजतत्व स्वरूप हेतु, प्रकृतस्थल में पक्षभूत इदं पदार्थ में नहीं रहता है। साध्य के साथ पक्षमें [एक स्थान में] हेतु का रहना अनुमितिका होता है, पक्षमें न रहने वाले हेतु का ज्ञान अनुमितिका कारण नहीं होता है। [अनुमिति का कारणीभूत जो पक्षधर्मताज्ञान उसके न रहने पर अनुमिति नहीं हो सकती है] इस विषय में प्राचीन आचार्यों ने कहा भी है— साध्यव्याप्यरूप से ज्ञात हेतु साध्य के साथ पक्षमें रहता है, तभी अनुमिति होती है। [आशय यह है कि दो ज्ञान माननेवाले आपके मतमें इदं यह ज्ञान इदन्त्वविषयक रहता हुआ लिङ्गज्ञान रूपसे इदंकारास्पद पुरोवर्ती वस्तु अलंकारादि उपकार की साधनता के रूप में अनुमिति का जनक है ? या तटस्थ रजत स्मरण रजतत्व विषयक होता हुआ लिङ्गज्ञान रूप से इदंकारास्पद तदुपकारक साधनरूप अनुमिति का जनक है ? इसमें प्रथमपक्ष समीचीन नहीं है, कारण, इदंत्व लौह आदि साधारण होने से अलंकार आदि उपकार-साधनता न होने से वह ज्ञान उस अनुमिति का अजनक

है। द्वितीय कल्प भी ठीक नहीं है, इस विषयका प्रतिपादन "न च तटस्थ" इत्यादि भामती से किया गया है, अर्थात् रजत-विषयक तटस्थ-रजतस्मरण लिङ्गज्ञान रूप से, इदंकारास्पद पुरोवर्ती आभरण आदि साधनरूप अनुमिति को उत्पन्न नहीं कर सकता है। क्यों नहीं उत्पन्न कर सकता है ? इदंकारास्पद पक्षमें अलंकार आदि का उपकार - साधनता का अनुमापक हेतु रजत को मानने में, अब यह जिज्ञास्य है कि रजतत्व इदंकारास्पद सम्मुखस्थित द्रव्यनिष्ठ रूप से अवगत है, या नहीं ? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि, रजतत्वविशिष्ट पुरोवर्तिविषयकज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा, फलतः भ्रमस्थल में दो ज्ञान माने जाता हैं, वह समाप्त हो जायगा। द्वितीय पक्ष मानने पर रजतत्व हेतु की पक्षभूत जो इदं पदार्थ है, उसमें स्थिति की अवगति नहीं हो रही है। इस तरह ज्ञानद्वयवाद नहीं रह सकेगा। पक्षधर्मता के न रहने पर दोष का निरूपण ("एकदेशदर्शन" इत्यादि भामती ग्रन्थसे किया है) इदंकारास्पद में रजतत्वके आरोप पक्षमें पूर्वोक्त हेतुमें पक्षवृत्तित्व ज्ञान रहता है। (फलतः इस पक्षमें उपकार हेतु-भावरूप अनुमिति संभव होने से रजत चाहने वाले की वहाँ प्रवृत्ति उपपन्न होती है, और रजतार्थी की शुक्तिमें प्रवृत्ति के अनुरोध से रजतज्ञान को शुक्तिविषयक अवश्य ही मानना पड़ेगा, अतः भ्रमस्थल में दो ज्ञानों की सिद्धि सम्भव नहीं है इसके द्वारा यह अनुमान सिद्ध होता है—(प्रकृत स्थलमें) विवाद का विषयीभूत रजतज्ञान, सम्मुखस्थित इदं वस्तु को विषय करता है, यह ज्ञान रजतार्थी व्यक्ति को नियमपूर्वक इदं वस्तु के ग्रहण में प्रवर्तक होने से, जो ज्ञान जिस वस्तु के प्रार्थी को नियमपूर्वक प्रवृत्त करता है, वह तद्विषयक ही रहता है, जैसे, दोनों वादियों के मतमें सिद्ध यथार्थ रजतज्ञान होता है; प्रकृतस्थलमें भी ऐसा है, इसलिए यह भी वैसा है। (जो भासमान होता है, वही आलम्बन होता है, रजतज्ञानमें शुक्तिका अवभासित नहीं होती है, अतः, वह आलम्बन नहीं हो सकती है, यह जो पूर्व में कहा है, उस को कह कर दूषण दिया जा रहा है] अख्यातिवादियों ने कहा है अवभासमान न होने से शुक्ति रजतज्ञान का आलम्बन नहीं हैं। इस विषय में अख्यातिवादी से यह जिज्ञासा है वे व्याख्या करें, यह रजत है

इस ज्ञान के प्रति शुक्तिकात्व आलम्बन होता है ? यदि यह कहा जाय कि शुक्तिकात्व रूप धर्म उक्त ज्ञान का आलम्बन नहीं होता है यह सत्य है, किन्तु सम्मुख स्थित चाकचिक्ययुक्त वस्तु ही आलम्बन होती है, यह मानने पर आपके ही अनुभव का विरोध होगा, कारण, यह रजत है, इस प्रकार सम्मुख स्थित वस्तुका अंगुलि आदि के द्वारा अनुभवकर्ता निर्देश करता है। दुष्ट कारण-समूह स्वाभाविक कार्य को रोककर अन्य कार्यको उत्पन्न करता है—यह सामर्थ्य उसमें देखा जाता है। [आशय यह है कि दुष्टनेत्र का सामर्थ्य प्रकृत शुक्तित्वज्ञान स्वरूप कार्य का प्रतिबन्धन मात्र है, विपरीत पुरोवर्ती विषयक-रजत-स्वरूप भ्रान्ति का जनक नहीं है, अन्यथा दुष्ट कुटजबीज से भी जव के अङ्कुर की उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी——इसका खण्डन किया है। इसका खण्डन करते हुए कहा है कि स्वाभाविक दोषादि बाधकों के रहने पर स्वाभाविक कार्य का प्रतिबन्धन कर विपरीत कार्य को उत्पन्न करता है। जैसे—दावाग्नि से जले हुए वेंत के बीज कदली समुदाय के जनक होते हैं एवं भस्मक रोग से दुष्ट जराग्नि के द्वारा अत्यधिक अन्न के परिपाक का सामर्थ्य देखा जाता है। (इस कथन से प्रकृत रस के अर्जन रूप कार्य का प्रतिबन्धन एवं बहुत अन्न के पाचन रूप विपरीत कार्य जनन सामर्थ्य का उक्त उदाहरण से समर्थन कर विपरीत भ्रम रूप कार्य की संभावना से सभी ज्ञान के यथार्थता की सिद्धि नहीं हो सकती है] भ्रान्तज्ञान के यथार्थत्वानुमान का प्रत्यक्ष बाध के द्वारा विषय का अपहार हो जाने से वह अनुमान अनुमानाभास माना है जैसे अग्नि की अनुष्णता का (गर्भ रहित होने का) अनुमान। पुरोवर्ती वस्तु वस्तुतः रजत के न रहने पर भी रजत ज्ञान कहा गया है, वहाँ पर विषयका व्यभिचार होने से अर्थात् वहाँ ज्ञान विषय व्यभिचारी है, सभी प्रामाणिक ज्ञानों में अनाश्वास हो जायगा—यह आशङ्का अख्यातिवादियों ने की है उसके उत्तर में यह कथन है कि ज्ञान की बोधकता रूप में स्वतः प्रामाण्य है विषय के अव्यभिचारित्व रूप से ज्ञान का प्रामाण्य नहीं है—इस विषय को युक्तिप्रदर्शनपूर्वक न्यायकणिका में समर्थन किया है, अतः यहां विस्तार नहीं कर रहा हूँ। [बोधकत्व ही

प्रामाण्य है, बाधक के रहने पर उसका प्रामाण्य कैसे रहेगा? बाध से पूर्व तक अर्थात बाध पर्यन्त उसका प्रामाण्य है अतः विषय व्यभिचार होने पर भी ज्ञान में अनाश्वास नहीं है।] स्मृतिप्रमोषभङ्ग के विषय में सामान्यतया प्रकृत में प्रदर्शन किया है ब्रह्मतत्वसमीक्षा में इसकी विस्तृत आलोचना की गई है, वहीं से अवगत करना चाहिए। इन अभिप्रायों को मन में रख कर अन्यथाख्यातिवादी के मत के अनुसार भ्रम का स्वरूप प्रदर्शन करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते इति' यत्र = शुक्तिका आदि में यस्य = रजत आदि का, अध्यास होता है तस्यैव = शुक्तिका आदि का ही विपरीतधर्मत्व कल्पनाम् = रजतत्व रूप धर्म कल्पना को—इस प्रकार योजना है।

[इस प्रकार सम्मुखस्थितमें भासमान वस्तु के रहने पर बाध की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वस्तु के रहने पर उसका बाध नहीं हो सकता है, अतः, सत्ख्यतिवाद का निराकरण हो जाता है, सम्मुख-स्थित वस्तुमें भासमान पदार्थ के न रहने पर मनुष्यशृङ्ग के समान अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) की अनुपपत्ति होने से असत्ख्याति पक्ष नहीं रह सकता है। ज्ञानाकार रजतके भानका निराकरण होने से आत्मख्याति का निराकरण हो जाता है अख्यातिवाद का भी निराकरण हो ही गया है, अन्यथाख्यातिपक्ष भी ठीक नहीं है, कारण अन्यथाख्यातिपक्षमें समारोपित रजतको देशान्तर में स्थित मानना पड़ेगा, किन्तु, यह संभव नहीं है, क्योंकि, इस रजत को देशान्तरमें स्थित मानने में कोई प्रमाण नहीं है, यदि प्रमाण है तब यह व्यक्त करें कि (१) क्या यह रजत है—यह भ्रम समारोपित रजत की अन्य स्थान में स्थिति के लिए प्रमाण है? या (२) इस भ्रम की अनुपपत्ति देशान्तर स्थित रजत में प्रमाण है? या (३) यह 'रजत नहीं है' यह बाध उसमें प्रमाण है? या (४) पूर्वोक्त बाध की अनुपपत्ति उसमें प्रमाण है? इनमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है; देशान्तरस्थित भ्रममें उल्लिखित नहीं है, अतः, वह रजतभ्रम का विषय ही नहीं हो सकता है। द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं है, कारण अनिर्वचनीय रजत को विषय करने से भी जब भ्रम की उपपत्ति हो सकती है, तब देशान्तरमें स्थित रजत को स्वीकार किये

विना भ्रम की अनुपपत्ति नहीं है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण पुरोवर्ती रजत विषय के निषेध से बाध की उपपत्ति होने पर असगत देशान्तरस्थ रजत को विषय के रूपमें मानने की आवश्यकता नहीं है। चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण, अनिवर्चनीय रजत के निषेध से बाध की उपपत्ति होने पर देशान्तरस्थता के विना बाध की अनुपपत्ति नहीं है, अतः, अन्यथाख्यातिका भी निराकरण हो जाता है।

कुसुमलता

अद्वैतवेदान्त में ख्यातियों का निरूपण

सभी दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त के अनुसार ख्याति का विशद विवेचन किया है। नैयायिक एवं वैशेषिक शास्त्र में विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति का विश्लेषण कर आत्मख्याति, अख्याति और अनिर्वचनीयख्याति आदि का खण्डन किया है। ख्याति की संख्या के निरूपण में किसी भी आचार्य ने विशेष प्रणिधान नहीं किया है। यद्यपि अध्यास भाष्यके विश्लेषण करते हुए आचार्यगण पाँच ख्यातियों का निर्देश करते हैं और इसके समर्थन के लिए इस श्लोक को भी कहते हैं—

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिख्यान्यातिरन्यथा।

तथा अनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥

(आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति एवं अनिर्वचनीयख्याति—ये ही पाँच ख्यातियाँ है) तथापि दार्शनिकों के मतों की आलोचना करने पर अन्य ख्यातियों का भी निर्देश मिलता है। जैसे विज्ञानभिक्षु ने सदसत्ख्याति का समर्थन किया है। भोजराजने तत्त्वप्रकाश ग्रन्थ में अलौकिक ख्याति का निर्देश किया है साथ ही सत्ख्याति जो शास्त्र में सुप्रसिद्ध है, इसका निर्देश इसमें नहीं है। अतः यह भेद नगण्य है।

पूर्वोक्त अध्यासलक्षण के विश्लेषण से यह तो सुस्पष्ट है कि अनिर्वचनीयतामें अन्यदार्शनिकों का भी फलतः समन्वय होता है। उनलोगों ने

विशेष्य और विशेषण के अंश में मतभेद प्रदर्शित किया है। भाष्यकार शङ्कर ने तीन ख्यातियों का लक्षण देकर स्वमत का समर्थन किया है। इन मतभेदों का उल्लेख कर अध्यास वस्तुतः अनिर्वचनीय स्वरूप है इसी का समर्थन किया है। सौत्रान्तिक वैभाषिक एवं विज्ञानवादी बौद्धों के मत में भ्रम आत्मख्याति है। शून्यवादी बौद्ध के मत में असत्ख्याति है, प्रभाकर के मत में अख्याति है, नैयायिक और वैशेषिक के मतमें अन्यथाख्याति और अद्वैतवेदान्त मत में अनिर्वचनीयख्याति के नाम से प्रसिद्ध है।

भाष्यकार ने सर्वप्रथम बौद्धों के चार मतों का प्रदर्शन किया है—तं केचिदन्यत्रान्यधर्माध्यासः। इस अध्यास लक्षण का अर्थ होता है कि शुक्तिमें रजत इस भ्रमज्ञानस्थलमें अन्यत्र पद का वाच्य जो शुक्ति उसमें अन्यधर्म अर्थात् ज्ञानाकार ज्ञानधर्म रजतका अध्यास होता है। इस स्थलमें "अन्यत्र" पदसे बाह्यअर्थ का ग्रहण होता है, "अन्यधर्म" पदसे ज्ञान का धर्म कहा जाता है और अध्यास का अर्थ आरोप होता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धों के मत में बाह्यपदार्थ की वास्तविक सत्ता है किन्तु विज्ञानवादी और शून्यवादी के मतमें बाह्यपदार्थ अनादि अविद्या-जनित-संस्कार से कल्पित अर्थात् असत् है। अतः सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मतमें सत्यवस्तुका अवलम्बन कर भ्रम की उत्पत्ति होती है और विज्ञानवादी एवं शून्यवादी के मतमें कल्पितवस्तुओं का अवलम्बन कर भ्रम की उत्पत्ति होती है। आशय यह है कि प्रथम दो के मत में भ्रमके अधिष्ठान को सत्य कहते हैं और अतिरिक्त दो मतमें भ्रम निरधिष्ठान ही रहता है। भ्रमके स्थलमें जो आरोपित होता है वह ज्ञान का ही धर्म है—यह तो चारों ही मतों में स्वीकार किया गया है। इस तरह बाह्य पदार्थ में ज्ञानाकार का आरोप ही अध्यास या भ्रम है।

इनके मतमें अनुकूल युक्ति यह है कि जो वस्तु हमलोगों के ज्ञानमें जिस रूपमें प्रकाशित होती है, वह वस्तु उसी रूपमें होती है—यही साधारण नियम है। किन्तु बलवान् बाधक ज्ञान के रहने पर पूर्वज्ञान के अन्य-

थाभाव की या भ्रमरूपता की कल्पना करता है। इस नियमके अनुसार हमलोगों को जब शुक्तिमें यह रजत है यह भ्रम होता है तब हमलोग इदं को रजत कहकर समझते हैं। बाद में "यह रजत नहीं है" इस विपरीत ज्ञान का उदय होने पर "यह रजत है" इस ज्ञान को भ्रम रूप में अवगत करते हैं। भ्रम शब्द का अर्थ बाधित विषय का ज्ञान होता है। प्रकृत में यह विचारणीय है कि किस अंश में किस वस्तु का बोध होने से हमलोग इस ज्ञानको भ्रम मानते हैं। यह रजत नहीं है यही बाधकज्ञान का आकार है। इसके द्वारा किसका निषेध होता है—रजत का निषेध होता है या इदं अंश का निषेध होता है। इस विषयमें बौद्धों का कथन है कि "यह रजत नहीं है" इस बाधज्ञान में इदन्ता धर्म अर्थात् इदं अंश का ही बाध होता है रजतरूप धर्मी का बाध नहीं होता है। कारण, रजत का बाध मानने पर रजत एवं उसमें रहने वाला इदन्तारूप अंश का भी बाध मानना पड़ेगा। इन दोनों को बाध मानने की अपेक्षा इदं अंश का अर्थात् इदन्ता का ही बाध मानना युक्ति सङ्गत है, क्योंकि इसमें लाघव है। धर्मी का बाध होने पर उसमें रहने वाले धर्मका भी बाध होता है—यही साधारण नियम है। रजतरूप धर्मी का बाध स्वीकार करने पर रजत एवं रजत धर्म जो इदन्ता, दोनों का ही बाध स्वीकार करना होगा, यदि एक के बाध से कार्य सिद्ध हो सकता है तब दो का बाध स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः बाह्य धर्म जो इदन्ता उसका बाध होने पर रजत में ज्ञानधर्मत्व ही रह गया, वह इदंरूप में बाह्य-वस्तु नहीं रह गया अर्थात् वह आन्तर विज्ञान के धर्मरूप में ही रह गया। फल यह हुआ कि बाध होने पर भ्रमज्ञानके इदन्ता अंश का ही अपसरण होता है और कुछ नहीं होता है। रजतज्ञान का धर्म है, अतः ज्ञान ही रह जाता है। प्रदर्शित चार प्रकार के बौद्धमतमें भ्रमस्वरूप निर्णय के सम्बन्ध में भामतीकार ने यही कहा है। ज्ञान क्षणिक होने से रजतादि जो ज्ञानधर्म है वह भी क्षणिक ही है।

आशय यह है कि हमलोगों को जब शुक्तिमें रजत की भ्रान्ति होती

है तब रजत नेत्रके सम्मुख है, इस रूपमें विवेचना करते हैं। यह रजत हमलोगों के अज्ञान से कल्पित है, प्रातिभासिक रजत नहीं है। बादमें "यह रजत नहीं है" इस बाधज्ञान का उदय होने पर "यह रजत है" इस पूर्वज्ञान को भ्रमरूप में अवगत करते हैं। किसी वस्तु का किसी अंशमें बाध होने से ही हमलोग यह समझते हैं कि मेरा ज्ञान भ्रमरूप है। "यह रजत नहीं है" इस बाध ज्ञान से किसका निषेध होता है? इस बाध ज्ञान से रजत का निषेध होता है या इदं इस अंश का निषेध होता है। इस विषयमें बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि पूर्वोक्त बाधज्ञान से "इदं" इस अंश का ही बाध होता है अर्थात् धर्म का बाध होता है, धर्मी जो रजत है उसका बाध नहीं होता है। बाध होने के बाद भ्रमज्ञान में भासमान इदन्ता अंश नहीं रहता है। बाह्य और आभ्यन्तर दो वस्तुओं में बाह्य-वस्तु का उल्लेख इदन्ता के रूपमें होता है और आन्तर वस्तु का अहन्ता के रूपमें उल्लेख होता है। इदन्ता का बाध बाह्यरूपता का बाध है। रजतमें बाह्यरूपता नहीं है यही इस बाधज्ञान से सिद्ध होता है। रजत बाह्य नहीं है यह सिद्ध होने पर आन्तररूपमें रजत व्यवस्थित होता है। इस प्रकार बाधज्ञान के द्वारा रजत की आन्तररूपता सिद्ध होती है। जहाँ जो बाधित होता है वह वहाँ पूर्वमें अध्यस्त था—यही सिद्ध होता है। "नेदं रजतम्" इस बाधक ज्ञान से इदन्ता का बाध होने से बाह्यमें बाध्यमान ज्ञानाकार रजत का बाहर में अध्यास था—यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार बौद्धोंने विज्ञानाकार रजत का बाह्य रूपमें ज्ञान को ही अध्यास या मिथ्याज्ञान कहा है।

बौद्धों के मतमें प्राभाकरों की अनुपपत्ति एवं स्वमत से लक्षण का विवेचन।

इस पूर्वप्रदर्शित मतमें प्राभाकरों ने दोष दिखाकर भ्रमका स्वरूप भिन्न रूपमें ही वर्णित किया है। इनके मतका प्रदर्शन करते हुए भाष्यकारने कहा है कि—"यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम" इति (शां० भा० पृ० २२६) यत्र = शुक्तिकादि में यदध्यासः = रजतादिका

आरोप होता है; यह संसार में प्रसिद्ध है, वह तद्विवेक=उन दोनों में जो भेद उसके "अग्रह निबन्धन"--ज्ञान के अभाव से भ्रम=रजतादि का व्यवहार, यह रजत है इस प्रकार समानाधिकरण्य का निर्देश होता है। रजतार्थी की प्रवृत्ति विसम्वादिनी होने से विसम्वादिनी प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को लोक में भ्रमके रूपमें निर्देश किया गया है। वस्तुतः ज्ञानमात्र ही समीचीन है। ज्ञान का भ्रमत्व सम्भावित ही नहीं है। मात्र विसम्वदिनी प्रवृति का जनक होने से ज्ञान को लोक में भ्रम कहा जाता है। आशय यह होता है कि जिसमें जिसका आरोप होता है, उन दो वस्तुओं में जो भेद उसका ज्ञान न होने से इन दोनों के मध्यमें एक वस्तु को अन्य वस्तुबोधक शब्द के द्वारा दोनों का समानाधिकरण्य निर्देशरुप भ्रम ही अध्यास है। मनुष्य का सभी ज्ञान प्रमा है, भ्रमात्मक कोई भी ज्ञान नहीं है।

असत्ख्याति का अर्थ है भ्रमका प्रकार एवं विशेष्य दोनों ही असत् अर्थात् इदं वस्तु और रजत ये दोनों ही ज्ञानाकार अर्थात् मिथ्या है। शून्यवादियों का मत असत्ख्यातिवाद होने पर भी व्यवहार दशा के अन्तर्गत भ्रमस्थल में वे आत्मख्यातिबादी हैं, यही मानना होगा। कारण, विज्ञानवादी के मत में वाह्यवस्तु की सत्ता जैसे कल्पित है वैसे ही ज्ञानसत्ता भी कल्पित है। फलतः इनके मतमें कल्पित वाह्यवस्तुमें कल्पित ज्ञान का आकार ही भ्रमस्थल में आरोपित होता है।

प्राभाकर की बौद्धों के पूर्वोक्त सिद्धान्तमें ये आपत्तियाँ है। बौद्धों ने जो रजत को ज्ञान का धर्म ज्ञानका आकार माना है-- यह किस प्रकार अवगत करते हैं? क्या यह प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा जानते हैं या अनुमान प्रमाण की सहायता से जानते हैं? यदि प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं तब यह जिज्ञास्य है कि प्रत्यक्ष का क्या आकार हैं? क्या यह रजताकार प्रत्यय है? यह रजत है (इदं रजतम्) यही रजताकार प्रत्यय होगा किन्तु इस प्रत्यय के स्वरूपके द्वारा रजत ज्ञानधर्म है यह प्रत्यक्षरूप से अवगत नहीं होता है कारण, यह प्रत्यय रजतको इदं आकारका आश्रय अवगत करता है, रजत ज्ञानधर्म या ज्ञानका आकार है यह इस प्रत्यय के द्वारा अव-

गत नहीं होता है। यदि यह अनुभव रजत को ज्ञान का आकार अवगत कराता तब "यह रजत (इदं रजतम्) यह न होकर" "मैं रजत" (अहं रजतम्) इस प्रकार का आकार होता। कारण, उक्त चार बौद्ध-मतों में ही ज्ञान से अतिरिक्त मैं (अहं) एक अलग कोई वस्तु नहीं है। उनलोगों के मत में "मैं" भी ज्ञान का स्वरूप है और इसी का नाम आलय विज्ञान है यह ज्ञान जब रजत को आत्मधर्म के रूपमें अर्थात् अपने धर्म के रूपमें प्रकाश करता है तभी रजतज्ञान होता है। ऐसी स्थितिमें आपको बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि "इदं रजतम्" इस भ्रमात्मक रजतके ज्ञान के समय में "अहं रजतम्" या "मम रजतम्" इस आकार में ज्ञान होना ही उचित है "इदं रजतम्" यह आकार कभी भी नहीं हो सकता है। क्षणिक विज्ञान धारा जब अहं के रूपमें आजीवन चलती है तब जीवन काल में किसी समय वह विज्ञान धारा रजत के रूप में प्रकाशित होगी तब इस विज्ञान का रजताकार के साथ "अहं" आकार का ही सम्मिश्रण होगा, "इदं" इस आकार का सम्मिश्रण कैसे होगा ? आपके मतमें भ्रम शब्दका अर्थ बाह्य वस्तुमें ज्ञान के आत्म धर्म का आरोप ही होता है। उसी ज्ञानका आत्म धर्म रजत है, यह कैसे आपको अवगत हुआ ? यदि यह कहते हैं कि इस भ्रमात्मक-प्रत्यक्ष अनुभव से ही जानता हूँ, तब मेरा यह कथन है कि यह भ्रमात्मक अनुभव रजतको इदं पदार्थ के धर्म के रूप में ही प्रकाशित करता है, यह अनुभव यदि ज्ञान के धर्म के रूपमें रजतको प्रकाशित करता तब "अहं रजतम्" या "मम रजतम्" यह रूप ही होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः, यह मानना होगा कि भ्रमात्मक अनुभव के द्वारा रजत को ज्ञान का आत्मधर्म नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाय कि ज्ञान अपने आकार को ही बाह्यस्थित के रूप में प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु की वास्तविक सत्ता रहे या नहीं इसमें किसी प्रकार की क्षति नहीं है। अतः रजत को ज्ञान का आत्मधर्म मानने पर "अहं रजतम्" यही ज्ञानका आकार होगा और "इदं रजतम्" यह आकार क्यों नहीं होगा ?

ऐसी स्थितिमें यह जिज्ञासा होगी कि यह रजत विज्ञान का आकार

यह है किस प्रमाण के द्वारा समझते हैं ?

इसके समाधानमें यदि वे यह कहें कि "इदं रजतम्" इसके बादमें होने वाला जो यह रजत नहीं है (नेदंरजतम्) इस आकार का निषेध ज्ञान होता है, उसके द्वारा ही अवगत करते हैं कि रजत इदं पदार्थ का धर्म नहीं है। ऐसी स्थितिमें अन्ततोगत्या यह मानना ही पड़ता है कि रजत आन्तर धर्म या ज्ञान का धर्म है।

इसके उत्तरमें अख्यातिवादियों का यह कथन है कि बाधक प्रत्यय (नेदंरजतम् के स्वरूप की आलोचना आवश्यक है । "नेदं रजतम्" यह बाधक प्रत्यय पुरोवर्ती द्रव्यको रजत से भिन्न अवगत कराता है या रजतज्ञानधर्म है यहभी अवगत कराता है ? प्रथमपक्ष तो सभी लोग स्वीकार करते हैं। कारण, इदं पदार्थ रजत नहीं है और बाधक प्रत्यय इसको अवगत करा देता है यह मानना ही पड़ेगा। किन्तु "नेदं रजतम्" यह बाधक ज्ञान रजतको ज्ञानधर्म के रूप में प्रकाशित करता है, इस द्वितीय पक्ष को कोई भी ऊहापोहकुशल व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है । कारण, यह भी तो हो सकता है कि उक्त बाधक ज्ञान रजतको दूसरे बाह्यवस्तु का धर्म भी तो अवगत करा सकता है। ज्ञानधर्म और इदं पदार्थ के धर्म से भिन्न अन्य किसी का धर्म नहीं है, जो इदं का धर्म नहीं है वह ज्ञान का ही धर्म है यह कहना पड़ेगा ?

इस प्रसङ्गमें बौद्धों का कथन है कि जब हमको यह निश्चय नहीं है कि वह ज्ञानका धर्म नहीं है, तब रजत ज्ञान का धर्म भी तो हो सकता है ?

इसके उत्तर में यह कथन है वह बाह्य पदार्थ का धर्म नहीं है — यह समझने से वह ज्ञानसन्निहित अर्थात् ज्ञान का धर्म है, यह कैसे समझते हैं ? जैसे यह लाल नहीं है. यह कहने पर, वह हरा है या काला है यह तो ठीक से अवगत नहीं किया जा सकता है। वह लाल नहीं हरा है यह ज्ञान होने पर ही उसको हरा समझ सकते हैं। अतः रजत इदं का धर्म नहीं है यह कहने से वह ज्ञान का धर्म है यह कभी भी अवगत नहीं किया जा सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि 'नेदं रजतम्" इस बाधक ज्ञान के द्वारा जब रजत को इदं पदार्थ से भिन्न रूपमें अवगत करा दिया है और यह "इदं" बाह्य वस्तु को ही अवगत कराता है तब "नेदं रजतम्" यह निषेध रजत ज्ञान का धर्म है, यही अवगत करा देता है।

इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का कथन है कि, यह नहीं हो सकता है। कारण, "नेदं रजतम्" इस निषेध के द्वारा हमलोग यही समझते हैं कि संसार जिसको भ्रम कहता है. उस स्थलमें इदं और रजत में जो परस्पर असन्निधान का अर्थात् भेद का अग्रह (भेद के ज्ञान का अभाव) रहता है, "नेदं रजतम्" यह बाधज्ञान उस अग्रह का ही अर्थात् असन्निधान ज्ञान के अभाव का ही निषेध करता है अर्थात् उक्त असन्निधान ज्ञान ही उत्थित होता है। ऐसी स्थिति में उक्त निषेध के बल से इदं के साथ रजत असन्निहित है, यही हमलोग अवगत करते हैं। अतः रजत ज्ञान का धर्म अर्थात् ज्ञान का आकार है यह अवगति कैसे सम्भव होगी? "नेदं रजतम्" इस निषेध के द्वारा रजत ज्ञानका धर्म है यह किसी भी मत में सिद्ध नहीं हो सकता है। इसीलिए आत्मख्यातिवादी का यह कथन कि प्रत्यक्षभ्रम स्थलमें ज्ञानका आकार ही बाह्य विषय के ऊपर आरोपित होता है, यह युक्तिसङ्गत नहीं है।

भामतीकार ने प्रकृतमें बौद्धमत का खण्डन करते हुए प्राभाकर मतका प्रदर्शन किया है, इससे प्रदर्शित चार प्रकार के बौद्ध मतों में आत्मख्याति का ही सामान्यतया निराकरण होता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य पदार्थ का अस्तित्व मानते हैं, अर्थात् वैभाषिक मत में अनुमान की सहायता से एवं सौत्रान्तिक मतमें प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्य वस्तुकी सत्ता स्वीकृत होने पर भी वे दोनों भी भ्रम के स्थल में आत्म-ख्यातिवाद ही स्वीकार करते हैं। कारण वे भी कहते हैं कि प्रत्यक्षभ्रम-स्थल में ज्ञानधर्म रजत आदि ही बाह्य इदं पदार्थमें आरोपित होते हैं। विज्ञानवादी ज्ञान से अतिरिक्त बाह्य-पदार्थ की सत्ता नहीं मानते है, किन्तु वे भी ज्ञान का आकार ही बाह्य-वस्तु में आरोपित होकर भ्रम होता है— यह स्वीकार करते हैं। इतना सत्य है कि इनके मतमें बाह्य-वस्तु कल्पित

है और सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक मत में वह वास्तव है। शून्यवादी के मत में असत्ख्याति होने पर भी व्यवहार दशा में भ्रमस्थलमें वे आत्मख्यातिवाद स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों के समान उनके मतमें कल्पित बाह्य-वस्तुमें कल्पितज्ञान का आकार ही भ्रमस्थलमें आरोपित होता है। असत्ख्याति के मतमें भ्रमका प्रकार (विशेषण) और विशेष्य दोनों ही असत् अर्थात् रजत और इदं वस्तु दोनों ही ज्ञानाकार हैं और मिथ्या हैं। भामती के अभिप्रायानुसार भ्रम का प्रथम लक्षण बौद्धमत की आत्मख्याति को लक्ष्य कर निर्दिष्ट किया गया है।

यह ज्ञातव्य है कि विवरणकार ने प्रथम लक्षण को आत्मख्याति और अन्यथाख्याति का माना है; द्वितीय लक्षण को अख्यातिवाद का माना है और तृतीय लक्षण को शून्यवादी और अन्यथाख्यातिवादी का माना है।

इस स्थल पर म० म० प्रथम नाथ जी का कथन भी ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि आत्मख्यातिवाद अन्यथाख्यातिवाद का ही एक भेद है। अन्यथाख्यातिवाद को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक आत्मख्याति और दूसरा बाह्यख्याति। चारों बौद्धों ने आत्मख्यातिरूप अन्यथाख्याति स्वीकार किया है एवं नैयायिक और वैशेषिकने बाह्यख्यातिरूप अन्यथाख्याति स्वीकार किया है। इस बाह्यख्याति मत की ओर लक्ष्य कर आचार्य ने तृतीय लक्षण 'यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पना' कहा है।

भामतीकारने अख्यातिवादी प्राभाकर के मतका अवलम्बन कर बौद्धों के आत्मख्यातिवाद का खण्डन किया है।

प्राभाकर मतवालों का कहना है कि "नेदं रजतम्" यह जो निषेधज्ञान होता है, इसके द्वारा रजत का निषेध नहीं होता है और न उसमें इदन्ता का निषेध होता है। रजतके साथ इदं के असम्बन्ध का ज्ञान न होने से "इदं रजतम्" इत्यादि शब्द प्रयोगरूपादि जो व्यवहार होता है, उसी का प्रतिषेध "नेदं रजतम्" इस वाक्य के द्वारा होता है। भ्रमवादियों का यह कथन कि शुक्ति का भेद में ही रजतका आरोप होता है—यह ठीक नहीं है। कारण, रजतज्ञानमें शुक्तिका आलम्बन होता है यह कथन युक्तिसङ्गत

नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर अपने अनुभव का ही विरोध होगा। भ्रमवादियों ने स्वीकार किया है कि शुक्तिका ही रजत के ज्ञान का आलम्वन विषय होता है। आलम्वन या विषय से वे क्या अवगत करते हैं? जिसकी सत्ता होती है वही ज्ञानका आलम्बन होता है अर्थात् सद्वस्तु ही ज्ञान का आलम्वन होती है—यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, संसारमें जितनी सद्वस्तु है सभी ज्ञान का आलम्बन होगी।

यदि यह कहा जाय कि "इदं" पदार्थ रजतज्ञानका कारण होता है। अतः वही रजतज्ञान का विषय होता है, यह भी ठीक नहीं है। जो ज्ञान का कारण होता है वही ज्ञान का विषय होता है, यह मानने पर इन्द्रिय, मन आदि भी सभी ज्ञानों के विषय होंगे। कारण, वे भी तो ज्ञान के कारण हैं। इसलिए यह मानना होगा कि जिस वस्तुकी ज्ञान के द्वारा प्रकाश होता है उसीको ज्ञान का आलम्वन कहा जाता है। रजत ज्ञान में शुक्ति भासमान नहीं होती है। अतः यह शुक्ति रजतज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकती है। शुक्तिका रजतमें भान मानने पर अनुभव का विरोध होगा। कारण, भ्रमस्थलमें रजतका ही अनुभव होता है, शुक्तिका अनुभव नहीं होता है। अतः रजतज्ञान का आलम्बन शुक्ति होती है—यह भ्रमवादियों का मत ठीक नहीं है। यह देखा गया है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप आदि के यथार्थज्ञान का ही उत्पादन होता है। अतः वे मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करें—यह कैसे सम्भव हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि इन्द्रियों के दुष्ट हो जाने पर वे मिथ्याज्ञान का भी कारण होती है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। कारण, ऐसा मानने पर दोषयुक्त कुटज के बीजों से वटवृक्ष के अङ्कुर की उत्पत्ति भी सम्भव होगी। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः, यह मानना होगा कि कारण में दोष होने से कारण की कार्योत्पादनशक्ति का नाश करता है न कि उसमें एक नवीन कार्य के उत्पादन के अनुकूल शक्ति को उत्पन्न करता है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान यदि अपने विषय का भी व्यभिचारी हो अर्थात् ज्ञान की सहायता से जो वस्तु जिस रूप में है यदि वह उस रूप में नहीं रहे तब किसी भी ज्ञान पर हमलोग निर्भर नहीं कर सकते हैं। ऐसी

स्थिति में सभी ज्ञानों में प्रामाण्यसंशय उपस्थित हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसी भी वस्तुका स्वरूप-निर्णय नहीं होगा। अतः यह मानना होगा कि हमलोगों को जो भी ज्ञान होता है, वह यथार्थ ही होता है।

अब यह जिज्ञास्य है कि हमलोग जिसे भ्रम मानते हैं उसका प्राकृत स्वरूप क्या है ? इस विषयमें प्राभाकर का यह कथन है कि भ्रम के व्यवहार स्थल में वस्तुतः भ्रमात्मक एक ज्ञान न होकर दो यथार्थज्ञान ही उत्पन्न होते हैं। एक रजत विषयकज्ञान है और दूसरा इदंविषयक ज्ञान है। पहला ज्ञान स्मरणस्वरूप है और दूसरा ज्ञान अनुभवस्वरूप है। दोनों ही यथार्थज्ञान उत्पन्न होते हैं।

इन दो ज्ञानों में "इदं" यह ज्ञान सम्मुखस्थित वस्तु का प्रकाश करता है। दोष के कारण सम्मुखस्थित वस्तुका शुक्तित्वरूप जो सामान्यधर्म है, उसका ग्रहण नहीं होता है। अतः उक्त 'इदं" ज्ञान केवल सम्मुखस्थित को ही इदं के रूप में प्रकाशित करता है, इसके बाद सम्मुखस्थित वस्तु में चाकचिक्यादि रजत सादृश्य होने से, इदं वस्तु का ज्ञान ही हमलोगों के द्वारा पूर्वानुभूत रजत के ज्ञान-संस्कार को उद्बोधित करा देता और रजत विषयक उद्बुद्ध-संस्कार ही रजतविषयक स्मरण को उत्पन्न करा देता है। इस ज्ञान को रजत का स्मरणस्वरूप मानने पर इसका आकार "तद्रजतम्" (वह रजत) यह होना चाहिए न कि "रजतम्" यह आकार होना चाहिए।

इसके समाधान में उनलोगों का कहना है कि दोषवश इस रजत स्मृतिका विषय जो रजत, उसका धर्म जो "गृहीतत्व" या "तद्" यह आकार है इसका उद्बोध नहीं होता है अर्थात् "तत्ता' अंश का अपहरण हो जाता है। इस प्रकार रजत की स्मृति और पुरोवर्ती द्रव्यका ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में जो परस्पर भेद है एवं दो ज्ञानों का विषय जो इदं एवं रजत है उनमें जो परस्पर भेद है — वह अनुभव का गोचर नहीं होता है। पूर्व में कभी सम्मुखस्थित रजत विषयका यथार्थज्ञान हुआ था, उसके साथ इन दो ज्ञानों का सादृश्य होने से ये दोनों ज्ञान 'इदं रजतत्" इस प्रकार के शब्द प्रयोग के कारण होते हैं। वस्तुतः "इदं रजतम्" यह कहने

भ्रमवादी जैसे भ्रमरूप एक तृतीय विशिष्ट ज्ञान स्वीकार करते हैं प्रकृत में इसके स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी रूप में भ्रमस्थल में लोगों की रजतके ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति भी होती है। यही भ्रम का प्राभाकर के मतमें स्वरूप होता है।

किसी-किसी भ्रममें मात्र दो ज्ञानों का भेद अगृहीत नहीं होता है किन्तु उक्त दो ज्ञानों के जो दो विषय हैं वे भिन्न रूपमें प्रतीत हो सकते हैं। जैसे—पीतः शंखः इस प्रकार के व्यवहारस्थल में हमलोगों की निकलती हुई नयनरश्मि के मध्यमें विद्यमान काँच के समान स्वच्छ जो पित्त द्रव्य है, वह दोष के कारण स्वरूपतः गृहीत नहीं होता है किन्तु उसमें रहने वाला पीतत्व गृहीत होता है। इसी प्रकार शङ्खगत जो शुक्लत्वरूप धर्म है वह भी दोष के कारण गृहीत नहीं होता है, किन्तु शंख स्वरूपतः गृहीत होता हैं। पीतता ज्ञान और शंखज्ञान का स्वरूपतः जो भेद है उसको हमलोग नहीं समझते हैं किन्तु उनमें विषयगत जो भेद है वह हमलोग समझते हैं। इसी प्रकार "इदं रजतम्" इस स्थलमें "इदं" ज्ञान अनुभवस्वरूप एवं रजत ज्ञान स्मरणस्वरूप होता है, परन्तु "पीतः शंखः" इस स्थल में दोनों ज्ञान अनुभवस्वरूप ही होते हैं, शुक्तिरजत के भ्रम में दोनों ज्ञान एवं दोनों विषयों के परस्पर भेद अगृहीत रहते हैं। किन्तु पीतत्वज्ञान और शंख-ज्ञान ये दोनों ही परस्पर भिन्न ज्ञान हैं—यही बोध नहीं होता है वरन्-शंख और पीतत्व ये दोनों परस्पर भिन्न हैं—यह बोध होता है।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि "पीतः शंखः' इस प्रकार शब्द प्रयोगरूप व्यवहार कैसे होता है? यथार्थ पीतवर्ण द्रव्यको जब हम पीत कहकर समझते हैं तब पीतता के साथ इस द्रव्य के असम्बन्ध को हम नहीं समझते हैं। कारण पीतता के साथ असम्बन्ध को यदि हम समझते तब उक्त द्रव्य को पीततायुक्त के रूपमें निर्देश नहीं करते। अतः यह मानना होगा कि जब यथार्थ पीतद्रव्य को पीततायुक्त कह कर हम व्यवहार करते हैं तब पीतता और पीतता के आश्रयस्वरूप द्रव्य के साथ असम्बन्ध को हम नहीं समझते हैं, इसी प्रकार पीतशंख के स्थल में यह विषय सुसङ्गत होता है। क्योंकि इस स्थल में पीतता और शंख के साथ जो परस्पर

असम्बन्ध है इसको उसके दोष के कारण हमलोग अवगत नहीं करते हैं। इसीलिए यथार्थ पीत द्रव्यके पीतताज्ञान स्थल में जैसे पीतता और पीतद्रव्य के असंसर्ग का ज्ञान नहीं रहता है। पीतता और शंख का ज्ञान दोनों स्थानों में रहता है और पीतता और शंख के असम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहता है। अतः असंसर्गग्रहणरूप जो सादृश्य यह दोनों स्थलों में विद्यामान है। यह सादृश्य होने से पीतता और शंख ये दोनों ज्ञान मिलित होकर "पीत-शंख" यह व्यवहार होता है। फलतः किसी-किसी स्थलमें विषय और विषयी दोनों भेद का अग्रह होने से भ्रमरूप व्यवहार होता है एवं किसी-किसी स्थल में विषयका भेदाग्रह रहने पर भी विषयीरूप दो ज्ञानों का भेदाग्रह निबन्धन भ्रमरूप व्यवहार होता है। पीतशंख और शुक्तिरजत इन दो उदाहरणों के प्रदर्शन का यही तात्पर्य है।

अख्यातिवादियों का यह भी कथन है कि "इदं रजतम्" इस स्थल में भ्रमवादियों ने जिसे भ्रम माना है वह वास्तविक नहीं है वरन् "इदं रजतम्" यह एक व्यवहार मात्र या शब्द प्रयोगमात्र ही है एवं 'नेदं रजतम्' इस प्रकार के ज्ञान को बाधकज्ञान कहा जाता है, वह "इदं रजतम्" इस प्रकार के भ्रम ज्ञान का बाधक होने से बाधक प्रत्यय नाम से अभिहित होता है, ऐसी बात नहीं है, परन्तु वह "इदं रजतम्" इस प्रकार के शब्द प्रयोग रूप व्यवहार का ही बाधक होने से उसको बाधक प्रत्यय कहकर व्यवहार किया जाता है, अर्थात् बाधक प्रत्यय किसी ज्ञानका बाधक होने से बाधक प्रत्यय नहीं है, किन्तु किसी व्यवहारका बाधक होने से वह बाधक प्रत्यय पद से वाच्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि कोई ज्ञान जब बाधित नहीं होता है, केवल व्यवहार ही बाधित होता है, तब इस व्यवहार के पूर्व में रजत और इदं विषयक दो यथार्थ ज्ञान होते हैं, तब कैसे इसको बाधित या भ्रान्तज्ञान कहा जाता है ?

इसके समाधान में प्राभाकरों ने कहा है कि उक्त दो ज्ञान अबाधित होने पर भी उसका कार्य जो व्यवहार उसका बाध होने से उक्त दोनों ज्ञानों

को भ्रान्त या बाधित कहकर लोक में निर्देश किया जाता है, वस्तुतः वह बाधित नहीं है। चोर के पिताके साधु होने पर भी जैसे समय समय पर लोग उसको भी चोर कह देते है, प्रकृत स्थलमें भी वही स्थिति है। अतः बाधक प्रत्यय शब्द सुनकर जिस किसी तरह बाधित ज्ञान होने से अनुमान किया जायेगा—यह कथन भी ठीक नहीं है। ऐसा देखा गया है कि संशय या भ्रम कहकर जो लोक में व्यवहार किया जाता है. उस व्यवहार का विषयीभूत जो ज्ञान, वह यथार्थ ज्ञान ही हो जाता है, वह भ्रमज्ञान नहीं है।

इन युक्तियों को संग्रह कर वादियों को समझाने के लिए अनुमान के आकार में परिणत किया जाता है। अनुमान का आकार निम्नलिखित है—

इदं रजतम् इस प्रकार के व्यवहार का कारणीभूत ज्ञान यथार्थ है (प्रतिज्ञा)

ज्ञान होने से (हेतु)

जो ज्ञान है वह यथार्थ ही होता है, जैसे उभयवादियों के मतमें सिद्ध घटपटादि ज्ञान। (उदाहरण)

इस विवादविषयीभूतज्ञान में भी ज्ञानत्व रूप हेतु विद्यमान है। (उपनय)

अतः इदं रजतम् इस व्यवहार का कारणीभूत ज्ञान भी यथार्थ है। (निगमन)

भामतीकार ने इस मत के उपसंहार में निम्नलिखित अनुमान कहा है—

सभी सन्देह विभ्रम (पक्ष) यथार्थ हैं (साध्य) ज्ञान होने से (हेतु)। यही आत्मख्यातिवाद का निराकरण करते हुए अख्यातिवादियों के कथन का सार है।

[अख्यातिवाद का खण्डन और अन्यथाख्यातिवाद का विवेचन]

आचार्य शङ्कर ने अख्यातिवादियों के लक्षण निरूपण के बाद अन्यथाख्यातिवादियों के लक्षण का निरूपण किया है। 'यत्र यदध्यासस्त

स्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पना" यही अन्यथाख्यातिवादियों के मत का अध्यासलक्षण है। "यत्र" अर्थात् शुक्तिका आदि में "यदध्यासः" जिसका अध्यास अर्थात् रजत आदि का अध्यास होता है "तस्यैव" उसीका अर्थात् शुक्तिका आदि का ही "विपरीत धर्मकल्पना" अर्थात् रजतादिरूप जो भिन्न वस्तु का धर्म जो रजतत्व उसकी जो कल्पना अर्थात् आरोप वही भ्रम अर्थात् अध्यास है। शुक्तिमें जो रजत का ज्ञान है,वह केवल शुक्तिज्ञान अथवा केवल रजतज्ञान नहीं है, वरन् वह इन दो ज्ञानों से एक तृतीय ज्ञान है। इस स्थल में विशेष्य "इदम्" अंश है एवं विशेषण अंश रजत है। इसलिए यह ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता है। अख्यातिवादियों के मतमें शुक्ति और रजतमें इस प्रकार विशेष्य-विशेषण भाव नहीं है। बौद्धमत में नैयायिक और वैशेषिक मत के समान ही विशेष्य-विशेषणभाव रहता है। आत्मख्याति और अन्यथाख्याति में यही सादृश्य है।

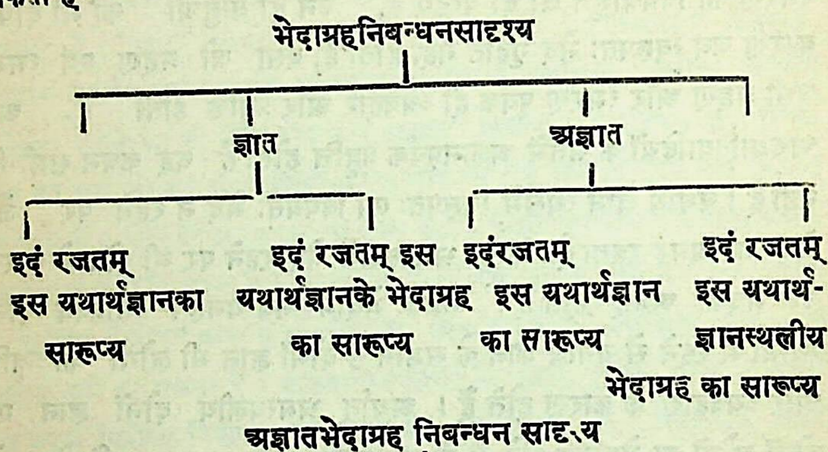
अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकों ने अख्यातिवादियों के मतका खण्डन करते हुए कहा है कि भ्रमस्थलमें "इदं रजतम्" यह रजत है. इस प्रकार के ज्ञान के बाद रजतार्थी व्यक्ति की सम्मुखस्थित इदं पदार्थ के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है तथा "यह रजत" इस प्रकार शब्द का प्रयोग रूप व्यवहार होता है—यह सभी लोग मानते हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति एवं ऐसा व्यवहार मात्र इदं पदार्थ के अनुभवरूप ज्ञान एवं रजतपदार्थ का स्मरणरूप ज्ञान का विषयीभूत जो "इदम्" एवं रजत, इनके भेदके ज्ञान का अभाव होने से ही होता है — यह कभी भी सम्भव नहीं है। कारण, चेतन व्यक्ति का व्यवहार या प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है, ज्ञान के अभाव से चेतन की प्रवृत्ति या व्यवहार कभी भी नहीं होता है। सुषुप्तिकाल में ज्ञान नहीं रहता है, इसलिए उस समय व्यवहार नहीं होता है, जाग्रत और स्वप्न में ज्ञान रहता है, अतः उस समय व्यवहार भी रहता है। फलतः, ज्ञान के विना व्यवहार नहीं हो सकता है। इसलिए "इदं" पदार्थ एवं रजत के भेदज्ञान का अभाव कभी भी रजत के ग्रहण में प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है।

इसके समाधान में पूर्वपक्षियों का यह कथन है कि केवल भेदके अग्रह से ही व्यवहार होता है, यह बात नहीं है। वरन् पूर्वोक्त अनुभव एवं

स्मरण का दोषवश स्वरूपतः भेद गृहीत नहीं होता है, एवं ग्रहण और स्मरण का विषयीभूत जो दो वस्तुएं हैं, उन दो वस्तुओं का भी दोष के कारण जब स्वरूपतः भेद गृहीत नहीं होता है, ऐसा जो ग्रहण एवं स्मरण उसी ग्रहण और स्मरण पूर्वक ही व्यवहार और प्रवृत्ति होती है, अतः अख्यातिवादियों के मतमें अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होती है - यह कथन समीचीन नहीं है। यथार्थ ज्ञान स्थलमें स्वरूपतः एवं विषयतः भेद न रहने पर जैसे भेद का अग्रह रहता है, किन्तु भ्रमस्थलमें भेद रहने पर भी दोष के कारण उस भेदका अग्रह रहता है। फलतः भेदाग्रहनिबन्धनरूप सादृश्य दोनों स्थानों में रहने से यथार्थ ज्ञान के समान ये दोनों ज्ञान भी लोगों की प्रवृत्ति और व्यवहार के कारण होते हैं। अर्थात् भ्रमस्थलीय दोनों ज्ञान एवं दोनों ज्ञेयों का भेदाग्रह होने से ही यह प्रवृत्ति और व्यवहार नहीं होता है, वरन् भेदाग्रह के कारण जो यथार्थ रजतज्ञान का सादृश्य है, उस सादृश्य के कारण ही इस प्रकार की प्रवृत्ति और व्यवहार होता है, अतः अन्यथाख्यातिवादियों के द्वारा प्रदर्शित दो नगण्य हैं।

इसके उत्तर में नैयायिकों का कथन है कि भेदाग्रह निबन्धन सादृश्य ज्ञात होकर व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है या अज्ञात होकर व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है? यदि इन दो विकल्पों में प्रथम विकल्प का अवलम्बन कर यह कहा जाय कि ज्ञात होकर ही व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है, तब यह जिज्ञासा होगी कि ज्ञातसादृश्यका आकार क्या "इदं रजतम्" इस यथार्थज्ञान का सारूप्य है अथवा "इदं रजतम्" इस स्थलके भेदाग्रह का सारूप्य है? यदि यह कहें कि भेदाग्रह निबन्धन सादृश्य अज्ञात होकर व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है, तब यह जिज्ञासा होगी कि यथार्थज्ञान के साथ भ्रमस्थलीय दो ज्ञानों का सारूप्य है अथवा उभयस्थलीय भेदाग्रह का सारूप्य है? यदि यह कहा जाय कि यह सादृश्य अज्ञानभेदाग्रह का सारूप्य है, तब यह जिज्ञासा होगी कि यह अज्ञातभेदाग्रहरूप सादृश्य किसी ज्ञान का उत्पादन कर व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है, अथवा किसी ज्ञान का उत्पादन किये विना ही व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है?

पूर्वोक्त विकल्पों का संकलन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—



अज्ञातभेदाग्रह निबन्धन सादृश्य

किसी ज्ञान का उत्पादन कर कारण होता है

किसी ज्ञान का उत्पादन न कर कारण होता है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञात सादृश्य का आकार इदं एवं रजत इन दो ज्ञानों के साथ यथार्थ रजतज्ञान का सादृश्य है—इसी प्रकार का होगा। ऐसी स्थिति में 'ये दो ज्ञान यथार्थ रजतज्ञान के सदृश हैं,' इस आकार का ज्ञान कभी भी यथार्थज्ञान का जो कार्य अर्थात् व्यवहार और प्रवृत्ति इत्यादि उनका उत्पादन नहीं कर सकते हैं। कारण, गवय को गोसदृशरूपमें अवगत करने पर गवय को देखकर गौ के ग्रहण की प्रवृत्ति अथवा 'यह गौ है" (इयं गौः) इस तरह का व्यवहार हमलोगों को कभी नहीं होता है। राम को श्याम के सदृश समझकर रामको देखकर श्याम को जो कहना है, वह रामसे नहीं कहते हैं। आपलोगों का अभिमत जो सादृश्य ज्ञान है यह कभी भी अपने जनक भेदाग्रह के साथ एक समय में सम्भव नहीं हो सकता है। कारण, भ्रमस्थलका इदं और रजतम् ये दो ज्ञान यथार्थ 'इदं रजतम्" इस ज्ञान के सदृश हैं, तब इस सादृश्य ज्ञान के मध्यम में भ्रमस्थल के दो ज्ञानको दो कह कर निर्देशकरना होगा और ऐसी स्थिति में इन दो ज्ञानों में जो परस्पर का भेद है, उसका ज्ञान है—यह मानना ही होगा। यदि

यह भेदज्ञान नहीं रहता तो दो कह कर इसका निर्देश कैसे हुआ ? दो कह कर जब हमलोग निर्देश करते हैं तब उस द्वित्व के आश्रयीभूत दो वस्तुओं का भेदज्ञान एकान्त रूप से ही आवश्यक है। इसलिए यदि दो को परस्पर स्वरूपतः भेदयुक्त समझते हैं, तब उनलोगों को भेद का अग्रह कैसे रहा ? अतः पूर्वोक्त सादृश्य को ज्ञान स्वीकार करने पर भेदाग्रह सम्भव नहीं है एवं भेदाग्रह रहने पर उक्त सादृश्य भी सम्भव नहीं है। इसलिए यह मानना होगा कि भेदाग्रह और भेदाग्रहमूलक यह ज्ञात सादृश्य ये दोनों मिलकर भ्रमस्थलमें प्रवृत्ति और व्यवहार के कारण होते हैं––यह सर्वथा युक्तिशून्य है। अर्थात् इदंम एवं रजत इन दो ज्ञानों के साथ यथार्थरजत ज्ञान का सादृश्य ज्ञानका विषय होकर प्रवृत्तिका कारण होता है––अतः प्रथम कल्प के अन्तर्गत प्रथमकल्प सङ्गत नहीं है।

भ्रमस्थल में इदं ज्ञान और रजतज्ञान का जो स्वरूपतः एवं विषयतः परस्पर भेदाग्रह है, वह यथार्थरजतज्ञानके भेदाग्रह के समान—यह सादृश्य ज्ञात होकर प्रवृत्ति और व्यवहार का कारण होता है यह जो प्रथम कल्पके अन्तर्गत द्वितीय कल्प है वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है। कारण, पूर्वोक्त युक्ति से दो ज्ञानों में परस्पर भेदका ज्ञान नहीं होता है—यह ज्ञान जब हमलोगों का होगा, तब इन दो ज्ञानों को दो कहकर समझते है, यह स्वीकार करना ही होगा और ऐसा होने पर उनलोगों को भेदग्रह ही रहता है। अतः भेदग्रहके अभाव का ज्ञान कैसे सङ्गत होगा ?

भ्रमस्थल में इदं अनुभव और रजतस्मृति ये दोनों ज्ञान यथार्थ "इदं रजतम्" इस ज्ञान के सदृश, इस प्रकार का जो ज्ञान उसके द्वारा भी जैसे व्यवहार और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, वैसे ही इदम् अनुभव और रजत स्मरण इन दोनों ज्ञानों का स्वरूपतः और विषयतः जो भेदाग्रह, वह यथार्थ रजतज्ञान स्थलीय भेदाग्रह के सदृश है इस ज्ञान के द्वारा भी व्यवहार और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, ऐसी स्थिति में प्रथमकल्प के एवं तदन्तर्गत "इदं रजतम्" यह यथार्थज्ञान के सारूप्य है और "इद रजतम्" स्थलीय भेदाग्रहका सारूप्य है इस कल्पोंका भी निराकरण हो जाता है, अर्थात् सादृश्य ज्ञान का विषय होने से प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता है

अब यह विचारणीय है कि भेदाग्रहनिबन्धन सादृश्य अज्ञात होकर भी प्रवृत्ति का कारण होता है-- यह मानने पर क्या दोष है ?

यह दो प्रकार का हो सकता है। एक इदं रजतम् इस यथार्थज्ञान का सारूप्य और दूसरा "इदं रजतम्" इस यथार्थज्ञान के भेदाग्रह का सारूप्य।

यदि यह कहा जाय कि "इदं रजतम्" यह यथार्थज्ञान का सारूप्य है, तब इसका यही उत्तर है कि उक्त अज्ञातसादृश्य व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि अज्ञातसादृश्य जैसे भ्रमस्थलीय इदम् और रजतम् ये दो ज्ञान और यथार्थ "इदं रजतम्" इन ज्ञानों में विद्यमान है वैसे ही संसार के अन्य यथार्थज्ञान के साथ भी विद्यमान रहता है--यह मानना होगा और ऐसी स्थिति में यह अज्ञातसादृश्य घट आदि यथार्थज्ञान का कार्य जो घटानयन आदि व्यवहार और प्रवृत्ति, उसको भी क्यों नहीं करायेगा ? यदि ऐसा मान लिया जाय तो शुक्तिरजतरूप भ्रमस्थल में भ्रान्तव्यक्ति की सम्मुखस्थित शुक्ति के ग्रहण में प्रवृत्ति के समान घट-पट आदि वस्तुओं के ग्रहण में भी प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ? किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः यह मानना होगा कि यह अज्ञातसादृश्य व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है ?

यदि यह कहा जाय भेदाग्रह निबन्धन सादृश्य अज्ञात होकर "इदं रजतम्" इस यथार्थ ज्ञान के भेदाग्रह के सारूप्य के समान होकर व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा होगी कि क्या यह जिसको भ्रम कहा जाता है उसी भ्रम का उत्पादन कर प्रवृत्ति और व्यवहार का कारण होता है या नहीं ?

किसी ज्ञान का उत्पादन किये विना ही यह प्रवृत्ति और व्यवहार का कारण होता है--यह कहना ठीक नहीं है। कारण, चेतन व्यक्ति जब रजत का ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है तब उस प्रवृत्ति का विषय उसके ज्ञान का विषय होता है, ज्ञान का विषय न होने पर चेतनव्यक्ति की उस विषय में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए यह मानना होगा कि यह किसी ज्ञान का

उत्पादन कर ही व्यवहार और प्रवृत्ति का कारण होता है. ऐसी स्थिति में यही कहेंगे कि इस उत्पन्न ज्ञान को ही हमलोग भ्रम कहते हैं और ऐसा मानने पर अख्यातिवादी को बाध्य होकर अन्यथाख्याति स्वीकार करनी होगी।

यदि यह कहा जाय कि अज्ञात भेदाग्रह वश कोई पृथक् ज्ञान उत्पन्न होकर हमलोगों को व्यवहार में प्रवृत्त नहीं करता है, वरन् रजत का स्मरण ही प्रवृत्ति का जनक होता है किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण, केवल रजत का स्मरण भी प्रवृत्ति का जनक नहीं हो सकता है। कारण, रजतार्थी व्यक्ति सम्मुखस्थित इदं पदार्थ का ग्रहण करने के लिए ही प्रवृत्त होता है यह देखा जाता है, वह विना कुछ देखे ही केवल रजत का स्मरण करके ही नहीं दौड़ता है। वस्तुतः इस विषय में किसी का भी विवाद नहीं है। यदि वही व्यक्ति उसी सम्मुखवर्ती इदं द्रव्य के ग्रहण करने का अभिलाषी न हो, तब कैसे वह उसको ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होगा ? यह सभी लोग मानते हैं कि प्रवृत्ति की विषयीभूत वस्तु के ग्रहण से पूर्व में ग्रहण करनेवाले की इच्छा विद्यमान रहती है एवं ग्रहण की प्रवृत्ति भी उसी इच्छा के अनुसार ही हो जाती है। इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक ही रहता है भिन्न कभी नहीं होता है। यह इच्छा ज्ञान पूर्वक ही होती है जिसका ज्ञान नहीं होता है उस विषय की इच्छा भी नहीं होती है अर्थात् ज्ञान और इच्छा का विषय भी अभिन्न ही होता है। इस तरह ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति इन तीनों के विषय का एक होना आवश्यक है। अतः, यह मानना होगा कि सम्मुखस्थित वस्तु को रजत के रूप में न समझने पर केवल रजत का स्मरण करके ही रजतार्थी व्यक्ति उसके ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है या उसके ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त भी नहीं होता है। इसलिए अज्ञात भेदाग्रह प्रकृतस्थल में भ्रमरूप किसी एक ज्ञान का उत्पादन किये विना किसी भी तरह प्रवृत्ति का जनक नहीं हो सकता है।

यदि यह कहें कि सम्मुखस्थित द्रव्य को रजत नहीं समझे, वरन् रजत नहीं है यह भी हम नहीं समझते हैं, फलतः यह "न समझना,, रूप

भेदाग्रह ही रजत ग्रहण की प्रवृत्ति का कारण होगा, यह मानने में क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि हमलोग सम्मुखस्थित द्रव्य को रजत के रूप में नहीं समझते हैं, तव उसकी उपेक्षा भी हम कर सकते हैं, किन्तु ऐसा हम कभी नहीं करते हैं। अतः, केवल अज्ञात- भेदाग्रह को कारण मानने की प्रवृत्ति एवं उपेक्षा दोनों ही होने की सम्भावना होती है और उसके फलस्वरूप ग्रहणप्रवृत्ति एवं उपेक्षा इन परस्परविरुद्ध दो मनोवृत्तियों के द्वारा आक्रान्त होकर लोक में किंर्तव्यविमूढ़ हो सकते हैं किन्तु ऐसा नहीं होता है वरन् ग्रहण में हीं प्रवृत्त होता है, इसलिए यह मानना होगा कि केवल अज्ञातभेदाग्रह प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है। अगत्या यह अङ्गीकार करना ही होगा कि सम्मुखस्थित इदं पदार्थ में रजतज्ञान होने से ही लोग रजतार्थी होकर उसके ग्रहण में प्रवृत्त होते हैं। ऐसी स्थिति में यह अवश्य ही मानना होगा कि यह "इदं रजतम्" इस तृतीय विशिष्टज्ञान का उत्पादन करके ही इस प्रकार की प्रवृत्ति का कारण होता है। अत इस प्रकार के स्थल में अख्यातिवाद का अवसर ही नहीं रहता है। यही अन्यथाख्यातिवादियों के द्वारा अख्यातिवाद का खण्डन है।

अन्यथाख्यातिवाद की उपपत्ति

प्रथम सम्मुखस्थित चाकचिक्ययुक्त वस्तु में नेत्र आदि का संयोग होता है, इसके वाद दोषवश उस चाकचिक्य युक्त वस्तु का जो विशेष धर्म शुक्तित्व आदि है, वह गृहीत नहीं होता है। अनन्तर रजत के और सम्मुखस्थित द्रव्य के चाकचिक्य रूप सादृश्य का ज्ञान रजत की स्मृति को उत्पन्न करा देता है' तब स्मृति का विषय जो रजत उसके साथ सम्मुखस्थित द्रव्य के साथ तादात्म्यरूप जो सम्बन्ध है वह दोषवश ज्ञात हो जाता है इसी ज्ञान को भ्रम कहा जाता है। इस भ्रम के द्वारा गृहीत शुक्ति से अभिन्न रूप में प्रतीयमान जो रजत उसमें यथार्थ रजत के समान इष्टसाधनताज्ञान हो जाता है, अर्थात् इस रजतका लाभ होने से मेरा उपकार होगा, यह ज्ञान होता है। अनन्तर उसके ग्रहण की इच्छा होती है, इस इच्छाके बाद उसके ग्रहण के लिए प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्तिका कारण

यह भ्रमज्ञान ही होता है। यह सम्मुखस्थित द्रव्य का अनुभव ज्ञान नहीं है एवं रजतस्मृति भी नहीं है, वरन् यह एक तृतीय विशिष्टज्ञान है। इस ज्ञान का विषय या विशेष्य वह सम्मुखस्थित द्रव्य है एवं इस ज्ञान का विशेषण या प्रकार है वह रजत है। यह पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत ये दोनों ही सत्य पदार्थ हैं. इन दोनों का तादात्म्य संसर्ग या सम्बन्ध, यह परस्पर आरोपित होता है। किन्तु ऐसा होने से यह तादात्म्य संसर्ग भी अलीक या कल्पित नहीं हो सकता है, यह भी सत्य है। अर्थात् यह सभी सत्य या सत्यमूलक ही होता है। यह भ्रमज्ञान ही पूर्वोक्तरूप में प्रवृत्ति और व्यवहार का कारण होता है।

हमलोगों को जब कोई विशिष्टज्ञान होता है अर्थात् जब कोई सविकल्पक ज्ञान होता है तभी उस ज्ञान का विषय तीन भागोंमें विभक्त हो जाता है। यथा—आधार या विशेष्य, विशेषण या प्रकार और संसर्ग या सम्बन्ध। जब 'घटवद् भूतलम्" विशिष्टप्रभाज्ञन होता है, इसमें भूतल विशेष्य है, घट विशेषण या प्रकार होता है एवं इन दोनों के मध्यमें जो संयोग सम्बन्ध है वही संसर्ग है। ज्ञानका जो विषय होता है उसके साथ ज्ञान के सम्बन्ध को विषयता कहते हैं। इस विषयता का भी तीन भागमें विभाग होता है। प्रकार में विषयता है उसको प्रकारता कहा जाता है, विशेष्य में जो विषयता है उसे विशेष्यता कहा जाता है, सम्बन्ध में जो विषयता है उसको संसर्गता कहा जाता है। अतः "घटवद् भूतलम्" इस ज्ञान का परिचय अन्यथाख्यातिवादियों ने इस रूपमें दिया है—घटप्रकारताक-संयोगसंसर्गताक-भूतलविषयताक ज्ञान को ही 'घटवद्-भूतलम्" ज्ञान कहा जाता है। इसके बाद संसर्गमात्र का एक प्रतियोगी होता है और दूसरा अनुयोगी होता है। जो आधार होता है वह अनुयोगी और जो आधेय होता है वह प्रतियोगी होता है। जैसे 'घटवद् भूतलम्" इस स्थलमें घट आधेय है इसलिए घट प्रतियोगी है और भूतल संयोग से घट का आधार है इसलिए यह अनुयोगी है। घट और भूतलमें जो जो संयोग सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध भूतलानुयोगिक एवं घटप्रतियोगिक संयोग है। इस नियम के अनुसार प्रकार विशेष्य और सम्बन्ध इन तीन का प्रकाश हमलोगों को सविकल्पक ज्ञानमात्र में ही होता है। अब यह

विचारणीय है कि प्रमाज्ञान और भ्रमज्ञान का वैलक्षण्य किस अंश में रहता है। प्रमाज्ञान में भी जो विशेष्य विशेषण और सम्बन्ध का प्रकाश होता है, ये तीनों ही सत् हैं एवं भ्रमज्ञानमें भी जो विशेष्य विशेषण और सम्बन्ध का प्रकाश होता है वे तीनों भी सत् हैं। ये तीनों सर्वथा कल्पित या मिथ्या नहीं होते हैं। प्रमा और भ्रमज्ञान का परस्पर वैलक्षण्य यह है कि प्रमाज्ञान में जो सम्बन्धरूपमें भासमान होता है वह वास्तविक है, यह प्रमाज्ञान का जो विशेष्य और विशेषण, उनके साथ सम्बन्ध अर्थात् इस सम्बन्ध का पूर्व कथित प्रकार प्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्व रूप दोनों धर्म ही सद्रूपमें विद्यमान रहता है। किन्तु भ्रमज्ञानमें सम्बन्धरूप में जो भासमान होता है। उसमें इस ज्ञानका रजतरूप प्रकार प्रतियोगिकत्व रहता है एवं इदं रूप विशेष्यानुयोगिकत्वरूप धर्म रहता है. अथवा स्थल विशेष में उभय नहीं रहता है। 'प्रकार प्रतियोगिकत्व" अर्थ है—विशेषण होता है प्रतियोगी अर्थात् आधेय जिसका, उसीका धर्म। विशेष्यानुयोगिकत्व का अर्थ है-विशेष्य अर्थात् आधार अनुयोगी है जिसका उसका धर्म। "घटवद्भूतलम्' यह प्रमाज्ञान जब होता है, तब उस ज्ञान में संसर्गरूप में भासमान जो संयोग सम्बन्ध उसमें घटप्रतियोगिकत्व और भूतलानुयोगिकत्व रूप ये दोनों धर्म वास्तविक रूपमें विद्यमान रहते हैं। किन्तु 'इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल में संसर्गरूपमें भासमान तादात्म्यरूप सम्बन्ध उसका रजतप्रतियोगिकत्वरूप धर्म वह नहीं रहता है। किन्तु "इदम्" अनुयोगिकत्व रूप जो धर्म वह वास्तविक रूप में विद्यमान रहता है। इसलिए यह भ्रम कहा जाता है। जिस ज्ञान में सम्बन्ध का प्रकार प्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्व रूप दोनों धर्म प्रमा रहता है, एवं जिस ज्ञान के सम्बन्ध के इन दो धर्मों में एक अथवा दोनों ही नहीं रहते हैं—वह भ्रमज्ञान होता है।

इस भ्रमस्थल में जब प्रवृत्ति होती है तब हमलोगों के मन में कौन सा व्यापार होता है यह द्रष्टव्य है। शुक्तिका में रजत का भ्रम होने पर इदं यह अनुभव इसके बाद रजत का स्मरण अनन्तर 'इदं रजतम्" इस विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति अनन्तर पूर्वानुभूत रजत के इष्ट साधनता ज्ञान की स्मृति

इसके वाद इच्छा एवं अनन्तर प्रवृत्ति होती है। किन्तु इसमें और भी सूक्ष्म विषय है जो आलोचनीय है। इस प्रकार की प्रवृत्ति स्थल में एक अनुमिति होती है। यह अनुमिति इस रूप में होती है। प्रथम शुक्तिका में इदं रूप एक अनुभव होता है, अनन्तर 'इदं' इसका चाकचिक्य देखकर रजत का स्मरण होता है, इस स्मरण का नाम ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष है। अन्यथा-ख्यातिवादिओं का कहना है कि प्रत्यक्षज्ञान सन्निकर्ष के विना नहीं होता हैं। सन्निकर्ष का अर्थ है इन्द्रिय के साथ विषय का सन्निकर्ष, इस सम्बन्ध के विना प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है। इसी का दूसरा नाम व्यापार है। अर्थात् इन्द्रिय के इस व्यापार से विशिष्ट होने पर प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। जिस स्थल में हमलोगों को प्रमाप्रत्यक्ष होता है, उस स्थल में इन्द्रिय सन्निकर्ष नियम रूप से विद्यमान रहता है। भ्रम प्रत्यक्ष स्थल में जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं उसके साथ उस समय वस्तुतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता है। किन्तु उसका प्रत्यक्ष स्वीकार करने से इस स्थल में एक अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है। इसी सन्निकर्ष का नाम ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष है; इसमें प्रथम मनके साथ स्मर्यमाण वस्तु का स्मृतिरूप एक सम्बन्ध होता है, अनन्तर उस सम्बन्ध युक्त मन के साथ चक्षुः आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर उस स्मर्यमाण-विषय के साथ इन्द्रियों का परम्परा-सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का नाम स्वसंयुक्त-मनोजन्यस्मृति-विषयत्वरूप सम्बन्ध है। प्रकृत स्थलमें यही ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष है। यह सन्निकर्ष भ्रम और प्रमा इन दोनों स्थलों में हो सकता है। प्रमास्थल का दृष्टान्त—"सुरभि चन्दन" यह प्रत्यक्ष है। वस्तुतः इस प्रकार के चाक्षुष—प्रत्यक्ष स्थलमें चन्दन का जो सौरभ एक प्रकार के ज्ञान-लक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय होता है, अर्थात् सौरभ का भी चाक्षुपप्रत्यक्ष होता है।

इस रजतस्मरण के वाद इस स्मरणरूप-सन्निकर्ष के बल से ही रजत असन्निकृष्ट हो पर भी इसका इदं के साथ अभिन्न रूपमें प्रत्यक्ष होता है इसी को भ्रम कहा जाता है। इस भ्रम के वाद हमलोगों को पूर्वानुभूत रजत की इष्टसाधनताका स्मरण होता है अनन्तर वही इष्टसाधनता रजता-

भिन्न इदं के ऊपर अनुमित होती है। इस अनुमिति का आकार निम्नलिखित है--

पुरोवर्ती द्रव्य रजतसाध्य इष्टसाधनताक्षम है (प्रतिज्ञा)

रजतत्व होने से (हेतु)

जहाँ जहाँ रजत्व है वहाँ रजत साध्य इष्टसाधनता योग्य होता है, जैसे मेरे द्वारा पूर्वानुभूत रजतद्रव्य (उदाहरण)

यह भी वैसा है (उपनय)

अतः, पुरोवर्ती द्रव्य रजतसाध्य इष्टसाधनताक्षम है (निगमन)

इस अनुमिति के साथ ही कृतिसाध्यता ज्ञान एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान उत्पन्न होता है, अनन्तर इस पुरोवर्ती द्रव्य के ग्रहण के लिए हमलोगों की इच्छा उत्पन्न होती है और इसके बाद उस वस्तु के ग्रहण के लिए हमलोग प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार भ्रमके बिना हमलोग शुक्ति में रजत के भ्रमस्थल में रजत के ग्रहण में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। अख्यातियादिओं के मतमें इस स्थल में अनुमिति का यही आकार हो सकता है। —

पुरोवर्ती द्रव्य रजत-साध्य इष्टसाधनताक्षम है (प्रतिज्ञा)

रजत भिन्न रूप में प्रतीत न होने से (हेतु) जो रजतभिन्न रूपमें प्रतीत नहीं होता है वह रजत साध्य इष्टसाधनक्षम होता है, जैसे पूर्वानुभूत रजत (उदाहरण) यह भी वैसा है (उपनय)

अतः पुरोवर्ती द्रव्य रजतसाध्य इष्टसाधनक्षम है (निगमन)

भामतीकार ने इसका खण्डन इस प्रकार किया है——

अन्यथाख्यातिवादिओंका कहना है कि इस अनुमान के द्वारा प्रवृत्ति असम्भव है। कारण इस अनुमिति का हेतु व्यभिचारित हेतु है। क्योंकि, साध्य रजतसाध्य इष्टसाधनक्षम है। यह साध्य जहाँ नहीं रहता है वहां भी "रजतभिन्न रूप में अप्रतीयमानत्व" हेतु रहता है। जहां साध्य नहीं रहता है वहां जो हेतु रहता है, उसी को व्यभिचरित हेतु कहा जाता है। इसलिए यह भी व्यभिचरित हेतु है अतः इस हेतु के द्वारा उक्त अनुमिति नहीं हो सकती है।

अब यह जिज्ञास्य है कि "साध्य जहां नहीं है, वहां हेतु है, यह स्थल कैसे सम्भव हो सकता है। "रजतसाध्य इष्टसाधनताद्यमता-रूप-साध्य केवल रजत में ही रहता है अन्यत्र नहीं रहता है। किन्तु "रजतभिन्न रूपमें अप्रतीयमानत्व" रूप हेतु रजत एवं रजतव्यतिरिक्त अनेक वस्तुओं में भी रह सकता है। कारण, क्योंकि अख्यातिवादिओं का ही कहना है कि पुरोवर्ती द्रव्य रजत नहीं है और उस स्थल में रजतभिन्न रूपमें अप्रतीयमानत्व रूप हेतु विद्यमान रहता है। अर्थात् जिसका दूसरे के साथ भेदज्ञान नहीं होता है वह वस्तु उससे अभिन्न है यह अवगत नहीं होता है। अर्थात् इस स्थल में भ्रमज्ञान ही नहीं होता है। अतः उसके भेद की भी निवृत्ति नहीं होती है, अर्थात् उसमें भेद ही रहता है और यदि भेद ही रहा, तब रजतसाध्य जो कार्य वह उसके द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है? साध्य और हेतु जहां एक देश वृत्ति नहीं होता है अपितु अनेक देशवृत्ति रहता है। उससे जन्य इस प्रकार की अनुमिति नहीं हो सकती है।

इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यही सिद्ध हुआ कि—रजतार्थी व्यक्ति की जो पुरोवर्ती वस्तु विषयक ज्ञान होता है, वह रजतज्ञान से पृथक ज्ञान नहीं हो सकता है, प्रत्युत् यह ज्ञान पुरोवर्ती द्रव्य से अभिन्न भावमें रजतविषयक ही होता है। यह विषय अन्यथाख्यातिवादिओं ने एक अनुमान की सहायता से सिद्ध करते हैं। अनुमान का आकार निम्नलिखित है—

भ्रम स्थलीय-रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तुविषयक है　　(प्रतिज्ञा)

रजतार्थी की नियमपूर्वक उसके ग्रहण में प्रवृत्ति होने से　　(हेतु)

जो ज्ञान जिस विषय के अर्थी को जिस विषय में नियमतः प्रवृत्त करता है, वह ज्ञान उस वस्तु विषयक ही होता है जैसे उभयवादि सिद्ध यथार्थ रजतज्ञान।　　(उदाहरण)

यह भी वैसा ही है।　　(उपनय)

अतः भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ति-वस्तु-विषयक है　　(निगमन)

"इदं रजतम्" इस स्थल में जो ज्ञान को भ्रम कहा जाता है, वह केवल इदं ज्ञान भी नही है एवं केवल रजतज्ञान भी नहीं है, परन्तु इदं को विशेष्य कर रजत या रजतत्व को प्रकार कर एक पृथक् विशिष्टज्ञान होता

है। वेदान्ती भी इस विशिष्टज्ञान को स्वीकार करते हैं। किन्तु उनलोगों का वेदान्तिओं के साथ जिस अंश में मतभेद है उसका विश्लेषण करेंगे।

अख्यातिवादिओं ने कहा है कि रजतज्ञान में शुक्तिका का अवभासन नहीं होता है अतः वह इस ज्ञान का आलम्बन नहीं होता है। अर्थात् शुक्तिका को कभी भी रजत कह कर नहीं समझते हैं। कारण, उसमें शुक्तिका यदि विषय होता तब इस ज्ञानमें जैसे रजत का प्रकाश होता है वैसे ही शुक्तिका भी प्रकाशित होती।

इसके उत्तर में अन्यथाख्यातिवादियों का यह कथन है कि शुक्तिका रजतज्ञान का विषय नहीं होती है इसका क्या अर्थ है ? शुक्तिकागत शुक्तिकात्व रूप जो धर्म, वही इस रजतज्ञान का विषय नहीं होता है, अथवा शुक्तिका रूप द्रव्य शुक्तिकात्व धर्म का परित्याग कर स्वरूपतः रजतज्ञान का विषय नहीं होता है ?

प्रथम पक्षमें यह वक्तव्य है कि इस विषय में अख्यातिवादियों के साथ मेरा मतभेद नहीं है। द्वितीय पक्षमें मेरा यह कथन है कि शुक्तिका रूप द्रव्य यदि रजतज्ञान का विषय नहीं होता तब हमलोग उसको इदं कह कर निर्देश कैसे करते ? "इदं रजतम्" इस प्रकार के अनुभव के समय में हमलोग पुरोवर्ती द्रव्य को ही अङ्गुली के द्वारा "इदं रजतम्" यह कहकर निर्दिष्ट करते हैं—यह सर्वानुभवसिद्ध है। अतः पुरोवर्ती द्रव्य रजतज्ञान का विषय नहीं होता है—यह कथन युक्ति-शून्य है।

अख्यातिवादियों का यह कथन कि दोषके द्वारा वस्तु की मात्र कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है किन्तु दोष नवीन किसी पदार्थ का जन्म नहीं दे सकता है"- यह भी ठीक नहीं है। वेंतका बीज दावाग्नि के द्वारा जल जाने पर वें।त के उत्पन्न करनेकी शक्तितो उसमें नष्ट हो जाती है पर उसमें केले के वृक्ष के जनन के अनुकूल एक नूतन शक्ति का सञ्चार भी हो जाता है। अतः यह मानना होगा कि दोष के द्वारा जिस प्रकार कार्यकारिणी शक्ति का नाश होता है वैसे ही नूतन कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। फलतः दुष्ट इन्द्रिय की प्रमा के उत्पन्न करने की शक्ति

के नष्ट होने पर भी उससे भ्रमात्मक नवीन के उत्पन्न होने में क्या आपत्ति है ? अतः भ्रमज्ञान को यथार्थ कहकर जो अख्यातिवादियों ने अनुमान किया है वह प्रत्यक्षबाध के द्वारा बाधित हो जाता है, इसलिए वह दुष्ट अनुमान ही मानना होगा । अर्थात् यह अग्नि के अनुष्णत्व अनुमान के समान है ।

अख्यातिवादियों का यह भी कथन है कि यदि ज्ञान का प्रामाण्य मानना है तब सभी ज्ञानों को प्रमाण के रूपमें स्वीकार करना होगा। भ्रमज्ञान मानने पर ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में संशय उपस्थित होता है और ज्ञान के प्रामाण्य विषय में संशय होने पर हमलोग किसी भी ज्ञान पर निर्भर नहीं कर सकते हैं। कोई ज्ञान प्रमा और कोई ज्ञान भ्रम इसका निर्वचन करना दुःसाध्य होगा। किन्तु सभी ज्ञान को प्रमा कहने पर यह भय नहीं रह जाता है। इसलिए सभी ज्ञान प्रमा है– सभी ज्ञानों का प्रामाण्य—यही मानना उचित है।

ज्ञान प्रामाण्य के सम्बन्ध में दो मत है। (१) स्वतःप्रामाण्य, (२) परतःप्रामाण्य । स्वतःप्रामाण्य शब्द का अर्थ यह है कि प्रामाण्य अपने आश्रयीभूत ज्ञान का प्रकाशक जो कारणसमुदाय उस कारणसमुदाय से ही प्रतीत होता है एवं परतःप्रामाण्यशब्द का अर्थ यह है कि प्रामाण्य अपने आश्रयीभूत ज्ञान का प्रकाशक जो कारण, उससे भिन्न जो कारण उस कारण से ही प्रतीत होता है। जैसे—स्वतःप्रामाण्यवाद के अनुसार घट इत्याकारक जो हमलोगों का ज्ञान, उस ज्ञान का जो प्रामाण्य, वह उस घट ज्ञान का प्रकाशक जो कारण उन कारणों से ही प्रतीत होता है। परतःप्रामाण्य-वाद के अनुसार घट इत्याकारक जो हमलोगों का ज्ञान उस ज्ञान का जो प्रामाण्य, वह उस ज्ञान का प्रकाशक जो कारणसमुदाय, उससे भिन्न जो कारण, उसी कारण से प्रतीत होता है।

दार्शनिकों ने ज्ञान के प्रकाश के सम्बन्ध में भी दो मत व्यक्त किया है। ज्ञान के द्वारा विषय प्रकाशित होता है इसमें किसी प्रकार का मतभेद

नहीं है। किन्तु जो ज्ञान विषय का प्रकाश करता है वह किसके द्वारा प्रकाशित होता है, इसीमें मतभेद दृष्ट होता है। सांख्य और वेदान्त मत में जो ज्ञान विषय का प्रकाश करता है, वह अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य की सहायता प्राप्त करता है-यह सम्भव नहीं है। जैसे सूर्यरश्मि घटादि का प्रकाश करता है किन्तु सूर्यरश्मि के प्रकाश करने के लिए किसी अन्य रश्मि की आवश्यकता नहीं होती है। इसी तरह विषय का प्रकाशक ज्ञान स्वयं ही अपना प्रकाश करता है। इसी का नाम स्वप्रकाशवाद है। न्याय और भट्टमत में ज्ञान स्वयं अपना प्रकाश नहीं करता है, केवल विषय का ही प्रकाश करता है अपना प्रकाश करने की शक्ति उसमें नहीं है। अर्थात् ज्ञान अपने से अतिरिक्त एक ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होता है। यह दूसरा ज्ञान न्यायमत में अनव्यवसायनामक ज्ञान है एवं भट्ट-मत में वह ज्ञाततालिंगक अनुमान है। अनुव्यवसाय का अर्थ बाद में उत्पन्न ज्ञान होता है जैसे घटज्ञान होने के बाद हम समझते हैं कि "मैं घटज्ञानवान् हूँ"। घटज्ञान व्यवसायपदवाच्य होता है एवं "मैं घटज्ञान-वान् हूँ" यह अनुव्यवसायपदवाच्य होता है। ज्ञाततालिंगक अनुमान का अर्थ यह है कि ज्ञान होने पर ज्ञान के विषय पर ज्ञाततानामक एक प्रत्यक्षसिद्ध धर्म उत्पन्न हो जाता है। उस ज्ञातता को देखकर हमलोग अनुमान कर लेते हैं कि हमको घटविषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ था। इसी अनुमान का नाम ज्ञाततालिंगक अनुमान है। ये दोनों ही ज्ञान को परतःप्रकाश मानने वाले हैं। ज्ञान के सम्बन्ध में जैसे स्वतः प्रकाश और परतः प्रकाश नामक दो मतभेद है वैसे ही ज्ञान के प्रामाण्य और विषय में भी दो मतभेद है ये ही पूर्वोक्त स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्य-वाद है। इनमें नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी एवं माट्ट स्वतःप्रामाण्यवादी है। अर्थात् नैयायिक ज्ञानको परतः प्रकाश एवं परतः प्रामाण्य दोनों ही स्वीकार करते हैं किन्तु माट्ट परतः प्रकाशवादी होने पर भी ज्ञानका स्वतः-प्रामाण्य मानते हैं। वेदान्त, सांख्य और प्राभाकर इन तीन मतों में ज्ञान का स्वतः प्रकाश और परतः प्रामाण्य दोनों ही स्वीकार किया गया है। भट्टमत में ज्ञान की सिद्धि के लिए जो ज्ञाततालिंगक अनुमान किया

जाता है, यह अनुमान ज्ञान को प्रकाशित करने के साथ ही ज्ञानगत-प्रामाण्य का भी प्रकाश करता है। नैयायिक मत में अनुव्यवसाय हमलोगों के घटादिविषयक ज्ञान को प्रकाश करता है, किन्तु ज्ञानगतप्रामाण्य का प्रकाश न करने से उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिए पृथक् एक अनुमान किया जाता है। इस अनुमान का यह स्वरूप है—क्योंकि मेरा यह घटज्ञान दोषरहित कारण से उत्पन्न है अतः यह प्रामाण्ययुक्त है। वेदान्त, सांख्य और प्राभाकर मत में ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह विषय, अपना स्वरूप, ज्ञान एवं अपना प्रामाण्य इन चारों का प्रकाश करता है। अर्थात् यह जिस तरह अपना प्रकाश करता है उसी प्रकार विषय का भी प्रकाश करता है उसी तरह अपना जो प्रामाण्य है उसका भी प्रकाश करता है एवं ज्ञाता अर्थात् अपना आश्रय जो आत्मा उसका भी प्रकाश करता है—वही स्वतःप्रकाश या स्वतःप्रामाण्य है।

भामतीकार ने कहा हैं कि किसी एक ज्ञान में व्यभिचार देखकर सभी ज्ञानों के प्रामाण्य में सन्देह हो जायेगा -- इसमें क्या कारण है? यदि यह कहा जाय कि अव्यभिचारिता ही प्रामाण्य है अथवा अव्यभिचारिता प्रामाण्य का कारण है या प्रामाण्य अव्यभिचारिता का व्याप्य है? किन्तु इनमें एक भी संगत नहीं है।

प्रथमकल्प में यह आपत्ति है कि हमलोगों की इन्द्रियां किसी किसी समय किसी भ्रमात्मक ज्ञान की जनक होने पर भी कुछ अनेक समय में प्रमात्मक ज्ञान की भी जनक होती हैं किन्तु इससे कोई सन्देह नहीं करता है। अतः चक्षु आदि इन्द्रियों में व्यभिचारिता होने पर भी प्रामाण्य रहता है, यह दुष्ट होती है इसलिए अव्यभिचारित्व ही प्रामाण्य है यह नहीं कहा जा सकता है।

द्वितीय कल्प में अर्थात् अव्यभिचारित्व ही प्रामाण्य का हेतु है—यह कथन भी दोषरहित नहीं है। कारण, धूम को वह्नि के प्रति प्रमाण कह कर सभी लोग स्वीकार करते हैं अर्थात धूम को देखने के बाद वह्नि की अनुमिति होने पर उसको अभ्रान्त अनुमिति ही माना जाता है, किन्तु समय समय धूमज्ञान होने पर अनेक प्रतिबन्धकों से वह्नि की अनुमिति

नहीं हो पाती है अतः धूम में अव्यभिचारित्व होने पर भी उसमें वह्नि-विषयक प्रामाण्य नहीं रह पाता है।

तृतीय कल्प भी अर्थात् प्रामाण्य अव्यभिचारिता का व्याप्य है ठीक नहीं है। इस कल्प का भी प्रथम कल्प की युक्तियों से ही निराकरण हो जाता है। कारण, जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहने पर व्याप्यव्यापक-भावसम्बन्ध को रहना ही चाहिए। अतः किसी एक ज्ञान में व्यभिचार देखकर सभी ज्ञानों के प्रामाण्य में सन्देह नहीं होता है।

इससे अतिरिक्त यह भी आपत्ति है कि ज्ञानप्रामाण्य कभी भी प्रवृत्ति का कारण नहीं होता है, वरन ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण होता है। परन्तु उस समय उसको प्रमा ही समझता है -- यही संसार के लोगों का स्वभाव है। इसके दोष का दर्शन होने पर उस ज्ञान में संशय उत्पन्न होता है एवं इसके बाद अन्य प्रमाण के द्वारा उसका संशय निवृत्त होता है अर्थात् पुनः उसका प्रामाण्य ज्ञान होता है स्थलविशेष में नहीं भी होता है। अतः प्रामाण्यज्ञान ज्ञान के साथ ही होता है, अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा उसका उदय नहीं होता है -- यही लोकस्वभाव के अनुरूप सिद्धान्त है।

स्मृतिप्रमोषभंग के सम्बन्ध में भामतीकार ने ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा ब्रह्मसिद्धि की टीका में विस्तारपूर्वक लिखा है किन्तु उस ग्रन्थ के दुर्लभ होनेसे उसका विस्तृत-विश्लेषण सम्भव नहीं है किन्तु अन्य ग्रन्थोंकी उपलब्धि के अनुसार सामान्य विवेचन प्रस्तुत करता हूँ। लोकप्रसिद्ध शुक्तिका में रजतभ्रमस्थल में शुक्ति देखने के बाद ही जो रजत की स्मृति होती है उसमें यथार्थ रजत का तत्ता रूप अर्थात् "वही" इस अंश का प्रकाश नहीं होता है। अर्थात् अख्यातिवादियों का कहना है कि रजत के तत्तांश प्रमोष (लोप) होता है। स्मृति के इस प्रमोष का खण्डन भामतीकार ने किया है, यही स्मृतिप्रमोषभंगशब्द का अर्थ होता है। भ्रमस्थल में स्मृति का प्रमोष सम्भव नहीं है। कारण, इसका कोई कारण ही नहीं है। कार्यवैचित्र्य देखकर ही सर्वत्र विलक्षण कारणों का अनुमान किया जायेगा, अन्यथा-ख्यातिवादी भ्रमरूप कार्य को देखकर ही उक्त प्रमोष के हेतुभूत दोष की

कल्पना करते हैं, अख्यातिवादियों के मत में भ्रम न होने से उसकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है ? यदि यह कहा जाय कि भ्रमस्थलीय व्यवहार के लिए स्मृति के प्रमोष की कल्पना की जाती है—यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण यह व्यवहार ही विवादास्पदीभूत विषय है। भ्रम न होने पर उक्त व्यवहार ही नहीं हो सकता है—यह पूर्व में ही प्रदर्शित किया गया है। चेतन व्यक्ति का कार्य ज्ञानमूलक ही होता है, वह ज्ञानाभावमूलक नहीं होता है।

ब्रह्मसिद्धि के अनुसार अख्यातिवादियों के मत का उत्थान-पूर्वक भ्रमज्ञान की सिद्धि के लिए अन्यथाख्याति का समर्थन।

भ्रमज्ञान की सिद्धि न होने पर अर्थात् सभी ज्ञानों को प्रमारूप मानने पर जीवब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि के लिए बादरायण सूत्र की आवश्यकता नहीं होगी। जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही वेदान्तवाक्यों का प्रतिपाद्य विषय है। शंकराचार्य ने स्वयं ही कहा है कि "आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः प्रारभ्यन्ते" वेदान्तवाक्यों का असाधारण प्रतिपाद्य विषय यदि विधिप्रमाणक हो तब वेदान्तशास्त्र की क्या आवश्यकता होगी ? विधि के अपेक्षित सभी स्वरूपों का निरूपण जैमिनीयतन्त्र में ही कर दिया गया है। अतः भ्रमज्ञान की सिद्धि और असिद्धि के बादरायण तन्त्र के आरम्भ और अनारम्भ स्थिर है। भ्रमज्ञान की सिद्धि होने पर जीव और ब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि के लिए बादरायणतन्त्र ही अपेक्षित होगा। इसीलिए मण्डनमिश्र ने अपने ब्रह्मसिद्धिग्रन्थ में अख्यातिवाद का खण्डन कर अन्यथाख्यातिवाद का प्रदर्शन किया है अर्थात् सभी ज्ञानों की समीचीनता है—इस मत का खण्डन कर भ्रमज्ञान की स्थापना की है। सभी ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकते हैं। अयथार्थ ज्ञान का मानना भी आवश्यक है, अन्यथा विसंवादी प्रवृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा। यथार्थ-ज्ञान से संवादिनी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती है। विसंवादिनी प्रवृत्ति की रक्षा के लिए सभी लोगों को अयथार्थ मानना पड़ेगा। अयथार्थ प्रवृत्ति का नाम ही विसंवादिनी प्रवृत्ति है। ब्रह्मसिद्धि में अख्यातिवाद का

खण्डन कर अन्यथाख्यति की स्थापना की गई है अर्थात् भ्रमज्ञान का समर्थन किया गया है। किन्तु न्यायमतसिद्ध अन्यथाख्याति के समथन के लिए मण्डन मिश्र की प्रवृत्ति नहीं है। न्यायमतसिद्ध अन्यथाख्याति के साथ ब्रह्मसिद्धि का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हो भी नहीं सकता है, मात्रज्ञान का समर्थन ही अभिप्रेत है। मण्डन मिश्र ने तर्ककाण्ड की ३१ वीं कारिका में भेद का मिथ्यात्व प्रदर्शन कर जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन किया गया है। ऐसी स्थिति में मण्डनमिश्र सत्ख्यातिविशेष अन्यथाख्याति के समर्थक कैसे हो सकते हैं। अख्यातिवाद का खण्डन कर अन्यथाख्याति का समर्थन होने पर भ्रमज्ञान समर्थित होता है और भ्रमज्ञान अनिर्वचनीयख्याति में पर्यवसित होता है—यही मण्डनमिश्र का अभिप्राय है।

मीमांसकों का कहना है कि बुद्धि अन्यवस्तु को अन्य प्रकार में ग्रहण नहीं कर सकती है। जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है, वह वस्तु उस धर्म प्रकार में बुद्धि का विषय ही नहीं हो सकती है। अन्यवस्तु का अन्यथारूप में ग्रहण ही भ्रान्ति है, यह भ्रान्ति सम्भावित नहीं है। कारण, जिस ज्ञान में जो वस्तु भासमान होती है, वही वस्तु उस ज्ञान का विषय होती है। जो वस्तु जिस ज्ञान में भासमान नहीं होती है वह वस्तु उस ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकती है। ज्ञान में अभासमान वस्तु ज्ञानका विषय हो यह अत्यन्त विरुद्ध बात है। जो शुक्ति में रजत की भ्रान्ति स्वीकार करते हैं वे इस भ्रान्तिज्ञान में रजत भी भासमान होता है किन्तु इस ज्ञान का विषय शुक्ति है—यही कहते हैं। ज्ञान में रजत भी भासमान होगा और विषय शुक्ति होगी यह प्रतीति के विरुद्ध है। इस प्रतीतिविरोध के कारण ही भ्रमज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है।

मीमांसकमत में भ्रमज्ञान-स्वीकार में आपत्ति :—यदि ज्ञान अन्य वस्तु को अन्यथा रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता, जिसमें जो धर्म नहीं है उसमें उस धर्म का ग्रहण होने पर ज्ञानमात्र में लोगों का अनाश्वास हो हो जायगा। कारण, ज्ञान यदि विषय का व्यभिचारी हो अर्थात् विषय

न रहने पर भी ज्ञान होता, तब लोगों का किसी भी ज्ञान में आश्वास सम्भव नहीं होता। फलतः विषय दर्शन के बाद उस विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती और इससे लोकव्यवहार ही समाप्त हो जाता। कोई भी ज्ञान विषय का व्यभिचारी नहीं होता है, यह स्वीकार करने पर ही सभी लोगों का सभी ज्ञानों में आश्वास रहेगा और निष्कम्प प्रवृत्ति भी होगी। इस लोकव्यवहार के समर्थन के लिए सभी ज्ञानों को समीचीन मानना उचित है अर्थात् सभी ज्ञान यथार्थज्ञान हैं यह मानना उचित है। वस्तु के देखने के समय देखने वाले को यही निश्चय होता है कि हम वस्तु को जिस रूप में देख रहे हैं वह वस्तु तद्रूप ही है। भ्रमज्ञान के स्वीकार करने पर देखने वाले को यह निश्चय नहीं हो सकता है। इसी विषय को अभिव्यक्त करते हुए अख्यातिवादियों ने यह कहा है :—

"अहो बतो महान् एष प्रमादो धीमतामपि।
ज्ञानस्य व्यभिचारित्वे विश्वासः किन्निबन्धनः॥"

दूसरी बात यह है कि जो ज्ञान विषय के अनुरूप अनुकरण कर नहीं होता है, वह ज्ञान निर्विषय एवं निरालम्बन होता है और निरालम्बन-ज्ञान ग्रहण के अयोग्य होता है। शुक्तिरूप का अनुकरण कर जो ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है वह ज्ञान शुक्तिविषयक नहीं हो सकता है एवं उस ज्ञान का आलम्बन भी शुक्ति नहीं हो सकती है। इन्द्रिय का सम्बन्ध शुक्ति के साथ ही हुआ था। किन्तु ज्ञान शुक्तिविषयक नहीं होता है! रजत के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिए रजत प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। जिसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध था वह प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं होता है और जिसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है वह प्रत्यक्षज्ञान का विषय होता है—वह कभी भी नहीं हो सकता है।

भ्रमज्ञान के विरुद्ध मीमांसकों की युक्ति :—ज्ञान को भ्रम स्वीकार करने वालों ने कहा है कि इन्द्रियसन्निकृष्ट शुक्ति का ज्ञान में भान न होने पर भी शुक्ति में जो रजत भ्रम, उसमें शुक्ति आलम्बन हो सकती है। कारण, इन्द्रियसन्निकृष्ट शुक्ति रजत भ्रम का जनक होती है, ज्ञान का जनक होने से ही शुक्ति भ्रमज्ञान का आलम्बन हो सकती है, अतः

भ्रम ज्ञान निरालम्बन नहीं होगा।

इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का यह कहना है कि ज्ञान का कारण होने से ही यदि ज्ञान में अभासमान वस्तु भी ज्ञान का आलम्बन हो सकती, तब चक्षु: आदि इन्द्रियां भी ज्ञान की जनक होने से ही उस ज्ञान का आलम्बन हो जाती। अतः यह मानना पड़ेगा कि जो ज्ञान का वेद्य नहीं होता है वह ज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकता है। जो इन्द्रिय सन्निकृष्ट होता है वही उस ज्ञान में वेद्य होता है अर्थात् वही उस ज्ञान का आलम्बन होता है। शुक्ति उस ज्ञान में भासमान नहीं होती है और रजत असन्निकृष्ट है इसलिए वह भी प्रत्यक्षज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकता है। इसलिए भ्रमवादियों को भ्रमज्ञान को निरालम्बन ज्ञान ही मानना पड़ेगा। जिस प्रकार बौद्धों ने बाह्यवस्तु के न होने से सभी ज्ञानों को निरालम्बन माना है वैसे ही भ्रमवादियों को भी निरालम्बन ज्ञान ही मानना पड़ेगा। भ्रमज्ञान को निरालम्बन मानने पर भ्रमज्ञान के दृष्टान्त से बौद्ध ज्ञानमात्र के निरालम्बनत्व का अनुमान कर सकते हैं, इस प्रकार ज्ञान के भ्रमत्ववादी बौद्धमत के ही समर्थक हो जायेंगे। निरालम्बनज्ञान सर्वथा असिद्ध है। विषय-व्यवहार के लिए ही ज्ञान की अपेक्षा होती है। ज्ञान को यदि निरालम्बन माना जाय तब वह ज्ञान किसी भी व्यवहार का जनक नहीं हो सकता है। फलतः व्यवहार मात्र ही उच्छिन्न हो जायगा। ज्ञान ही व्यवहार का जनक होता है। ज्ञान भी व्यवहार का जनक न हो तो व्यवहार का सर्वथा उच्छेद हो जायगा। ज्ञान में अभासमान वस्तु ज्ञान का आलम्बन हो तो ज्ञान विषय का वेदक नहीं होगा और ज्ञान के द्वारा विषय की सिद्धि भी नहीं होगी।

इस आशंका में भ्रमत्ववादी यह शंका करते हैं कि शुक्ति रजतरूप में ज्ञान का विषय न हो तो शुक्ति रजतरूप में भासमान ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में संसार में शुक्ति में जो रजतज्ञान होता है वह क्या है? इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का कहना है, चक्षु की शुक्तिसन्निकर्षदशा में जो रजत का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह रजत की स्मृति है रजत का चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसमें यह जिज्ञासा है कि इस स्थल में रजत-

स्मृति का क्या कारण है ? शुक्ति के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष रजतस्मृति का कारण नहीं है। ऐसी स्थिति में रजत की स्मृति किस प्रकार हुई ? इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का कहना है कि शुक्ति के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने से शुक्लभास्वरत्वादि रूप में शुक्ति का ग्रहण होता है किन्तु दोष के कारण शुक्तित्वरूप में ग्रहण नहीं होता है। यह शुक्लभास्वरत्वादिरूप शुक्ति और रजत का साधारण रूप है। शुक्ति और रजत के साधारण रूप में शुक्ति का ग्रहण होता है। रजत के सदृशरूप में शुक्ति का दर्शन होने से द्रष्टा के रजत-संस्कार का उद्‌बोध होता है। उद्‌बुद्ध रजत संस्कार से रजत-स्मृति होती है। सदृशवस्तु का दर्शन संस्कार का उद्‌बोधक होता है। सदृश, अदृष्ट, चिन्ता आदि संस्कार का उद्‌बोधक होता है। इस स्थिति में भ्रान्तिवादी जिज्ञासा करते हैं कि रजत की स्मृति होने से ही इस ज्ञान के भ्रान्तित्व की सिद्धि कैसे होती है ? शुक्ति के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर रजतशुक्ति-साधारण-शुक्लभास्वरत्वादिरूप में सन्निहित शुक्ति का "इदं" इस रूप में प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न होता है एवं सदृशदर्शन से रजत की स्मृति होती है। ये दोनों ही ज्ञान यथार्थ हैं। अतः इनदोनों ज्ञानों के भ्रान्तित्व की सिद्धि कैसे होगी ?

भ्रम के स्वीकार में अख्यातिवादियों की आपत्तियां :—अख्यातिवादियों का यह कहना है कि शुक्लभास्वरत्वादिरूप में सामने स्थित शुक्ति का "इदं" इस रूप में प्रत्यक्ष का विषय होती है। इस प्रत्यक्ष में शुक्तिका में रजत का भेदक जो विशेष-धर्म शुक्तित्व है, वह दोष के कारण गृहीत नहीं होता है, मात्र रजतसाधारणधर्म शुक्लभास्वरत्वादि शुक्तिका में गृहीत होता है। सदृश-दर्शन से यह रजत-स्मृति हुई है, यह स्मृति भी तत्तांश के उल्लेख से रहित होकर ही उत्पन्न होती है। साधारणतः स्मृति तत्त्वोल्लेखिनी होती है। "तत् रजतम्" यही स्मृति का आकार है। मन के दोष से यह तत्ता के उल्लेख से रहित होकर रजत की स्मृति होती है। तत्त्वोल्लेखरहित स्मृति का विषयीभूत रजत, प्रत्यक्ष से गृहीत शुक्तिखण्ड से दोषवश भिन्नरूप में गृहीत नहीं होता है। शुक्ति और रजत भिन्न देशवृत्ति और भिन्न

कालवृत्ति हैं किन्तु दोषवश शुक्ति और रजत भिन्न देशस्थित एवं भिन्न कालस्थित रूप में गृहीत नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से गृह्यमाण इदं वस्तु के साथ स्मर्यमाण रजत का अविवेक प्रयुक्त अर्थात् विवेक का अग्रहण होने से शुक्ति में प्रवृत्ति रजतार्थी पुरुष का रजतबुद्धि के साथ रजत-प्रवृत्ति का विसंवाद होता है। इस विसंवादी प्रवृत्ति का जनक होने से एवं ग्रहण और रजत-स्मरण में भ्रान्तित्व का व्यवहार लोक में होता है। दो ज्ञान ग्रहण और स्मरणरूप-दोनों ही यथार्थज्ञान हैं। किन्तु दोषवश विवेक का ग्रहण न होने से उक्त ज्ञानद्वय विसंवादी रजत-व्यवहार का जनक होने से लोक में उक्त दो ज्ञानों को भ्रम कह कर निर्देश किया जाता है। अगृहीत-विवेक दोनों ज्ञान विसंवादी प्रवृत्ति का जनक होने से उक्त दोनों ज्ञान समीचीन होने पर भी केवल विसंवादी प्रवृत्ति का जनक होने से ही लोक में उक्त दो यथार्थज्ञान को भ्रम कहा जाता है। ग्रहण और स्मरणरूप ये दो ज्ञान कहे गये हैं, ये दो ज्ञान इस रूप में उत्पन्न होते हैं जिससे गृह्यमाण और स्मर्य्यमाण रूप दो वस्तुओं के परस्पर भेदक धर्म दोषवश ग्रहण और स्मरण का विषय नहीं होता है। भेदक धर्म न होने से केवल साधारण धर्म का ही ग्रहण होने से गृह्यमाण और स्मर्य्यमाण इन दोनों वस्तुओं का भेदाग्रह होता है। वस्तुतः भेदाग्रहण ही रहता है किन्तु विवेकरहित पुरुष को इस भेदाग्रहण में अभेदग्रहण का अभिमान हो जाता है। वस्तुतः अभेदग्रहण नहीं हो सकता है। गृह्यमाण और स्मर्य्यमाण इन दो वस्तुओं में अभेद नहीं है और जो नहीं है उसका ग्रहण कैसे हो सकता है ? गृह्यमाण और स्मर्यमाण दो वस्तुओं में भेद ही है—केवल दोषवश मात्र इस भेद का अग्रहण है। दो भिन्न वस्तुओं का अभेदग्रहण नहीं हो सकता है। कारण, दो भिन्न वस्तुओं का अभेद अलीक है। अलीक-वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। वस्तुतः अलीक वस्तुओं का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त में अलीकवस्तुविषयकविकल्पवृत्ति स्वीकार की गई है। विकल्पवृत्ति शब्दजन्य वस्तुशून्य ही होती है। किन्तु दोषवश भिन्न दो

वस्तुओं के भेद का अग्रहण हो सकता है। जैसे बहुत कम दूरी वाले दो वृक्ष दूर से दृष्ट होने पर दोषवश देखनेवाला व्यक्ति इन दो वृक्षों के संश्लेप का अभिमान करता है। असंश्लिष्ट दो वृक्षों का संश्लिष्टरूप में ग्रहण नहीं हो सकता है, केवल असंश्लेष का मात्र अग्रहण होता है और इसीसे विवेकशून्य पुरुष संश्लेष-ग्रहण का अभिमान करता है। जैसे आलोक के अग्रहण में अन्धकार के दर्शन का अभिमान लोगों को होता है. किन्तु आलोक के अदर्शन से अतिरिक्त तमोदर्शन कुछ भी नहीं है।

अद्वैतवेदान्तियों के मत में भ्रम की सिद्धि के लिए युक्तियाँ :— अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि पूर्वपक्षियों का यह कथन, अन्य वस्तु 'अन्य रूप में प्रतीत नहीं हो सकती है',—असंगत है। यदि चक्षुःसंयुक्त-शुक्तिका खण्ड रजतरूप में प्रतीत न हो या अन्य स्थान में स्थित रजत पुरोवर्ती के रूप में प्रतीत न हो, तब कभी भी रजतार्थी शुक्तिका खण्ड में प्रवृत्त नही हो सकता है। रजतपदार्थ इदं के रूप में और इदं पदार्थ रजत के रूप में भासमान होता है। आचार्य शंकर ने जिस प्रकार अन्योन्याध्यास स्वीकार किया है वैसे ही मण्डनमिश्र ने भी अन्योऽन्याध्यास माना है और इसीलिए शुक्ति रजतत्व में एवं अन्यस्थानस्थित रजत भी सन्निहित-शुक्ति के रूप में प्रतीत होता है। शुक्तिका खण्ड रजतरूप में गृहीत न होने पर उसमें रजतार्थी प्रवृत्त नहीं हो सकता है। जो वस्तु रजतस्वरूप में अवगत नहीं होती है उसमें रजतार्थी प्रवृत्त नहीं होता है। जैसे मृत्पिण्ड आदि में रजतार्थी प्रवृत्त होता है, यह नहीं कहा जा सकता है। कारण, स्मर्य्यमाण रजत पुरोवर्ती देश में नहीं है, किन्तु रजतार्थी की पुरोवर्ती देश में ही प्रवृत्ति होती है। स्मर्य्यमाण रजत में रजतार्थी की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर पुरोवर्ती देश में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि स्मर्य्यमाण रजत पुरोवर्ती देश में भासमान नहीं है, दोषवश मन के उपघात के कारण रजतस्मृति "तद्रजतम्" इस प्रकार है किन्तु तत्ता के उल्लेखरहित होने से "रजतम्" यह स्मृति होती है। स्मर्य्यमाण रजत में भी पूर्व देश सम्बन्ध भासमान नहीं होता है। उक्त स्मृति में रजत ही प्रतीत होता है, किन्तु रजत का असन्निधान

प्रतीत नहीं होता है और इसीलिए रजतार्थी की शुक्तिका में प्रवृत्ति होती है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यह कहना है कि रजत के असन्निधान की अप्रतीति से ही यदि रजतार्थी की इदमास्पद में प्रवृत्ति हो तब रज-तार्थी की अन्यत्र भी प्रवृत्ति हो सकती है। अन्य वस्तु में भी रजत के असन्निधान की अप्रतीति ही रहती है। किन्तु रजतार्थी की नियमतः शुक्तिका में ही प्रवृत्ति होती है। शुक्तिका में रजतत्वसंसर्ग के अज्ञान से ही रजतार्थी की प्रवृत्ति मानने पर, अन्यत्र भी रजतार्थी की प्रवृत्ति होना उचित है। कारण, अन्य वस्तु में भी रजतत्व के असंसर्ग का अज्ञान रहता है या अन्य वस्तु में रजत के भेद का अग्रह है।

इसके उत्तर में पूर्व पक्षी का यह कथन है कि शुक्ति में रजत-साधारण –शुक्लभास्वरत्वादिरूप दृष्ट होने से उसमें रजतार्थी की प्रवृत्ति होती है अन्यत्र नहीं होती है। इसके उत्तर में यह कहना है कि सामान्य रूप में ज्ञान रजतार्थी की प्रवृत्ति का कारण नहीं है, किन्तु रजतत्वरूप में ज्ञान ही रजतार्थी की प्रवृत्ति का कारण है। अख्यातिवादी रजतत्वरूप में शुक्तिका खण्ड का ज्ञान नहीं मानते हैं। जैसे मृत्पिण्ड आदि रजतरूप में गृहीत नहीं होता है, अतः उसमें रजतार्थी प्रवृत्त नहीं होता है। इसी प्रकार शुक्तिका खण्ड भी रजत रूप में गृहीत नहीं होता है इसलिए उसमें रजतार्थी प्रवृत्त नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि दृश्यमान शुक्तिका खण्ड के साथ स्मर्य्यमाण रजत का भेदाग्रह होने से रजतार्थी की शुक्तिखण्ड में प्रवृत्ति होती है, किन्तु अदृष्ट मृत्पिण्डादि के साथ रजत के भेदाग्रह से रजत के लिए प्रवृत्ति की कोई सम्भावना नहीं है। दृष्ट स्मृत शुक्ति रजत का भेदाग्रह ही रजतार्थी की प्रवृत्ति का कारण है। किन्तु अदृष्ट मृत्पिण्ड और स्मृत रजत का भेदाग्रह रजतार्थी की प्रवृत्ति का कारण नहीं है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यह कथन है कि जिस प्रकार दृष्ट शुक्तिखण्ड के साथ स्मर्य्यमाण रजत का भेद गृहीत नहीं होता है उसी प्रकार अदृष्ट मृत्पिण्ड से भी स्मर्य्यमाण रजत का भेद गृहीत नहीं होता

है। अतः अदृष्ट मृत्पिण्डमें रजतार्थीकी प्रवृत्ति प्राप्त ही है मृत्पिण्ड अदृष्ट, शुक्तिकाखण्ड दृष्ट-मात्र यह विलक्षणता ही प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के विषय में ही प्रवृत्ति होती है, शुक्ति ज्ञान का विषय है। अतः, उसमें प्रवृत्ति होगी और मृत्पिण्ड ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिए, उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके उत्तर में यह कहना है कि पुरोवर्ती रजत भी तो विषय नहीं होता है। अतः, उसमें भी प्रवृत्ति कैसे होगी ? शुक्ति विषय तो होता है, किन्तु शुक्ति रजतार्थी की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। अतः अगत्या अख्यातिवादी को अविषय में प्रवृत्ति माननी ही पड़ेगी। यदि कहा जाय कि दृश्यमान के साथ भेदाग्रह ही प्रवृत्ति का कारण है और अदृश्यमान के साथ भेदाग्रह प्रवृत्ति का कारण नहीं है। इसके उत्तर में यही कहना है कि दृश्यमान के साथ भेदाग्रह और अदृश्यमान के साथ भेदाग्रह—ये दोनों ही स्वल्पभेद नहीं है। भेद का अग्रह भेदग्रहण का प्रागभावस्वरूप है। दोनों स्थलों में ही भेदाग्रह है। अख्यातिवादिओं के मत में अभाव पदार्थ नहीं है और जो नहीं है उसकी विलक्षणता कैसे प्रदर्शित हो सकती है ?

यदि यह कहा जाय कि शुक्ति दृष्ट होने पर शुक्ति के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है एवं शुक्ति का दर्शन भी है, अदृष्ट वस्तु के साथ इन्द्रिय का संयोग भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है। अतः दृष्ट भेदाग्रह और अदृष्टभेदाग्रह दोनों ही समान है - यह नहीं कहा जा सकता है। इसके उत्तर में यह कहना है कि भेद के अग्रह में इन्द्रिय संयोग और दर्शन का क्या उपयोग है ? दृष्टवस्तु के साथ भेदाग्रह में भी इन्द्रिय संयोग और दर्शन की कोई उपयोगिता नहीं है। अग्रहण ग्रहण का प्रागभाव स्वरूप है। उसमें इन्द्रिय-योग और दर्शन की कोई उपयोगिता नहीं है। इन्द्रिय-योग और दर्शन की उपयोगिता शुक्ति में रजत के आरोप में या रजत में शुक्ति के आरोप में है। कारण, शुक्ति में रजत का ज्ञान चाक्षुष-भ्रम है, चाक्षुष-भ्रम में चक्षुः के संयोग की आवश्यकता होती है। शुक्ति नयन-संयुक्त होगा एवं सामान्यरूप में अर्थात् इदंरूप में दृष्ट होगा, तभी उसमें रजत का आरोप हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता है। अतः इन्द्रियसंयोग और दर्शन

रजत के समारोप में उपयोगी है अग्रहण में उपयोगी नही है।

अनन्तर मण्डनमिश्र ने कहा है कि स्मर्य्यमाण रजत रजतस्मृति के द्वारा ही इदं वस्तु से विविक्तरूप में प्रतीत होगा या नहीं ? इदं वस्तु प्रभित है और रजत वस्तु स्मृत है। स्मरण स्मर्य्यमाण को प्रमीयमाण-व तु से भिन्न रूप में अवभासन करता है कि नहीं ? यदि रजतस्मृति के द्वारा ही विविक्त रूप से प्रतीत होता है यह स्वीकार किया जाय तो यह आशंका होती है कि स्मरण और प्रत्यक्ष में अविवेक कैसे होता है, कारण, अपने ही ज्ञान से तो दोनों भिन्न है और दोनों में ि वेक ही है, ऐसी स्थिति में रजतार्थी की शुक्ति में अ िवेक से प्रवृत्ति होगी ? यदि यह कहा जाय कि स्मृति अपने सामर्थ्य से अपने विषय का विभेद नहीं करती है किन्तु चाकचिक्य आदि सामा य द ान से अविवेक होता है। तब यह आशंका होती है कि अन्यत्र स्थाणु में ऊर्ध्वत्व आदि सामान्य दर्शन में स्थाणुपुरुषत्वादि के स्मरण से सदा विपर्यय ही होता है ऐसी बात नहीं है वरन् स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार संशय भी देखा जाता है' यदि विपर्यय-शब्द विवेकाग्रहणलक्षण भ्रम को विवेकाग्रहण साम्य से उपचार से कहा गया है; अख्यातिवादी के मत में विपर्यय नहीं है जिससे उसकी प्रसक्ति हो सकती है। एक की स्मृति होने पर पुरोवर्ती वस्तु में उसका अविवेक होने से भ्रम होता है और अनेक स्मृति में दो स्मृत वस्तुओं के अविवेक से संशय होता है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्थाणु और पुरुष की स्मृति में कभी एक का भ्रम देखा गया है। यह आपके पक्ष में नहीं हो सकता है।

स्मृत अपने ज्ञान से विविक्त नहीं होता है किन्तु पुरोवर्ती शुक्ति आदि मे "इदम्" इस अनिर्धारित–विशेष मे सामान्यरूप मे से प्रत्यक्ष होने पर प्रत्यक्ष से देखे जाने पर जो रजतादि से भेदापादक विशेषज्ञान होता है वही यह है। यह भी ठीक नहीं है, कारण प्रत्यक्षगत विशेषज्ञान न होने पर दोनों की स्मृति होने पर सदा संशय होगा, एकाकार भ्रम कैसे होगा ? कभी यह भी हो सकता है यह भी पक्ष श्रेष्ठ नहीं है।

स्मृति स्वार्थ-विवेचन स्वभाव से ही स्मर्य्यमाण दृश्य से भेद करती है और स्मृति से विपर्यय भिन्न है, अनन्तर दोनों की स्मृति होने पर

इन्द्रियादिदोषविशेष से अविवेकाकार विपर्यय हो सकता है। इसलिए स्मृति अपने विषय का विवेचन स्वभाव ही है, और विपर्यय भिन्न ही है —यही पक्ष श्रेष्ठ है। स्मृतिलक्षण अपने विज्ञान से ही स्मृत भिन्न होता है, दृश्यमान का विशेषज्ञान से भेद नहीं होता है। इसी विषय का विश्लेषण विभ्रमविवेक में दिखाया गया है—ऊर्ध्वता आदि सामान्यदर्शन होने पर भी स्थाणु पुरुष में से एक कोटि स्मरण होने से उभयकोटि का स्मरण न होने से संशय नहीं होता है दोषों के अदृष्ट रहने से विपर्यय नहीं होता है। यदि स्मृति अपने विषय को स्वयं भिन्न नहीं करती है, तो अनन्तर एक कोटि का स्मरण होने से विपर्यय होगा किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः अपने ज्ञान से स्मृत भिन्न होता है दृश्यमान का विशेषपरिज्ञान से नहीं होता है। कारण सामान्य दर्शन के समय में उसका अभाव है। इसलिए स्मृति का स्वभाव से स्मृतविवेक होने से स्मर्य्यमाण और गृह्यमाण में विवेकाभाव कैसे हो सकता है? जिससे विवेकाख्याति को भ्रम कहा जा सकना है।

इस प्रकार ब्रह्मसिद्धि में इसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है, जिसका विश्लेषण विवरणमतप्रदर्शन प्रसंग में दिखा चुका हूँ। अन्त में अन्यथाख्याति का समर्थन करते हुए मण्डनमिश्र ने कहा है कि अन्य रूप में रहता हुआ अन्यरूप में ज्ञात होता है, यह ज्ञान निरालम्बन है और असदालम्बन भी है। इस प्रसंग में कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक से यह कारीका उद्धृत की गई है—

तस्मादन्यथा सन्तम्
अन्यथा प्रतिपद्यते
तन्निरालम्बनं ज्ञानम्
असदालम्बनंच तत् ॥

श्लो० वा, पृ० २४५ ब्र० सि० पृ० १४७)

अन्यथाख्याति का स्वरूप निरूपण :—इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादिओं के मत का आलम्बन कर अख्यातिवाद का खण्डन प्रदर्शन किया गया है प्रकृत में अन्यथाख्याति का स्वरूप निरूपण कर रहा हूँ।

अज्ञान से जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है वही हमलोगों के भ्रमज्ञान का विषय होती है—यही अन्यथाख्यातिवादी स्वीकार करते हैं।

अन्यथाख्यातिवादिओं के मत में भ्रमलक्षण को इस रूप में भाष्य में प्रदर्शित किया गया है। शुक्तिकादि में रजतादि का अध्यास शुक्तिकादि की रजतादिरूप भिन्न वस्तु का धर्म जो रजतत्व उसका आरोप ही भ्रम है। शुक्ति में जो रजतज्ञान है, वह केवल शुक्तिज्ञान नहीं है अथवा केवल रजतज्ञान भी नहीं है। किन्तु वह एक तृतीयज्ञान है। इस स्थल में विशेष्य "इदम्" अंश है एवं विशेषण "रजतत्व" है। अख्यातिवाद में शुक्ति और रजत में विशेष्य - विशेषणभाव नहीं है और आत्मख्यातिवाद में यही समानता है। नैयायिकों के मत में भ्रमस्थल में "इदं रजतम्" इस प्रकार ज्ञान के बाद रजतार्थी व्यक्ति की सम्मुखस्थित इदं पदार्थ के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है एवं "इद रजतम्" यह व्यवहार होता है यह सभी मानते हैं। किन्तु यह प्रवृत्ति एवं यह व्यवहार, इदं पदार्थ का अनुभवरूपज्ञान एवं रजतपदार्थ का स्मरण ज्ञान इन दो ज्ञानों का विषयीभूत इदं एवम् रजतम् इनके परस्पर भेद के ज्ञानाभाव से ही होताहै–यह कथन ठीक नहीं है। कारण, चेतन व्यक्ति का व्यवहार ज्ञाननिबन्धन ही होता है—ज्ञानाभावनिबन्धन कभी भी नहीं होता है। जैसे सुषुप्तिकाल में ज्ञान नहीं रहता है, अतः उस समय व्यवहार भी नहीं रहता है, जाग्रत और स्वप्न में ज्ञान रहता है, अतः उस समय व्यवहार भी रहता है—इसलिए ज्ञान के बिना व्यवहार नहीं होता हैं। फलतः इदं पदार्थ एवं रजत के भेदज्ञान का अभाव कभी भी रजत के ग्रहण में प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है। अन्यथाख्यातिवादियों के मत में भ्रमस्थल में इस प्रकार प्रवृत्ति होती है—प्रथमतः सम्मुखस्थित चाकचिक्ययुक्तवस्तु में चक्षुः आदि का संयोग होता है। अनन्तर रजत का और पुरोवर्ती द्रव्य के चाकचिक्यरूपसादृश्य का ज्ञान रजत के संस्कार को उद्‌बुद्ध करता है, अनन्तर रजतज्ञान होता है। इस रजत का सम्मुखस्थित द्रव्य के साथ तादात्म्यरूप जो सम्बन्ध उसीका दोष के कारण ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही भ्रम है। किन्तु भ्रमज्ञान वस्तु का अनुभवरूप ज्ञान नहीं है या मात्र रजतस्मृति भी नहीं है,

परन्तु एक तृतीय ज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य सम्मुखस्थित द्रव्य है एवं रजत विशेषण है। "इदं" एवं 'रजतम्" ये दोनों ही सत्य पदार्थ हैं, इन दोनों का तादात्म्यरूप-सम्बन्ध परस्पर में आरोपित होता है। किन्तु यह तादात्म्य-सम्बन्ध भी अलीक नहीं सत्य है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मसिद्धिकार मण्डनमिश्र ने अख्यातिवाद का खण्डन किया है किन्तु अन्यथाख्याति का खण्डन नहीं किया है। अतः अनेक व्यक्तियों को यह भ्रम हो जाता है कि मण्डनमिश्र अन्यथाख्यातिवादी है। कारण, अनिर्वचनीयख्याति की चर्चा उन्होंने नहीं की है। किन्तु यह कथन युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि नैयायिकों की अन्यथाख्याति और मण्डनमिश्र की अन्यथाख्याति सर्वथा भिन्न है। मण्डनमिश्र के मत में रजत के भ्रमस्थल में "इदं रजतम" इनका संसर्ग असत् हैं। वाचस्पतिमिश्र ने मण्डनमिश्र का ही अनुसरण किया है। अतः, लोग यह भी मान लेते हैं कि वाचस्पतिमिश्र ने भी अन्यथाख्याति का ही समर्थन किया है। किन्तु यह भ्रममात्र है। कारण, वाचस्पतिमिश्र ने विपरीतख्याति का उल्लेख तात्पर्यटीका में किया है। नैयायिकों के मत में उपपरमार्थ सत् पदार्थ नहीं है, संसार में सभी पदार्थ परमार्थ सत् हैं। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार असत् और अत्यन्त इन दो शब्दों का अर्थ अत्यन्त भिन्न है। जो वस्तु किसी स्थल में अविद्यमान रहती है, उसको उस स्थल में असत् कहा जाता है और जो किसी स्थल में भी विद्यमान नहीं रहती है जैसे वन्ध्यापुत्र आदि उसको अत्यन्त असत् कहा [redacted] है। वैशेषिक मत में गगनादि विभु पदार्थ भी किसी स्थल में नहीं रहता है, किन्तु गगन अत्यन्त असत् पदार्थ नहीं है। कारण, गगन विभु पदार्थ भी वस्तु है, उसमें सत्तासामान्य आदि एवं संख्यादि सामान्य गुण और शब्द विशेष गुण रहता है। माधक के मत में तो "सर्वत्र गगनम्" इस प्रतीति के अनुसार गगन को सर्वत्र विद्यमान ही माना है। अतः वन्ध्यापुत्र के समान अलीक सर्वत्र अविद्यमान, निरूपाख्य नहीं है।

रजतत्व का संसर्ग शुक्ति में रहने पर भी शुक्ति में न होने से शुक्ति में रजतत्व का संसर्ग असत् है। किन्तु रजतत्व का संसर्ग

अन्यत्र विद्यमान है अतः, बन्ध्यापुत्र के समान अत्यन्त असत् नहीं है। अत्यन्त असत् वस्तु का ज्ञान वाचस्पति मिश्र ने नहीं माना है। यद्यपि बाद के नैयायिक चिन्तामणिकार आदि ने वाचस्पति के मत में अत्यन्त असत् का भान इनके मत में होता है यह कहा है तथापि न्यायकणिका के विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि वाचस्पतिमिश्र ने अली संसर्ग का भान भ्रम में स्वीकार किया है--यह सर्वथा विरूद्ध है। शुक्ति में रजतत्व का संसर्ग अविद्यमान होने पर भी अत्यन्त असत् नहीं है, अविद्यमान संसर्ग सत् सम्बन्धी के द्वारा निरूप्य होने से असत् संसर्ग का भान होता है। अतः देशान्तर में सत्संसर्ग ही भ्रम में भासमान होता है।

अन्यथाख्यातिवाद के प्रसंग में उदयनाचार्य ने कहा है कि भ्रमज्ञान को लौकिक–प्रतीति के अनुसार विपरीत—ख्याति कहा जाता है और शास्त्राधीन विचारवान् व्यक्तिओं के अनुसार अन्यथाख्याति कहा जाता है। विपरीतख्याति ही शास्त्र के अनुसार अन्यथाख्याति है।

वाचस्पति मिश्र के कथन से ही इस बात का समर्थन होता है। उन्होंने कहा है कि अपार्थक वाक्य का अर्थशून्य वाक्य का प्रयोक्ता एवं ऐसे वाक्य का प्रतिपत्ता दोनों ही अहृदयवाक् कहे जाते हैं। वन्ध्यापुत्र आदि वाक्य से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है इसको अपार्थक वाक्य कहा जाता है। वन्ध्यापुत्र काला है या गोरा ? इस प्रकार प्रश्न करने वाला एवं इस प्रश्न का उत्तर देने वाला भी यदि गोरा है या काला है इस प्रकार स्वीकार करता है, तब प्रश्नकर्ता के समान अहृदयवाक् कहा जाता है। इसमें स्पष्टरूप से वाचस्पति मिश्र ने निरूपाख्य अलीक वस्तु के बोध के लिये शब्द का प्रयोग करने वाले को और उत्तर देने वाले को भी अहृदयवाक् कहा है। अतः ऐसे स्थल में उत्तर न देकर चुप रहना ही उचित है।

वाचस्पति मिश्र के पूर्वोक्त स्पष्ट कथन के बाद भी भ्रम में अलीक–संसर्ग प्रत्यक्षज्ञान का विषय होता है यह मानना सर्वथा अयौक्तिक है। अन्यथाख्याति ही दूसरे शब्दों में विपरीतख्याति है। विपरीतख्यातिवाद इससे भिन्न कुछ नहीं है। अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति में इतना ही अन्तर है कि भ्रम स्थल में जिन विषयों का ज्ञान होता है उनमें

कोई भी प्रातिभासिक सत् नहीं है वरन् सभी परमार्थसत् है और अनिर्वचनीयख्याति में विशेष्य वस्तु का सत् होना आवश्यक है, विशेषण एवं संसर्ग की सत्ता अपेक्षित नहीं है। शुक्तिरजतस्थल में शुक्ति की ही सत्यता आवश्यक है, किन्तु विशेषणीभूत रजत एवं शुक्तिरजत का तादात्म्य सम्बन्ध प्रातिभासिक, मिथ्या, अनिर्वचनीय है।

न्यायसूत्रकार ने मिथ्याज्ञान के लिए जीव का संसार होता है। यह मिथ्याज्ञान ही इनके मत में भ्रान्तिज्ञान है। इसीलिए भाष्यकार वात्स्यायन ने आत्मादि बारह प्रमेयों में अनेक भ्रान्तिज्ञानों का प्रदर्शन किया है। इस मिथ्याज्ञान का अर्थ मिथ्याविषयक ज्ञान नहीं होता है। नैयायिकों ने यह अर्थ स्वीकार नहीं किया है। भाष्यकार ने भ्रान्तिज्ञान का लक्षण कहा है—'जो जहां नहीं है उसमें उसका ज्ञान ही भ्रान्तिज्ञान है। वार्त्तिकार ने भी कहा है" जो जहां नहीं है वहां उसके ज्ञान को भ्रान्तिज्ञान कहा जाता है। वार्त्तिक में कहा गया है कि सामान्य धर्म का दर्शन एवं विशेष धर्म का अदर्शन न होने पर विपरीतधर्म का अध्यारोप नहीं होता है, अर्थात् सामान्य धर्म का और विशेष का अदर्शन रहने पर ही विपरीत धर्म का अध्यारोप होता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि कल्पना भी असत् वस्तु को विषय नहीं कर सकती है। वाचस्पतिमिश्र ने भ्रमज्ञान का उपपादन कर कहा है कि अन्यथाख्यातिवादी यह कहते हैं कि अन्यरूप में स्थित वस्तु को जब अन्यथारूप में अवगत किया जाता है, तब उस ज्ञान को भ्रमज्ञान कहा जाता है और यही अन्यथाख्यातिवादी कहते हैं। इस प्रसंग में श्लोक वार्त्तिक की कारिका उद्धृत की है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिलभट्ट भी अन्यथाख्यातिवादी हैं। मिथ्याज्ञान "अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः" ज्ञान है। वार्त्तिककार ने विपर्यय का लक्षण कहा है कि—"कः पुनरयं विपर्ययः प्रत्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः"। गंगेशोपाध्याय ने भी वाचस्पतिमिश्र के मत से अन्यथाख्याति का विश्लेषण करते हुये श्लोकवार्तिक को ही उद्धृत किया है। इस प्रकार सभी नैयायिकों के मत में मिथ्याज्ञान विपर्ययज्ञान है और विपर्ययज्ञान अन्यथाख्याति है। इसके प्रयोग में व्यवहार के आधार का भेद उदयनाचार्य ने प्रदर्शित ही किया है कि शास्त्रदृष्टि से अन्यथाख्याति और लौकि-

कदृष्टि से विपरीतख्याति है।

कुमारिलभट्ट अन्यथाख्यातिवादी हैं, उनके सिद्धान्त के अनुसार ही वाचस्पति मिश्र ने नैयायिकों के सिद्धान्त का प्रदर्शन किया है। वाचस्पति मिश्र ने मिथ्याज्ञान को विपरीतख्याति कहा है। अतः अन्यथाख्याति और विपरीतख्याति में कोई भेद नहीं है। भाष्यकार वात्स्यायन ने न्याय के प्रथमसूत्र में भाष्य में अविपरीत वस्तु को तत्त्व और विपरीत-वस्तु को अतत्त्व कहकर निर्दिष्ट किया है। भाष्यकार की इस दृष्टि के अनुसार ही न्यायवार्तिक और तात्पर्यटीकाकार ने भ्रमज्ञान को विपरीतख्याति कहा है साथ ही श्लोकवार्तिक के पद का निर्देश कर अन्यथाख्याति और विपरीत-ख्याति को एक ही माना है।

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने जो अध्यास लक्षण कहा है। उस लक्षण के प्रसंग में इन्होंने किसी ख्यातिविशेष का अवलम्बन नहीं किया है। अनन्तर तीन अध्यास के लक्षणों का प्रदर्शन किया है, किन्तु मतविशेष का निर्देश नहीं किया है। अन्त में यह अवश्य कहा है कि सभी दार्शनिकों के मत में अध्यास अन्य का अन्यधर्मावभासरूप है। भाष्यकार ने स्वयं भी अध्यास को अन्य से अन्यधर्म का अवभासरूप स्वीकार किया है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है कि अध्यास में अन्य की अन्यधर्मावभासता का व्यभिचार नहीं है। अनन्तर भाष्यकार ने इस अध्यासभाष्य में कहा है कि जो वह वस्तु नहीं है उसमें उस वस्तु का ज्ञान ही अध्यास है। ("अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम") अध्यासका पूर्व लक्षण और यह लक्षण सिद्धान्तानुसार एक ही लक्षण है। "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" यह अध्यास का द्वितीयलक्षण भी नहीं है एवं भाष्यकार के सिद्धान्त के प्रतिकूल भी नहीं है । न्यायभाष्य में वात्स्यायन एवं वार्तिककार ने भ्रम के लक्षण में यही कहा है। न्यायभाष्यकार शंकराचार्य के पूर्ववर्ती है—यह सर्वथा असन्दिग्ध है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि शंकराचार्य ने इसको न्यायभाष्य से ही लिया है और अन्य की अन्य-धर्मावभासता सभी मानते हैं—इस कथन से शंकराचार्य ने सभी मतों में अविरोध प्रदर्शित किया है।

अध्यासभाष्य में आचार्य शंकर ने अध्यास को मिथ्याज्ञानरूप कहा है। न्यायसूत्र में भी भ्रमज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा गया है उसका विश्लेषण भी पूर्व में ही किया है।

वाचस्पति मिश्र ने भ्रमज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण कर भ्रमज्ञान को विपरीतख्याति कहकर निर्देश किया है। अन्यथाख्यातिवादी कुमारिलभट्ट का जो कथन है वही विपरीतख्यातिवादी नैयायिकों का भी कथन है।

अन्यथाख्याति का अर्थ किये बिना ही किसी अन्यथाख्यातिवादी एवं किसी को विपरीतख्यातिवादी कहना साहसमात्र ही है। मिथ्याज्ञान को सभी लोगों ने किसी न किसी रूप में माना है, किन्तु सभी का एक ही मत है यह नहीं कहा जा सकता है। नव्यनैयायिक गंगेशोपाध्याय ने अजो न्यथाख्याति माना है, उस अन्यथाख्याति को मिथ्याज्ञान ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में मिथ्याविषयक ज्ञान यह अर्थ नहीं होता है। नैयायिकों के मत मेंमिथ्या कुछ भी सम्भावित नहीं है। इनके मत में जगत् सत्यस्वभाव है। इनलोगों ने सभी वेद्यवस्तुओं को प्रमेय माना है। ज्ञान का विषय होकर प्रमाज्ञान का विषय न हो यह कभी भी सम्भव नहीं है। ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व धर्म केवलान्वयी है। कोई भी वस्तु ज्ञेय नहीं हो या वेद्य नहीं हो—यह नहीं हो सकता है। अतः भ्रम में वेद्यवस्तुमात्र प्रमेय है। इसलिए वे वस्तु परमार्थ सत् है। यही अन्यथाख्यातिवादी नैयायिकोंका सिद्धान्त है। यद्यपि भ्रममें भासमान रजतादि परमार्थ सत्य है तथापि "इदं रजतम्" इस प्रकार के भ्रम में परमार्थ रजतवस्तु के साथ जो इदं वस्तु का तादात्म्य भासमान होता है अथवा इद वस्तु में जो परमार्थ रजतत्वधर्म का संसर्ग भासमान होता है, वह तादात्म्य या संसर्ग परमार्थ सत्य है कि नहीं इसी विषय को लेकर नव्यनैयायिकों का प्राचीन नैयायिकों से मतभेद है। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने इस तादात्म्य या संसर्ग को असत् कहा है। दोनों सम्बन्धियों के परमार्थ सत्य होने पर भी भ्रम में भासमान दोनों सम्बन्धियों का सम्बन्ध अलीक या असत्य है—यही नव्यनैयायिक कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने कहा है—भ्रमज्ञान में दो

सम्बन्धियों के द्वारा उपरक्त होकर सर्वथा असत्संसर्ग या तादात्म्य भासमान हो सकता है। सद्रूप दो सम्बन्धियों का उपरागप्रयुक्त असत् संसर्ग भी भासमान होता है—यही प्राचीन नैयायिक वाचस्पति मिश्र ने कहा है। गंगेशोपाध्याय ने अन्यथाख्यातिवाद के अन्त में प्राचीन नैयायिकों के मत के प्रदर्शन के प्रसंग में कहा है कि सदुपरक्त-असत्-संसर्ग भासमान होता है—यह प्राचीन-नैयायिकों का मत है। वाचस्पति मिश्र ने असत्संसर्ग कहा है, असत् का अर्थ अविद्यमान होता है, किन्तु उपाध्यायजी ने असत् पद का अत्यन्त-असत् अर्थ कल्पित कर भ्रम में अलीक-संसर्ग भासमान होता है—यही तात्पर्यटीकाकार की उक्ति के रूप में निर्दिष्ट किया है। प्राचीन नैयायिकों का मत स्वीकार करने पर, इन नैयायिकों का भी असत्ख्याति मत में प्रवेश होगा। इस विषय की चर्चा असत्ख्यातिभंग प्रसंग में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—नैयायिकों ने भी असत् संसर्ग का भान नहीं माना है, अतः उनके ऊपर भी यह आपत्ति होगी, यदि वे ऐसा मानते हैं तो उनकी भी यही दशा होगी।

गौडब्रह्मानन्द ने भी कहा है कि प्राचीन नैयायिक वाचस्पति के मत में भी असत्ख्याति स्वीकार करना पड़ेगा—भ्रमविषयीभूत अलीक-संसर्गविशिष्टरूप से प्रपंच अलीक है रूपान्तर से सत्य है यह न्याय-टीकाकार वाचस्पति के उक्त पक्ष में असत्ख्याति की आपत्ति होगी!

ऐसी स्थिति में जिन्होंने प्राचीन नैयायिक मत का अवलम्बन किया है वे भी भ्रमज्ञान में असत्संसर्ग भासमान होता है, यह मानते हैं, फलतः वे भी असत्ख्यातिवादी हैं—यही मानना पड़ेगा। प्राचीन नैयायिकों को असत्ख्यातिवादी न कहकर अन्यथाख्यातिवादी क्यों कहा जाता है? इसका कारण यह है कि वे अखण्ड असत् वस्तु का भान भ्रम में नहीं स्वीकार करते हैं। अखण्ड असत् वस्तु का भान भ्रम में स्वीकार करने वालों को ही असत्ख्यातिवादी कहा जाता है। यह प्रतीत होता है कि प्राचीन नैयायिकों के मत में भी एक प्रकार का असत्ख्यातिवाद ही है। वस्तुतः प्राचीन नैयायिक वाचस्पति-मिश्र ने भी भ्रमज्ञान में अत्यन्त असत् संसर्ग का भान नहीं मानते

हैं। मिश्रजी ने कहा है कि भ्रमज्ञान में विशेष्य के साथ विशेषण का संसर्ग जो भासमान होता है यह भी कहीं सत् है। अतः, नैयायिक ने भ्रम में भासमान संसर्ग में सद्रूपता दिखाकर अन्यथाख्याति सन्मात्रविषयक ही होती है- यह कहा है किन्तु यही विषय वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है कि संसर्ग की भी सद्रूपता स्वीकार की है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन और नव्य नैयायिक नाम से अन्यथाख्याति स्वीकार करने पर भी वे असत्ख्यातिवादी हैं। नैयायिकों ने भ्रम में भासमान विषय को सत्य माना है, इनके मत में असत्य वस्तु नहीं है। द्वैतवादियों ने सत् और असत् इन दोनों को माना है, नैयायिकों ने यह नहीं माना है, वे सभी को सत् ही मानते हैं। अद्वैतवादियों ने सत्य और मिथ्या दोनों को माना है,किन्तु नैयायिकों ने इसे नहीं माना है। भाष्यकार शंकर ने अध्यास भाष्य में कहा है कि सत्य और मिथ्या के मिथुनीकरण को अध्यास कहा जाता है। नैयायिकों के मत में यह नहीं कहा जा सकता है। कारण, वे सत्य ही मानते हैं। अध्यास या मिथ्या-ज्ञान कहने पर यह कहेंगे कि—अध्यास या मिथ्याज्ञान सत्यद्वय मिथुनीकरणरूप है (द्वे सत्ये मिथुनीकृत्य)। दो सत्यों के मिथुनीकरण में जो दो सत्यों का संसर्ग भासमान होता है, वह भी इनके मत में सत्य ही है। इसी प्रकार द्वैतवादियों के अध्यास या मिथ्याज्ञान कहने पर सत् और असत् का मिथुनीकरण ही अध्यास है। (सदसतोः मिथुनीकृत्य) यही मानना पड़ेगा। इस मत में आरोपित वस्तु असत् है। इसलिए शुक्ति में रजताध्यास होने पर इदं रूप में भासमान शुक्ति सत्य एवं आरोपित रजत असत्य है। बौद्ध एवं द्वैतवादी के मत में असत्ख्याति ही है किन्तु बौद्धमत में अधिष्ठान और आरोपित दोनों ही असत् है तथा इन दोनों का संसर्ग भी असत् है, अतः सभी असत् ही भासमान होते हैं। द्वैतमत में अधिष्ठान सत् है, अतः सदधिष्ठान या असत्ख्याति मानी गई है। प्राचीन नैयायिकों के मत में भ्रम में असत् संसर्ग भासमान होता है, यह मानने पर, उनलोगों को भी असत्ख्यातिवादी कहा जा सकता है,

किन्तु यह सत्य है कि वाचस्पति मिश्र ने भ्रमज्ञान में अत्यन्त-असत्संसर्ग का भान नहीं माना है।

इस विषय में इष्टसिद्धिकार का मत भी अवलोकनीय है। श्री विमुक्तात्मा ने कहा है कि अन्यथाख्याति अख्याति और आत्मख्याति ये तीनों ख्यातियाँ सत्ख्याति है। अतः अन्याख्याति जिस प्रकार सत्ख्याति-विशेष है, वैसे ही अख्याति एवं आत्मख्याति भी सत्ख्यातिविशेष ही है। इन तीनों के सत्ख्यातिवाद होने पर भी इनमें अवान्तर—भेद वर्तमान है। किन्तु अवान्तर--विलक्षणता रहने पर भी इन तीनों में साधारण रूप यह है कि सत्य वस्तु का ही इनमें भान होता है। यही कारण है कि इन तीनों को सत्ख्याति कहकर निर्दिष्ट किया है। इसीके आधार पर अप्पयदीक्षित ने भी इन तीन ख्यातियों को सत्ख्याति कहा है। आचार्य रामानुज के मत में शुक्ति में सत्य रजत की सत्ता प्रदर्शित कर एक प्रकार की सत्ख्याति का समर्थन किया है। परिमलकार ने इसका उल्लेख किया है। परिमलकार ने इष्टसिद्धि की उक्ति का अनुसरण कर चार प्रकार की सत्ख्यातियों का प्रदर्शन किया है। परिमलकार के समय रामानुजभाष्य की पूर्ण प्रसिद्धि हो जाने के कारण इन्होंने चार प्रकार की सत्ख्याति का निरूपण किया है। अनन्तर इष्टसिद्धिकार ने कहा है कि सत्ख्याति माया के विना सिद्ध नहीं हो सकती है। भ्रान्तिज्ञान को यदि अन्यथाख्याति माना जाय तो यह भ्रान्तिरूप अन्यथाख्याति की जननी माया को भी मानना ही पड़ेगा। माया के विना अन्यथाख्याति नहीं हो सकती है। इन्हीं विचारों से आचार्य शंकर ने अध्यासभाष्य में "अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" को ही अध्यास कहा है। भाष्यकार ने तीन सत्ख्यातिवादियों को प्रदर्शित कर उनके निष्कर्ष के रूप में कहा है—सर्वथाऽपि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। (शां भा० पृ०—२३८) अन्य की अन्य धर्मावभासता को आचार्य शंकर ने भी स्वीकार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आचार्य सत्ख्यातिवाद स्वीकार करते हैं। भाष्यकार ने जिस प्रकार तीन सत्ख्यातियों का निरूपण

किया है वैसे ही इष्टसिद्धिकार ने भी प्रदर्शन किया है और इनका उपसंहार अनिर्वचनीयख्याति में किया है और यह भी कहा है कि माया के विना भ्रान्तिज्ञान किसी तरह सम्भावित नहीं है।

अध्यासभाष्य का भामती एवं रत्नप्रभा के अनुसार मतभेद

रत्नप्रभा के मत में "अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः" यह प्रथम अध्यासलक्षण विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक एवं नैयायिकमत में कहा गया है। द्वितीयलक्षण—प्राभाकर अर्थात् अख्यातिवादी के मत में है। तृतीयलक्षण शून्यवादी अर्थात् असत्ख्यातिवादी के मत में अध्यासलक्षण है।

भामतीकार के मत में प्रथमलक्षण चार प्रकार के बौद्धों के मत में अर्थात् आत्मख्याति और असत्ख्यातिवाद के अनुसार है। द्वितीयलक्षण अख्यातिवादी के अनुसार अध्यासलक्षण है। तृतीयलक्षण अन्यथाख्यातिवादी के अनुसार अध्यास का लक्षण है। रत्नप्रभाकार ने तृतीयलक्षण के विपरीतधर्म पद में सद्वस्तु के सत्तारूप धर्म के विपरीत धर्म को अर्थात् असत्ता को ग्रहण कर इस लक्षण को शून्यवादी के मत के अनुसार कहा है। भामतीकार ने इस स्थल में अन्य वस्तु का धर्म ग्रहण किया है, अर्थात् रज्जु के रज्जुत्व धर्म को ग्रहण कर उस धर्म के विपरीत धर्म पद में सर्पत्व-धर्म का ग्रहण किया है। अर्थात् रत्नप्रभाकारने विपरीत पद का अर्थ विरुद्ध किया है किन्तु भामतीकार ने इसे स्वीकार नहीं किया है। द्वितीयलक्षण में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। प्रथमलक्षण में रत्नप्रभाकार ने तीन बौद्धमत और नैयायिक के मत का ग्रहण किया है भामतीकार के द्वारा चार बौद्धमतों का ग्रहण करना ही दोनों के मतभेद का कारण है। इन दो व्याख्यानों के कारण ही आचार्य का अभिप्राय जिज्ञासा का विषय हो जाता है।

कतिपय आचार्यों का यह भी कहना है कि प्रथमलक्षण में भामतीकार ने भी शून्यवादी के मत का प्रवेश नहीं किया है वरन् विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक इन तीन मतों को ही लक्ष्य बनाया है। कारण, प्रथम लक्षण में शून्यवादियों को ग्रहण करने पर शून्यवादियों

की असत्ख्याति को आत्मख्याति में परिवर्तित कर ग्रहण करना होगा, किन्तु यह ठीक नहीं है कारण, विज्ञानवादी की आत्मख्याति और शून्यवादी की असत्ख्याति परस्पर विभिन्न मत हैं। शून्यवादी के मत का प्रतिवाद कर आचार्य ने अपने लक्षण की रचना की है। अतः भामती के अनुसार भी शून्यवादी की भ्रान्ति नहीं कही गई है। शून्यवादी की असत्ख्याति को आत्मख्याति के मध्य में ग्रहण करने के लिए विज्ञानवादी के ज्ञानाकार रजत के आरोप को उभयमत सिद्ध कहा है एवं असत्ख्याति के विशेषत्व की रक्षा के लिए इस ज्ञानाकार रजत को मिथ्या भी कहा है। किन्तु असत्ख्याति के रजत को ज्ञानाकार रजत नहीं कहते हैं, परन्तु इस को असत् बाह्य पदार्थ मानते हैं। रत्नप्रभाकार तृतीयलक्षण में शून्यवादी को ग्रहण करते हैं। शून्यवादी के मत का आचार्य ने अपने लक्षण के निर्णयकाल में खण्डन किया है, अतः अन्य मतों के मध्य में उसका उल्लेख नहीं किया है—यह कल्पना निष्प्रयोजन है। इसीलिए शून्यवादी के मत को आचार्य ने अध्यास लक्षणों के मतभेद के मध्य में ग्रहण नहीं किया है। अतः भामती के मत में शून्यवादी को प्रथमलक्षण में अन्तर्भुक्त किया है और रत्नप्रभाकार ने शून्यवादी को तृतीय लक्षण में ग्रहण किया है।

भामतीमत के अनुसार अनिर्वचनीयख्याति का समर्थन

आचार्य शंकर ने कहा है कि उनके भ्रमलक्षण को ही प्रकारान्तर से सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। कारण, दार्शनिकगण भ्रान्ति के विषय में जो कुछ भी कहें किन्तु अन्य की अन्यधर्मावभासता—सभी के मत में सुनिश्चित है। अन्य की अन्यधर्मावभासता एवं आचार्य शंकर का अभिमत पूर्वोक्त स्मृति रूप परत्र पूर्वदृष्टावभासः यह लक्षण अभिन्न है। इस लक्षण के द्वारा आचार्य ने केवल स्वमत की स्थापना की है ऐसी बात नहीं है, परन्तु उन्होंने अन्यमतावलम्बियों के भ्रम का स्वरूप प्रदर्शन कर अन्य रूप में स्वमत का अवलम्बनकारी कहकर प्रमाणित किया है। इस प्रकार विचार करने से लोगों की स्वमत में दृढ़ आस्था होगी, इसीलिए आचार्य ने विचार में इस धारा का ही अवलम्बन किया है। प्रकृत में यह विचारणीय है कि पूर्वदृष्टावभास एवं अन्यस्य अन्यधर्मावभासता ये दोनों अभिन्न कैसे हैं?

पूर्वदृष्टावभास का यह अर्थ होता है कि पूर्वदृष्ट पदार्थ के ज्ञान के समान एवं जो बाधित होता है तथा अपने कार्य के उत्पादन में असमर्थ होता है—यही ज्ञान अवभासज्ञान होता है। पूर्वदृष्ट के समान यह अर्थ पूर्वदृष्ट पद से निर्दिष्ट कर कहा गया है कि वस्तुतः जो पूर्वदृष्ट है वह नहीं वरन् वह जो उसके समान अवभासित होता है। भ्रमस्थल में यथार्थ पूर्वदृष्ट का ज्ञान नहीं होता है वरन् पूर्वदृष्टसदृश किसी अन्य वस्तु का ज्ञान होने से—यही कहा गया है कि दूसरे के ऊपर अन्यधर्म का ज्ञान अध्यास है, आशय यह है कि अन्यपदवाच्य "इदं" पदार्थ के ऊपर अन्यधर्म का अर्थात् जो इदं नहीं है, जैसे रजतादि, उसका जो अवभासन है, अर्थात् बाधित होने की योग्यता है एवं अपने कार्यजनन में असामर्थ्य है—यह दोनों स्थलों में ही समान है। अतः पूर्वदृष्टावभास से जो कहा जाता है वही "अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" वाक्य में कहा गया है।

अब यह विचारणीय है कि "अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" यह अन्य लक्षणों में समन्वित कैसे होता है? असत्ख्याति और आत्मख्यातिवादी बौद्ध के मत में प्रथम मतान्तर का लक्षण कहा गया है "अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः" यहाँ कहा गया है—"अन्यधर्मावभासता"। किन्तु लक्ष्य करने पर यह अवगत हो जायगा कि ये दोनों ही लक्षण फलतः अभिन्न है। कारण, अन्यत्र या अन्यस्य पद में दोनों स्थलों में ही शुक्तिकादि का ही ग्रहण किया जाता है। इसके बाद इस मतान्तर का अध्यास पदार्थ भी जहाँ है वहाँ उक्त सामान्यलक्षण में कथित अवभास पदार्थ भी है। प्रकृत पक्ष में अध्यास ही अवगत होता है यह अन्य मत वाले भी मानते हैं। बाधित होने के योग्य एवं अपने कार्य के उत्पादन में असमर्थ—यही प्रकृत में अवगत शब्द का अर्थ है। अतः "अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः" यह कहने से जिस अर्थ की अवगति होती है उसीकी अवगति "अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" यह कहने से भी होती है। अन्य मत के लक्षण में 'अन्य की अन्यधर्मावभासता" का अतिक्रमण नहीं किया।

प्रभाकर मत में "यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः" यह द्वितीयलक्षण कहा गया है। इस मत में "अन्यधर्मावभासता" वर्तमान नहीं है। कारण, वे भ्रम को स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु पूर्व में अन्यथाख्यातिवादियों के द्वारा जो यह युक्तायुक्तत्व-विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि उनके मत में भी मानना ही पड़ेगा, अन्यथा प्रवृत्ति और व्यवहार की उपपत्ति नहीं होगी। अतः इनके मत में भी भ्रम मानना ही पड़ेगा और वे जिस रूप में भी मानें, उनको अन्यकी अन्यधर्मावभासता माननी पड़ेगी।

अन्यथाख्यातिवादियों के मत में "यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पना" यह तृतीयलक्षण कहा गया है। इन मत में 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता विद्यमान है। "उसीकी विपरीतधर्मत्वकल्पना" इस वाक्य के द्वारा अन्य में अन्य के धर्म का ही भान होता है—यही कहा गया है एवं कल्पनापद से वही ज्ञान जो अवमत शब्दवाच्य बाधित होने के योग्य आदि होता है। अतः, यह लक्षण भी अध्यास के उक्तसामान्यलक्षण का अतिक्रमण नहीं करता है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि उक्त तीन लक्षणों में भी "अन्यस्य अन्यधर्मावभासता यह विद्यमान है।

सामान्यलक्षण में जो "अवभास" शब्द है उसका प्रकृत अर्थ कल्पना है। कल्पना का अर्थ अनृतता, अर्थात् अनिर्वचनीयता है। भाष्योक्त अवभास शब्द के द्वारा अनिर्वचनीयता अर्थ की प्रतीति के प्रसंग में भामतीकार ने कहा है कि भ्रम स्वीकार करने पर उसके विषय को साथ ही साथ अनिर्वचनीय मानना ही पड़ेगा। भ्रम परोक्ष हो या अपरोक्ष सभी स्थलों में भ्रम का जो विषय अर्थात् जिस अंश में ज्ञान का असत्व सिद्ध होता है, वह अनिर्वचनीय है—यही भामतीकार का अभिप्राय है। अर्थात्, रस्सी में सर्प के भ्रमस्थल में, अथवा शुक्तिका में रजतभ्रम में या मुंह में सिकताभ्रम में प्रकारभूत सर्प या रजत एवं संसर्गभूत गुडतिक्तता का सम्बन्ध अनिर्वचनीयपदार्थ है। कारण,

यह लोकसिद्ध कोई पूर्वदृष्ट वस्तु नहीं है, अर्थात् वह पूर्वदृष्ट वस्तु के समान प्रातिभासिक- वस्तुविशेषण है। यह अज्ञान की विक्षेपशक्ति के कारण मात्र भ्रमकाल में उत्पन्न होता है एवं अधिष्ठान रस्सी आदि का स्वरूप--साक्षात्कार होने पर वह निवृत्त हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि भ्रमकाल में उत्पन्न एक अनिर्वचनीय पदार्थ है, इसमें क्या प्रमाण है ? अन्य मतों का खण्डन कर नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद की दृढ़भित्ति पर संस्थापित है। अतः, भ्रमकाल में अनिर्वचनीय-वस्तु की उत्पत्ति होती है यह स्वीकार करने पर अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन करना ही आवश्यक है।

इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन करना आवश्यक है किन्तु इससे पूर्व इस अन्यथाख्यातिवाद के साथ अनिर्वचनीयख्याति का क्या प्रभेद है ?

अन्यथाख्यातिवादियों के कथन का यह अभिप्राय है कि भ्रमकाल में जो पदार्थ हमलोगों का ज्ञानविषयीभूत होता है -- वह पदार्थ सद् वस्तु है। किन्तु यह सद् वस्तु वेदान्तमत के अनुसार परमार्थ सत् है-यह बात नहीं है, वरन् वह पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार का सत् हो सकता है। वेदान्तमत में जिसकी प्रातीतिक या प्रातिभासिक सत्ता कही जाती है उसका ज्ञान अन्यथाख्यातिवादियों के भ्रमस्थल में नहीं होता है। उनलोगों का कहना है कि हमलोगों के सविकल्पकज्ञान का जो विषय होता है, यह तीन प्रकार का होता है -कुछ विशेष्यरूप में विषय होता है, कुछ विशेषणरूप में विषय होता है और कुछ संसर्ग रूप में विषय होता है। सविकल्पक प्रमाज्ञान के स्थल में ये तीनो विषय प्रातिभासिक नहीं है, इसको अन्यथाख्यातिवादी और अनिर्वचनीयख्यातिवादी दोनों ही स्वीकार हैं किन्तु भ्रमस्थल में इनलोगों का मतउपलब्ध होता है। अन्यथाख्यातिवादी कहते हैं कि भ्रमस्थल में जो विषय रहते हैं, उनमें कोई भी प्रातिभासिक सत् नहीं है। किन्तु ये सब सत्पदवाच्य हैं। अनिर्वचनीयख्यातिवादियों का कहना है कि भ्रमस्थल में जो विषय होता है, उनमे जो विशेष्यस्थानीय वस्तु है, उसका सत्

होना आवश्यक है विशेषण एवं संसर्ग की सत्ता अपेक्षित नहीं है। जैसे, शुक्तिरजतस्थल में शुक्ति की ही सत्यता आवश्यक है, विशेषणीभूत रजत एवं शुक्ति रजत का जो तादात्म्य सम्बन्ध उसकी व्यावहारिक सत्ता न होने पर भी कार्य चल सकता है।

यदि यह कहा जाय कि ऐसी स्थिति में भ्रमस्थल में भी अन्यथाख्यातिवादी के मत में विशेष्य, विशेषण एवं संसर्ग इन दोनों की सत्यता आवश्यक होती है। तब यह अवगत करना है कि इनके मत में भ्रम जिस रूप में होता है, अर्थात भ्रम और प्रमा की विलक्षणता किस अंश में होती है? भ्रम और प्रमा का तीनों विषय यदि सत् हैं, तब इस मत में भ्रम और प्रमा में वैलक्षण्य कहां रखता है?

इसके उत्तर में अन्यथाख्यातिवादियों का कहना है कि जो पदार्थ जिस स्थान में जिस सम्बन्ध से वास्तविक रूप में विद्यमान रहता है। उस सम्बन्ध से उस पदार्थ का उस स्थल में जो ज्ञान होता है, वही प्रमाज्ञान है एवं जिस स्थल में जिस सम्बन्ध में से जो वस्तुतः विद्यमान नहीं रहता है, उस सम्बन्ध से उस वस्तु का उस स्थल में जो ज्ञान होता है, वही भ्रमज्ञान है। अर्थात् संसर्ग विशेष्यानुयोगिक और प्रकारप्रतियोगिक होता है। प्रमा स्थल में उस संसर्ग का वास्तविक प्रकार प्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्व ये दोनों ही धर्म विद्यमान रहते हैं किन्तु भ्रमस्थल में जो संसर्ग भासमान होता है उसमें प्रकारप्रतियोगिकत्व एवं विशेष्यानुयोगिकत्वरूप दो धर्म नहीं रहते हैं, और इसका न रहना ही भ्रमत्व का प्रयोजक है: यही इनके मत में भ्रम और प्रमा का वैलक्षण्य है।

इस प्रकार का अन्यथाख्यातिवाद कभी भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता है। भ्रम दो प्रकार का हो सकता है– १–प्रत्यक्षभ्रम और २– परोक्षभ्रम। अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि इन दोनों भ्रमों को अनिर्वचनीयख्याति मानना उचित है। प्रत्यक्षभ्रमस्थल में अन्यथाख्याति नहीं हो सकती है। कारण, अन्यथाख्यातिवादियों का कहना है कि भ्रमस्थल में अन्यत्र विद्यमान रजत का ही प्रत्यक्ष होता है उन-

लोगों ने अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति नहीं मानी है। किन्तु यह ठीक नहीं है। कारण, प्रत्यक्षस्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष ही कारण होता है। जिस वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता है, उस वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता-- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- -- --

१--सन्निकर्ष शब्द का अर्थ इन्द्रियरूप करण का व्यापार होता है। व्यापारयुक्त होकर जो ज्ञानरूप कार्य को उत्पन्न करता है उसीको करण कहा जाता है। (व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्) इन्द्रियव्यापार-युक्त प्रत्यक्षज्ञान का कारण होती है, अतः यह प्रत्यक्षज्ञान का करण है। इन्द्रिय के व्यापार या सन्निकर्ष का अर्थ, विषय के साथ इन्द्रिय का एक विशेष सम्बन्ध होता है। लौकिक एवं अलौकिक के भेद से यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। घट आदि के लौकिक प्रत्यक्ष के समय जो सन्निकर्ष होता है, वह नेत्र आदि का संयोग सम्बन्ध होता है। घट के प्रत्यक्ष के समय में घटव्यक्ति के साथ हमलोगों का इन्द्रियसन्निकर्ष रहने पर भी घटत्वरूप में जो घटव्यक्ति का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, उसके लिए नेत्र आदि के साथ सभी घटव्यक्तियों का सम्बन्ध अलौकिक सन्निकर्ष है। इस स्थल में सभी घटों का प्रत्यक्ष न मानने पर देशान्तर एवं कालान्तर में स्थित घट को घट कह कर अवगति नहीं होगी। उक्त लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार के हैं --१-संयोग, २-संयुक्त समवाय, ३-संयुक्तसमवेतसमवाय, ४-समवाय, ५-समवेतसमवाय, ६ विशेषणता। द्रव्य के प्रत्यक्ष स्थल में संयोग सन्निकर्ष होता है। द्रव्य में रहने वाले गुण, जाति और क्रिया के प्रत्यक्षस्थल में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होता है। गुणत्व, कियात्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। शब्द के प्रत्यक्षस्थल में समवाय सन्निकर्ष है, शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष है और अभाव के प्रत्यक्षस्थल में विशेषणता सन्निकर्ष है। अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है- १ सामान्यलक्षण; २ ज्ञानलक्षण, ३ योगज। किसी घट के प्रत्यक्ष के समय घटत्वरूप में जो सभी घटों का प्रत्यक्ष होता है, वह ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा होता है। चन्दन के प्रत्यक्ष के समय जो उसके गन्ध का प्रत्यक्ष होता है और भ्रमकाल

में शुक्ति में रजत के प्रत्यक्ष के समय रजत के साथ इन्द्रिय का जो सन्निकर्ष है वह ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष है। योगिओं को जो अतीत, असाधारण एवं साधारण लोगों के प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है वह योगजसन्निकर्ष से होता है।

प्रत्यक्षभ्रम स्थल में यदि शुक्ति में बाजार में स्थित रजत का भान स्वीकार किया जाय, तब बाजार में स्थित रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हुआ है – यह मानना पड़ेगा। किन्तु सभी लोगों को यह मानना पड़ेगा कि शुक्तिका के दर्शनकाल में किसी का भी बाजार में स्थित रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि शुक्तिका के दर्शनकाल में बाजार में स्थित रजत के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होकर शुक्ति में रजत का ज्ञान नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि जहां किसी रजत का प्रत्यक्ष होता है उस स्थल में कोई वास्तविक रजत विद्यमान नहीं है, अतः उस स्थल में कोई प्रातिभासिक या अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है। फलतः प्रत्यक्षभ्रम के स्थल में अन्यत्र विद्यमान रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता है, वरन् अनिर्वचनीय उस काल में उत्पन्न रजत का ही प्रत्यक्ष होता है-यह मानना पड़ेगा।

यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षभ्रमस्थल में जो रजत का प्रत्यक्ष होता है वह लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है, वरन् वह अलौकिक प्रत्यक्ष है एवं उसके लिए अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की आवश्यकता होती है। अलौकिक ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष से ही बाजार में स्थित रजत का भान होता है। ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष का अर्थ है -- पूर्वानुभूत रजत का स्मृतिरूप ज्ञान है। फल यह होता है कि शुक्ति में रजत के भ्रम में शुक्ति के साथ चक्षु का संयोगरूप सन्निकर्ष एवं चक्षु के द्वारा पूर्वानुभूत जो रजत, उसी रजत का स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष मिलकर शुक्ति में "इदं रजतम्" इस भ्रम का उत्पादन कराता है। इसलिए ज्ञान लक्षण सन्निकर्ष के द्वारा जब रजत का प्रत्यक्ष हो सकता है, तब सन्निकर्ष के न

रहने के कारण अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसके समाधान में वेदान्तिओं का कथन है कि नैयायिकों का यह समाधान ठीक नहीं है। कारण, यदि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की अलौकिक प्रत्यक्ष का कारण माना जाय तो जिस स्थल में अनुमिति का पक्ष प्रत्यक्षयोग्य है, उस स्थल में अनुमिति नहीं हो सकती है। क्योंकि, जिस स्थल में ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष के वल से साध्य का प्रत्यक्ष हो जायगा। अर्थात् ऐसी स्थिति में इस प्रकार के स्थल में अनुमिति मात्र का उच्छेद हो जायगा।

किसी एक विषय में अनुमिति की सामग्री एवं प्रत्यक्ष की सामग्री विद्यमान रहने पर उस विषय की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष ही होता है—यह सभी वादिओं के द्वारा स्वीकृत नियम है। जैसे, दूर से स्थाणु को देखकर किसी को यह सन्देह होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष, इसके वाद यदि यह व्यक्ति देखता है कि यह टेढ़ा एवं कोटर से युक्त है, अनन्तर यह सोचता है कि वक्र और कोटर से विशिष्ट जो रहता है—हि स्थाणु ही होता है। अर्थात् स्थाणुत्व का व्याप्य वक्र कोटर आदि है —इस व्याप्ति का स्मरण होता है, तव उस व्यक्ति को इसव्याप्तिज्ञान से "यह स्थाणु है" इस प्रकार की अनुमिति न होकर "यह स्थाणु है" यह प्रत्यक्ष ही होता है। फलतः इस स्थल में प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री से प्रबल होती है।

ऐसा मानने पर प्रत्यक्षयोग्य जो पर्वत, उसमें जब हमलोग वह्नि की अनुमिति करते हैं, तव अनुमिति की सामग्री जो व्याप्तिज्ञान एवं प्रत्यक्ष की सामग्री जो वह्नि का पूर्वानुभवजनित स्मृतिरूप ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष, दोनों विद्यमान है, अतः पर्वत में वह्नि की अनुमिति न होकर वह्नि का प्रत्यक्ष ही हो सकता है और इसके फलस्वरूप इन स्थलों में अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष ही हो जायगा

अर्थात् अनुमिति का ही प्रकारान्तर से उच्छेद मानना होगा। किन्तु नैयायिकों ने भी यह स्वीकार नहीं किया है। अतः यह मानना होगा कि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष स्वीकार करना ही उचित नहीं है।

इस ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को न मानने पर शुक्ति रजत स्थल में बाजार में स्थित रजत के प्रत्यक्ष का कारण जो सन्निकर्ष उस सन्निकर्ष के न होने से अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी और सौरभ का चाक्षुषप्रत्यक्ष सिद्ध न होने से ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष मानना भी निर्युक्तिक है। क्योंकि चन्दन के सौरभ का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है— यह वेदान्ती नहीं मानते हैं। अतः यह सर्ववादिसम्मत दृष्टान्त नहीं हो सकता है। फलतः अनि-र्वचनीय रजत की उत्पत्ति माननी ही पड़ेगी।

जो विषय ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होता है, वह विषय अनुव्यवसायज्ञान के समय में सामान्यतया प्रत्यक्ष-विषय माना जाता है, विशेष-विशेष इन्द्रिय के द्वारा वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है। जैसे नैयायिकमत में चन्दन का सौरभ जब अलौकिक-सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होता है, तब "चन्दन के सौरभ को हमलोग देखते हैं" यह ज्ञान किसी को भी नहीं होता है वरन् "चन्दन के सौरभ को हम जानते हैं" यही ज्ञान होता है। नैयायिकों के द्वारा यह स्वीकार करने पर नैया-यिकमत में ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से शुक्ति रजत स्थल में भी "मैं रजत को जानता हूं" इस रूप में सामान्यतया ज्ञान होना ही उचित है। "मैं रजत को नेत्र के द्वारा देखता" हूं इस रूप में विशेष इन्द्रिय के द्वारा विशेष ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु शुक्ति रजत स्थल में "मैं रजत को आंख के द्वारा देखता हूं" इस रूप में अनु-व्यवसाय ही होता है। इसलिए ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से शुक्ति में रजत का भ्रम उपपन्न नही हो सकता है। किन्तु सर्ववादि-सिद्ध रजत के चाक्षुषत्व की रक्षा के लिए इस स्थल में अनिर्व-चनीय रजत की उत्पत्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी।

यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष-सामग्री अलौकिक न हो तब वह अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा प्रबल होगी, अतः, अनुमिति का उच्छेद नहीं होगा। "पर्वतो वह्निमान् है" इस स्थल में जो प्रत्यक्ष-सामग्री रहती है, वह अलौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री है, उसके द्वारा अनुमिति का बाध होना ही अनुचित है। अतः, इस प्रकार के स्थल में अनुमिति का उच्छेद कैसे होगा? किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। कारण अलौकिक प्रत्यक्ष-सामग्री अनुमिति की सामग्री से प्रबल होती है, यह कथित स्थाणु के दृष्टान्त से ही अवगत होता है। क्योंकि, उक्त स्थलमें यदि वह वस्तुतः स्थाणु नहीं रहे किन्तु स्थाणुत्व का व्याप्य वक्रकोटर आदि रहता है—इस प्रकार भ्रमात्मक व्याप्तिज्ञान हो, तब उक्त स्थल में हमलोगों को स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष ही होता है—यह सभी को मानना होगा। इस स्थल में जो स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष होता है, उसको लौकिक प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। कारण, इस स्थल में स्थाणुत्व नहीं है, अतः उसके साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। इसलिए, इस स्थल में जो स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष होता है, वह अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से ही होता है—यह मानना पड़ेगा। साथ ही प्रकृत में व्याप्तिज्ञान आदि अनुमिति की सामग्री भी है। किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष-सामग्री इस स्थल में प्रबल है। इसलिए यह मानना होगा कि समान विषय में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रत्यक्ष-सामग्री है। अनुमिति की सब सामग्री से प्रबल होती है और उसके फलस्वरूप पूर्वोक्त अनुमिति के उच्छेद की आपत्ति ही स्थिर होती है। अतः प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति के स्वीकार किए बिना अन्य गति नहीं है।

अस्तु, प्रत्यक्ष - भ्रमस्थल में अन्य गति न होने से अनिर्वचनयी-वस्तु की उत्पत्ति होती है, अर्थात् शुक्तिरजतभ्रमस्थल में शुक्ति में एक अनिर्वचनीयरजत एवं उस रजत का तादात्म्य सम्बन्ध भी उत्पन्न हो जाता है, किन्तु परोक्ष-भ्रमस्थल में इसी प्रकार अनिर्वचनीय - वस्तु एवं उसका सम्बन्ध भी उत्पन्न होकर ही भ्रम होता है—इसमें क्या प्रमाण है? अर्थात् यदि कोई

यह कहे कि 'आम्रवृक्ष में केला उत्पन्न हुआ है 'तब' आम्रवृक्ष केला फल वाला है' इस शब्द प्रयोग के द्वारा जो परोक्ष-भ्रम होता है, उसमें केले का फल उसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय रूप में उत्पन्न होता है—यह क्यों माना जायेगा ? कारण, प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में व्यावहारिक-वस्तु में सन्निकर्ष का अभाव एवं प्रत्यक्षरूपता सिद्ध होने से जैसे भ्रम का विशेषणीभूत पदार्थ और उसका संसर्ग अनिर्वचनीय और उत्पन्न माना जाता है, वैसे ही इस स्थल में सन्निकर्ष की अपेक्षा न होने से भ्रम का विशेषणीभूत - पदार्थ और उसके संसर्ग को अनिर्वचनीय और उत्पन्न मानने की क्या आवश्यकता है ? 'आम्रवृक्ष केला फलवाला है' यह कहने पर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं, अतः कदलीफल और उसके संसर्ग के साथ किसी सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती है। इस ज्ञान में पूर्वानुभूत कदलीफल और उसके संसर्ग आदि का ही मान होता है यह कहने से ही कार्य का निर्वाह हो सकता है, उसकी अनिर्वचनीय एवं उत्पन्न मानने की क्या आवश्यकता है।

इसके उत्तर में अनिर्वचनीयख्यातिवादियों का कहना है कि परोक्ष-भ्रमस्थल में प्रकारीभूत पदार्थ की अनिर्वचनीयता एवं उत्पत्ति न मानने पर भी वह पदार्थ और उसके विशेष्य का जो संसर्ग भासमान होता है, उसको अवश्य ही अनिर्वचनीय मानना होगा। कारण, यदि यह नहीं माना जाय तब उक्त ज्ञान की सविकल्पकरूपता ही सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि, सविकल्पक ज्ञान में जिसका भान होता है, वह सर्वथा भिन्न है, अर्थात् परस्पर अविमिश्रभाव में प्रकाशित ही नहीं हो सकता है। जिस ज्ञान का विषयीभूत-पदार्थ-समूह परस्पर असम्बद्धभाव में भासमान होता है; उसीको आप-लोग निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस समय, यह आम और कदली एवं इनका जो संसर्ग, वे यदि असम्बद्धभाव में शमन का विषय होता है, ऐसी स्थिति में किस तरह यह ज्ञान किस प्रकार सविकल्पक होगा ? इसलिए, यह मानना होगा कि, वह सम्बन्ध रूप में ही भासमान होता है। अब यह जिज्ञासा होती है आम्र और कदली फल के साथ सम्बन्धभाव में प्रती-

यमान जो सम्बन्ध, वह वास्तविक व्यावहारिक सत् है या कल्पित है ? यदि इसको व्यावहारिक सत् माना जाय, तब यह ज्ञान प्रमा हो जायगा एवं यदि इसको असत् माना जाय, तब असत् का भान नहीं होने से इस सम्बन्ध की प्रातीतिक सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ऐसी स्थिति में सत् पदार्थ का ही भान भ्रमस्थल में होता है—यह कैसे सिद्ध होगा ? यदि यह सम्बन्ध सत् है—तब उसमें प्रकार प्रतियोगिकत्व एवं विशेष्यानुयोगिकत्वरूप दो धर्म नहीं रहता है, अतः भ्रम होता है, यह माना जाय, तब यह विचारणीय है कि उक्त दोनों धर्म संसर्गांश में भासमान होता है कि नहीं ? यदि यह कहा जाय कि नहीं होता है, तब विशेष्य, विशेषण एवं संसर्ग इन तीनों का परस्पर निरपेक्षभाव में प्रतीयमान होने से ज्ञान निर्विकल्पक हो जायगा, उसकी सविकल्पकरूपता किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि उक्त दोनों धर्म संसर्गांश भासमान होता है, तब यह कहा जायगा कि उक्त दोनों धर्म जो उक्त संसर्ग में भासमान होते हैं; वे किस सम्बन्ध से भासमान होते हैं। जिस सम्बन्ध से उक्त दोनों धर्म इस संसर्ग में भासमान होंगे, वह सब धर्म यदि सत्य है तब उक्त ज्ञान भ्रम नहीं हो सकता है। क्योंकि उस स्थल में सत्य सम्बन्ध मूलक ही सभी वस्तु भासमान हो रही हैं। अतः उक्त ज्ञान की भ्रमरूपता सिद्ध नहीं हो सकती है। यदि प्रकारप्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्वरूप दोनों धर्मों के साथ संसर्ग का जो सम्बन्ध वह असत् है तब असत् का भान ही होगा। किन्तु असत् का भान आप नहीं मानते हैं। अतः इन दो धर्मों के उक्त सम्बन्ध का जो सम्बन्ध उसको प्रातीतिक मानना ही पड़ेगा। परिणाम यह हुआ कि परोक्ष भ्रम में भी प्रातीतिक सम्बन्ध बिना माने भ्रमरूपता की सिद्धि सम्भव नहीं है।

परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों भ्रमों में अनिर्वचनीयख्याति मानना अनिवार्य है यही भामतीकार का अभिप्रेत है।

किसी-किसी आचार्य का कथन है कि केवल प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में ही अनिर्वचनीयख्याति मानी गई है, परोक्षभ्रमस्थल में अनिर्वचनीयख्याति

मानने पर भी आपत्ति नहीं है। किन्तु कल्पतरु एवं परिमलकार के विवेचन के अनुसार पूर्वोक्त मत ही समीचीन है।

इसलिए उपसंहार में यही कथन समीचीन है कि भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय-पदार्थ की उत्पत्ति होती है एवं भ्रम नष्ट होने पर वह विनष्ट हो जाता है।

अब यह विचारणीय है कि अनिर्वचनीय आरोपणीय वस्तु है वह कहाँ से उत्पन्न होती है एवं कहाँ विलीन होती है?

इसका उत्तर यह है कि जीव की अन्तर्निहित तुलाविद्या अर्थात् कारणशरीररूप अज्ञान की विक्षेपशक्ति से उत्पन्न होती है एवं यथार्थज्ञान होने पर विलीन हो जाती है। घट आदि का ध्वंस होने पर जैसे कपाल आदि अवशिष्ट रह जाता है वैसे कुछ अवशिष्ट नहीं रहता है। वस्तुतः जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख आदि से युक्त यह जगत् इसीरूप में अज्ञान से ब्रह्म में उत्पन्न होता है एवं पारमार्थिकज्ञान का उदय होने पर विलीन हो जाता है। ब्रह्म में आरोपित होने के कारण ज्ञान होने के साथ ही इसका विलयन हो जाता है। अज्ञानजन्य संसार की उत्पत्ति और विनाश आदि अज्ञान की स्थितिकाल तक ही माना गया है। अज्ञानमुक्त होने पर जगत्प्रपंच नहीं रहता है। मुक्तात्मा होने पर अज्ञान, जगत्, मुक्ति और मुक्ति का उपाय कुछ भी नहीं रहता है मात्र ब्रह्मस्वरूपता रह जाती है। यही अनिर्वचनीयतावाद है। इसी विषय को भामतीकार ने अपनी व्याख्या में दृढ़ किया है।

भाष्यकार ने दो उदाहरणों का प्रदर्शन कर अध्यास को दृढ़ किया है—एक शुक्ति का रजत के समान अवभासन और द्वितीय एक चन्द्र का द्वितीय के समान अवभासन। इन दोनों के प्रदर्शन का आशय यह है कि प्रथम उदाहरण के द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के धर्मों का जो भ्रम होता है—उसीका प्रदर्शन किया गया है। किन्तु इसके द्वारा वेदान्ती का सिद्धांत ठीक सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् एक ही ब्रह्म सत् है विभिन्न जितने पदार्थ हैं उनकी पृथक् सत्ता नहीं है, उस एक ही ब्रह्म में नानात्व भ्रम या बहुत्व-

भ्रम लौकिक दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध नहीं होता है, अतः द्वितीय दृष्टान्त की अवतारणा की गई है। इस दृष्टान्त से यह कहा गया है कि एक चन्द्र जिस प्रकार दो रूप में कभी-कभी ज्ञान का विषय होता है, वस्तुतः चन्द्र दो नहीं हैं, एक चन्द्र का ही बहुत्व उसी चन्द्र पर आरोपित होता है, वैसे ही एक ही ब्रह्म में बहु जीवत्व भ्रान्ति सम्भव होती है। ब्रह्म से भिन्न जीव की वास्तविक सत्ता न रहने पर भी चन्द्र में द्वितीयत्व की भ्रान्ति के समान ब्रह्म में भी बहुजीवत्व भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः अद्वैत ब्रह्म में नानात्व या बहुत्व के भ्रम के लिए लौकिक दृष्टान्त का अभाव नहीं है। ब्रह्म में जो यह अनेकत्व भ्रम है—यह उपनिषद् के आधार पर ही सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं है, वरन् लौकिकदृष्टान्त से भी सिद्ध हो सकता है। इसी के लिए द्वितीय दृष्टान्त प्रदर्शित किया है।

भामती

ननु अस्तु नाम परीक्षकाणां विप्रतिपत्तयः, प्रकृते तु किम् आयातम्, इति अतः आह—"सर्वथा अपि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति"। अन्यस्य अन्यधर्मकल्पना अनृतता, सा च अनिर्वचनीयता इति अधस्तात् उपपादितम्। तेन सर्वेषाम् एवं परीक्षकाणां मते अन्यस्य अन्यधर्मकल्पना अनीर्वचनीयता अवश्यम्भाविनी इति अनीर्वचनीयता सर्वतन्त्राविरुद्धार्थः इत्यर्थः। अख्यातिवादिभिः अकामैः अपि सामानाधिकरण्य-व्यपदेशप्रवृत्तिनियमस्नेहात् इदम् अभ्युपेयम् इति भावः। न केवलम् इयम् अनृता परीक्षकाणां सिद्धा, अपि तु लौकिकानाम् अपि इति आह—"तथा च लोके अनुभवः — शुक्तिका हि रजतम् अवभासते" इति, न पुनः 'रजतम् इदम्' इति शेषः। स्यात् एतत् — अन्यस्य अन्यात्मताविभ्रमः लोक सिद्धः, एकस्य तु अभिन्नस्य भेदविभ्रमः न दृष्टः, इति कुतः चिदात्मनः अभिन्नानां जीवानां भेदविभ्रमः — इति अतः आह—"एकः चन्द्रः सद्वितीयवत् इति।"

ननु अस्तु नाम········ ······सद्वितीयवदिति   /पं० १५६

पुष्पलता

परीक्षकों की (अध्यास में) विप्रति पत्तियाँ, परस्पर (विरुद्धार्थ कथन) किन्तु, प्रकृत में क्या हुआ ? इसी के समाधान के लिए भाष्य-कार ने कहा है-"सर्वथापि तु अन्यस्य अन्य धर्मावभासतां न व्यभिचरति" इति। किन्तु सभी प्रकार से भ्रम में अन्य का अन्य धर्मावभासता का व्यभिचार नहीं होता है। अन्य की अन्य धर्मकल्पना ही मिथ्यारूपता है, और यही अनिर्वचनीयता है - यह पूर्व में ही युक्ति के द्वारा निश्चित किया गया है। (भ्रम स्थलीयज्ञान को अयथार्थ मानने वाले के मत में पूर्वोक्त कथन की उपपत्ति होने पर भी सभी ज्ञानों को यथार्थ मानने वाले आचार्यों के मत में इसकी उपपत्ति कैसे हो सकती है ?) इसलिए सभी परीक्षकों के मत में अन्य की अन्यधर्मकल्पना अनिर्वचनीयता अवश्य भाविनी है, अतः, अनिर्वचनीयता सभी सिद्धान्तों के अविरुद्ध विषय है यही भाष्य-वाक्य का) अर्थ है। अख्यातिवादियों को भी इच्छा न होते हुए भी यह रजत है—यह सम्मुख स्थित वस्तु में इदन्त्व और रजतत्व का सामा-नाधिकरण्य व्यवहार और रजतार्थी की शुक्ति में प्रवृत्ति के नियम के प्रति पक्षपात से (रजत के ग्रह रूप प्रवृत्ति में जो नियम है, उस नियम के कारण) स्वीकार करना होगा--यही इसका आशय है। यह अनृतता केवल शास्त्र-वेत्ताओं के सम्मुख ही प्रसिद्ध नहीं है, वरन्, लौकिक जनों के मध्य भी प्रसिद्ध है। इसलिए भाष्य में कहा गया है—"तथा च लोकेऽनुभवः— शुक्तिका हि रजतवदवभासत इति"। और लोक में ऐसा अनुभव भी होता है शुक्ति का रजत के समान अवभासमान होती है—यह व्यवहार देखा जाता है, किन्तु, यह रजत है इस प्रकार व्यवहार नहीं होता है। अच्छा, ऐसा ही हो—अन्य का अन्यरूपता का विभ्रम लोक सिद्ध है किन्तु, एक अभिन्न वस्तु का भेदभ्रम नहीं देखा जाता है, तब आत्मा से अभिन्न जीव समूह का भेदभ्रम कैसे हुआ ? इसलिए यह कहा —"एकश्चन्द्रः सद्वितीय-वत् इति"। एक चन्द्र दूसरे से युक्त के समान (व्यहार लोक में देखा जाता है)।

कुसुमलता:—

भाष्यकार ने स्वमत से "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" यह अध्यास का लक्षण प्रदर्शित किया है। अनन्तर अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्त के अनुसार अध्यास के लक्षणों का प्रदर्शन किया है। इस विषय में आचार्य का कथन है कि स्वमत से प्रदर्शित अध्यास के लक्षण में ही अन्य आचार्यों का लक्षण भी संगत होता है, प्रकारान्तर से इसी लक्षण को उन लोगों ने भी अपनाया है। किसी भी शब्द से अध्यास का लक्षण कहें सभी के मतों में अन्य को अन्यधर्मावभासता का व्यभिचार नहीं होता है और इस अर्थ के साथ आचार्य का अध्यास लक्षण समानार्थक है। इन मतों का प्रदर्शन कर आचार्य ने उनके द्वारा अपने मत का समर्थन दिखाकर स्वमत को ही दृढ़ किया है दूसरे के द्वारा स्वमत का समर्थन प्रदर्शन करने पर अन्य के द्वारा भी समर्थित इस मत का अतिशय प्रामाण्य बोधित होता है। स्वाभिमत अध्यास के लक्षण में 'पूर्वदृष्टावभास' ही लक्षण है और स्मृतिरूप तथा परत्र ये दोनों पद लक्षण के परिचायक विशेषण हैं—यह पूर्व में ही व्यक्त किया है। अतः पूर्वदृष्टावभास एवं अन्यस्य अन्य धर्मावभासता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही हैं।

पूर्वदृष्टावभास शब्द की व्याख्या पूर्व में ही प्रदर्शित की है। अवसन्न या अवमत ज्ञान ही अवभास है, जो ज्ञान पूर्वदृष्ट पदार्थ के ज्ञान के समान है एवं जो अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से या युक्ति के द्वारा बाधित हो और अपने कार्य के उत्पादन में असमर्थ हो—वही पूर्वदृष्टावभास है। पूर्वदृष्ट का अर्थ पूर्वदृष्ट के समान यह किया गया है। जो वस्तुतः पूर्वदृष्ट है वह नहीं वरन् जो पूर्वदृष्ट है उसके समान अवभासित होता है। भ्रमज्ञान में यथार्थ पूर्वदृष्ट का ज्ञान नहीं होता है। वरन्, पूर्वदृष्ट सदृश किसी अन्य वस्तु का ज्ञान होता है। फलतः, इस लक्षण के द्वारा दूसरे पर दूसरे के धर्म का ज्ञान ही अध्यास है, अर्थात् इदंरजतं इस भ्रम में अन्य पद के अर्थ इदं पदार्थ के ऊपर अन्य धर्म का अर्थात् जो इदं नहीं है, जैसे रजत

आदि, उसकी बाधित होने की योग्यता एवं अपने कार्य के उत्पादन में असामर्थ्य यह अन्य की अन्य धर्मावभासता और पूर्वदृष्टावभास दोनों में समान है, अतः, पूर्वदृष्टावभास से जो कहा जाता है वही "अन्यस्य अन्य धर्मावभासता" से भी कहा जा रहा है। 'अन्य मतों में प्रदर्शित अध्यास लक्षणों में भी "अन्यस्य अन्य धर्मा भासता" समान है।

असत् ख्याति और आत्मख्याति बौद्ध के मत में भ्रम का लक्षण प्रदर्शन करते हुए आचार्य ने कहा है कि "अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः" इस लक्षण पर विचार करने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अन्यस्य और अन्यत्र के अर्थ में कोई भेद नहीं है। दोनों शब्दों से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है। दोनों पदों से शुक्तिका का ग्रहण होता है। लक्षण में अध्यास पद का प्रयोग भी अनिर्वचनीयतावादी के सामान्य लक्षण में कथित अवभास पदार्थ का वाचक है, कारण, अध्यास मात्र अवमत अर्थात् बाधित होने की योग्यता होता है—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसको प्रायः सभी मतवाले स्वीकार करते हैं। अवमत का अर्थ बाधित होने की योग्य एवं स्वकार्य में अक्षम होता है। अतः, प्रकृत लक्षण में 'अन्यधर्माध्यासः' इससे जिस अर्थ को अभिव्यक्त किया गया उसी अर्थ का प्रतिपादन 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता' से प्रतिपादित किया गया है। इसलिए इस मत के अध्यास लक्षण में 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता' का व्यभिचार नहीं है।

इसके बाद भाष्यकार ने प्राभाकर मत में 'यत्र यदध्यासः तद्विवेकाग्रह-निबन्धनो भ्रम' यह लक्षण कहा है। इसमें 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" यह विद्यमान नहीं है। क्योंकि, प्राभाकर भ्रम को नहीं मानते हैं। किन्तु, इस मत का खण्डन अन्यथाख्यातिवादी ने युक्तियुक्त प्रकार से किया है। भ्रम नहीं मानने पर प्रवृत्ति और व्यवहार की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस मत में भ्रम का मानना अनिवार्य होने पर किसी प्रकार भी भ्रम के स्वरूप का विश्लेषण किया जाय "अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" रह ही जाती है।

भाष्य में तृतीय लक्षण "यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीत धर्मत्व-कल्पना" है। इस लक्षण में 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता" विद्यमान ही है। उसी की विपरीतधर्मत्वकल्पना इस शब्द के द्वारा दूसरे पर दूसरे के धर्म का ही भान होता है। 'कल्पना पद से अवमत पद के द्वारा सूचित "बाधित होने योग्य" आदि अर्थ को स्पष्ट शब्द से कहा है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि कथित अध्यास के सामान्य लक्षण का अतिक्रमण नहीं होता है। अध्यास के सामान्यलक्षण में अवभास शब्द का अर्थ कल्पना है और कल्पना का अनृतता अर्थात् अनिर्वचनीयता होता है। अवभास शब्द का अनिर्वचनीयता अर्थ मानकर भामती में कहा है कि भ्रम मानने के साथ ही विषय को अनिर्वचनीय मानना ही होगा। भ्रम परोक्ष हो या अपरोक्ष सभी स्थलों में भ्रम का विषय अर्थात् जिस अंश में ज्ञान का भ्रमत्व सिद्ध होता है—वह अनिर्वचनीय है यही सिद्ध करना भामतीकार को अभिप्रेत है। रस्सी में सर्पभ्रम में या शुक्तिका में रजतभ्रम में अथवा गुड में तिक्तता के भ्रमस्थल में प्रकारभूत सर्प, रजत या संसर्गभूत गुड तिक्त का सम्बन्ध ये सभी अनिर्वचनीय पदार्थ हैं। वे लोकसिद्ध पूर्वदृष्ट पदार्थ नहीं हैं, वरन् वे पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश प्रातिभासिक वस्तुविशेष है। अज्ञान की विक्षेप-शक्ति के द्वारा मात्र भ्रमकाल में उत्पन्न हो जाता है और भ्रम का अधिष्ठान-भूत जो रस्सी आदि उसका प्रत्यक्ष होने से निवृत्ति हो जाता है। भ्रम के समय में उत्पन्न अनिर्वचनीय पदार्थ है, इसमें क्या प्रमाण है? अध्यास के निरूपण के प्रसङ्ग में अन्य मतों का खण्डन कर नैयायिक की अन्यथा-ख्यातिवाद को दृढ़ किया है। किन्तु, अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना के लिए अन्यथाख्याति का खण्डन भी नितान्त अपेक्षित है। किन्तु, अन्य-थाख्याति के खण्डन से पूर्व यह विवेचन भी आवश्यक है कि अन्यथा-ख्याति से अनिर्वचनीय ख्याति का किस अंश में भेद है।

अन्यथाख्यातिवादियों का यह कथन है कि भ्रम के समय जो वस्तु मेरे ज्ञान का विषयीभूत है, वे सभी सत् पदार्थ हैं। यह सत् पदार्थ वेदान्ती का पारमार्थिक सत् पदार्थ नहीं है, वरन्, पारमार्थिक और

व्यावहारिक सत्पदार्थों से यह भिन्न है। अद्वैतवेदान्तमत में इसको प्रातीतिक या आध्यासिक अथवा प्रातिभासिक सत् कहा जाता है, अन्यथाख्यातिवादी के मत में इसका भान नहीं होता है। उनलोगों के सिद्धान्त में सविकल्पक ज्ञान का जो विषय होता है वह तीन प्रकार का होता है— (१) विशेष्यरूप विषय। (२) विशेषणरूप विषय। (३) संसर्गरूप विषय। इनमें सविकल्पकभ्रमज्ञान में तीनों विषय प्रातिभासिक नहीं रहते हैं। इस विषय में अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति दोनों का समान मत है, किन्तु मतभेद यह है कि अन्यथाख्यातिवादियों का कथन है कि हमलोगों ने जो विषय का भेद दिखाया है इनमें कोई भी विषय प्रातिभासिक सत् नहीं है। वरन् सभी सामान्यरूप में सत् है। अनिर्वचनीयख्याति माननेवालों का कहना है कि भ्रम स्थल में जो विषय होता है उनमें विशेष्य विषय जो वस्तु है, उसका सत् होना आवश्यक है, किन्तु, विशेषण और संसर्ग की सत्ता अपेक्षित नहीं है। जैसे—शुक्तिरजतभ्रमस्थल में शुक्ति की ही सत्यता आवश्यक है, किन्तु, उसके विशेषणीभूत रजत की एवं शुक्ति और रजत के तादात्म्य सम्बन्ध की व्यावहारिक सत्यता न होने पर भी कार्य चलता है। यदि यह कहा जाय कि भ्रम स्थल में भी अन्यथाख्यातिवादी के मत में विशेष्य, विशेषण और संसर्ग इन तीनों की सत्यता आवश्यक हो तो अन्यथाख्याति मत में भ्रम की स्थिति कैसे हो सकती है अर्थात् भ्रम और प्रमा का वैलक्षण्य किस अंश में रहता है ? भ्रम और प्रमा दोनों स्थलों में तीनों विषय सत् होने पर उनमें विलक्षणता तो किसी भी अंश में नहीं रह जाती है। इसके उत्तर में अन्यथाख्यातिवादी का कथन है कि जिस स्थल में वस्तु जहाँ जिस सम्बन्ध से वस्तुतः विद्यमान रहती है, उस स्थल में उस वस्तु का उस सम्बन्ध से ज्ञान है — वह प्रमा ज्ञान है और जिस स्थल में जो वस्तु जिस सम्बन्ध से वस्तुतः विद्यमान नहीं रहती है, वह उस सम्बन्ध से उस वस्तु का ज्ञान भ्रमज्ञान है। संसर्ग ही विशेष्यानुयोगिक और प्रकारप्रतियोगिक होता है। प्रमा स्थल में उस संसर्ग का विशेष्यानुयोगिकत्व और प्रकार-

प्रतियोगिकत्व ये दोनों ही धर्म वस्तुतः विद्यमान रहते हैं, किन्तु, भ्रमस्थल में जो संसर्ग भासमान होता है उसका प्रकारप्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्व दोनों धर्म नहीं रहते हैं और इसका न रहना ही भ्रमत्व का प्रयोजक है यही भ्रम और प्रमा में विलक्षणता है। इस प्रकार अन्यथाख्याति युक्तिसंगत नही है। भ्रम दो प्रकार का हो सकता है, एक प्रत्यक्षभ्रम और दूसरा परोक्ष भ्रम। अनिर्वचनीयख्यातिवादी का कथन है कि इन दोनों प्रकार के भ्रम को अनिर्वचनीयख्याति मानना होगा। प्रत्यक्ष भ्रम और परोक्ष भ्रम दोनों ही अन्यथाख्याति में प्रमाण सङ्गत नहीं है। प्रत्यक्ष भ्रम में किस प्रकार अनिर्वचनीयख्याति होती है और अन्यथाख्याति प्रमाण सङ्गत नहीं है?

अन्यथाख्याति का कथन है कि भ्रम स्थल में अन्यत्र विद्यमान रजत का ही प्रत्यक्ष होता है। अनिर्वचनीयख्याति मत के अनुसार वे अनिर्वचनीयरजत की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रियसन्निकर्ष ही कारण होता है। जिस वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

० ० ०

१ सन्निकर्ष शब्द का अर्थ इन्द्रिय रूप कारण का व्यापार होता है।

शांकरभाष्यम् :—

सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोके अनुभवः—शुक्तिका हि रजतवद् अवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

पुष्पलता :—

किन्तु सभी प्रकार से अन्य की अन्यधर्मावभासता का व्यभिचार नहीं होता है और इसी प्रकार संसार में अनुभव होता है—शुक्तिका रजत के समान अवभासित होता है, एक चन्द्र द्वितीय के समान यह [लोक व्यवहार देखा जाता है]

कुसुमलता:—

अनेक दार्शनिकों की विप्रतिपत्तियों तथा उन वादियों के अभिमत भ्रम का निराकरण भी हो जाय इससे प्रकृत में क्या लाभ होता है ? सभी ख्यातियों के प्रदर्शन से प्रकृत में अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है—अन्यत्र अविद्यमान अन्य-विषयकत्व का किसी भी ख्याति में नहीं होता है। आशय यह है कि पूर्व में अध्यास के तीन लक्षणों का विवरण प्रस्तुत किया है। उनमें परस्पर भेद की अवगति होने पर भी वस्तुतः, वे एक स्वर में यही कहते हैं कि जो वस्तु जहां नहीं है, वह वहां उस धर्म से युक्त रूप में भासमान होती है'—इसमें इन लक्षणों में कोई मतभेद नहीं है। मतभेद का उल्लेख पूर्व में ही कहा गया है। अन्य का अन्य धर्म रूप में भान से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, यह भ्रम का साधारण विषय है, अन्यत्र अविद्यमान वस्तु का वहां भान अनिर्वचनीयख्याति के विना सम्भव ही नहीं है—अनिर्वचनीयख्यातिवाद में ही भ्रम का पर्यवसान होता है, आरोप्य वस्तु अनिर्वचनीय है—यह मात्र युक्ति से साध्य नहीं है, वरन् लोगों के अनुभव से भी समर्थित है। सभी व्यक्ति यह अनुभव करते हैं—शुक्तिका रजत के समान भासमान होती है, या एक ही चन्द्र और एक चन्द्र के साथ प्रतीयमान हो रहा है इत्यादि लोकव्यवहार से यह सिद्ध है कि एक वस्तु में दूसरे के धर्म का भान होता है, फलतः, भ्रमस्थल में अन्य की अन्य धर्म रूप में भासमानता लोक से समर्थित है। इसी विषय का समर्थन करते हुए भाष्यभाव प्रकाशिकाकार ने कहा है कि भ्रम में भासमान वस्तु को सत् नहीं कहा जा सकता है, कारण, उसका बाध होता है अन्यत्र रजत की सत्ता मानने पर शुक्तिका में भान कैसे हो सकता है ? रजत का असत्त्व भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, रजत का प्रत्यक्ष हो रहा है, रजत को असत्त्व मानने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। रजत का सत्त्व और असत्त्व दोनों नहीं माना जा सकता है, सत्त्व और असत्त्व में विरोध होने से दो में एक ही धर्म रह सकता है, अतः, अनिर्वचनीय रजत शुक्ति में मानना पड़ेगा। लोकसिद्ध अनुभव का

समर्थन दो अनुभवों से किया गया है, जिनमें प्रथम सोपाधिक भ्रम का उदाहरण है और दूसरा निरुपाधिक भ्रम का उदाहरण दिया गया है। रजतवत् इस प्रयोग में वत् शब्द से वस्तुगत्या यहां रजत नहीं है—यह अ ागत कराने से रजत की अनिर्वचनीयता अनुभूत होती है, जीव और ब्रह्म का वास्तविक अभेद होते हुए भी भेदभ्रम की अनुपपत्ति नहीं है-इसका दृष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हुए एक ही चन्द्र दो के समान यह उदाहरण दिया है। यहां अव्ययवत् का प्रयोग है।

प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में शुक्ति में यदि बाजार में स्थित रजत का ज्ञान माना जाय तो बाजार में स्थित रजत के साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष मानना होगा। किन्तु, यह सभी मानेंगे कि शुक्तिका के दर्शन के समय बाजार में स्थित रजत के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है। इसलिए मानना होगा कि शुक्तिका दर्शन काल में बाजार में स्थित रजत के साथ इन्द्रियका सन्निकर्ष होकर शुक्ति में रजत का ज्ञान नहीं होता है और ऐसी स्थिति में मानना होगा कि किसी रजत का प्रत्यक्ष होता है किन्तु इस स्थल में वास्तविक रजत विद्यमान नहीं है, इसलिए कोई प्रातिभासिक या अनिर्वचनीय रजत यहां उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में अन्यत्र विद्यमान रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता है, वरन् अनिर्वचनीय उस समय उत्पन्न रजत का ही प्रत्यक्ष होता है — यह मानना होगा।

ज्ञान के कारणों में जो कारण व्यापारयुक्त रहता है और जिससे ज्ञानरूप कार्य उत्पन्न होता है — वही ज्ञान का करण है। इन्द्रिय ज्ञान का कारण होता है एवं इसके व्यापार युक्त होने पर यह प्रत्यक्षज्ञान का कारण होता है। इन्द्रिय का व्यापार या सन्निकर्ष शब्द का अर्थ उसके साथ विषय का कोई एक विशेष सम्बन्ध है। यह लौकिक और अलौकिक सन्निकर्ष के भेद से दो प्रकार का होता है वह लौकिक-सन्निकर्ष = चक्षुः आदि के साथ घटादि का संयोग सम्बन्ध है। इसी प्रकार घट के प्रत्यक्ष के समय एक घट व्यक्ति के साथ हमलोगों की इन्द्रिय का सन्निकर्ष रहने पर भी घटत्व रूप में सभी घट व्यक्ति का

एक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, इसके लिए चक्षु: आदि ज्ञानेन्द्रियों के साथ सभी घट व्यक्तियों का अलौकिक-सन्निकर्ष रूप सम्बन्ध रहता है। ऐसे स्थल में सभी घट का प्रत्यक्ष नहीं होता है यह मानने पर देशान्तर और कालान्तरस्थित घट को घट कहकर बाद में ज्ञात नहीं कर सकेगा। लौकिक-सन्निकर्ष छः प्रकार का है — १. संयोग, २. संयुक्त समवाय, ३. संयुक्त समवेत समवाय, ४. समवाय, ५. समवेत समवाय ६. विशेषणता। द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष रहता है। द्रव्य में रहनेवाले गुण, जाति और क्रिया के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवाय सन्निकर्ष रहता है, गुणत्व और क्रियात्व आदि जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवेत समवाय सन्निकर्ष है, शब्द के प्रत्यक्ष में समवाय सन्निकर्ष है शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेत समवाय सन्निकर्ष है और अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणता सन्निकर्ष है।

प्रत्यक्षभ्रमस्थल में जो रजत का प्रत्यक्ष होता है, वह लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है, वरन्, वह अलौकिक प्रत्यक्ष है, अतः, इस प्रत्यक्ष के लिए अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की आवश्यकता है। अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के बल पर ही बाजार में स्थित रजत का भान होता है। इस ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष शब्द का अर्थ पूर्वानुभूत रजतस्मृतिरूप ज्ञान होता है। इसलिए शुक्ति में रजत के भ्रम में शुक्ति के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष एवं पूर्वानुभूतरजत का स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष—ये दो सम्बन्ध मिलित होकर शुक्ति में "यह रजत है" इस प्रकार के भ्रम का उत्पादन करते हैं। अतः, ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा जब रजत का प्रत्यक्ष हो सकता है, तब सन्निकर्ष के न होने से अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में वेदान्ती का कथन है कि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष का कारण मानने पर अनुमिति में पक्ष प्रत्यक्ष योग्य होने से वहाँ अनुमिति नहीं हो सकती है, कारण उस स्थल में ज्ञानलक्षण अलौ-

किक सन्निकर्ष के वल से साध्य का प्रत्यक्ष ही हो जायगा। ऐसी स्थिति में इस तरह के स्थल में अनुमिति मात्र का उच्छेद हो जायेगा।

० ० ०

अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार का है। १. सामान्यलक्षण, २. ज्ञानलक्षण, ३. योगज। घट के प्रत्यक्ष काल में घटत्व रूप में सभी घटों का प्रत्यक्ष सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से होता है। चन्दन के प्रत्यक्ष के समय उसकी सुगन्धि का चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से एवं भ्रम काल में शुक्ति में रजत के प्रत्यक्ष स्थल में रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष है। योगियों को अतीत और अनागत एवं साधारण लोगों के प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष योगज सन्निकर्ष से होता है।

एक विषय में अनुमिति की सामग्री एवं प्रत्यक्ष की सामग्री के विद्यमान रहने पर उस विषय की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष ही होता है— यह सभी सिद्धान्तों में माना गया है। जैसे–दूर से किसी ने स्थाणु देखकर यह स्थाणु है या पुरुष यह सन्देह होने पर वह व्यक्ति देखता है कि यह वक्र-कोटर विशिष्ट है, और इसके बाद वह सोचता है कि जो वक्र खोरहर आदि से विशिष्ट होता है वह स्थाणु ही रहता है अर्थात् जो स्थाणुत्व का व्याप्य वक्र कोटरादि इत्याकारक व्याप्ति का स्मरण होता है तव उस व्यक्ति को व्याप्ति ज्ञान के द्वारा "यह स्थाणु है" इस प्रकार की अनुमिति न होकर "यह स्थाणु है" यह प्रत्यक्ष ही होता है। अतः, इस स्थल में प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति की सामग्री से बलवान् होती है। इस स्थिति में प्रत्यक्षयोग्य पर्वत में अनुमिति करने के समय अनुमिति की सामग्री व्याप्तिज्ञान एवं प्रत्यक्ष की सामग्री से वह्निका पूर्वानुभवजनित - स्मृतिरूप ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष, दोनों के विद्यमान रहने पर पर्वत में वह्नि की अनुमिति न होकर वह्नि का प्रत्यक्ष ही होना चाहिए। इसके फलस्वरूप ऐसे स्थल में अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष ही होगा, अर्थात् अनुमिति का प्रकारान्तर से उच्छेद मानना होगा, किन्तु नैयायिक यह स्वीकार नहीं करते हैं, अतः, यह मानना पड़ेगा

कि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को न मानना ही उचित है। यदि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष नहीं माना जाय तो शुक्तिरजत स्थल में बाजार में स्थित रजत के प्रत्यक्ष के कारण सन्निकर्ष के न रहने से अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति अव.य ही माननी पड़ेगी। सौरभ का चाक्षुप प्रत्यक्ष मानने के लिए ज्ञान-लक्षण स्वीकार की भी आवश्यकता युक्तिसंगत नहीं है। कारण, चन्दन के सौरभ का चाक्षुप-प्रत्यक्ष वेदान्ती नहीं मानते हैं, अतः, यह सार्ववादियों का सम्मत दृष्टान्त नहीं हो सकता है. । अतः, अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति का स्वीकार ही समीचीन है। ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा जो वस्तु प्रत्यक्ष का विषय होती है, वह अनुव्यवसायज्ञान के समय सामान्यतः प्रत्यक्ष का विषय होती है। विशेष रूप से विशेष-विशेष इन्द्रिय के द्वारा उसका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है। जैसे—चन्दन की सुगन्धि जब अलौकिक-सन्निकर्ष के द्वारा नैयायिकों के प्रत्यक्ष का विषय होती है, तब "चन्दन की सुगन्धि को हम जानते हैं" यही ज्ञान होता है, किन्तु, "चन्दन की सुगन्धि को हम देखते हैं" यह ज्ञान नहीं होता है। ऐसी स्थिति नैयायिकों के द्वारा यह स्वीकार करने पर ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा शुक्तिरजत स्थल में भी "मैं रजत को जानता हूँ" यह सामान्य ज्ञान होना ही उचित है, "मैं रजत को आँख के द्वारा देखता हूँ" इस तरह विशेष इन्द्रिय से उत्पन्न विशेष ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु शुक्ति रजत स्थल में "मैं रजत को चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देखता हूँ" इस प्रकार अनु-व्यवसाय ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा शुक्ति में रजत का भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता है। किन्तु, सर्ववादिसिद्ध रजत की चाक्षुषत्व रक्षा करने के लिए इस स्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी। प्रत्यक्षसामग्री यदि अलौकिक नहीं रहे तभी वह अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा प्रबल होगी, अतः, अनुमिति का उच्छेद नहीं होगा। 'पर्वत वह्निमान्' है इस स्थल में जो प्रत्यक्ष की सामग्री रहती है, वह अलौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री है, उसके द्वारा अनुमिति का बाध होना अनुचित है। अतः, ऐसे स्थल में अनुमिति का उच्छेद कैसे

होगा ? किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है। कारण, अलौकिक प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा प्रबल है, यह उक्त स्थाणु के दृष्टान्त से ही अवगत हो गया है। उस स्थल में यदि वह वस्तुतः स्थाणु नहीं रहता है और स्थाणु का व्याप्य वक्रकोटर आदि रहता है—इस प्रकार भ्रमात्मक व्याप्तिज्ञान यदि रहता है तो उक्त स्थल में हमलोगों को स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष ही होता है—यह सभी को मानना पड़ेगा। इस स्थल में जो स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष होता है उसको लौकिक-प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। कारण, इस स्थल में स्थाणुत्व के न रहने से उसके साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। अतः, इस स्थल में जो स्थाणुत्व का प्रत्यक्ष होगा, वह ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा ही यह मानना ही होगा।

इस स्थल में व्याप्तिज्ञानादिरूप अनुमिति की सामग्री भी रहती है। किन्तु, अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री प्रबल है। इसलिए, यह मानना ही होगा कि समान विषय में लौकिक और अलौकिक दोनों तरह की प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति की सामग्री की अपेक्षा बलवान् है- यह मानना ही पड़ेगा और इसके फलस्वरूप अनुमिति के उच्छेद की आपत्ति रह ही जायगी। इसलिए प्रत्यक्षभ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति माननी ही पड़ेगी।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह मानने पर भी कि शुक्ति रजत आदि प्रत्यक्ष-भ्रमस्थल में शुक्ति पर अनिर्वचनीय रजत एवं रजततादात्म्य सम्बन्ध भी उत्पन्न होता है यह मानने पर भी परोक्षभ्रमस्थल में भी अनिर्वचनीय वस्तु एवं उसका सम्बन्ध उत्पन्न होकर भ्रम उत्पन्न होकर भ्रम होता है— इसमें क्या प्रमाण है ? यदि यह कहा जाय कि "आम्रवृक्ष में केला उत्पन्न हुआ है" तब "आम्रवृक्ष केले के फलवाला है" इस शब्द के प्रयोग से जो परोक्षभ्रम होता है, इसमें केला का फल और उसका सम्बन्ध अनिर्वचनीय एवं उत्पन्न होता है—यह कैसे माना जायगा ? कारण, प्रत्यक्षभ्रमस्थल में व्यावहारिक वस्तु में सन्निकर्ष का अभाव और

प्रत्यक्षरूपता सिद्ध होने से जैसे भ्रम का विशेषणीभूत वस्तु और उसका संसर्ग अनिर्वचनीय उत्पन्न स्वीकार किया जाता है, इस स्थल में वैसे सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं होने से भ्रम के विशेषणीभूत वस्तु और उसके संसर्ग को अनिर्वचनीय और उत्पन्न स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। 'आम्रवृक्ष केले के फल वाला है' यह कहने से जो ज्ञान होता है,वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं है, अतः केले के फल और उसके संसर्ग के साथ किसी सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञान में पूर्वानुभूत कदली फल और उसके संसर्ग आदि का ज्ञान होता है—यह कहने से ही चलता है—उनको अनिर्वचनीय और उत्पन्न मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसके उत्तर में अनिर्वचनीय ख्याति माननेवालों का कहना है कि परोक्ष भ्रमस्थल में प्रकारीभूत वस्तु का अनिर्वचनीयत्व एवं उत्पत्ति स्वीकार न करने पर भी वह वस्तु और उसके विशेष्य का संसर्ग जो भासमान होता है—उनको अवश्य ही अनिर्वचनीय मानना पड़ेगा। कारण, यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त ज्ञान की सविकल्पता ही सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि, सविकल्पक ज्ञान में जिसका भान होता है वे सर्वथा परस्पर अविमिश्र-भाव में प्रकाशित नहीं होता है। ज्ञान का विषयीभूत वस्तुसमूह जो परस्पर असम्बद्ध रूप में प्रकाशित होता है, उसीको तुम भी निर्विकल्पक ज्ञान मानते हो। आम, केला और उनका संसर्ग ये सभी यदि असम्बद्ध रूप में ज्ञान के विषय हों तो यह ज्ञान सविकल्पक किस प्रकार होगा ? इसलिए मानना होगा कि वे सम्बद्धरूप में ही भासमान होते हैं। आम और कदली-फल के साथ सम्बद्ध भाव में प्रतीयमान जो सम्बन्ध वह वस्तुतः व्यावहारिक सत् है या कल्पित है ? यदि इसको व्यावहारिक सत् माना जाय तो यह ज्ञान प्रमा हो जायगा, यदि असत् कहा जाय तो असत् का भान न होने से इस सम्बन्ध की प्रातीतिक - सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी। ऐसा मानने पर सत् पदार्थ का ही भान भ्रमस्थल में होता है—यह कैसे सिद्ध हो सकेगा ? इस सम्बन्ध को सत् कहा जाय तो उसपर प्रकार प्रतियोगिकत्व एवं विशेष्यानुयोगिकत्व रूप दो धर्म नहीं रहने से भ्रम हो

जाता है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि उक्त दोनों धर्म संसर्ग के अंश में भासमान होते हैं या नहीं ? यदि यह कहें कि वे भासमान नहीं होते हैं तो विशेष्य, विशेषण और संसर्ग ये तीनों परस्पर निरपेक्ष रूप में प्रतीयमान होने से ये ज्ञान निर्विकल्पक हो जायेंगे। इनकी सविकल्पक-रूपता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होगी। यदि यह कहें कि दोनों धर्म संसर्ग अंश में भासमान होते हैं तो दोनों धर्म उक्त संसर्ग में जो भासमान होते हैं वे अवश्य ही किसी सम्बन्ध से भासमान होंगे ? जिस सम्बन्ध से दोनों धर्म संसर्ग में भासमान होंगे वह सम्बन्ध यदि सत्य होगा तो वह ज्ञान भ्रमरूप नहीं होगा। क्योंकि, इस स्थल में सत्यसम्बन्धमूलक ही सभी वस्तुओं का भान होता है। इसलिए, उक्त ज्ञान की भ्रमरूपता सिद्ध नहीं होती है। प्रकारप्रतियोगिकत्व और विशेष्यानुयोगिकत्वरूप दो धर्मों के साथ संसर्ग का जो सम्बन्ध, यदि वह असत्य रहे तो असत्य का ही भान मानना पड़ेगा और असत् का भान आप मानते ही नहीं हैं। अतः, इन दो धर्मों के साथ उक्त सम्बन्ध का जो सम्बन्ध उसको प्रातीतिक मानना ही पड़ेगा। फलतः, दोनों पक्षों में परोक्ष भ्रमस्थल में प्रातीतिक सम्बन्ध बिना माने भ्रमरूपता सिद्ध ही नहीं हो सकेगी। अतः, परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों भ्रमों में अनिर्वचनीयख्याति माननी ही पड़ेगी—यही भामतीकार को अभीष्ट है। कतिपय आचार्यों का यह भी कथन है कि केवल प्रत्यक्ष भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति मानी गई है, परोक्ष भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति मानने में भी प्रकृतपक्ष में आचार्य के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। इस पक्ष में रत्नप्रभाकार और वेदान्तपरिभाषाकार की सम्मति है। किन्तु, भामतीकार का अभिप्राय नहीं है यह कल्पतरु और परिमलकार ने स्पष्ट कहा है। इसलिए यह मानना होगा कि भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है एवं भ्रम का विनाश होने पर उसका नाश हो जाता है।

भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय आरोपणीय वस्तु कहां से उत्पन्न हुई और कहां वह विलीन हो गई ? इसका उत्तर यह है कि जीव की अन्तर्निहित कारणशरीररूप अज्ञान की विशेष शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है

और यथार्थज्ञान के उत्पन्न होने पर विलीन हो जाता है। घटादि के ध्वंस में कपालादि के समान इसका कोई अवशेष नहीं रहता है। वस्तुतः, जन्ममृत्युसुखदुःखादिसंकुल—यह जगत् इसी प्रकार अज्ञान से ब्रह्म में उत्पन्न होता है और परमार्थज्ञान के उदय होने पर विलीन हो जाता है। ये सभी ब्रह्म में आरोपित हैं और ज्ञान होने पर ही विनष्ट हो जाते हैं। अज्ञानजन्य जगत् की उत्पत्ति और विनाश आदि जितनी देर अज्ञान रहता है, उतने ही क्षण तक रहता है, जीव के अज्ञानमुक्त होकर ब्रह्म होने से यह जगत्प्रपञ्च नहीं रहता है। मुक्तात्मा के पास अज्ञान नहीं रहता है, जगत् नहीं रहता है और मुक्ति भी नहीं रहती है, मुक्ति का साधन भी नहीं रहता है उसकी केवल ब्रह्मस्वरूपता रहती है। यही मायावाद या अनिर्वचनीयवाद है। यह भ्रममात्र पण्डितों को ही मान्य नहीं वरन् साधारण लोग भी मानते हैं। इसीलिए भाष्यकार ने दो उदाहरणों से इसका समर्थन किया है। एक शुक्तिका रजत के समान ज्ञान और दूसरा एक चन्द्र का सद्वितीयवत् अवभास। प्रथम उदाहरण के द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तु के धर्म का भ्रम होता है यह प्रदर्शित किया गया है किन्तु इससे वेदान्तसिद्धान्त का समर्थन नहीं हो पा रहा है एक ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं है, एक ही ब्रह्म में नानात्व भ्रम या बहुत्व ब्रह्म पूर्व प्रदर्शित लौकिक दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध नहीं हो पा रहा है, इसलिए द्वितीय दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। जैसे एक ही चन्द्र का कभी - कभी दो चन्द्र के रूप में भान होता है। दो चन्द्र नहीं हैं। जैसे—एक चन्द्र पर ही बहुत्व आरोपित होता है, वैसे ही ब्रह्म में बहु जीवत्व की भ्रान्ति होती है। ब्रह्म से भिन्न जीव की वास्तविक सत्ता न होने पर भी एवं यह ब्रह्म अद्वितीय होने पर भी चन्द्र में सद्वितीयत्व भ्रान्ति के समान ब्रह्म में भी बहुजीवत्वभ्रान्ति उपपन्न होती है। अतः, अद्वैत ब्रह्म में बहुत्व या नानात्व भ्रम में लौकिक दृष्टान्त का अभाव नहीं है।

यह जिज्ञास्य है कि आचार्य शङ्कर ने 'सद्वितीयवत्' यह प्रयोग किया है। किन्तु, लोकव्यवहार में दो चन्द्रमा को देखता हूँ—यही प्रयोग होता है। दो चन्द्र के समान देखता हूँ—यह प्रयोग तो नहीं होता है।

इसका उत्तर यह है कि इस स्थल में 'वत्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है, उसका सादृश्य अर्थ विवक्षित नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस पाणिनिसूत्र के द्वारा सादृश्य अर्थ में ही वत् प्रत्यय का प्रयोग होता है, मिथ्या रूप अर्थ विवक्षित नहीं है। सादृश्यार्थक वत् का ही मिथ्या अर्थ में लक्षणा की गई है—यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, 'वति' प्रत्यय होने पर मुख्य अर्थ का बाध होने पर ही लक्षणा होगी। अतः, मिथ्याभूत अर्थ के बोध से पूर्व सादृश्य का बोध होना एकान्त आवश्यक है। मुख्य अर्थ सादृश्यज्ञान होता है। "सत्य रजत जैसे रजतरूप में भासमान होता है वैसे ही शुक्तिका रजतरूप में भासमान होती है" इत्यादि इस ज्ञान की अनुपपत्ति देख कर बाद में 'वत्' का मिथ्याभूत लक्ष्यार्थ का आश्रय गृहीत करना होगा। यदि यही नियम स्वीकार किया जाय तो सादृश्य ज्ञान होने से लोगों के मन में शुक्ति और रजतादि का परस्पर भेदज्ञान हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है। इस भेदज्ञानरूप बाधक ज्ञान रहने से रजतादि का भ्रान्तिज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में वह आहार्यभ्रान्ति अर्थात् इच्छाप्रयुक्त एक प्रकार का भ्रान्तिविशेष ही होगा—यह स्वाभाविक भ्रान्ति नहीं होगी। अतएव 'वत्' प्रत्यय की लक्षणा करके दृष्टान्त की सङ्गति का प्रदर्शन करना भी सम्भव नहीं होगा। इसके उत्तर में किसी-किसी भाष्य-व्याख्यानकर्त्ता ने कहा है कि यह ठीक नहीं है। कारण, 'वत्' प्रत्यय का केवल सादृश्य अर्थ में ही प्रयोग होता है ऐसी बात नहीं है। वरन्, उत्कट सम्भावना अर्थ में भी 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे—आते हुए देवदत्त को देखकर कोई कहता है देवदत्त के समान कोई आता है। "देवदत्तवत् कोई आता है"...... । इस स्थल में वत्' शब्द से सादृश्य अर्थ का बोध नहीं होता है, वरन्, उत्कट-सम्भावना अर्थ ही होता है। अतः, 'वत्' का अर्थ मात्र सादृश्य ही नहीं होता है। यद्यपि पाणिनि ने इसी अर्थ में 'वत्' का प्रयोग किया है। किन्तु, लौकिक प्रयोग से उत्कट सम्भावनारूप अर्थ भी प्रतीत होता है। सद्वितीयवत् यह प्रयोग इसी के अनुसार किया गया है इसका विस्तृत विश्लेषण कल्पतरु और परिमल में उपलब्ध होता है।

ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति है, इस सिद्धान्त को अवगत कराने के लिए आचार्य शङ्कर ने यह कहा है। प्रथम अध्यास के मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं है यह कहा है। अनन्तर अध्यास को मिथ्या कहने पर कार्य नहीं चलेगा -यह सर्वानुभवसिद्ध है। अतः, इसके प्रमाण का अभाव नहीं है। इस प्रकार अध्यास विषयक प्रमाण प्रदर्शन कर, पुनः आचार्य ने अध्यास के लक्षण का निरूपण किया है, अनन्तर अध्यास के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिक आचार्यों का मतभेद प्रदर्शन कर उपसंहार में सभी मतभेदों को अपने मत के अनुकूल प्रदर्शित किया है। अतः, आचार्य ने अपने मत की स्थापना के लिए जो आवश्यक था, सभी किया है। इस मत पर आपत्ति हो सकती है, उन्हीं को आगे के प्रसङ्ग में वर्णित किया है। फलतः, अध्यास का लक्षण "अन्य की अन्यधर्मावभासता ही होता है।

रत्नप्रभाकार ने इस स्थल में रजत की उत्पत्ति एवं अनीर्वचनीयत्व के सम्बन्ध में जो युक्तियाँ दी हैं—वे उल्लेखयोग्य हैं। शुक्ति में जो रजत का प्रत्यक्ष होता है, वह वस्तुतः अन्य स्थान में नहीं रहता है एवं बुद्धि में भी नहीं रहता है। अतः, अनिर्वचनीय रजत की ही वहां उत्पत्ति माननी पड़ेगी, वह शून्य भी नहीं हो सकता है। कारण, शून्य का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? यदि कहा जाय कि वह शुक्ति में रहता है—यह भी सम्भव नहीं है। कारण, ऐसा मानने पर यथार्थज्ञानकाल में उसका बाध नहीं होगा। अतः यह मानना होगा कि रजत की सत्ता कहीं भी नहीं है और उसका प्रत्यक्ष होता है, वह उस काल में उत्पन्न और अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या ही है यह मानना होगा। जिसका आरोप होता है, वह मिथ्या है, इसमें युक्ति की अपेक्षा नहीं है। कारण, वह सभी का अनुभवसिद्ध है। इस स्थल में प्रथम दृष्टान्त से आचार्य निरूपाधिक आत्मा में जिस प्रकार अहंकार का अध्यास होता है—यही प्रदर्शित किया है। वत् शब्द से शुक्तिका में जो रजत दृष्ट होता है, वह मिथ्या है, इसकी घोषणा की है। द्वितीय दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म के साथ जीव का भेद अविद्यारूप है, उपाधि के कारण होता है। एक चन्द्र दो के रूप में किस प्रकार दिखाई देता है, इसके लिए

रत्नप्रभाकार ने कहा है कि अंगुलि के द्वारा अक्षिगोलक दबाने पर गगनस्थ चन्द्र दो के रूप में ज्ञान होता है। भाष्यस्थ 'इति' शब्द के द्वारा लक्षण प्रकरणस्थ समाप्ति की सूचना की गई है। रत्नप्रभाकार ने द्विचन्द्रदर्शन के द्वारा कहा है कि अक्षिस्थगोलक के ऊपर अंगुलि के द्वारा पीडन कर चन्द्रमा पर दृष्टि करने पर चन्द्रमा दो चन्द्रमा से परस्पर संयुक्तरूप में दिखाई देता है। भामतीकार इस विषय में मौन है। अंगुलि के द्वारा पीडन के विना भी समय-समय पर दो चन्द्र दिखाई देता है। इसके द्वारा यही कहा गया है कि ब्रह्म अद्वितीय होने पर भी एक चन्द्र में दो चन्द्र के दर्शन के समान वह ईश्वर जीव और जगत् के रूप के प्रतिभासमान होता है। एक ब्रह्म ही सत्य है और सभी मिथ्या है एवं ब्रह्म का ज्ञान होने से मुक्ति होती है. इसीलिए व्यासदेव ब्रह्मसूत्र में प्रथम ब्रह्मजिज्ञासा ही की है। आचार्य ने शुक्ति रजत एवं द्विचन्द्र का प्रदर्शन किया है—वह भ्रमस्थल का ही दृष्टान्त होना उचित है। कारण, इस स्थल में भ्रम का ही प्रसङ्ग है—जब भ्रम होता है तब शुक्ति रजत एवं एक चन्द्रमा दो के समान यह ज्ञान नहीं होता है। वरन्. यह रजत है, दो चन्द्र है—यह आकार होता है। इसलिए भ्रम के नष्ट होने पर जो ज्ञान होता है, उसी को लक्ष्य कर यह दृष्टान्त दिया है। लोक में भ्रम की निवृत्ति के बाद शुक्तिका रजत के समान दिखाई देती थी, चन्द्रमा दो चन्द्रमा के समान दिखाई देता है—यही आचार्य का अभिप्राय है—यही रत्नप्रभाकार ने कहा है।

भाष्य :—कथं पुनः प्रत्यागात्मनि अध्यासः विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनः अविषयत्वं ब्रवीषि ! उच्यते। न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वादपरोक्षत्वाच्च, प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थिते एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यम् इति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनतादि अध्यवस्यन्ति। अयमविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः।

पुष्पलता :—

तब किस तरह अविषय सर्वानुगत आत्मा में विषय एवं उसके धर्मों का अध्यास होता है ? सभी लोग सम्मुख में स्थित विषय में (ज्ञेय वस्तु में) अन्य विषय का आरोप करते हैं, और तुम युष्मत् ज्ञान के अविषय सर्वानुगत आत्मा को अविषय ही कहते हो। इसके उत्तर में कहते हैं—यह सर्वथा अविषय नहीं है, कारण, (आत्मा) अस्मत् ज्ञान का विषय है और अपरोक्ष है। क्योंकि सर्वानुगत आत्मरूप में प्रसिद्ध है, और यह नियम नहीं है कि सम्मुख अवस्थित विषय में अन्य विषय का आरोप करना चाहिए। कारण, अप्रत्यक्ष आकाश में भी भ्रान्त व्यक्ति कटाह के आकार के पृथ्वी की मलिनता का आरोप करते हैं। इस प्रकार प्रत्यगात्म में भी अनात्मा का अध्यास अविरुद्ध है।

कुसुमलता :—

पूर्वोक्त तीन कारणों के अभाव से अध्यास के अभाव की शङ्का परिहृत होने पर भी अधिष्ठान के अज्ञानरूप चतुर्थ कारण के अभाव से आत्मा में अन्तःकरण का अध्यास नहीं हो सकता है—इस शङ्का को हटाने के लिए भाष्यकार ने आक्षेप किया है कि "कथं पुनः" आत्मा में अन्तःकरणाध्यास का कारण अधिष्ठान ज्ञान ही अन्तःकरण में आत्मसंसर्ग के अध्यास का कारण है। अतः, विषय और उसके धर्मों का आत्मा में अध्यास के आक्षेप के द्वारा विषय में विषयी और उसके धर्म के अध्यास का आक्षेप भी अर्थतः सिद्ध है, इसलिए, परस्पर अध्यास का आक्षेपपरक ही ग्रन्थ है मात्र विषयी में विषय और उसके धर्मों के आक्षेप के लिए यह ग्रन्थ नहीं है। वार्तिककार के अनुसार अधिष्ठानज्ञान भी भ्रमसामान्य के प्रति चतुर्थ कारण है, अधिष्ठान वही होता है, जो किसी रूप से ज्ञात और किसी रूप से अज्ञात रहता है, शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूप का अज्ञान से आवरण नहीं हो सकता है, कारण, ज्ञान और अज्ञान, अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। अतः, इनकी एक स्थान में स्थिति

सम्भव नहीं है, फलतः, एक ही सत्ता रहने पर दूसरे की सत्ता वाधित ही रहेगी। अतः, चैतन्य कैसे अज्ञात होता है—इस शङ्का का उद्घाटन करने के लिए विशेषण दिया है—"प्रत्यगात्मनि"। अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप में। चिदात्म में अध्यास मिथ्याज्ञान निमित्तक ही होता है, मिथ्या अज्ञान रूप निमित्त शुद्धचैतन्याश्रित और उसका विषय है। जीवत्व अज्ञान रूप उपाधि से होता है और वह नाशका अनाश्रय है—यह विवरण का मत है। भामती के मत में अज्ञानाश्रय जीव अनादि है, अनादि होने से अज्ञान और जीव में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है, फिर भी शुद्धचैतन्य ज्ञान-स्वरूप का ही अज्ञान से आवरण होता है, इसलिए आश्रय और विषय की अनुपपत्ति से प्रत्यगात्मा में=सर्वानुगत आत्मा में मिथ्याज्ञाननिमित्तक विषय का अध्यास सम्भव नहीं है। मात्र अज्ञातत्व के अभाव से अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता है—यह बात नहीं है, वरन्, प्रमाणजन्य वृत्यभिव्यक्त चैतन्य भास्यत्वरूप ज्ञातत्व के अभाव से भी अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता है-इसको सूचित करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—"अविषये च" अदृश्य अर्थात् फलव्याप्य या वृत्तिव्याप्य। यह रजत है इत्यादि में अधिष्ठान के साथ इन्द्रिसन्निकर्ष होने पर ही तदाकार वृत्ति निर्गमन के बाद ही रजत का प्रत्यक्ष होता है। विषय और ज्ञान का प्रत्यक्ष वृत्ति के निर्गमन की अपेक्षा करता है और वृत्ति का निर्गमन इन्द्रिय और अधिष्ठान के सन्निकर्ष के अधीन है। यद्यपि वाह्यप्रत्यक्ष में ही यह व्यवस्था है आन्तर प्रत्यक्ष में नहीं है। शुद्धचैतन्याकार वृत्ति इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना भी हो सकती है। यदि वह वृत्ति निमित्तरहित होगी तो उसका कभी भी अज्ञान से आवरण सम्भव नहीं है। यदि वह सनिमित्तक है तो अन्तःकरण के अध्यास से पूर्व किसी भी प्रमाण से शुद्ध चैतन्याकार अन्तःकरण की वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होने से वृत्तिव्याप्यत्व नहीं हो सकता है। अतः, कैसे अहं की प्रत्यक्षता का निर्वाह हो सकता है? इसलिए, चिदात्मा में अन्तःकरण का अध्यास सम्भव नहीं है। शुद्धचैतन्य अविद्या से सावृत होने पर भी स्वप्रकाश होने से प्रकाशमान भी है, इसलिए यह रजत है इसके समान

अधिष्ठान और इन्द्रिय सम्प्रयोग की अपेक्षा नहीं है--इसीलिए कहा है— "सर्वो हि पुरोऽवस्थित"। आरोप्य और अधिष्ठान का एक इन्द्रिय से ग्राह्यत्व का नियम भी शुक्ति और रजत में देखा है, कारण, यह रजत देखता हूँ—यह अनुभव होता है, आत्मा और अन्तःकरण में भी उस नियम के परिपालन के लिए अधिष्ठान के लिए इन्द्रिय सम्प्रयोग अपेक्षित है। अतः उसके न रहने से आत्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास सम्भव नहीं है।



भामती

पुनरपि चिदात्मनि अध्यासम् आक्षिपति—"कथं पुनः प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासः विषयतद्धर्माणाम्" अयम् अर्थः—चिदात्मा प्रकाशते न वा ? न चेत् प्रकाशते—कथम् अस्मिन् अध्यासः विषयतद्धर्माणाम् ? न खलु अप्रतिभासमाने पुरोवर्तिनि द्रव्ये रजतस्य वा तद्धर्माणां वा समारोपः सम्भवति इति। प्रतिभासमाने वा न तावत् अयम् आत्मा जडः घटादिवत् पराधीनप्रकाशः इति युक्तम्। न खलु स एव कर्ता च कर्म भवति, विरोधात्। परसमवेतक्रियाफलशालि हि कर्म न च ज्ञानक्रिया परसमवायिनी इति कथम् अस्याः कर्म। न च तदेव स्वं च परं च विरोधात्। आत्मान्तर-समवायाभ्युपगमे तु ज्ञेयस्य आत्मनः अनात्मत्वप्रसङ्गः। एवं यस्य तस्य इति अनवस्थाप्रसङ्गः।

स्यात् एतत्। आत्मा जडः अपि सर्वार्थज्ञानेषु भासमानः अपि कर्ता एव न कर्म, परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात्, चैत्रवत्। यथा हि चैत्रसमवेतक्रियया चैत्रनगरप्राप्तौ उभयसमवेतायाम् अपि क्रियमाणायां नगरस्य एव कर्मता, परसमवेतक्रियाफलशालित्वात्, न तु चैत्रस्य क्रिया-फलशालिनः अपि, चैत्रसमवायात् गमनक्रियायाइति, तत् न, श्रुतिविरोधात्। श्रूयते हि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति। उपपद्यते च। तथा हि यः अयम् अर्थप्रकाशः फलं यस्मिन् अर्थश्च आत्मा प्रथेते सकिं जडः, स्वयं-प्रकाशः वा ? जडः चेत् विषयात्मानौ अपि जडौ इति कस्मिन् किं प्रकाशेत, अविशेषात्, इति प्राप्तम् आन्ध्यम् अशेषस्य जगतः। तथा च आभाणकः—"अन्धस्यइव अन्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे" इति। न च निलीनमेव विज्ञानम् अथात्मनो ज्ञापयति, चक्षुरादिवत् इति वाच्यम्। ज्ञापनं हि ज्ञान-जननम्, जनितं च ज्ञानं जडं सत् न उक्तदूषणम् अभिवर्तत इति। एवम् उत्तरोत्तराणि अपि ज्ञानानि जडानि इति अनवस्था। तस्मात् अपराधीन-

प्रकाशा संवित् उपेतव्या। तथापि किम् आयातं विषयात्मनोः स्वभावजडयोः? एतत् आयातं यत् तयोः संविद् अजडा इति। तत् किं पुत्रः पण्डित इति पिता अपि पण्डितः अस्तु। स्वभाव एव संविदः स्वयंप्रकाशाया यदर्थात्मसम्बन्धिता इति चेत् हन्त पुत्रस्यापि पण्डितस्य स्वभाव एव यत् पितृसम्बन्धिता इति समानम्। सह अर्थात्मप्रकाशेन संवित्प्रकाशः न तु अर्थात्मप्रकाशं विना-इति तस्याः स्वभाव इति चेत्? तत् किं संविदः भिन्नौ संविदर्थप्रकाशौ? तथा च न स्वयंप्रकाशा संवित्, न च संविदर्थात्मप्रकाश इति। अथ संविदर्थात्मप्रकाशौ न संविदः भिद्येते संविद् एव तौ। एवं चेत् यावद् उक्तं भवति – संविदात्मार्थौ सह इति, तावद् उक्तं भवति– संविदर्थात्मप्रकाशौ सह इति। तथा च न विवक्षितार्थसिद्धिः। न च अतीतानागतार्थगोचरायाः संविदः अर्थसहभावः अपि। तद्विषयहानोपादानोपेक्षाबुद्धिजननात् अर्थसहभाव इति चेत्, न, अर्थसंविद इव हानादिबुद्धीनाम् अपि तद्विषयत्वानुपपत्तेः। हानादिजननात् हानादिबुद्धीनात् अर्थविषयत्वम् अर्थविषयहानादिबुद्धिजननात् च अर्थसंविदः तद्विषयत्ववत् इति चेत्, तत् किं देहस्य प्रयत्नवदात्मसंयोगः देहप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुः अर्थे इति अर्थप्रकाशः अस्तु। जाड्यात् देहात्मसंयोगः न अर्थप्रकाश इति चेत्? ननु अयं स्वयंप्रकाशः अपि स्वात्मनि एव खद्योतवत् प्रकाशः, अर्थे तु जड इति उपपादितम्। न च प्रकाशस्य आत्मनः विषयाः, ते हि विच्छिन्नदीर्घस्थूलतया अनुभूयन्ते, प्रकाशः च अयम् आन्तरःअस्थूलः अनणुः अह्रस्वः अदीर्घः च इति प्रकाशते, तस्मात् चन्द्रे अनुभूयमाने इव द्वितीयः चन्द्रमाः स्वप्रकाशात् अन्यः अर्थः अनिर्वचनीय एव इति युक्तम् उत्पश्यामः। न च अस्य प्रकाशस्य आजानतः स्वलक्षणभेदः अनुभूयते। न च अनिर्वाच्यार्थभेदः प्रकाशं निर्वाच्यं भेत्तुम् अर्हति, अतिप्रसङ्गात्। न च अर्थानाम् अपि परस्परं भेदः समीचीनज्ञानपद्धतिम् अध्यास्ते इति उपरिष्टात् उपपादयिष्यते। तद् अयं प्रकाशः एव स्वयं प्रकाशः एकः कूटस्थनित्यः निरंशः प्रत्यगात्मा, अशक्यनिर्वचनीयेभ्यः देहेन्द्रियादिभ्यः आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयम् अञ्चति जानाति इति प्रत्यग्, स च आत्मा इति प्रत्यगात्मा, स च अपरा-

धीनप्रकाशत्वात्, अनंशत्वात् च अविषयः, तस्मिन् अध्यासः विषयधर्माणाम्, देहेन्द्रियादिधर्माणां कथम् किम् आक्षेपे। अयुक्तः अयम् अध्यासः—इति आक्षेपः। कस्मात् अयम् अयुक्तः इति अतः आह—"सर्वं हि पुरः अवस्थिते विषये विषयान्तरम् अध्यस्यति।"

एतद् उक्तं भवति—यत्पराधीनप्रकाशम् अंशवत् च तत् सामान्यांशग्रहे कारणदोषवशात् च विशेषाग्रहे अन्यथा प्रकाशते। प्रत्यगात्मा तु अपराधीनप्रकाशतया न स्वज्ञाने कारणानि अपेक्षते, येन तदाश्रयैः दोषैः दूष्यते। न च अंशवान्, येन कश्चिद् अस्य अंशः गृह्यते, कश्चित् न गृह्यते। न हि तत् एव तदानीम् एव तेन एव गृहीतम् अगृहीतं च संभवति—इति न स्वयंप्रकाशपक्षे अध्यासः। सदातमे अपि अप्रकाशे पुरोऽवस्थितत्वस्य अपरोक्षत्वस्य अभावात् न अध्यासः। न हि शुक्तौ अपुरःस्थितायां रजतम् अध्यस्यति "इदं रजतम्" इति। तस्मात् अत्यन्तग्रहे अत्यन्ताग्रहे च न अध्यासः इति सिद्धम्। स्यात् एतत्, अविषयत्वे हि चिदात्मनः न अध्यासः, विषय एव तु चिदात्मा अस्मत्प्रत्ययस्य, तत्कथं न अध्यासः इति अतः आह—"युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनः अविषयत्वं ब्रवीषि।" विषयत्वे हि चिदात्मनः अन्यः विषयी भवेत्। तथा च यः विषयी स एव चिदात्मा। विषयः तु ततः अन्यः युष्मत्प्रत्ययागोचरः अभ्युपेयः। तस्मात् अनात्मत्वप्रसङ्गात् अनवस्थापरिहाराय युष्मत्प्रत्ययापेतत्वम्, अत एव अविषयत्वम् आत्मन वक्तव्यम्, तथा च न अध्यास इत्यर्थः। परिहरति—"उच्यते, न तावत् अयम् एकान्तेन अविषयः" कुतः? "अस्मत्प्रत्ययविषयत्ववत्।" अयम् अर्थः-सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाशत्वात् अविषयः अनंशश्च, तथापि अनिर्वचनीयानाद्यविद्यापरिकल्पितबुद्धिमनः सूक्ष्मस्थूलशरीरेन्द्रियावच्छेदकभेदेन अनवच्छिन्नः अपि वस्तुतः अविच्छिन्न इव, अभिन्नः अपि भिन्न इव, अकर्ता अपि कर्ता इव, अभोक्ता अपि भोक्ता इव, अविषयः अपि विषय इव, जीवभावम् आपन्नः अवभासते, नभ इव घटमणिमल्लिकाद्युपाध्यवच्छेदेन भिन्नम् इव अनेकविधधर्मकम् इव इति। न हि चिदेकरसस्य आत्मनः चिदंशे गृहीते अगृहीतं किञ्चित् अस्ति। न खलु आनन्दनित्यत्व-

विभुत्वादयः अस्य चिद्रूपात् वस्तुतः भिद्यन्ते; येन तदग्रहे न गृह्येरन् । गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेन न विवेचिता इति अगृहीता इव आभान्ति, न च आत्मनः बुद्ध्यादिभ्यः भेदः तात्त्विकः, येन चिदात्मनि गृह्यमाणे सः अपि गृहीतः एव भवेत्, बुद्ध्यादीनाम् अनिर्वाच्यत्वेन तद्भेदस्य अपि अनिर्वचनीयत्वात् । तस्मात् चिदात्मनः स्वयंप्रकाशस्य एव अनवच्छिन्नस्य अवच्छिन्नेभ्यः बुद्ध्यादिभ्यः भेदाग्रहात् तदध्यासेन जीवभाव इति । तस्य च अनिदमिदमात्मनः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वम् उपपद्यते । तथा हि - कर्ता भोक्ता चिदात्मा अहंप्रत्यये प्रत्यवभासते । न च उदासीनस्य तस्य क्रियाशक्तिः भोगशक्तिः वा सम्भवति । यस्य च बुद्ध्यादेः कार्यकारणसंघातस्य क्रिया-भोगशक्ती न तस्य चैतन्यम् । तस्मात् चिदात्मा एव कार्यकारणसंघातेन ग्रथितः लब्धक्रियाभोगशक्तिः स्वयंप्रकाशः अपि बुद्ध्यादिविषयविच्छुरणात्, कथञ्चित् अस्मत्प्रत्ययविषयः अहंकारास्पदं जीव इति च, जन्तुः इति च आख्यायते । न खलु जीवः चिदात्मनः भिद्यते । तथा च श्रुतिः—"अनेन जीवेन आत्मना" इति । तस्मात् चिदात्मनः अव्यतिरेकात् जीवः स्वयं-प्रकाशः अपि अहंप्रत्ययेन कर्तृभोक्तृतया व्यवहारयोग्यः क्रियते इति अहं-प्रत्यायलम्बनम् उच्यते । न च अध्यासे सति विषयत्वं विषयत्वे च अध्यासः इति अन्योऽन्याश्रत्वम् इति साम्प्रतम्; बीजांकुरवद् अनादित्वात्, पूर्वपूर्वा-ध्यासतद्वासना विषयीकृतस्य उत्तरोत्तराध्यासविषयत्वाविरोधात् इति उक्तम्—"नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" इति भाष्यग्रन्थेन । तस्मात् सुष्ठूक्तम्—"न तावत् अयम् एकान्तेन अविषयः" इति । जीवः हि चिदात्मतया स्वयंप्रकाशतया अविषयः अपि औपाधिकेन रूपेण विषय इति भावः । स्यात् एतत् । न वयम् अपराधीनप्रकाशतया अविषयत्वेन अध्यासम् अपा-कुर्मः, किन्तु प्रत्यगात्मा न स्वतः नापि परतः प्रथते इति अवियतः इति ब्रूमः । तथा च सर्वथा अप्रथमाने प्रत्यगात्मनि कुतः अध्यास इति अतः आह—"अपरोक्षत्वात् च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः" प्रतीचः आत्मनः प्रसिद्धिः प्रथा, तस्या अपरोक्षत्वात् । यद्यपि प्रत्यगात्मनि न अन्या प्रथा अस्ति, तथापि भेदोपचारः । यथा, पुरुषस्य चैतन्यम् इति ।

एतदुक्तं भवति—अवश्यं चिदात्मा अपरोक्षः अभ्युपेतव्यः तदप्रथायां सर्वस्य अप्रथनेन जगदान्ध्यप्रसङ्गात् इत्युक्तम्। श्रुतिश्चात्र भवति—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। तद् एवं परमार्थपरिहारम् उक्त्वा अभ्युपेत्य अपि चिदात्मनः परोक्षतां प्रौढवादितया परिहारान्तरम् आह—" न च अयम् अस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव "—अपरोक्ष एव "विषये विषयान्तरम् अध्यसितव्यम्" कस्मात् अयं न नियमः? इति अतः आह—"अप्रत्यक्षे अपि हि आकाशे बालाः तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।" हि यस्मात् अर्थे। नभः हि द्रव्यं सत् रूपस्पर्शविरहात् न बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षम्। नापि मानसम्, मानसः असहायस्य बाह्ये अप्रवृत्तेः, तस्मात् अप्रत्यक्षम्। अथ च तत्र बालः—अविवेकेन परदर्शितदर्शिनः कदाचिद् पार्थिवच्छायां श्यामताम् आरोप्य, कदाचित् तैजसं शुक्लत्वम् आरोप्य नीलोत्पलपलाशश्यामम् इति वा राजहंसमालाधवलम् इति वा निर्वर्णयन्ति। तत्रापि पूर्वदृष्टस्य तैजसस्य वा तामसस्य वा रूपस्य परत्र नभसि स्मृतिरूपः अवभासः इति। एवं तदेव तलम् अध्यस्यन्ति, अवाङ्मुखीभूतमहेन्द्रनीलमणिमयमहाकटाहकल्पम् इत्यर्थः। उपसंहरति—" एवम् "—उक्तेन प्रकारेण सर्वाक्षेपपरिहारात्, " अविरुद्धः प्रत्यगात्मनि अपि अनात्मनाम् " बुद्ध्यादीनाम् " अध्यासः "।



पूर्वपक्षी ने पुनः चिदात्मा में अध्यास नहीं हो सकता है- यह आक्षेप "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासः विषयतद्धर्माणाम्" इस भाष्य से प्रदर्शित किया है। यह आशयहै—चिदात्मा प्रकाशित होता है कि नहीं ? यदि वह प्रकाशित नहीं होता है तब उस चिदात्मा में विषय एवं उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? कारण, अप्रतीयमान सम्मुखस्थित वस्तु में रजत और उसके धर्मों का अध्यास सम्भव नहीं है। यदि आत्मा प्रकाशित होता है, यह मानने पर यह आत्मा जड़ या घटादि के समान पराधीन प्रकाश नहीं हो सकता है, कारण, एक ही आत्मा [ज्ञानक्रिया का] कर्ता और कर्म दोनों में विरोध होने से नहीं हो सकता है। क्योंकि, अन्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली ज्ञानक्रिया का फलशाली कर्म होता है, यह ज्ञानक्रिया दूसरे में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती है। अतः, यह किस प्रकार ज्ञानक्रिया का कर्म होगा ? विरोध होने से एक ही वस्तु स्व और अन्य नहीं हो सकती है। (स्व और अन्य एक ही वस्तु नहीं हो सकती है कारण, दोनों परस्पर विरुद्ध है) अन्य आत्मा में ज्ञानक्रिया का समवाय [सम्बन्ध से सम्बन्धी ज्ञान का विषय] मानने पर ज्ञेय आत्मा में अनात्मत्व का प्रसङ्ग होगा। इसी प्रकार उस ज्ञाता आत्मा का ज्ञाता एवं उस ज्ञाता आत्मा का ज्ञाता को मानने पर अनवस्था (कल्पना की अविश्रान्ति) दोष होगा। [आशय यह है कि आत्मा को अन्य आत्मा का ज्ञान विषय (ज्ञेय) मानकर कर्मत्व सिद्ध करने पर उस ज्ञाता आत्मा को भी उससे अन्य आत्मा में समवेत-ज्ञान का विषय मानने पर एवं इसी प्रकार उस आत्मा को अन्य आत्मा का विषय मानने पर अनवस्था दोष का प्रसङ्ग होगा।

अच्छा, जो भी हो, आत्मा जड़ होने पर भी सभी पदार्थों के ज्ञान में भासमान होने पर भी कर्ता ही है, कर्म नहीं है, कारण, वह अपने से अन्य

में समवेत ज्ञानक्रिया के फल का आश्रय नहीं है। चैत्र के समान। जैसे—चैत्र समवेत क्रिया से चैत्र और नगर की प्राप्ति होने पर गमनक्रिया दोनों में समवेत होने पर भी नगर में ही कर्मत्व है, कारण, नगर से अन्य जो चैत्र उसकी गमन क्रिया के फल (प्राप्ति) का आश्रय नगर ही कर्म है, प्राप्तिरूप फलशाली भी चैत्र कर्म नहीं है, कारण, गमनक्रिया चैत्र में ही समवेत है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है. कारण, इसमें, श्रुति का विरोध होता है। क्योंकि, श्रुति में सुना जाता है, ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। केवल श्रुति का ही कथन नहीं है, आत्मा की ज्ञानरूपता युक्तिसमर्थित है। उपपत्ति का प्रदर्शन कर रहे हैं—यह जो विषय - प्रकाशरूप फल है, जिससे विषय और आत्मा दोनों ही प्रकाशित होते हैं, क्या वह (अर्थप्रकाश) जड है या स्वयं प्रकाश है ? यदि वह जड है तो विषय और आत्मा ही जड हो गये अब किस में कौन प्रकाशित होगा ? कारण, किसी में कोई विशेषता नहीं है। अतः, सम्पूर्ण जगत् अप्रकाशत्व ही प्राप्त होगा। जैसा आभाणक भी है—अन्धा यदि अन्धे से नीयमान होता है तो पद - पद पर गिरता है। यदि अज्ञात (स्वयं अप्रकाशित) ही ज्ञान विषय और अत्मा इन दोनों का प्रकाश करता है, जैसे—नेत्र। यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण, ज्ञापन का अर्थ ज्ञान का जन्म देना है, और जनित ज्ञान जड रहता है पूर्वोक्त दोष (सकल-जगत् का आन्ध्यकर) का अतिक्रमण नहीं होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान के जड होने से अनवस्था दोष की भी प्रसक्ति होती है। अतः, ज्ञान दूसरे के अधीन प्रकाशित नहीं है (स्वयंप्रकाश है) यह स्वीकार करना ही होगा। फिर भी स्वभावतः जड विषय और आत्मा में क्या हुआ ? इसका फल यही हुआ कि विषय और अत्मा का ज्ञान जड नहीं है। इन दोनों का संवित् (ज्ञान) होने से क्या पुत्र पण्डित है, अतः, पिता भी पण्डित होगा ? (अर्थात् जन्य के अजड होने से जन कभी अजड हो—ऐसा नियम नहीं है)। [यदि यह कहा जाय कि] स्वयंप्रकाश संविद् (ज्ञान) का यह स्वभाव है कि वह विषय एवं आत्मा के साथ सम्बन्धयुक्त होती है, ऐसी स्थिति में यही कहूँगा कि पण्डित पुत्र का

भी यह स्वभाव है कि उसका (उसके पाण्डित्य का) पिता के साथ सम्बन्ध रहता है। विषय और आत्मा के प्रकाश के साथ ही ज्ञान का प्रकाश होता है विषय और आत्मा के प्रकाश के विना संवित् का प्रकाश नहीं होता है—यह उसका स्वभाव है। तो क्या ज्ञान से ज्ञान का विषय और आत्मा का प्रकाश भिन्न है? यदि भिन्न है तो संविद् (ज्ञान) स्वयंप्रकाश नहीं है, कारण, ज्ञान विषय और आत्मा का प्रकाशस्वरूप नहीं है। यदि यह कहते हैं कि आत्मा एवं विषय का प्रकाश और ज्ञान का प्रकाश ज्ञान से भिन्न नहीं है, वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। ऐसी स्थिति में ज्ञान का प्रकाश एवं आत्मा और विषय का प्रकाश यह कहने पर भी वही अवगत होगा (अर्थात् संविद् के विषय और आत्मा यह कहने पर भी संविद् के साथ अर्थ और आत्मा का प्रकाश यही कहा गया) ऐसी स्थिति में अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। (ज्ञान के आश्रय रूप में आत्मा की सिद्धि विवक्षित है पूर्व-विश्लेषण से ज्ञान का आत्मा के साथ अभेद होने पर उस अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी)। अतीत और अनागत - अर्थविषयक ज्ञान के साथ अर्थ का सहभाव भी नहीं हो सकता है। ज्ञान अर्थविषयक हान या उपादान ज्ञान उत्पन्न कर देता है। अतः, अर्थ के साथ ज्ञान का सहभाव है—यह व्यवहार होता है, यह भी ठीक नहीं है। कारण, विषय का ज्ञान के समान विषयगोचर हान और उपादानादि ज्ञानों का भी वह हान और उपादानादिरूप विषयत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। यदि यह कहें कि हानादिका उत्पादक होने से हानादिज्ञान का अर्थविषयकत्व उपपन्न होता है एवं अर्थविषयक हानादिज्ञान उत्पन्न करने से अर्थविषयक ज्ञान का हानादि-विषयकत्व होता है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि प्रयत्नवान् आत्मा के साथ देह का संयोग अर्थविषय में देहगत प्रवृत्ति और निवृत्ति का हेतु होने से क्या यह संयोग ही अर्थप्रकाश पद से कहा जाता है? यदि यह कहें कि देहात्मसंयोग जड होने से वह अर्थप्रकाशरूप नहीं हो सकता है। यह स्वयंप्रकाश भी अपने स्वरूप में ही खद्योत के समान प्रकाश है, किन्तु विषय-पक्ष में जडस्वरूप ही है—यह उपपन्न होता है। विषयसमूह प्रकाश का

स्वरूप नहीं हो सकता है। कारण, विषयसमूह विच्छिन्न दीर्घ स्थूलादिरूप में अनुभूत होते हैं, किन्तु, प्रकाश आन्तर पदार्थ है वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं और दीर्घ नहीं है, इसलिए, चन्द्र में अनुभूयमान द्वितीय चन्द्र के समान स्वप्रकाश आत्मा से विलक्षण अर्थ अनिर्वचनीय ही होगा—यही मैं समुचित समझता हूँ। इस प्रकाश का स्वाभाविक लक्षणभेद अनुभूत नहीं होता है, वरन्, अनिर्वनीय अर्थों का भेद निर्वचनीय प्रकाश का भेद नहीं कर सकता है, कारण, औपाधिक भेद के वास्तव होने पर घट, पट, मठ आदि औपाधिक भेद से आकाश का भेद भी वास्तविक हो जायगा—यह अतिप्रसङ्ग होगा। अर्थों का भी प्रतीयमान परस्पर भेद यथार्थज्ञान का विषय नहीं हो सकता है—यह आगे प्रतिपादन करूँगा। फलतः यह प्रकाश ही स्वयंप्रकाश अद्वितीय, अपरिणामी, नित्य अंशरहित, प्रत्यगात्मा अनिर्वचनीय देह, इन्द्रिय आदि से अपने को प्रतिकूल रूप में (निर्वचनीय रूप में) प्राप्त होता है अर्थात् प्रकाश करता है—यही प्रत्यक् शब्द का अर्थ है और वह आत्मा इसीलिए प्रत्यगात्म शब्द से कहा जाता है, यह प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश और अंशरहित होने से अविषय है। यह प्रत्यगात्मा विषय नहीं है, इसलिए इसमें विषय-धर्मों का अर्थात् देह इन्द्रिय आदि में धर्मों का अध्यास कैसे होगा? इस प्रकार आक्षेप की सूचना के लिए "किम्" शब्द का प्रयोग है अर्थात् यह अध्यास युक्तियुक्त नहीं है। यह अध्यास क्यों युक्तियुक्त नहीं है—इसकी अभिव्यक्ति के लिए कहा है "सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषान्तरमध्यवस्यति" सभी लोग सम्मुखस्थित विषय में अन्य विषयों का अध्यास करते हैं। यह आशय है—जो पराधीन एवं अंशविशिष्ट है, उसी के सामान्यांश का ज्ञान होने पर एवं कारण के दोष से विशेषांश का ज्ञान न होने पर वह अन्य रूप में प्रकाशित होता है। किन्तु, प्रत्यगात्मा पराधीन प्रकाश न होने से अपने ज्ञान में कारणस्वरूप की अपेक्षा नहीं करता है, [यदि वह अपने ज्ञान में कारणस्वरूप की अपेक्षा करता तो वह] उस कारणगत दोषों के द्वारा दूषित होता अर्थात् भ्रमज्ञान का विषय होता, दूसरी बात यह है कि प्रत्यगात्मा का कोई अंश नहीं है, [यदि कोई अंश रहता तो] उसका कोई अंश गृहीत होता और कोई अंश

अगृहीत होता। वही वस्तु उसी समय में अपने ही द्वारा गृहीत और अगृहीत हो—यह कभी भी सम्भव नहीं है। अतः, स्वयंप्रकाश पक्ष में अध्यास नहीं हो सकता है। [आशय यह है कि निरंश स्वयंप्रकाश आत्मा में अधिष्ठान का सामान्यांश और विशेषांश के अभाव में अध्यास का कारण जो अधिष्ठान का सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान है, उनका अभाव है, अतः, स्वयंप्रकाश पक्ष में अध्यास नहीं हो सकता है। प्रकृत में स्वयं-प्रकाशपक्ष निरंश पक्ष का भी उपलक्षण है, स्वयंप्रकाशत्व न होने के कारण ही विषयत्व भी नहीं है। अपने व्यवहार में अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होना ही स्वयंप्रकाश शब्द का अर्थ होने से स्वविषयत्व स्वप्रकाश शब्द का अर्थ न होने से विषयत्व के अभाव से अध्यास का अभाव है, अधिष्ठान और अध्यस्यमान में एक ज्ञानविषयता अवश्य ही माननी पड़ेगी। अतः, पूर्वोक्त ज्ञान के अभाव से अध्यास का अभाव है। आरोप्य रजत और अधिष्ठान शुक्ति में एक इन्द्रियग्राह्यत्व नियम देखा गया है।] सर्वदा अप्रकाशित होनेवाली वस्तु में भी सम्मुखस्थितत्व एवं अपरोक्षत्व का अभाव रहने के कारण (उनमें भी) अध्यास नहीं हो सकता है। यदि शुक्ति सम्मुख में स्थित नहीं रहती है तो "यह रजत है" इस प्रकार रजत का अध्यास नहीं होता है। अतः, सर्वदा प्रकाशमान और सर्वथा अप्रकाशशील वस्तु में अध्यास नहीं होता है। [अत्यन्तग्रहे = सर्वदा प्रकाशशील वस्तु में विशेष का अग्रहण रूप अध्यास का कारण नहीं है और अत्यन्ताग्रहे — सर्वथा अप्रकाशशील वस्तु में अधिष्ठान का सामान्यग्रहण रूप अध्यास का कारण न होने से अध्यास नहीं है।

अच्छा ऐसा ही हो। चिदात्मा के अविषय होने पर उसमें अध्यास नहीं हो सकता है। किन्तु, चिदात्मा तो 'अस्मत्' प्रत्यय का विषय ही होता है। ऐसी स्थिति में चिदात्मा में अध्यास क्यों नहीं होगा? चिदात्मा को विषय मानने पर अनात्मत्व की प्रसक्ति होगी, इसलिए, आत्मा को अवश्य ही अविषय मानना होगा। अतः, अध्यास सम्भव नहीं है—इसलिए कहा है—'युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि'। अर्थात् युष्मत्-

प्रत्ययापेत जो प्रत्यगात्मा उसको तुम अविषय कहते हो। क्योंकि, चिदात्मा को विषय मानने पर चिदात्मा से अन्य विषय होगा। ऐसी स्थिति में जो विषयी होगा, वही चिदात्मा होगा। किन्तु, विषय तो उससे भिन्न है। अतः, उसको युष्मत् प्रत्यय को गोचर मानना होगा। ऐसी स्थिति में अनात्मत्व की प्रसक्ति से (एवं) अनावस्थादोष के परिहार के लिए उसको युष्मत् प्रत्यय का अविषय मानना पड़ेगा। इसलिए आत्मा को अविषय कहना चाहिए। और आत्मा को अविषय मानने पर अध्यास नहीं हो सकता—यही आशय है। इसका परिहार करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—उच्यते न तावदयमेकान्तेनाविषयः। अर्थात् यह एकान्तरूप से अविषय नहीं है। क्यों? अस्मत् प्रत्यय का विषय होने से। यह आशय है—(यद्यपि) वस्तुतः, प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश होने से अविषय और अंशरहित है। तथापि अनिर्वचनीय अनादि अविद्या से परिकल्पित बुद्धि, मन सूक्ष्म-शरीर, स्थूलशरीर और इन्द्रिय रूप उपाधि के द्वारा वस्तुतः अविशेषित होने पर भी विशेषित के समान अभिन्न होने पर भी भिन्न के समान अकर्ता होने पर भी कर्ता के समान अभोक्ता होने पर भी भोक्ता के समान अविषय होने पर भी अस्मत् प्रत्यय [अहं इस ज्ञान का विषय] विषय के समान जीव-भावापन्न होकर प्रतीत होता है। [वैसा न होने पर भी अवच्छेदक के भेद से उस रूप में प्रतीत होने का दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं] जैसे-आकाश घट, मणि, मल्लिका आदि उपाधि के भेद से भिन्न के समान [एवं] अनेक प्रकार के धर्म से युक्त के समान प्रतीत होता है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के चैतन्य अंश का ग्रहण होने पर उसका कुछ भी अगृहीत नहीं रहता है। आनन्द, नित्यत्व, विभुत्व आदि चैतन्यस्वरूप से वस्तुतः भिन्न नहीं है जिससे चैतन्य का ग्रहण होने पर गृहीत नहीं हों वे गृहीत होने पर भी कल्पित भेद के कारण विवेचित के समान प्रतीत नहीं होते हैं। आत्मा का बुद्धि आदि से भेद भी तात्त्विक नहीं है, क्योंकि, चिदात्मा का ज्ञान होने पर वह तात्त्विक भेद भी गृहीत होगा। क्योंकि बुद्धि आदि अनिर्वचनीय होने से उनका भेद भी अनिर्वचनीय है। अतः, स्वयंप्रकाश अनवच्छिन्न

चिदात्मा का अवच्छिन्न बुद्धि आदि से भेद का ग्रहण न होने से बुद्धि आदि के अध्यास से जीवभाव [आरोपित] होता है। इस प्रकार अनिदं और इदं पद से प्रतिपाद्य उस आत्मा का अस्मत्प्रत्यय की विषयता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार चिदात्मा अहंबुद्धि में कर्ता और भोक्ता के रूप में ज्ञात होता है। उदासीन उस आत्मा की क्रियाशक्ति या भोगशक्ति संभव नहीं है। बुद्धि आदि जिस कारण संघात की क्रियाशक्ति और भोगशक्ति है, उसमें चैतन्य नहीं है। इसलिए चिदात्मा ही कार्य एवं कारणसमूह के साथ ग्रथित होकर क्रियाशक्ति एवं भोगशक्ति का लाभ कर स्वयंप्रकाश होता हुआ भी बुद्धि, इन्द्रिय आदि के विषयों के साथ मिश्रित भाव से स्फुरित होकर किसी प्रकार अस्मत् प्रत्यय का विषय होता है और जीव, जन्तु और क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित होता है। वस्तुतः यह जीव चिदात्मा से भिन्न नहीं है। श्रुति में भी यह कहा गया है—" इस जीवरूप आत्मा से "। इसलिए, चिदात्मा से किसी प्रकार का भेद न होने से जीव भी स्वयं प्रकाश होते हुए भी अहं प्रत्यय के द्वारा कर्ता और भोक्ता के रूप में व्यवहार के योग्य किया जाता है। अतः, अहं प्रत्यय का आलम्बन कहा जाता है। यदि यह कहा जाय कि अध्यास सिद्ध होने पर आत्मा का विषयत्व सिद्ध होता है और विषयत्व सिद्ध होने पर अध्यास सिद्ध होता है। अतः, अन्योऽन्याश्रय दोष है—यह कथन ठीक नहीं है। कारण, बीज और अंकुर के समान अध्यास और विषयत्व का अनादित्व है। पूर्व-पूर्व अध्यास एवं उससे जनित वासना के विषयभूत आत्मा उत्तरोत्तर अध्यास का विषय होता है। अतः, विरोध नहीं है। इसीलिए भाष्य में कहा है—यह प्रवाह रूप से अनादि लोकव्यवहार है। अतः, ठीक ही कहा है—" न तावदयमेकान्तेनाविषयः " यह सर्वथा अविषय नहीं है। जीव चिदात्मस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश होने से अविषय होने पर भी औपाधिक रूप से उपाधि के द्वारा कल्पित रूप से विषय ही होता है। ऐसा ही हो, हम स्वयंप्रकाश एवं अविषय होने से अध्यास का निराकरण नहीं कर रहे हैं। किन्तु, चिदात्मा स्वतः या परतः किसी रूप में प्रतीत नहीं हो रहा है—इसलिए अविषय कह

रहे हैं। और ऐसी स्थिति में सर्वथा अप्रकाशमान चिदात्मा में कैसे अध्यास हो सकता है ? इसी आशङ्का से भाष्यकार ने कहा है—"अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः"—क्योंकि प्रत्यगात्मा की प्रसिद्धि अपरोक्ष है। प्रत्यक्चैतन्यरूप आत्मा की प्रसिद्धि अर्थात् प्रथा = प्रकाश अपरोक्ष है। यद्यपि प्रत्यगात्मा में उससे भिन्न प्रकाश नहीं है, तथापि अभेद में भेद का उपचार है, जैसे-पुरुष का चैतन्य। इससे यह व्यक्त होता है कि—चिदात्मा को अवश्य अपरोक्ष मानना चाहिए। क्योंकि, उसको अपरोक्षप्रकाश न मानने पर जगत् के अप्रकाश की प्रसक्ति होगी, अर्थात् संसार के किसी भी वस्तु का प्रकाश नहीं होगा। इस विषय में श्रुति भी है—उस प्रकाशमान आत्मा के प्रकाश में सभी प्रकाशित होता है उसी के प्रकाश से ये सभी प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार वास्तविक परिहार का प्रदर्शन कर प्रौढ़वादिता से अर्थात् अपनी बुद्धि के सामर्थ्य का प्रकाश करने के लिए अन्य परिहार भी कह रहे हैं—"न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यम्" यह नियम नहीं है सम्मुखस्थित अर्थात् अपरोक्ष विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करना चाहिए। यह नियम क्यों नहीं है ? इसके समाधान में कहा है—'अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति"। अप्रत्यक्ष आकाश में बालकगण तलकी मलिनता आदि का अध्यास करते हैं। हि शब्द का अर्थ जिस हेतु से है। क्योंकि, आकाश द्रव्य होने पर (भी) रूप एवं स्पर्श से रहित होने से (उसका) बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। मन से भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। कारण, (बाह्य इन्द्रिय की सहायता के बिना) असहाय मन बाह्य विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः आकाश अप्रत्यक्ष है। फिर भी अकाश में बालक अर्थात् अविवेकी दूसरे व्यक्ति जिस रूप में दिखाते हैं उस रूप में देखनेवाले कभी पृथिवी सम्बन्धी छांया श्यामता का आरोप कर, कभी आलोकसम्बन्धी शुक्लता का आरोप कर नीलकमल के पत्ते के समान श्यामवर्ण, अथवा राजहंस की पंक्ति के समान श्वेतवर्ण यह वर्णन करते हैं। भ्रमस्थल में भी तेज एवं अन्धकार से भिन्न आकाश में पूर्वदृष्ट तैजस या तामस रूप का स्मृतिरूप अवभास होता है एवं उसी

आकाश को तल रूप में अध्यास करते हैं--आकाश ही नीचे मुख किए हुए महेन्द्र नीलमणि से निर्मित महाकराह के सदृश हैं। उपसंहार करते हैं--एवं अर्थात् उक्त प्रकार से सभी आक्षेपों के परिहारों से "अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः" अर्थात् अनात्मा अर्थात् बुद्धि आदि का प्रत्यगात्मा में अध्यास सिद्ध होता है।

कुसुमलता

पूर्व विश्लेषण से भेदाग्रह, सादृश्यज्ञान, पूर्वतनप्रमाहितसंस्कार इन तीन कारणों के अभाव से अध्यास के असम्भवत्व की आशङ्का परिहृत हो गई है। प्रकृत भाष्य से अधिष्ठान का अज्ञानरूप कारण के न रहने से आत्मा में अन्तःकरण का अध्यास नहीं हो सकता है–इस अभिप्राय से भाष्यकार ने कहा है–कथमित्यादि। आत्मा में अन्तःकरण के अध्यास का कारण अधिष्ठान ज्ञान ही अन्तः करण में आत्मा के संसर्गाध्यास का भी कारण है, अतः, विषय उसके धर्मों का आत्मा में अध्यास के आक्षेप के द्वारा विषय में विषयी और उसके धर्मों के अध्यास का आक्षेप भी अर्थतः सिद्ध हैं, इसलिए, परस्पर अध्यास के आक्षेप का सूचक यह ग्रन्थ है मात्र विषयी में विषय और उसके धर्मों के आक्षेप का सूचक यह ग्रन्थ नहीं है। अधिष्ठानज्ञान भ्रम सामान्य के प्रति चतुर्थ कारण है, और अधिष्ठान वही होता है, जो किसी रूप में ज्ञात और किसी रूप से अज्ञात होता है, ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य का अज्ञान से आवरण नहीं हो सकता है। क्योंकि, ज्ञान और अज्ञान का अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव होने से एक स्थान में स्थिति सम्भव न होने से एक की सत्ता से दूसरे की सत्ता बाधित ही है, अतः चैतन्य किस प्रकार अज्ञात है इस आशङ्का के उद्घाटन के लिए–प्रत्यगात्मनि = स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप में यह विशेषण दिया है. क्योंकि, चिदात्मा में अध्यास मिथ्या अज्ञान निमित्तक ही विवक्षित है और निमित्तभूत मिथ्या अज्ञान शुद्ध चैतन्याश्रित एवं शुद्ध चैतन्यविषयक है। जीव अज्ञानोपाधिक वाद में होने वाला है, अतः,

अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है। भामतीकार के मत में अनादि जीव ही अज्ञान का आश्रय है, अनादि होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है, अज्ञान से आवरण ज्ञानस्वरूप शुद्धचैतन्य का होता है। फलतः आश्रय और विषय की अनुपपत्ति से मिथ्या अज्ञाननिमित्तक शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में विषयका अध्यास सम्भव नहीं है। केवल अज्ञातत्व के अभाव से ही अधिष्ठानत्व नहीं हो सकता है, वरन्, प्रमाण से जन्य जो वृत्तिस्वरूप ज्ञान से अभिव्यक्त चैतन्यभास्यत्व रूप ज्ञातत्व के अभाव से भी अधिष्ठानता नहीं है, इसकी सूचना देते हुए कहा है—"अविषये" इति अदृश्य में फलाव्याप्य में, या वृत्ति से अव्याप्य में। यह रजत है इत्यादि में अधिष्ठान में इन्द्रियसम्प्रयोग होने पर विषयाकार वृत्तिस्वरूप ज्ञान के निर्गमन के अनन्तर ही रजत का प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान की प्रत्यक्षता और विषय की प्रत्यक्षता वृत्तिनिर्गम सापेक्ष है और वृत्ति का निर्गमन इन्द्रिय का अधिष्ठान में सम्प्रयोग के अधीन है। यद्यपि यह व्यवस्था बाह्य विषय के प्रत्यक्ष में ही है आन्तर प्रत्यक्ष में नहीं है अतः, शुद्ध चैतन्याकारवृत्ति इन्द्रिय के प्रयोग के विना नहीं हो सकती है तथापि वह वृत्ति निमित्तशून्य है, तब कभी भी अज्ञान के द्वारा आवरण सम्भव नहीं है। यदि निमित्तयुक्त है तो अन्तःकरण के अध्यास से पूर्व किसी भी प्रमाण से शुद्धचैतन्याकार अन्तःकरण वृत्ति की अनुत्पत्ति होने से वृत्तिव्याप्यत्व न होने से अहं की प्रत्यक्षता का निर्वाह कैसे हो सकता है? अतः चिदात्मा में अन्तः करण का अध्यास सम्भव नहीं है।

जड मिथ्या अहंकारादि से प्रतिकूल सत्य, ज्ञान और आनन्द रूप से जो प्रकाशित होने वाले (प्रातिलोम्येन जडानृताहंकारादिभ्यः प्रातिकूल्येन सत्य ज्ञानानन्दात्मनाऽञ्चते प्रकाशते=प्रत्यक्) प्रत्यक् अविषय आत्मा में विषय और उनके धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है? कारण, संसार में विषय में अन्य विषयों का और विषय के धर्मों का अध्यास देखा जाता है। पूर्वोक्त विश्लेषण से आत्मा के अविषय होनेसे आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है तो आत्मा को विषय ही माना जाय उसको विषय मानने

पर अध्यास की आपत्ति नहीं है—इसी विषय को व्यक्त करते हुए भामती कारने 'अयमर्थ' इत्यादि कहा है। चिदात्मा का प्रकाश होता है या नहीं ? इन पक्षों में यदि आत्मा का प्रकाश नहीं होता है यह मानते हैं तो अप्रतिभासमान आत्मा में विषय और उनके धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता है, यदि आत्मा को प्रकाशित मानते हैं तो यह आशङ्का होगी कि आत्मा चेतन है या जड ? आत्मा को चेतन मानने पर स्वयं प्रकाश स्वरूप आत्मा अन्य ज्ञान का विषय नहीं होगा, फलतः, अविषय आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है। यदि चेतन पक्ष में यह कहा जाय कि स्वयं प्रकाश आत्मा स्व का विषय है, अतः, आत्मा को अविषय कहना ठीक नहीं है। विषय का प्रकाश ज्ञान से होता है और तब उस विषय का व्यवहार होता है। अपने व्यवहार में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होना ही स्वप्रकाश शब्द का अर्थ होता है, अतः स्व का विषय होना स्वप्रकाश शब्द का अर्थ नहीं होता है, स्वप्रकाश होने से वह स्वविषय नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् आत्मा को जड मानने पर आत्मा को घट आदि के समान ही पराधीन प्रकाश मानना पड़ेगा। कारण, पराधीन प्रकाशत्व का अर्थ अन्य में समवाय सम्बन्ध से स्थित प्रकाश स्वरूप ज्ञान क्रिया उसका फलशालित्वरूप जो ज्ञान का विषयत्व स्वरूप कर्मत्व होता है। यह कर्मत्व ज्ञान क्रिया के कर्ता आत्मा में सम्भव नहीं है। एक ही आत्मा की एक ही क्रिया में कर्तृत्व और कर्मत्व मानने में विरोध है। प्रथम तो ज्ञान का कर्ता ज्ञान का कर्म नहीं हो सकता है, दूसरी बात ज्ञान क्रिया दूसरे में समवेत भी नहीं है, इसलिए, कर्म के लक्षण का समन्वय न होने से कर्म का लक्षण आत्मा में समन्वित नहीं होता है, अतः आत्मा कर्म नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान क्रिया को आत्मा के समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध मानने पर भी उसी को पर समवेत भी मान लिया जायेगा स्व ही पर नहीं हो सकता है। आत्मा में ज्ञान क्रिया का कर्तृत्व मानने से वह विरोध के कारण अपनी ज्ञान क्रिया का कर्मत्व नहीं रह सकता है, यह मानने पर भी अन्य आत्मा में समवाय सम्बन्ध से स्थित ज्ञान के प्रति यह आत्मा कर्ता नहीं है, अतः, उस आत्मा

को ज्ञान का कर्म मानने में क्या आपत्ति है, इस तरह पर समवेत इत्यादि कर्म का लक्षण भी समन्वित हो जाता है। जिसको अपने से भिन्न आत्मा के ज्ञान का विषय होगा उसको अनात्मा मानना पड़ेगा, जैसे घट इत्यादि, इस प्रकार आत्मा को भिन्न आत्मा के ज्ञान का विषय मानने पर उसमें अनात्मत्व का प्रसङ्ग होगा। इस प्रसङ्ग में यह जिज्ञास्य है कि क्या अपने से भिन्न आत्मा में समवेत ज्ञान का विषय होने से अनात्मत्व का प्रसङ्ग है या मात्र ज्ञान का विषय होने से अनात्मत्व का प्रसङ्ग है ? प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, कारण अद्वैतवेदान्त में अपने से भिन्न आत्मा माना ही नहीं गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण, मात्र ज्ञेय होने से अनात्मत्व का प्रसङ्ग नहीं है। अद्वैतवेदान्तियों ने भी आत्मा को ज्ञेय माना है, यहां कहने पर अनवस्था दोष का उद्भावन भामती में किया गया है। इस अनवस्था दोष का परिहार करने के लिए आत्मा को युष्मत् ज्ञान (त्वांका) का अविषय कहा है अतः चिदात्मा को अविषय मानना पड़ेगा, अविषय होने पर चिदात्मा में अध्यास नहीं हो सकता है। अनन्तर अग्रिम भाष्य की पंक्ति से आक्षेप के परिहार की योजना की जा रही है। आत्मा असमत् (अहं) ज्ञान का विषय है। वस्तुतः अनवच्छिन्न स्वयं प्रकाश भी चिदात्मा अन्तः करण रूप उपाधि से अवच्छिन्न होने से जीव भाव हटाया नहीं जा सकता है, अर्थात् वस्तुतः अविषय आत्मा की असमत् प्रत्यय की विषयता कल्पित रूप से अनुभूत हो रही है। अतः, अध्यास सम्भव है।

आशय यह है कि आचार्य ने प्रमाण और लक्षण के द्वारा अध्यास के स्वरूप का निर्वचन किया है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अध्यास की निवृत्ति होती है एवं अध्यास की निवृत्तिके लिए ही ब्रह्म विषयक विचार शास्त्र की प्रवृत्ति की प्रतिज्ञा की है, आत्मा में अनात्मा का अध्यास होने से पूर्व पक्षियों ने इसके विरुद्ध आपत्तियाँ की है, उन आपत्तियों का प्रदर्शन कर युक्ति के द्वारा उनका खंडन यहाँ किया है। भाष्य में "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासः विषय तद्धर्माणाम्" इस वाक्य में पूर्व पक्षियों ने जिन आपत्तियों का उद्भावन किया है उनको भामतीकारने निम्नलिखित रूप में दिया है—अद्वैतवेदा-

न्तियों के अनुसार निरुपित ब्रह्म में अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता है। कारण उस ब्रह्म के प्रकाशित होने पर अध्यास की आपत्ति होगी एवं उसको प्रकाशित न होने पर भी अध्यास की अनुपपत्ति होगी। अध्यास को अधिष्ठान स्वरूप चिदात्मा के प्रकाशित न होने पर अधिष्ठान प्रकाशित नहीं हुआ अर्थात् वह ज्ञान का अविषय होगा, ऐसी स्थिति में उसको अव-लम्बन कर किसी भी तरह भ्रम नहीं हो सकता है क्योंकि, जिस वस्तु को अवलम्बन कर उस वस्तु में किसी वस्तु का आरोप करना चाहते हैं, उस वस्तु में दो धर्मों का रहना आवश्यक है, प्रथम तो उसको सामान्यतः ज्ञान का विषय होना चाहिए और द्वितीय जो व्यक्ति आरोप करेगा, उससे भिन्न रूप में उसकी अवस्थिति होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष भ्रम स्थल में अधिष्ठान सामने में अवस्थित नहीं रहता है फिर भी भ्रम सम्भव है, ऐसी स्थिति में यह कहना है कि अध्यास के निरा-करण के लिए ब्रह्म साक्षात्कार आवश्यक है, ऐसी स्थिति में परोक्ष भ्रम नहीं है वरन् प्रत्यक्ष भ्रम है, अतः प्रत्यक्ष भ्रम होने इस भ्रम में पूर्वोक्त दोनों धर्मों का रहना एकान्त आवश्यक है। अन्य बात यह है कि ब्रह्म को ज्ञान अविषय मानने पर वह भ्रम का अधिष्ठान कैसे हो सकता है? आप ब्रह्म को प्रत्यगात्मा के रूप में निर्देश करते हैं? प्रत्यगात्मा शब्द का अर्थ,—जो सभी वस्तुओं में आत्म रूप में संलग्न रहता है, एवं सभी वस्तु आत्मस्वरूप होकर उसको प्रकाशित करती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म सभी का आत्मभूत होगा, अतः किसी भी वस्तु से उसकी भिन्न रूप में अवस्थिति सम्भव नहीं है. ऐसी स्थिति में पृथक्रूप में अवस्थित होकर सम्मुखस्थ आत्मा कैसे हो सकता है? शुक्तिका में प्रत्यक्ष रजत भ्रम होने पर शुक्तिका भ्रान्त व्यक्ति के इदं रुप में ज्ञान का विषय होती है एवं वह शुक्तिका भ्रान्त व्यक्ति से भिन्न रुप में अवस्थित होकर उसके सम्मुख स्थित होती है। ब्रह्म अविषय एवं प्रत्यगात्म स्वरुप होने से वह भ्रम का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। अतः ब्रह्म अप्रकाशित या अविषय रहेगा तो उसमें अनात्मा का भ्रम सम्भव नहीं है। ब्रह्म प्रकाशित या विषयभूत होगा तो उस ब्रह्म को अवलम्बन

कर जो अध्यास की कल्पना करते हैं, वह भी सम्भव नहीं है। अद्वैतवेदान्तियों के मत में ब्रह्म घटादि के समान जड पदार्थ नहीं है, अतः अध्यास सम्भव नहीं है। ब्रह्म घट आदि जड पदार्थ के समान भिन्न ज्ञान के द्वारा प्रकाशित न होने पर भी आत्म स्वरूप ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है एवं उस प्रकाशित ब्रह्म का अवलम्बन कर उसमें अनात्मा अध्यास हो सकता है। किन्तु, यह भी सम्भव नहीं है, कारण, जो क्रिया का कर्ता होता है, वही क्रिया का कर्म होगा—यह सम्भव नहीं है। दूसरे के समवाय सम्बन्ध से रहने वाली क्रिया से जन्य फलवान् कर्म होता है। जैसे देवदत्तः ग्रामं गच्छति इस वाक्य में देवदत्त गमन क्रिया का कर्ता और ग्रामगमन क्रिया का कर्म है। इस स्थल में ग्राम भिन्न देवदत्त में स्थित गमन क्रिया का फल अर्थात् देवदत्त के शरीर के साथ जो ग्राम का संयोग उस संयोग का आश्रय जो ग्राम वही गमन क्रिया का कर्म होता है। इस स्थल में गमन क्रिया का फल संयोग देवदत्त और ग्राम दोनों में ही रहता है, ऐसी स्थिति में देवदत्त गमन क्रिया का कर्म क्यों नहीं होता है? क्रिया का फल संयोग है, यह क्रिया देवदत्त की है, देवदत्त में ही समवाय सम्बन्ध से यह क्रिया रहती है, ग्राम में यह क्रिया समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती है, इसलिए, देवदत्त को संयोगरूप का आश्रय मानने पर गमनक्रिया पर समवेत अर्थात् देवदत्त से अन्य में समवेत नहीं है। ग्राम में यह क्रिया समवाय सम्बन्ध से नहीं रहने के कारण ग्राम देवदत्त नामक जो ग्राम से भिन्न व्यक्ति (परवस्तु) उस पर में समवेत गमन क्रिया के फल संयोग का शाली (आश्रय) होता है, किन्तु देवदत्त वैसा नहीं है। अतः, देवदत्त में गमन क्रिया का फल संयोग रहने पर भी ग्राम ही गमन क्रिया का कर्म होता है देवदत्त कर्म नहीं होता है, वह कर्ता ही रहता है। गमन क्रिया एवं उसका फल संयोग दोनों ही देवदत्त में है, किन्तु, गमन क्रिया का फल संयोग केवल ग्राम में है क्रिया ग्राम में नहीं है। अतः, देवदत्त कर्ता और ग्राम कर्म है। इस नियम के अनुसार ब्रह्म अपने को जानता है तो वही ज्ञानक्रिया का कर्ता और कर्म दोनों ही होगा, किन्तु, वस्तुतः यह सम्भव नहीं है। उक्त नियम के अनुसार

जो जिस क्रिया का कर्ता होता है वही उस क्रिया का कर्म नहीं हो सकता है। इस लोक सिद्ध नियम का उल्लङ्घन कर अद्वैतवेदान्तसम्मत आत्मा में अनात्मा के अध्यास की उपपत्ति के लिए ब्रह्म को ज्ञेय नहीं कह सकते हैं, अतः ब्रह्म का प्रकाश सम्भव नहीं होता है और ऐसी स्थिति में ब्रह्म को अनात्मा भ्रम का अधिष्ठान नहीं कहा जा सकता है, इसलिए आत्मा में अनात्मा का अध्यास असिद्ध है। यदि ब्रह्म को ब्रह्म से भिन्न एक ज्ञान के द्वारा प्रकाशित माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है, कारण, ऐसा मानने पर ब्रह्म को जड मानना पड़ेगा साथ ही अनवस्था दोष की भी उपस्थिति होगी। कारण जो अपने से भिन्न ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है, उसी को जड कहा जाता है, जैसे—घट, पट आदि। साथ ही जिस ज्ञान की सहायता से ब्रह्म प्रकाशित होगा, वह ज्ञान अपने को प्रकाशित किये विना ही यदि ब्रह्म को प्रकाशित करता है तो उस ज्ञान के प्रकाश के लिए एक अन्य ज्ञान को भी मानना पड़ेगा। यदि ज्ञान अप्रकाशित होकर ब्रह्म को प्रकाशित करता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान को जड स्वरूप मानना पड़ेगा। जो स्वयं प्रकाशित नहीं है वह क्या अन्य को प्रकाशित कर सकता है, यह मानते हैं तो, वह तृतीय ज्ञान भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अपने प्रकाश के लिए चतुर्थ एक ज्ञानकी अपेक्षा करेगा, और फलस्वरूप इस प्रकार की कल्पना करने से अनवस्था दोष होगा, अतः ब्रह्म प्रकाशित होकर भ्रम का अधिष्ठान होता है—यह कथन समीचीन नहीं है। इसलिए ब्रह्म प्रकाशित होकर ही भ्रम का अधिष्ठान होता है या अप्रकाशित होकर भ्रम का अधिष्ठान होता है, अद्वैतवेदान्तियों की इस प्रकार का कोई भी कथन सङ्गत प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः, इस प्रकार की आशङ्का मन में रखकर ही भाष्यकार ने "कथं पुनः" इत्यादि आपत्तियों की उत्थापना की है। इसी की अभिव्यक्ति "पुनरपि" से लेकर "अनवस्था प्रसङ्ग" इतने ग्रन्थों से की है।

पूर्वपक्षियों का पुनः यह कथन है कि वेदान्ती इस अध्यास को उपपत्ति के लिए नैयायिक या प्राभाकर मत का अवलम्बन कर समाधान करना चाहें तब भी उद्धार नहीं है।

नैयायिकों का कथन है कि जीवात्मा में जबतक ज्ञान उत्पन्न तब तक उसमें प्रकाश भी नहीं रहता है, वह तब तक घट, पट आदि के समान जडवत् ही रहते हैं ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही प्रकाश भी हो जाता है। सृष्टि के पूर्व में प्रलय में एवं मुक्ति के बाद जीवात्मा का ज्ञान उत्पन्न नहीं होने से उसका प्रकाश भी नहीं रहता है, इसलिए, उस समय वह भ्रम का अधिष्ठान भी नहीं होता है। वृद्धावस्था में या सृष्टिकाल में ज्ञान उत्पन्न होने पर ही आत्मा भ्रम का अधिष्ठान होता है, अर्थात् वह ज्ञान क्रिया का कर्ता ही होता है कर्म नहीं, कारण, परसमवेत क्रियाजन्य फलशालित्व रूप जो कर्म का लक्षण है, वह आत्मा में किसी भी अवस्था में नहीं रह सकता है। कारण, ज्ञान रूप क्रिया आत्मा में ही रहती है, एवं उस क्रिया का फल ज्ञान विषयत्व को भी आत्मा में ही मानना पड़ेगा अतः, इस में परसमवेत क्रियाजन्य फलशालित्व रूपकर्मलक्षण उपपन्न नहीं होता है और इसलिए आत्मप्रकाश ज्ञानक्रिया के कर्ता के रूप में प्रकाशित होता है। अतः आत्मा के प्रकाश शब्द का अर्थ आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति मात्र है वह ज्ञान का कर्म होकर विषय नहीं होता है। इस मत का आश्रयण कर यदि वेदान्ती स्वमत की स्थापना करने की चेष्टा करें तो यह भी सम्भव नहीं है।

--०--

पाद टीका – न्यायमत में आत्मा दो प्रकार का है। ईश्वर और जीव। ईश्वर में नित्यज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य प्रयत्न रहता है, ईश्वर का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है वह सदा विद्यमान रहता है। जीव का ज्ञान मन का संयोग होने पर उत्पन्न होता है। मुक्ति होने पर मन के संयोग का अभाव होने से जीवात्मा में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। वह उस समय जडके समान हो जाता है। जड के साथ जीवात्मा का यही भेद है कि जडमें कभी भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु जीवात्मा में सांसारिक दशा में मन के संयोग की सहायता से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए जीवात्मा को जड नहीं कहा जाता है। ईश्वर में नित्य ज्ञान रहने के कारण वह कभी भी ज्ञानहीन जड़ के समान नहीं होता है।

जीव अनेक और विभु (व्यापक) है, किन्तु ईश्वर एक और विभु (व्यापक) है। विभु का अर्थ सर्वव्याप्य या सभी मूर्तद्रव्यसंयोगी होता है। जीवात्मा के साथ मन का संयोग होने पर जब ज्ञान के द्वारा उसका प्रकाश होता है, तब उस प्रकाशमान आत्मा में देह आदि अनात्म वस्तु का अध्यास होता है। ऐसा अध्यास वेदान्तियों को भी अभिमत है। मन के संयोग का कारण अनादि वासना या अदृष्ट है। अतः, इस अध्यास की उपपत्ति के लिए नैयायिकों की युक्तियों का अवलम्बन कर यदि वेदान्ती कुछ कहना चाहते हैं तो उसीके निवारण के लिए पूर्वपक्षियों ने ऐसा कहा है। यह मात्र नैयायिकों का ही मत नहीं है, यह अंश प्राभाकर और नैयायिक दोनों ने स्वीकार किया है। कारण, ज्ञानक्रिया की उत्पत्ति होने पर ही विषय का प्रकाश होता है एवं पूर्वोक्त ज्ञानक्रिया का कर्ता ही आत्मा होता है कर्म नहीं होता है, इस अंश में दोनों मत अभिन्न है। किन्तु, इस अंश में भेद है— नैयायिकों के मत में इस ज्ञान एवं ज्ञानक्रिया का कर्ता आत्मा अनुव्यवसायात्मक ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है। किन्तु, प्राभाकर ने अनुव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं माना है। इनका कथन है कि ज्ञानक्रिया उत्पन्न होकर अपने को विषय को एवं अपने आश्रयभूत आत्मा को प्रकाशित करता है। अनुव्यवसाय ज्ञान के द्वारा ज्ञान और ज्ञान के आश्रय आत्मा का प्रकाश मानने पर प्रदर्शित रूप में अनवस्था दोष होता है। अतः, इस अनवस्था दोष के परिहार के लिए प्राभाकर ने ज्ञान को स्वप्रकाश माना है एवं उसी ज्ञान के साथ-साथ विषय और आत्मा का भी प्रकाश होता है — यह माना है। वेदान्तियों ने ज्ञान एवं ज्ञानाश्रय आत्मा दोनों को भिन्न पदार्थ न मानकर ज्ञान को ही आत्मा माना है।

—oooo—

श्रुति के अनुसार वेदान्ती के मत में ब्रह्म "सत्य ज्ञान और अनन्त-स्वरूप है एवं यह ब्रह्म ही आत्मा है, अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है, फलतः उसमें किसी समय ज्ञान उत्पन्न होगा एवं उस ज्ञान के द्वारा उसका प्रकाश होगा—यह बात नहीं है। श्रुति में आत्मस्वरूप ज्ञान को स्वप्रकाश कहा है, इस विषय में वेदान्तियों ने जिन युक्तियों का प्रदर्शन किया है, उन युक्तियों

के श्रवण करने पर भी वेदान्ती द्वैतवादियों के मत का अवलम्बन कर अपनी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। द्वैतवादियों के मत में ज्ञान के द्वारा विषय का प्रकाश होता है। विषय-प्रकाश ही ज्ञान का फल है। इस फल के उत्पन्न होने पर विषय और आत्मा प्रकाशित होता है—ज्ञान प्रकाशस्वरूप नहीं है। इस विषय में वेदान्तियों की जिज्ञासा है कि विषय और आत्मा का प्रकाशरूप ज्ञान का फल जड है या स्वयंप्रकाश है। इसके उत्तर में यदि द्वैतवादी कहें कि फल जड है, यदि वह जड है तो उस जड के द्वारा जडकल्प आत्मा और जड विषय का प्रकाश कैसे होगा ? जड कभी भी जड का प्रकाश नहीं कर सकता है, जड आलोक से जड घटादि का प्रकाश करना प्रकाशक ज्ञान की सहायता करना है, आलोक स्वयं कभी भी घट का प्रकाश नहीं करता है। ज्ञान के न रहने पर आलोक और घट दोनों ही अज्ञात रहेंगे। इसलिए, यह निश्चित है कि जड कभी भी जड का प्रकाश नहीं करता है। जड के द्वारा जड का प्रकाश मानने पर जगत का कोई ज्ञान नहीं होता है—यही दूसरे शब्दों में कहा जाता है। भामती में इस विषय का प्रकाश "जगदान्ध्य" शब्द से कहा है। इसलिए, द्रष्टा, आत्मा और विषय के प्रकाश नामक ज्ञान फल को कभी भी जड नहीं कहा जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान - फल जड होने पर भी अर्थात् स्वयं अप्रकाशित होने पर भी चक्षुः आदि जैसे स्वयं अप्रकाश होकर भी घटादि विषय का प्रकाश करता है, इसी प्रकार वह जड होकर भी विषय और द्रष्टा आत्मा का प्रकाश करता है। किन्तु, वेदान्तियों का कथन है कि यह ठीक नहीं है। कारण, विषय का प्रकाश करता है इसका अर्थ विषय का ज्ञान करा देता है—यही सभी का सिद्धान्त है, ऐसी स्थिति में ज्ञान का फलरूप जो जडस्वरूप प्रकाश, यह प्रकाश जडस्वरूप विषय का प्रकाश करता है, इसका अर्थ तो यही होता है कि जड वस्तु ही जड वस्तु का ज्ञान करा देती है। किन्तु, ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होगा। कारण, जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञानफल होने से जड ही होगा, वह द्वितीय जड ज्ञान

विषय को प्रकाशित करता है, अर्थात् विषय का ज्ञान करा देने के लिए पुनः एक अन्य तृतीय ज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा और उसके भी जड होने से विषय का प्रकाश होने के लिए एक चतुर्थ ज्ञान की आवश्यकता है। इस तरह ज्ञानफल के जड होने पर विषय के प्रकाश के लिए अनन्त जड-स्वरूप ज्ञान अङ्गीकार करना होगा। अतः, अनवस्था दोष होगा। इसलिए, ज्ञान को जड मानना सम्भव नहीं है, अपितु ज्ञान को स्वयंप्रकाश अर्थात् अपराधीनप्रकाश मानना पड़ेगा। अर्थात्, इसके द्वारा यही सिद्ध है कि—वेदान्ती ने द्वैतवादियों के मत का खण्डन कर ज्ञान को स्वप्रकाशत्व ही माना है। इसी का प्रतिपादन "स्यादेतत्" से "संविदुपेतव्या" इसके द्वारा किया गया है।

पूर्वोक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि द्वैतमत में भी ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता इन तीनों वस्तुओं में ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानना ही पड़ेगा। अतः, यह वस्तुतः नैयायिक मत नहीं होता है, वरन् यह प्राभाकर मत ही मानना पड़ेगा। किन्तु, यह प्राभाकर मत भी द्वैतवादी का मत है, अद्वैत-वेदान्ती जिन युक्तियों की सहायता से इस द्वैतवाद का खण्डन कर अपने अद्वैत मत की स्थापना करते हैं, उसीका पूर्वपक्षी प्रदर्शन कर वेदान्त मत में आत्मा में अनात्मा का अध्यास अनुपपन्न है—यह प्रदर्शन कर रहे हैं। द्वैतवाद के निराकरण के लिए वेदान्तियों का कहना है कि ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञाता अर्थात् आत्मा ये तीन पदार्थ भिन्न होते एवं पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ज्ञान को अप्रकाश माना जाता तो इस स्वप्रकाश ज्ञान के द्वारा विषय का प्रकाश कैसे होता? वस्तुतः, यह सम्भव नहीं था, यदि ज्ञान स्व-प्रकाश होता तो जडस्वभाव विषय एवं अस्वप्रकाश स्वभाव आत्मा का प्रकाश कैसे सिद्ध होता? यदि यह मानते हैं कि स्वप्रकाश ज्ञान की सहायता से ही जड स्वभाव विषय एवं अस्वप्रकाश स्वभाव आत्मा का प्रकाश होता है ऐसी स्थिति में यही कहूंगा कि क्या यह मानना होगा कि पुत्र यदि पण्डित है तो उसका पिता भी पण्डित होगा? अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाश होने से उसके साथ सम्बद्ध विषय और आत्मा भी प्रकाशित होगा? इसका कोई कारण

नहीं बताया जा सकता है कि जो अपने को प्रकाशित करता है वह दूसरे के साथ सम्बद्ध होने पर उसका प्रकाश कैसे करेगा ? पिता के साथ पुत्र का सम्बन्ध है, किन्तु, पिता को पुत्र के साथ सम्बन्ध होने से ही पुत्र का असाधारण धर्म पाण्डित्य पिता में भी आ जायेगा ? सम्बन्ध रहने से भी एक दूसरे के स्वभाव को ग्रहण करेगा, इसमें कोई अव्यभिचारी कारण नहीं है। अतः, ज्ञान स्वप्रकाश होने से उसके साथ सम्बद्ध विषय और आत्मा का प्रकाश होगा इसमें कोई कारण नहीं है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान प्रकाशित होने पर उसके स्वभाव से ही विषय और आत्मा का प्रकाश हो जायगा आत्मा और विषय के प्रकाश के विना उसका प्रकाश ही नहीं होता है, अर्थात्, ज्ञान स्वयं अपना प्रकाश करके ही उत्पन्न होता है—यह जैसे उसका स्वभाव है वैसे ही यह भी उसका स्वभाव है कि विषय और आत्मा का प्रकाश करके ही वह उत्पन्न होता है, जैसे आलोक। विषय और आत्मा का प्रकाश एवं ज्ञान का प्रकाश ये दोनों प्रकाश ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि विषय और आत्मा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश ज्ञान से भिन्न है तो ज्ञान से ज्ञान का प्रकाश भिन्न होने से ज्ञान का स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं होगा। साथ ही ज्ञान को आत्मा और विषय का प्रकाश स्वरूप कहा था, वह भी ऐसी स्थिति में सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् ज्ञान की स्वप्रकाशता सिद्ध करने के लिए जिन युक्तियों को दिया था, उनको जलाञ्जलि देनी पड़ेगी। यदि यह मानते हैं कि विषय और आत्मा का प्रकाश एवं ज्ञान का प्रकाश ज्ञान से अभिन्न है, अर्थात्, ज्ञान ही विषय और आत्मा का प्रकाश है एवं ज्ञान के प्रकाश का स्वरूप है। ऐसी स्थिति में ज्ञान, विषय एवं आत्मा ये एक साथ हैं यह कहने से जो अवगत होता है ज्ञान प्रकाश एवं विषय और आत्मा का प्रकाश ये एक साथ हैं कहने पर भी वही अवगत होगा। अर्थात् इसके द्वारा यही अवगत होता है कि विषय प्रकाश के साथ साथ विषय भी विद्यमान रहेगा। किन्तु, जब हमको अतीत और अनागत विषय का ज्ञान होता है, उस समय वे विषय नहीं रहते, और उस समय उसका प्रकाश स्वीकार करना पड़ता है। अतः पूर्वोक्त दोनों कथन एकार्थक नहीं हो सकते हैं। इसीलिए ज्ञानप्रकाश एवं विषय और

आत्मप्रकाश ज्ञान से अभिन्न हैं यह भी द्वैतवादी नहीं कह सकते हैं। द्वैतवादी यह कह सकते हैं कि ज्ञानप्रकाश एवं विषय और आत्मा का प्रकाश ये तीनों एक साथ हैं। आशय यह है कि विषयप्रकाश के साथ ज्ञान का सहभाव है। अर्थात् ज्ञान होने पर ही उस ज्ञान का विषय जो पदार्थ उस पदार्थ का हान अर्थात् परित्याग या ग्रहण अथवा उपेक्षा ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः ज्ञान प्रकाश के साथ विषयप्रकाश का सहभाव निर्दिष्ट है। विषय में ज्ञान का सहभाव कहने पर हमलोग समझते हैं कि ज्ञान के द्वारा विषय का परित्याग ग्रहण या उपेक्षा ज्ञान होता है—यही ज्ञान प्रकाश के साथ विषय प्रकाश के सहभाव शब्द का अर्थ है। किन्तु, द्वैतियों के इस कथन से भी उनके मत की उपपत्ति नहीं हो सकती है। कारण, जिस तरह घट आदि विषय ज्ञान के द्वारा प्रकाशित है उसी प्रकार घटादि पदार्थ के परित्याग ग्रहण और उपेक्षा को भी ज्ञान का विषय मानना पड़ेगा। कारण, ये स्वयं ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान मान लिया जाय तो उक्त परित्याग, ग्रहण और उपेक्षा में भी ज्ञान के विषयत्व की रक्षा के लिए परित्याग, ग्रहण और उपेक्षा में भी पुनः परित्याग, ग्रहण और उपेक्षा ज्ञान की कल्पना करनी होगी, इसी प्रकार पुनः परित्याग, ग्रहण और उपेक्षा गोचर परित्याग, ग्रहण और उपेक्षा ज्ञान की कल्पना करनी होगी, अतः इस रूप में अनवस्था दोष हो जायगा, इसलिए ज्ञान के द्वारा घटादिका विषयत्व अर्थात् प्रकाश उपपन्न नहीं होता है। इस प्रसङ्ग में द्वैतवादी कह सकते हैं कि घटज्ञान को जिस प्रकार हमलोग घटविषयक कहते हैं, वैसे ही घटसंक्रान्त परित्याग, ग्रहण और उपेक्षाबुद्धिको भी हमलोग घटविषयक कहते हैं। घटज्ञान या घटप्रकाश कहने से हमलोगों ने घटविषयक परित्याग आदि ज्ञान का प्रसङ्ग कहा है, उस ज्ञान का विषयपरित्याग आदि नहीं है, वरन् उस ज्ञान का विषय घट ही होता है, अर्थात् ज्ञान का विषय घट कहने पर हमलोग दो अर्थ समझते हैं, एक—ज्ञानजन्य हान आदि का विषयघट है और द्वितीय— ज्ञान का विषय घट है। अतः हानादि ज्ञान का विषय हान आदि नहीं होता है, इसलिए पूर्वोक्त अनवस्था दोष नहीं होता है। उसके उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि द्वैतियों के पूर्वोक्त

कथन से यह अवगत होता है कि घटज्ञान घट को प्रकाश करता है इसका अर्थ यह होता है कि घटज्ञान घटविषयक ज्ञान और ग्रहण आदि अर्थात् प्रवृत्ति या निवृत्ति का जनक होता है। इसका फल यह होगा कि जो यद्विषयक प्रवृत्ति या निवृत्ति का जनक होता है वही तद्विषयक या तत्प्रकाशक होता है। अर्थात् जिस विषय की प्रवृत्ति या निवृत्ति का जो जनक होगा उसका वह विषय होता है और उसी से उसका प्रकाश होता है। किन्तु, यह नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, ऐसा मानने पर नैयायिक या प्रभाकर के मत में प्रयत्नवान् आत्मा के साथ देह का संयोग देहगत प्रवृति और निवृति का कारण होता है, अतः देहात्मसंयोग को देहज्ञान या देहप्रकाश मानना उचित है, वस्तुतः ऐसा नहीं होता है, क्योंकि, देहात्मसंयोग जड पदार्थ है वह देह का प्रकाश कैसे कर सकता है? यदि यह कहा जाय कि देहात्मसंयोग होने के कारण ही प्रकाश शब्द से नहीं कहा जाता है, वरन् जो जड नहीं है और जडगोचर प्रवृत्ति और उत्पन्न कराता है, वही जड प्रकाश पद से कहा जाता है, प्रकाश ज्ञानपदार्थ है अतः, देहादि का प्रकाश करता है, देहात्मसंयोग देहप्रकाश पद का वाच्य नहीं हो सकता है, वह ज्ञान नहीं जड है। इसके उत्तर में वेदान्तियों का कहना है कि ज्ञान का प्रकाश यदि स्वतः प्रकाश है तो उसको ज्ञान से अभिन्न ही मानना पड़ेगा, वह ज्ञान से अभिन्न होकर ही प्रकाशपदवाच्य होता है। किन्तु, वह स्वयंप्रकाश होने पर भी जडांश में अर्थात् ज्ञेय विषयांश में ज्ञानादि का जनक होता अतः वह जड का प्रकाश करता है—यही अभिप्रेत है, तो कहना होगा उसका जडप्रकाशत्व जड सम्बन्ध के कारण ही है और उसके साथ जड का सम्बन्ध हुआ तो फलतः वह भी जड धर्म से आक्रान्त हुआ, क्योंकि, जड हुए विना जड के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ऐसा मानने पर जड प्रकाशांश में स्वयं प्रकाशत्व नहीं रह सकता है। अर्थात् जो स्वयं प्रकाश होगा वह यदि दूसरे का प्रकाश करता है तो उसमें अपरप्रकाशत्वरूप धर्म जड सम्बन्ध निबन्धन फलतः जड धर्म ही होगा, फलतः जड धर्म ही होगा,

इसलिए उसमें भी जडत्व उपस्थित हो जायगा। स्वयं प्रकाश का अर्थ है दूसरे की अपेक्षा के बिना ही प्रकाश, यदि वह दूसरे को प्रकाश करेगा तो वह स्वयंप्रकाश पद का वाच्य नहीं रहेगा। अर्थात् स्वयं प्रकाश, अद्वैत पदार्थ ही होता है। द्वैत पदार्थ को स्वीकार करने पर स्वयंप्रकाशत्व की रक्षा नहीं हो सकती है। श्रुति में भी ये विषय कहें गये हैं 'असङ्गो ह्ययमात्मा" इत्यादि।

जो विषय प्रकाशित होते हैं वे कभी भी प्रकाश पदार्थ के आत्मभूत नहीं हो सकते हैं। कारण, प्रकाशित विषय विच्छिन्न, ह्रस्व, दीर्घ स्थूल आदि के रूप में अनुभूति के विषय होते हैं. किन्तु प्रकाश पदार्थ ऐसा नहीं होता है। प्रकाश ह्रस्व भी नहीं, स्थूल भी नहीं दीर्घ भी नहीं, बाह्य भी नहीं है। अतः, चन्द्रमा में जिस तरह अनुभूयमान द्वितीय चन्द्रमा अनिर्वचनीय होता है वैसे ही यह परिदृश्यमान विश्वप्रपञ्च को भी प्रकाशित होने पर भी अनिर्वचनीय ही मानना होगा। कारण, यह प्रकाशस्वरूप नहीं है। किन्तु प्रकाशित होता है—यह अद्वैतमत का अनुसरण करने पर मानना ही होगा। इस अद्वैत प्रकाश पदार्थ का स्वरूपगत भेद किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। निर्वचनीय प्रकाश वस्तु का अनिर्वचनीय विश्वप्रपञ्च का स्वरूपगतभेद अपने स्वयंप्रकाश स्वभाव से अलग कैसे करेगा, अथवा यह कैसे सम्भव हो सकता है ? कारण, ऐसा होने पर अतिप्रसङ्ग दोष होगा, अर्थात् अन्य के धर्म से अन्य वस्तु यदि अपने स्वभाव से अलग हो जाता है तब घट भी पटस्वरूप हो सकता है। इन अनिर्वाच्य प्रपञ्चों में भी एक भेद प्रतीत होता है, वह भी वास्तव नहीं है. इससे यही सिद्ध हुआ कि प्रकाश वस्तु को स्वयंप्रकाश होना ही उचित है। वह एक अद्वितीय अपरिणामिनित्य, अंशरहित है और यही प्रत्यगात्मपादवाच्य है। इसको प्रत्यक् कहने से यह अवगत होता है कि यह अनिर्वचनीय देह इन्द्रिय आदि रूप विषय से भिन्न रूप में अपने को स्वयं ही प्रकाशित करता है। अतः; निर्वचन के योग्य सभी का आत्मभूत अर्थात् सभी से अभिन्न है। फलतः; प्राभाकरमत का अवलम्बन कर विषय, आत्मा और ज्ञान-इन तीन

वस्तुओं को स्वीकार कर ज्ञान के स्वयं प्रकाशत्व की रक्षा होगी, यह भी सम्भव नहीं है. यही वेदान्तियों का मत कहकर पूर्वपक्षियों ने सिद्ध किया है। अर्थात्, ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानने पर विषय आदि सभी अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या हो जायगा, अतः, एक आत्मा ही स्वयं प्रकाश एवं ज्ञान स्वरूप है, उससे भिन्न अन्य वस्तु स्वयंप्रकाश नहीं है, अर्थात् ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व मानने पर एक अद्वैत परमार्थतत्त्व में पर्यवसान होगा। वेदान्तियों का यही मत मानने पर पूर्वपक्षी यह जिज्ञासा करते हैं कि इस प्रत्यग् आत्मा में विषय धर्म का अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि के धर्मों का कैसे अध्यास हो सकता है? जब दूसरा कुछ नहीं है। तब उस अद्वैत पदार्थ में किस प्रकार किसका अध्यास होगा? अतः आत्मा में अनात्मा का अध्यास सर्वथा युक्तिहीन है—यही प्रकृत में पूर्वपक्षी का आशय है। "तथापि, किमायातः" से "इत्याक्षेप." यहां तक भामती का यही आशय है। अतः इसी को लक्ष्य कर भाष्यकारने "कथं पुनः" इस आशङ्का वाक्य की अवतारणा की है। पूर्वपक्षियों ने अद्वैत मत के इस आशय का अनुसरण कर अद्वैत मत में प्रत्यगात्मा में अध्यास न होने के कारण की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। इसके कारण को अवगत कराने के लिए भाष्यकार ने कहा है "सर्वो पुरोयवस्थिते विषये विषयान्तर मध्यवस्यन्ति।" पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि जहां अध्यास होता है, उस स्थान में जिस वस्तु में अध्यास होता है, उस वस्तु को द्रष्टा केसन्मुख में स्थित एवं ज्ञान का विषय होना आवश्यक है। जो सम्मुख में स्थित अर्थात् द्रष्टा से भिन्न रूप में स्थित एवं ज्ञान का विषय इन दोनों के न रहने पर अध्यास का अधिष्ठान नहीं होता है। अधिष्ठानभूत शुक्ति में रजत का भ्रम शुक्तिका को सम्मुख देखने पर एवं शुक्तिका को ज्ञान का विषय होने पर ही होता है, अन्यथा नहीं। जो व्यक्ति शुक्तिका को नहीं देखता है, वह कभी भी उसको रजत समझने की भूल नहीं करता है। इससे यह सुस्पष्ट रूप में अवगत होता है कि पराधीन प्रकाश एवं अंशविशिष्ट वस्तु के ही किसी सामान्य धर्म को लेकर एवं इन्द्रिय आदि ज्ञान के कारणों के दोष से विशेष धर्म का ज्ञान न होने पर संसार में भिन्न रूप से लोग अवगत

करते हैं। किन्तु, यह प्रत्यगात्मभूत आत्मा में कैसे सम्भव हो सकता है? प्रत्यगात्मा अपराधीन प्रकाशस्वरूप पदार्थ है यह अपने प्रकाश के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता है, अतः, कारण के दोष से इसमें अनात्मा का भ्रम नहीं हो सकता है। दूसरी बात है कि आत्मा में कोई अंश नहीं है कि उसके सामान्य अंश को ग्रहण कर तथा विशेष अंश का ग्रहण न होने से उसमें अनात्म धर्म का अध्यास होगा। निरंश वस्तु एक ही समय गृहीत और अगृहीत नहीं हो सकती है। अर्थात् आत्मा को यदि स्वयंप्रकाश एवं अद्वितीय माना जाय तो उसमें अनात्मा का अध्यास सम्भव नहीं है। यदि उसको अप्रकाशित नित्य और सर्वगत माना जाय तो वह सम्मुख स्थित नहीं हो सकता है और इसके फलस्वरूप उसमें अध्यास सम्भव नहीं है। शुक्ति यदि सम्मुखस्थित नहीं हो तो वह "इदं रजतम्" इस प्रकार के भ्रम का विषय हो सकता है? अतः यही सिद्ध हुआ कि आत्मा को स्वयं प्रकाश मानने पर भी अध्यास सिद्ध नहीं होता है एवं अप्रकाश मानने पर भी अध्यास सिद्ध नहीं होता है "कस्मात्" से लेकर "नाध्यासः इति सिद्धम्" यहां तक भामती का यही आशय है।

यदि यह कहा जाय कि आत्मा अविषय नहीं है वह अहं प्रत्यय का विषय है अतः उसे सम्मुखस्थित होने में कोई बाधा नहीं है और ऐसी स्थिति में उसमें अध्यास कैसे सम्भव नहीं है? वेदान्तियों का यह कथन सम्भव नहीं है। कारण आत्मा को युष्मत्प्रत्यय का अविषय कहकर उसको सभी ज्ञान का अविषय ही कहा गया है, अतः अविषय पदार्थ में अध्यास कैसे सम्भव हो सकता है? अन्य बात यह है कि भाष्यकार के "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः इस वाक्य से भी आत्मा युष्मत्प्रत्यय का विषय नहीं है वरन् विषयी ही है—यही कहा गया है। आत्मा को अस्मत्प्रत्यय का गोचर कह कर यदि उसको विषय कहा गया है तब आत्मा विषय होने से उसका प्रकाशक एक ज्ञान है, अर्थात् विषयी की पुनः आवश्यकता होती है और ऐसा होने पर

चिदात्म विषयक ज्ञान ही विषयी हो जाता है, फलतः चिदात्मा विषयी नहीं होगा। ऐसा मानने पर दो दोष होंगे। प्रथम—चिदात्मा विषयी नहीं होता है, फलतः जड होगा एवं द्वितीय—अनवस्था दोष भी होगा। कारण, विषयत्व ही जडत्व है. जो पराधीन प्रकाश है; वही विषय है और वही जड है। चिदात्मा को विषय कहने पर जिस ज्ञान के द्वारा वह प्रकाशित होगा, वह भी यदि चिदात्मा हो तो प्रथम चिदात्मा के समान वह दूसरे ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होगा एवं उस दूसरे ज्ञान को चिदात्मा मानने पर उसके प्रकाशक एक भिन्न ज्ञान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार चिदात्मा को विषय मानने पर अनवस्था दोष होगा। अतः, चिदात्मा की उक्त जडत्व प्रसक्ति और अनवस्था दोष के कारण के लिए वेदान्तियों को यह मानना ही होगा कि आत्मा युष्मत्प्रत्यय का अर्थात् यह किसी ज्ञान का विषय नहीं है और ऐसी स्थिति में अध्यास की अनुपपत्ति होगी। यही पूर्वपक्षी का कथन है एवं "स्यादेतत्" से "तथा च नाध्यासः" इस भामती का यही तात्पर्य है।

पूर्वपक्षियों की इस आपत्ति के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—"उच्यते न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययत्वात्"। इसका आशय भामतीकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश है, इसलिए वह अविषय एवं अंशशून्य पदार्थ है, किन्तु, ऐसा होने पर भी वह अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा परिकल्पित बुद्धि, मन, सूक्ष्म और स्थूल द्विविध शरीर एवम् इन्द्रियं आदि पदार्थों के द्वारा परिच्छिन्न होकर अस्मत्प्रत्यय का विषय होता है, वस्तुतः, वह अपरिच्छिन्न है अर्थात् किसी प्रकार की वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है वह एक और अद्वितीय है. किसी वस्तु के साथ उसका भेद नहीं है, कारण, उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, वह अकर्ता और अभोक्ता के रूप में प्रतीत होता है, वस्तुतः, ब्रह्मस्वरूप होने पर भी अविद्या के कारण ही जीव स्वरूप को प्राप्त करता है। जैसे—आकाश एक होने पर भी घट आदि उपाधियों के भेद से घटाकाश, मठाकाश आदि शब्दों के द्वारा भिन्न रूप में व्यवहृत होता है,

वैसे ही आत्मा एक होने पर भी अविद्या के द्वारा कल्पित अनेक धर्मों के आश्रय के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार स्वतः अविषय होने पर भी विषय होता है। चिदेकरस अर्थात् चिन्मात्रस्वभाव आत्मा का चिदंश यदि प्रकाशित होता है तो कोई भी अंश अप्रकाशित नहीं रह सकता है. क्योंकि, उसका दूसरा कोई अंश ही नहीं है। यह सत्य है कि आनन्द, नित्यत्व, विभुत्व, आदि सभी आत्मधर्म आत्मा से भिन्न नहीं हो सकते हैं, यदि भिन्न होते तो यह कहा जा सकता था कि आत्मा का सामान्य धर्म चित् अंश रूप का ग्रहण होने पर भी आत्मा का विशेष धर्म नित्यत्व, विभुत्व आदि नहीं भी गृहीत हो सकता है, किन्तु, ये सभी धर्म वास्तविक चिदात्मा से भिन्न नहीं हैं, अतः चिदात्मा के प्रकाश के साथ ही इन अंशों का भी प्रकाश हो जाता है—यह मानना ही पड़ेगा। किन्तु, इस अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा परिकल्पित भेद होने से इन सभी धर्मों का ग्रहण होने पर भी अविवेक के कारण अगृहीत के समान प्रतीत होते हैं। अर्थात्, अविद्यावश चिदात्मा का चिदंश ही गृहीत होता है, किन्तु उसके आनन्द. नित्यत्व यदि धर्म गृहीत नहीं होते हैं—इसी रूप में संसार का व्यवहार चलता है। बुद्धि आदि से आत्मा का भेद वास्तविक या यथार्थ नहीं है। यदि वास्तविक होता तो चिदात्मा के प्रकाश के साथ ही उसमें रहनेवाला बुद्धि आदि का भेद भी प्रकाशित हो जाता। किन्तु, वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है, कारण, बुद्धि आदि अनिर्वचनीय हैं—यह पूर्व में ही कहा गया है। अनिर्वचनीय वस्तु का भेद भी अनिर्वचनीय ही होगा। अतः, इस भेद का प्रकाश अध्यास से अतिरिक्त क्या हो सकता है, अर्थात् यह भेद भ्रमदशा में ही होगा यह मानना ही पड़ेगा। इसलिए यह मानना होगा कि चिदात्मा किसी भी उपाधि के द्वारा वस्तुतः अवच्छिन्न अर्थात् विशेषित न होने पर भी एवं स्वयंप्रकाश होने पर भी परिच्छिन्न बुद्धि आदि के द्वारा उसका भेद गृहीत न होने से अध्यास के कारण ही उसके जीवभाव की कल्पना होती है। इस प्रकार चिदात्मा इदं और अनिदंवस्तु का आत्मभूत असमत्प्रत्यय का विषय होता है—यह उपपन्न होता है।

वस्तुतः, अध्यास के कारण चिदात्मा ही कर्ता और भोक्ता होकर अहं प्रत्यय का विषय होता है। कर्ता एवं भोक्ता होने पर भी क्रियाशक्ति एवं भोगशक्ति उदासीन चिदात्मा में सम्भव नहीं होती है। बुद्धि आदि करणसंघात में क्रियाशक्ति एवं भोगशक्ति विद्यमान रहने पर भी उनमें वास्तविक चैतन्य नहीं है, इसलिए, यह मानना पड़ेगा कि चिदात्मा ही कार्य एवं कारणसंघात के साथ मिलित होकर क्रियाशक्ति एवं भोगशक्ति का लाभ करता है। चिदात्मा स्वयं प्रकाश होने पर भी बुद्धि आदि विषय के साथ संमिश्रित होने से किसी प्रकार अस्मत्प्रत्यय का विषय होता है एवं अहङ्काराश्रय जीव-जन्तु और क्षेत्रज्ञ आदि नाम से कहा जाता है। वस्तुतः, यह जीव स्वयंप्रकाश चिदात्मा से भिन्न नहीं है। कारण, श्रुति में कहा गया है कि "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" अर्थात् मैं अर्थात् ब्रह्म अपने आत्मस्वरूप जीव में प्रविष्ट होकर नाम और रूप की सृष्टि करता है। अतः, स्वप्रकाश है, तथापि अहं प्रत्ययरूप अध्यास के बल से कर्ता और भोक्ता होकर व्यवहारयोग्य होता है, इसी कारण से जीवस्वरूप ब्रह्म ही अहंप्रत्यय का आलम्बन कहा जाता है। वस्तुतः, निरुपाधिक ब्रह्म अहंप्रत्यय का विषय नहीं होता है। परन्तु, अविद्या के द्वारा विशेषित ब्रह्म ही अहंप्रत्यय का विषय होता है, फलतः, आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है, इसी के कारण कहने के अभिप्राय से आचार्य ने इसको अस्मत्प्रत्यय का विषय कहा है। यदि यह कहा जाय कि अध्यास सिद्ध होने पर आत्मा अहप्रत्ययगोचर होगा एवं आत्मा के अहंप्रत्ययगोचर होने पर उसमें बुद्धि आदि अनात्मक पदार्थ का अध्यास सिद्ध होगा—वेदान्तियों का यही सिद्धान्त होने पर अन्योऽन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। अतः, अहंप्रत्यय का विषय होने से आत्मा में अनात्मा का अध्यास सम्भव नहीं है। किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है, कारण, यदि इसको बीज और अंकुर के समान कहा जाय तो यह दोष सम्भव नहीं है। कारण, अन्योऽन्याश्रयदोष कल्पना स्थल में ही सम्भव होता है, दृष्ट या लोकसिद्ध पदार्थ में सम्भव नहीं है। बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज उत्पन्न होता है—यह सभी लोग जानते

हैं, सभी लोग स्वीकार भी करते हैं, किन्तु, इस अन्योऽन्याश्रय दोष से बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति एवं अङ्कुर से बीज की उत्पत्ति इस सिद्धान्त का व्याघात नहीं होता है वैसे ही अहंप्रत्यय के विषय होने पर उसमें अध्यास होगा एवं अध्यास होने पर अहंप्रत्यय का विषय होगा—इस सिद्धान्तका भी व्याघात नहीं होगा। यह विषय सभी दार्शनिकों ने माना है। जिस देह में आत्मभाव का अध्यास स्वीकार करें उसी आत्मा का देहात्मभाव के विनाश होने पर मुक्ति मानें जो आत्माको देह से भिन्न मानें या देहात्मभाव को ही संसारका मूल मानें उनको भी यह दोष मानना ही पड़ेगा। अतः बीज और अंकुर के समान इस अध्यास को अनादि ही मानना पड़ेगा और इसी बात को भाष्यकार ने "नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहार" इस वाक्य से कहा है। अध्यास होने से ही यह मानना होगा कि इसके पूर्व में इस प्रकार का एक अध्यास हुआ था एवं उससे जन्य एक संस्कार था। पूर्ववर्ती अध्यास का विषय आत्मा ही परवर्ती अध्यास का आलम्बन होता है। निरुपाधि आत्मा अध्यास का विषय नहीं होता है पूर्व अध्यास के विषयत्वरूप उपाधि से विशिष्ट होकर ही आत्मा परवर्ती अध्यास का विषय होता है। अर्थात, जीव चिदात्म होने से स्वयं प्रकाश है। अविषय होने पर भी उपाधि विशिष्ट रूप में अर्थात् जीवभाव में अहंप्रत्यय का विषय होता है—इसी को अस्मत्प्रत्ययका विषय इस शब्द से भाष्यकार ने कहा है। अतः, आचार्य ने जो यह कहा कि आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है, वह ठीक ही कहा है वह अस्मत्प्रत्यय का गोचर है। "परिहरति" से लेकर "इति भावः" पर्यन्त भामती का यही आशय है।

पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रत्यक्षज्ञान के अविषय आत्मा को प्रत्यक्षभ्रम का अधिष्ठान नहीं कहा जा सकता है—इत्यादि, इसीका उत्तर आगे की भामती के द्वारा कहा गया है। भामतीकार ने कहा है कि आत्मा को अविषय मानने पर वह अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता है—यह पूर्वपक्षियों की आपत्ति पूर्वोक्त युक्ति से खण्डित हो जाती है, किन्तु वह प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता है—इस पूर्वपक्षी की आपत्ति

का खण्डन नहीं हो सकता है। ज्ञान का विषय होने से ही वह प्रत्यक्षज्ञान का विषय होगा—यह कौन कह सकता है? आत्मा कैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है इस विषय का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार ने कहा है— "अपरोक्षत्वात् च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः"। इस भाष्य का विश्लेषण करते हुए भामतीकार ने कहा है आत्मा केवल परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं है, वरन् वह अपरोक्ष ज्ञान का भी विषय होता है। प्रत्यगात्मप्रकाश प्रत्यगात्मा से भिन्न न होने पर भी आरोप के कारण उसमें भेद का व्यवहार होता है। जैसे-लोकमें पुरुष का चैतन्य यह व्यवहार होता है। जैसे चैतन्य पुरुष से भिन्न न होने पर भी औपचारिक व्यवहार दृष्ट होता है वैसे ही प्रकृत स्थल में भी आत्मा स्वयं प्रकाश अद्वैततत्त्व होने पर भी उसमें प्रत्यक्ष-व्यवहार सम्भव होगा। इसके द्वारा यही कहा गया है कि चिदात्मा को अपरोक्ष मानना ही पड़ेगा। कारण, यदि वह स्वयं ही प्रत्यक्ष नहीं रहे तो संसार की किसी भी वस्तु का प्रकाश नहीं होगा, ऐसी स्थिति में जगत् का कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं होगा। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्" इत्यादि, अर्थात् उस प्रकाश का ही अवलम्बन कर सभी प्रकाशित होते हैं इत्यादि, एवं 'यः साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म" अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष है वही ब्रह्म है इत्यादि। इस विषय में यह संशय हो सकता है कि आत्मा के अविषयत्व प्रतिपादन स्थल में कहा गया है कि आत्मा अपने को प्रकाश करता है यह मानने पर कर्मकर्तृ विरोध की आपत्ति होगी और यदि आत्मा को अन्यज्ञान से प्रकाश्य माना जाय तो आत्मा के जडत्वकी प्रसक्ति होगी। आत्मा अपने को प्रकाश करेगा तो उसमें ज्ञान क्रिया का फलस्वरूप विषयतारूप धर्म उपस्थित होगा; यह विषयता स्वप्रकाश का धर्म नहीं है. वरन् जडका धर्म है इत्यादि, इस स्थल में उसी का प्रत्यक्षत्व स्वीकार किया गया है, अतः, इससे पूर्वापर असामञ्जस्य परिलक्षित होता है। इसलिए इसका उत्तर देना आवश्यक है। इस संशय के उत्तर में कहा जा सकता है कि आत्मा की अपरोक्षता ज्ञान विषयत्वनिबन्धन नहीं है, वरन् ज्ञानतादात्म्यनिबन्धन ही है। "आत्मा का

प्रकाश होता है,, यह व्यवहार औपचारिक-व्यवहार है। जैसे-पुरुष का चैतन्य, राहु का शिर इत्यादि। यद्यपि पुरुष ही चैतन्य है, राहु ही मस्तक है तथापि पुरुष का चैतन्य राहु का मस्तक यह कहा जाता है। किन्तु, यह व्यवहार पारमार्थिक नहीं है। घटादि विषयों के प्रकाश करने के समय अन्तः करण की घटादि के आकार की एक बृति रूप क्रिया मानी जाती है। उस क्रिया का कर्तृत्व जिसमें रहता है उसमें कर्मत्व नहीं रहता है, यह कर्मकर्तृ विरोध क्रियामात्र में ही सम्भव होता है। आत्मा ऐसी क्रिया नहीं है या ऐसा क्रियाप्रयुक्त प्रकाश नहीं है, इसमें अन्तः करण की बृत्तिरूप क्रिया की आवश्यकता नहीं है। कारण आत्मप्रकाश आत्मा से अभिन्न है अतः वह नित्य है, किन्तु, पूर्वोक्त क्रियाजन्य प्रकाश नित्य नहीं है आत्मा के प्रकाश में किसी कारण की आवश्यकता नहीं है, किन्तु घटादि के प्रकाश में उसकी आवश्यकता है यही कारण है कि आत्मा के प्रकाश में आत्मा विषय नहीं होता है, किन्तु, घट के प्रकाश में घट विषय होता है। इस स्थल में आत्मा का अपरोक्ष कथन विषयताशून्य अपरोक्ष कथन है अतः अस्मत्प्रत्यय की विषयता निरूपाधिक आत्मा में नहीं है, वरन् अन्तः करणादिरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा में ही है। इसलिए, प्रकृत में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। फलतः, आत्मा का अविषयत्व एवं अपुरोऽवस्थितत्व अर्थात् अप्रत्यक्षत्वनिबन्धन आत्मा में अनात्मा का अध्यास नहीं है। अब यह विचारणीय है कि आचार्य के इस कथन के अनुरूप कोई अनुकूल दृष्टान्त है या नहीं? अनुकूल दृष्टान्त न रहने पर आस्था नहीं होगी। सभी सिद्धान्त दृष्टान्तमूलक है, दृष्टान्त से व्याप्तिज्ञान होने पर उसके बलपर अनुमिति होती है। अतः दृष्टान्त प्रदर्शन न करने पर इसकी युक्तियुक्तता नहीं हो सकती है। जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है, वह आरोप का अधिष्ठान नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है प्रत्यक्ष का अविषय होने पर भी इसमें साधारण लोग पार्थिव-धर्म का आरोप करते हैं आकाश नील है, आकाश कटाह के आकार का है, यह सभी लोग मानते हैं। अतः देखने वालों से भिन्न रूप में सम्मुख नहीं रहता है जो प्रत्यक्ष नहीं होता है,

उसमें आरोप नहीं हो सकता है, ऐसी बात नहीं है, ऐसा मानने पर आकाश में पूर्वोक्त आरोप नहीं हो सकता है, इसलिए अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष भ्रम सम्भव नहीं होने से प्रत्यगात्मा में अनात्मा के, भ्रम को असम्भव कहना ठीक नहीं है। यह जिज्ञास्य है कि यह कैसे जानते हैं ? आकाश द्रव्य बाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है यह नहीं कह सकते हैं रूप और स्पर्शरहित द्रव्य का बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है आकाश का मानसप्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं है, कारण, बाहर में स्थित वस्तु का मानस प्रत्यक्ष मानने पर बहिरिन्द्रिय को द्वारा मानना पड़ेगा। अर्थात् बाह्य इन्द्रिय की सहायता के विना मन के द्वारा बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अत ,आकाश मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ,फलतः , आकाश प्रत्यक्ष ही नहीं है। इसलिए यह मानना होगा कि आत्मा में अनात्मा का भ्रम ठीक नहीं है—यही "स्यादेतत्" से "बुद्ध्यादीनामध्यासः" इन पंक्तियों के द्वारा कहा गया है।

अध्यास अर्थात् भ्रम सिद्ध होने पर भी आत्मा में अनात्मा का अध्यास होता है यह कैसे जानते हैं ? आत्मा में अनात्मा का या अनात्म धर्म का अध्यास सिद्ध होने पर उस अध्यास की निवृत्ति के लिए ब्रह्म ज्ञान की आवश्यकता है और ऐसा होने पर ही ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य हो सकती है एवं इसके लिए ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा की गई है और इस प्रकार 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र की व्याख्या भी सम्भव हो सकती है। आत्मा में अनात्मा का अध्यास सिद्ध न होने पर अन्य रूप से व्याख्या की आवश्यकता होगी। फलतः ज्ञान होने पर मुक्ति होती है, इसलिए ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए –इस मत में सूत्र की व्याख्या करने पर आत्मा में अनात्मा का अध्यास पूर्ण में करना आवश्यक है। शुक्ति में रजत का अध्यास सिद्ध होने पर रस्सी में सर्प का अध्यास सिद्ध होने पर या गुड के माधुर्य में तिक्तता का अध्यास होने पर भी आत्मा में अनात्मा का अध्यास सिद्ध होगा—यह कौन कह सकता है ? आचार्य द्वैतवादियों के पक्ष से इस में सम्भावित आपत्तियों की उत्थापना कर उन्हीं के विचार

के द्वारा आत्मा में अनात्मा का अध्यास सिद्ध करते हैं। भाष्यारम्भ में ही अध्यास की सिद्धि न होने पर सभी द्वैतवादियों के पक्ष से आपत्तियों की उद्भावना की है एवं उनको अवश्य स्वीकार्य के रूप में प्रमाणित कर आत्मा में अनात्मा का अध्यास सिद्ध होता है कि नहीं यही पुनः द्वैतवादियों के पक्ष से आपत्तियों को देकर उत्तर में उसकी सिद्धि करते हैं। पूर्वपक्षियों ने कहा है कि आत्मा में अनात्मा का अध्यास असिद्ध है अर्थात् प्रत्यगात्मा अनात्माध्यासाभाववान। कारण वह अप्रत्यक्ष और अविषय है अर्थात् युष्मत्प्रत्यय का अविषय सम्मुखस्थित एवं अविषय है। व्यतिरेक दृष्टान्त जैसे शुक्ति रस्सी आदि। इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है ऐसी बात नहीं है. कारण आपत्ति देने वालों ने जिस प्रकार शुक्ति आदि दृष्टान्त की सहायता से अपुरोऽवस्थित वस्तु में एवं रविषय में अध्यास को असिद्ध कहकर व्याप्ति का प्रदर्शन किया है और आचार्य ने उस व्याप्ति का व्यभिचार आकाश में प्रदर्शन किया। पूर्वपक्षियों की व्याप्ति दुष्ट होने से उनका सिद्धान्त भ्रान्त सिद्ध होता है।

१ अनुमान में इस प्रकार के व्याप्ति के दोषप्रदर्शन को सव्यभिचार नामक हेत्वाभास दोष माना है। "साध्याभाववदवृत्तित्वम्" यह व्याप्ति का लक्षण है और "साध्याभाववद्वृत्तित्वम्" यह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास का लक्षण है। अर्थात् साध्याभावाधिकरण निरूपित आधेयता का अभाव हेतु में रहने पर व्याप्ति होती है एवं इस आधेयता का अभाव हेतु में नहीं रहने पर सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है।

इस प्रकार पूर्वपक्षियों की युक्ति में भ्रम का प्रदर्शन कर आचार्य ने पूर्वपक्षियों की आपत्तियों का खण्डन किया है। किन्तु, इतना सिद्ध होने पर भी आत्मा में वह अध्यास किस प्रकार होता है—यह तो सिद्ध नहीं होता है, इसलिए, भामतीकार ने आत्मा का विषयत्व और प्रत्यक्षत्व की सिद्धि की है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कर आत्मा में अनात्मा का अध्यास सर्वानुभूव विषय है—इसी का प्रदर्शन किया है। कारण, आत्मा का देहादिरूप में व्यवहार आबालवृद्धवनिता ने किया है। आचार्य ने

रत्नप्रभाकारने अध्यास को दृढ़ करने के लिए "कथं पुनः" इत्यादि वाक्यों से आक्षेप करते हुए कहा है—शुक्तिका आदि में अध्यास भले ही हो, किन्तु आत्मा में अध्यास सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष अध्यास का अधिष्ठान इन्द्रिय संयुक्त और विषय रहता है यह व्याप्ति शुक्ति आदि में देखी गई है। इस व्याप्तिज्ञान में प्रत्यक्षाध्यासाधिष्ठानत्व व्याप्य है और इन्द्रियसंयुक्तत्व एवं विषयत्व व्यापक है। आत्मा में इन्द्रिय-संयुक्तत्व और विषयत्व रूप व्यापक नहीं है, अतः वह अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। अर्थात् इन्द्रिय से ग्रहण के अयोग्य प्रत्यगात्मा में अहङ्कार आदि विषय और उनके धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है ? यदि आत्मा को अधिष्ठान मानने के लिए विषय मानते हैं यह सिद्धान्ती कहना चाहते हैं तो पूर्वपक्ष का कथन है कि आत्मा इदं ज्ञान का विषय नहीं है। चक्षु इन्द्रिय से गृहीत नहीं होने से युष्मत्प्रत्यय का अविषय है। ऐसी स्थिति में अध्यास के न होने के भय से आत्मा को विषय माना जाय तो श्रुतिवाक्य तथा वेदान्तसिद्धान्त का बाध प्राप्त होता है। इस प्रकार अध्यास का आक्षेप कर "उच्यते" इत्यादि वाक्य के द्वारा आत्मा में अध्यास की सम्भावना की प्रतिज्ञा करते हैं। अधिष्ठान और आरोप्य का एक ज्ञान में भासित होना ही अध्यास का व्यापक है। भान से संशय निवृत्ति आदि फल होता है। भानभेद-घटित भासमानता विषयता है, यह भी किसी का मत है, किन्तु, यह अध्यास का प्रयोजक नहीं है। क्योंकि, इसमें गौरव है—इसी उद्देश्य से—'न तावत्' यह कहा है। यह आत्मा विषय नहीं होता है—ऐसा नियम नहीं है। मैं प्रतीति में आत्मा भासित होने से आत्मा विषय होता है। अथवा मैं के अर्थ चिदात्मा के प्रतिबिम्ब रूप से इसकी प्रतीति होती है। अहंकार में आत्मा भासमान होने से आत्मा अविषय नहीं है। अहंकार में आत्मा का अध्यास होने से आत्मा भासित होता है और आत्मा के भासमान होने पर अध्यास होता है, अतः, अन्योऽन्याश्रय दोष है। अध्यास अनादि है, इसलिए, यह दोष नहीं है। पूर्व-पूर्व में अध्यास में भासमान आत्मा उत्तरोत्तर अध्यास का अधिष्ठान होता है। इसलिए,

अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। 'अहम्' इत्याकारक अहंकार का भान ही आत्मा है, वह भान का विषय नहीं है और भान के विषय के बिना संशय निवृत्ति रूप फल का भागी कैसे होगा? इस दोष को हटाने के लिए 'अपरोक्षत्वात्' कहा गया है। 'च' शब्द शंका की निवृत्ति के लिए है। आत्मा अपरोक्ष स्वप्रकाश है। आत्मा में स्वप्रकाशत्व सिद्ध करने के लिए हेतु प्रदर्शन करते हुए "प्रत्यग्" इत्यादि कहा गया गया है। बालक से लेकर पण्डित तक किसी को आत्मा में सन्देह नहीं होता है, क्योंकि सबको यह प्रसिद्ध है। इसलिए, स्वप्रकाश है। आत्मा स्वप्रकाशत्व रूप से भासमान होता है, अतः वह अध्यास का अधिष्ठान है। यह जो कहा गया था कि जहाँ प्रत्यक्ष अध्यास का अधिष्ठान है वहाँ इन्द्रिय के संयोग से जन्य ज्ञान का विषयत्व है--इस व्याप्ति के त्याग में हेतु का प्रदर्शन करते हुए कहा है—'न चायम्' इत्यादि। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती इन्द्रिय संयुक्त-विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास होता है। कारण इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी पुरुष पृथ्वी-तल की छाया का अध्यास करते हैं। आकाश का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता है। इन्द्र नीलमणि कड़ाही के समान मलिन है, पीला है, ऐसा प्रत्यक्ष अध्यास करते हैं। आकाश का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जा सकता है, अतः व्यभिचार होता है। फलतः, व्याप्ति दूषित होती है। इसलिए आत्मा और अनात्मा में नहीं होता है—इसका खण्डन हो जाता है। आकाश और नील गुण में सादृश्य नहीं होने पर भी अध्यास होता है। सिद्धान्त में प्रकाशाकार चाक्षुषवृत्ति से अभिव्यक्त साक्षी का विषय आकाश है, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य न होने पर भी साक्षिग्राह्य नहीं है। 'एवम्' इस वाक्य से अध्यास का उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार पूर्वपक्षियों की युक्ति में भ्रम का प्रदर्शन कर आचार्य ने पूर्वपक्षियों की आपत्तियों का खण्डन किया है। किन्तु, इतना सिद्ध होने पर भी आत्मा में वह अध्यास किस प्रकार होता है- यह तो सिद्ध नहीं होता है। इसलिए, भामतीकार ने आत्मा का विषयत्व और प्रत्यक्षत्व की सिद्धि

की है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन कर आत्मा में अनात्मा का अध्यास सर्वानुभूत विषय है—इसी का प्रदर्शन किया है। कारण, आत्मा का देहादि-रूप में व्यवहार आबालवृद्धवनिता ने किया है। आचार्य ने भाष्य के आरम्भ में "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमः प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः" इस वाक्य में अस्मत्प्रत्ययगोचर को विषयी एवं युष्मत्प्रत्ययगोचर को विषय कह कर इनमें परस्पर विरोध को अन्धकार और प्रकाश के विरोध के साथ तुलना की है, किन्तु, आत्मा को पुनः अस्मत्प्रत्यय का विषय कहा है—"न तावदयमेकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्" इत्यादि। इसके देखने से यह अवगत होता है कि आचार्य के कथन में पूर्वापर सामञ्जस्य नहीं है। कारण, पूर्व में आत्मा को अविषय अर्थात् विषयी एवं इसके बाद उसी आत्मा को अस्मत्प्रत्यय का विषय कह कर निर्देश किया है। इसके विश्लेषण से पूर्व विषय शब्द का क्या अर्थ है? विषय का अर्थ दो प्रकार का होता है। प्रथम – जड को विषय के रूप में निर्देश करने पर इसका एक अर्थ होता है और आत्मा को विषय के रूप में निर्देश करने पर दूसरा अर्थ होता है। प्रथम यह अर्थ है कि घटज्ञान का विषय होता है यह कहने पर अन्तःकरणवृत्ति से अभिव्यक्त चिदात्मा के साथ घट का सम्बन्ध होता है – यही अवगत होता है। इस सम्बन्ध का नाम ही विषयत्व है और इस सम्बन्ध से विशिष्ट विषय होता है। आत्मभिन्न पदार्थ के विषय होने पर इस प्रकार के सम्बन्ध से युक्त ही वह होगा। किन्तु, ऐसी स्थिति में घटादि के समान आत्मा में विषयत्व नहीं रह सकता है, कारण, घटादि विषयत्व शब्द का अर्थ "स्वाकार-वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यसम्बन्धित" अर्थात् घटाकार अन्तःकरण की वृत्ति अर्थात् परिणाम उसमें अभिव्यक्त (उस वृत्ति से प्रयुक्त "घटो नास्ति" "न भाति" इत्याकारक जो अज्ञान उस अज्ञान के आवरण का ध्वंसविशिष्ट) जो चिदात्मा उस चिदात्मा के साथ जो सम्बन्ध वही। इस प्रकार सम्बन्धयुक्त जो वस्तु, वह आत्मा नहीं हो सकती है, कारण, इस प्रकार का वस्तु में रहता है, उसका आत्मा से भिन्न होना आवश्यक है। इसलिए आत्मा

विषय होता है, इससे यही अवगत होता है "स्वाकारवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य-तादात्म्य" रूप विषयत्वअर्थात् आत्माकार अन्तःकरणवृत्ति अर्थात् परिणाम से जन्य "आत्मानास्ति" या "न भाति" इत्याकारक अज्ञानावरण का ध्वंस आत्मा में है इस प्रकार आत्मा को आत्मस्वरूप ज्ञान का विषय कहा गया है। यही विषय शब्द का द्वितीय अर्थ होता है। यही उपनिषद् से लेकर अबतक वेदान्तग्रन्थों में स्वीकृत हुआ है। उपनिषद् में आत्मा को विषय एवं अविषय इस प्रकार कहा है। प्रथम 'तन्मनसैव द्रष्टव्यम्" इसके द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय कहा गया है, यही प्रमाण के रूप में कहा गया है अनन्तर यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदः सः' इत्यादि श्रुति में आत्मज्ञान का विषय नहीं होता है यह कहा गया है। कारण, जो आत्मा को अमत अर्थात् ज्ञान का अविषय कह कर विवेचित करता है वह आत्मा को जान सकता है एवं जो आत्मा को ज्ञान का विषय कह कर विवेचित करता है, वह अत्मा को नहीं जानता है इत्यादि। इससे यह सुव्यक्त है कि एक ही वेदान्त ने में आत्मा को ज्ञान का विषय और अविषय दोनों ही कहा है। आशय यह है कि जडपदार्थ जिस रूप में ज्ञान का विषय होता है उस रूप में आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता है। किन्तु, वह ज्ञान से अभिन्न हो ज्ञानतादात्म्य रूप में ज्ञान का विषय होता है। इसलिए इसको विषय भी कहा गया है। इसी को पञ्चदशी में सूक्ष्मतर रूप से कहा है—

---

१ न्यायमत में 'ज्ञानगोचर' विषय होता है। अर्थात् ज्ञेय अभिधेय, प्रमेय, वाच्य सभी ही विषय है। विषयी का अर्थ ज्ञान होता है। ज्ञान भी अनुव्यवसाय ज्ञान का विषय होने से विषयपदवाच्य होता है। आत्मा भी इस मत में विषय एवं विषयी है, कारण, आत्मा ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञान से भिन्न है। ज्ञान के विषयत्व में एवं ज्ञान भिन्न पदार्थ के विषयत्व में भेद यही है कि ज्ञान विषय एवं विषयी दोनों है, किन्तु, ज्ञान भिन्न पदार्थ विषय ही होता है, अतः घट ज्ञानरूप विषयी के साथ घटरूप विषय का भेद स्पष्ट है। वेदान्तमत में आत्मा ज्ञानरूप होने से विषय नहीं है, वरन् विषयी पद का वाच्य है। वह कथित रूप में है।

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥७८६
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥ ७६१

ब्रह्म में फलव्याप्यत्व रूप विषयत्व का ही शास्त्रकार ने निराकरण किया है। किन्तु, ब्रह्म विषयक अज्ञान के नाश के लिए वृत्तिव्याप्यत्व रूप में विषयत्व स्वीकार किया है। आशय यह है कि जडगत विषयत्व का ही ब्रह्म में निषेध किया है—इसी का नाम फलव्याप्यत्व है। अर्थात् जड ज्ञानगोचर होने पर जो ज्ञान का फल होता है वही पूर्वोक्त अन्तःकरण में अभिव्यक्त चित् के साथ सम्बन्धित्व है एवं आत्मा जब विषय होता है तब उस में ज्ञान फल रूप विषयत्व नहीं होता है, वरन् उस वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य का तादात्म्य रूप वृतिव्याप्यत्व रहता है। अपने में अपना सम्बन्धित्व नहीं रहता है वरन् तादात्म्य रहता है, अतः आत्मा का विषयत्व भिन्न रूप है, अज्ञान नाश दोनों स्थल में समान है। इस प्रकार विषय शब्द का दो अर्थ सिद्ध होने पर भाष्यकार ने जहाँ विषय शब्द का प्रयोग किया है वहाँ विषय शब्द का अर्थ जडगत विषयत्व-विशिष्ट है एवं जहाँ आत्मा को अस्मत्प्रत्यय का विषय कहा है वहां चैतन्यगत विषयत्व को लक्ष्य कर कहा है। इसलिए, पूर्वा पर विरोध न होकर भाष्यका गाम्भीर्य ही व्यक्त होता है। इस आत्मा में अनात्मा का अध्यास सिद्ध होने पर ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान की भित्ति स्थिर हो जाती है। उस अध्यास का विशेष परिचय देकर अपने मत को आगे सुदृढ़ किया है।

शांकरभाष्यम्

तम् एतम् एवं लक्षणम् अध्यासं पण्डिता अविद्या इति मन्यन्ते; तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्याम् आहुः। तत्र एवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा। अणुमात्रेण अपि स न सम्बध्यते। तम् एतम् अविद्याख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।

पुष्पलता

इस प्रकार पूर्वप्रदर्शितलक्षण से आक्रान्त अध्यास को विद्वान् लोग अविद्या नाम से कहते हैं और इससे विपरीत वस्तु के स्वरूप-अवधारण को विद्या कहते हैं। इस प्रकार जिस में [प्रत्यगात्मा प्रतीपं सुखदुःखादिकं अञ्चति विजानाति इति प्रत्यक् स चासौ आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करने वाले में] जिसका अध्यास (आरोप) होता है उस (आरोप्यमाण के) गुण और दोष से लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है। आत्मा और अनात्मा के एक दूसरे में होने वाले अविद्या नाम से प्रसिद्ध अध्यास का अवलम्बन कर लौकिक और वैदिक सभी प्रमाण और प्रमेय के व्यवहार और विधि, निषेध और मोक्षपरक सभी शास्त्र चलते हैं, अर्थात् अध्यास या अविद्या के आधार पर प्रवृत्त होते हैं।

कुसुमलता

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रत्यगात्मा में उक्त अध्यास मानने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी स्थिति में जिसका आरोप होगा उसके दोष और गुण से वह आत्मा सम्बद्ध रहेगा, अन्यथा अध्यास की विफलता ही रहेगी। संसार में भी ऐसा देखा गया है रस्सी में सर्प का अध्यास होने पर भय की उत्पत्ति आदि कार्य होता है। यदि आत्मा में आरोप के दोष और गुण का सम्बन्ध अध्यास के कारण माना जाय तो आत्मा के निष्क्रिय, निर्गुण आदि का श्रुति के द्वारा प्रतिपादन विरुद्ध होने लगेगा। इस श्रुति-विरोध को हटाने के लिए आत्मा में अध्यास के द्वारा आरोपित वस्तु दोष और गुण के असम्बन्ध को दिखाने के लिए अध्यास को अविद्या रूप कहा है। समीचीन और असमीचीन को विवेचन करने वाली बुद्धि को पण्डा कहा जाता है, वह बुद्धि जिनको है वे पण्डित कहे जाते हैं "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्" इस पाणिनि सूत्र के द्वारा तारकितम् के समान पण्डित शब्द सिद्ध होता है। [सदसद्विवेचिका बुद्धिः पण्डा

सा एषां सञ्जातेति "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्" इति सूत्रेण तारकितम् इतिवत् ते पण्डिताः व्यासादयः] अतः व्यास आदि विद्वानों ने अध्यास लक्षण से लक्षित अविद्या रूप अध्यास को सभी अनर्थों का मूल माना है। भगवान् पतञ्जलि ने भी अध्यास को अविद्या कहा है। अनित्य अपवित्र दुःख स्वरूप अनात्मा में नित्य पवित्र और सुखस्वरूप ज्ञान अविद्या है। आशय यह है कि आत्मा में अनात्मा के अध्यास का विशेष परिचय इस प्रकृत भाष्य से भाष्यकार ने दिया है। इसी उद्देश्य से आचार्य ने कहा है कि अध्यास को पण्डितगण अविद्या कहते हैं, फलतः इससे सर्वथा विरुद्ध को विद्या कहा जाता है। इसलिए विद्या शब्द का अर्थ वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवधारण होता है अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान। जैसे अविद्या वस्तुविषयक अज्ञान है वैसे ही उस अज्ञान का जिससे नाश होता है—वह विद्या है। कथित अध्यास के स्वरूप से स्पष्ट अवगत होता है कि जिसमें जिसका अध्यास होता है, उसमें उसका दोष या गुण नहीं आता है। शुक्तिकाको रजत समझने पर रजत का अपना दोष या गुण कभी किसी समय भी शुक्तिका में नहीं आता है। रस्सी को सर्प समझने पर वह सर्प कभी भी किसी को नहीं काटता है, उसी प्रकार आत्मा देह आदि को अनात्मा समझने पर या संसारी समझने पर देह आदि का धर्म दुःख, नाश, उदय, रोग, शोक आदि आत्मा में उपस्थित नहीं होता है या संसार की परिणामशीलता, उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि धर्म आत्मा को कलुषित करने में समर्थ नहीं होते हैं, वरन् आत्मा अजर, अमर, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही रहता है। संसार का प्रमाण प्रमेय व्यवहार एवं जगत् का सत्य मिथ्याज्ञान या वेद, स्मृति, मीमांसा, वेदान्त आदि विधिनिषेध या मोक्ष के उपदेश करनेवाला शास्त्र भी मिथ्या है, अर्थात् अध्यास का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, आत्मा में अनात्मा के भ्रम के पक्ष में सभी शास्त्रों का प्रयोजन है, अन्यथा, ब्रह्मज्ञव्यक्ति का कोई भी प्रयोजन नहीं है।

यदि आत्मा में अहम् आदि का अध्यास पारमार्थिक होता तो वह भी वस्तु के स्वरूप का अवधारण ही रहता, ऐसी स्थिति में वस्तु का स्वरूप अवधारण रूप विद्या को नहीं कहते। श्रुति में भी कहा है कि दो विद्यायें जाननी चाहिए "द्वे विद्ये वेदितव्ये" जो ब्रह्मवित् कहते हैं "यद् ब्रह्मविदो वदन्ति' यह उपक्रमकर पर और अपर के रूप में विद्या का दो विभाग किया तथा जिससे उस अक्षर को (ब्रह्म को) जानते हैं, "अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते" यह कहकर पाण्डित्यपूर्ण बुद्धि से अनात्मा से अतिरिक्त वस्तु स्वरूप का अवधारण करता है—" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णंम चक्षुः-- श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययंभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"।

इसलिए, अध्यास का वस्तुतत्व में अन्तर्भाव नहीं होता है। यह आशंका स्वाभाविक है कि चिद्रूप प्रत्यगात्मा अज्ञान का आश्रय एवं विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि, ज्ञान और अज्ञान का विरोध है। प्रत्यगात्मा ज्ञान स्वरुप है। मिथ्याज्ञाननिमित्तक अध्यास जिस प्रकार वहां विरुद्ध नहीं है, वैसे ही मिथ्या ज्ञान भी विरुद्ध नहीं है। यदि स्वरूप चैतन्य अज्ञान से विरुद्ध है, तब अज्ञानकार्य प्रपच से वह कैसे विरुद्ध नहीं है? जिस ब्रह्म में सभी प्रपंच कल्पित है, उसमें अज्ञान का आश्रयत्व और विषयत्व की कल्पना भी दुष्ट नहीं है। इसी की सूचना भाष्यकारने 'तमेतमेव" से "अविद्येति मन्यन्ते" से दी है। अध्यास अविद्या का कार्य है; अतः इसका भी अविद्या शब्द से व्यवहार होता है 'फलत' प्रपंचाध्यास के समान अज्ञान का आश्रयत्व आदि दुष्ट नहीं है।

यह जिज्ञास्य है कि यदि चैतन्य अध्यास का अविरोधी है तो चैतन्य के द्वारा अध्यास की एवं अध्यास के मूलभूत मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है, कारण, अन्य निवर्तक तो नहीं है—इस श्रीभाष्य की शंका का अवसर ही नहीं है, कारण, उससे विपरीत वस्तु के स्वरूप का अवधारण विद्या है। यह रजत है—यह अध्यास अविवेकग्रहमूलक है, उसके विवेचन से अर्थात् अगृहीत शुक्तित्व अंश के विवेचन से (तद्विवेकेन यह अभेद में तृतीया है) शुक्तित्व का ज्ञानरूप जो वस्तु के स्वरूप का अवधारण

है अर्थात् यह शुक्ति है—यह ज्ञान—यही विद्या है। आशय यह है कि इदम् इस उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य किसी रूप से आवृत था और रूपान्तर से गृहीत होने पर अध्यास का निवर्तक नहीं होता है, वरन् प्रमाण से जन्य विशेष अंश का अवगाही वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य ही उस अध्यास का निवर्तक है, इसलिए केवल चैतन्य या विशेष का अवगाहन न करने वाला वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य अध्यास का या अज्ञान का विरोधी नहीं है। किन्तु, प्रमाण से जन्य विशेष अंश का अवगाहन करनेवाला वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ही अध्यास या अज्ञान का विरोधी है, अतः न निवर्तक की अनुपपत्ति है और न शुद्ध चैतन्य में आश्रयत्व और विषयत्वकी ही अनुपपत्ति है। विवरण मत में अज्ञान का आश्रय और विषय ब्रह्म है किन्तु भामती-मत में अज्ञान का आश्रय जीवात्मा तथा विषय ब्रह्म है। वृत्ति या वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य अज्ञान का विरोधी है, शुद्ध चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं है स्वयं प्रकाशमान गगनतल में रहनेवाली सूर्य की किरणें जलानेवाली नहीं है, किन्तु, वही सूर्यकान्तमणि प्रतिफलित होकर जलानेवाली हो जाती है, इसी प्रकार वृत्तिकलित चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी होता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण अध्यासमूलक अहं व्यवहार आदि मान भी लिया जाय फिर भी अविद्या के कार्य रूप में सत्यतः सम्पूर्ण प्रपञ्च विलसित ही है, अतः अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि कैसे सम्भव है? विवेक ज्ञान के द्वारा अध्यास का बाध होने पर अर्थात् तत्त्वज्ञान से अविद्या का बाध होने पर अविद्या का कार्य अध्यास आरोपित प्रपञ्च मिथ्या होता है, इसलिए अद्वैत ब्रह्म में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। अद्वितीय ब्रह्म है इस श्रुति के द्वारा पारमार्थिक दृष्टि से द्वितीय पदार्थ से रहित ब्रह्म है यही विवक्षित है. अध्यास के समान ही गुण और दोष भी मिथ्या है, अतः, कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार आकाश में कल्पित नीलिमा आकाश के स्वरुप को परमार्थ दृष्टि से अन्यथा नहीं करती है वैसे ही अध्यास के कारण आरोपित वस्तु के दोष और गुण का लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है। इसके द्वारा अविद्या का लक्षण एवं उसकी सम्भावना वर्णित हो जाती है. अध्यासमूलक प्रमाता. प्रमाण

और प्रमेय का व्यवहार होने से अविद्या प्रत्यक्षसिद्ध है यह भी वर्णित होता है, अध्यास को लेकर प्रवृत्त वर्णित होने से प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय व्यवहार की अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण भी अविद्या में प्रदर्शित होता है। यद्यपि अध्यास में ही प्रमाण का प्रदर्शन किया गया हैं, अध्यास की मूलभूत अविद्या में प्रमाण का प्रदर्शन इस भाष्य से अवगत नहीं होता हैं तथापि यह अविद्या में प्रमाणों का भी उपलक्षण है, सभी प्रमाण प्रमाता का आश्रयण कर प्रवृत्त होते हैं, अतः, अध्यस्त प्रमाता की सिद्धि के विना ये उपपन्न नहीं हो सकते हैं, इसलिए प्रमाता के अध्यास को आक्षिप्त करता है। विधिप्रतिषेधपरक वाक्य कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डान्तर्गत वाक्य हैं और मोक्षपरकवाक्य विधि और प्रतिषेध रहित प्रत्यग् ब्रह्म की एकता के निरूपण वाले वाक्य हैं।

भामती

ननु सन्ति सहस्रम् अध्यासाः, तत् किमर्थम् अयम् एव अध्यासः आक्षेपसमाधानाभ्यां व्युत्पादितः न अध्यासमात्रम् इति अत आह- तम् , एतम् एवंलक्षणम् अध्यासं पण्डिता अविद्या इति मन्यन्ते। 'अविद्या हि सर्वानर्थबीजम् इति श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणादिषु प्रसिद्धम्। तदुच्छेदाय वेदान्ताः प्रवृत्ता इति वक्ष्यति। प्रत्यगात्मनि अनात्माध्यासः एव सर्वानर्थ हेतुः न पुनः रजतादिविभ्रमा इति स एव अविद्या, तत्स्वरूपं च अविज्ञातं न शक्यम् उच्छेत्तुम् इति तदेव व्युत्पाद्यं न अध्यासमात्रम्। अत्र च "एवं लक्षणम् " इति एवं रूपस्य तया अनर्थहेतुता उक्ता। यस्मात् प्रत्यगात्मनि अशनायादिरहिते अशनायाद्युपेतान्तः करणाद्यहितादोपेण प्रत्यगात्मानम् अदुःखं दुःखीकरोति, तस्मात् अनर्थहेतुः। न च एवं पृथग् जनाः अपि मन्यन्ते अध्यासम् , येन न व्युत्पाद्यते --इति अतः उक्तम् 'पण्डिताः मन्यन्ते।', ननु इयम् अनादिः अतिनिरूढनिबिडवासनाऽनुबद्धा अविद्या न शक्यानिरोद्धुम्' उपायाभावात् इति यः मन्यते तं प्रति तन्निरोधोपायम् आह --'तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणम् "--निर्विचिकित्सं ज्ञानम् ,विद्याम् आहुः" पण्डिताः। प्रत्यगात्मनि खलु अत्यन्तविविक्ते बुद्ध्यादिभ्यः बुद्ध्यादिभेदाग्रहनिमित्तः बुद्ध्याद्यात्मत्व तद्धर्माध्यासः। तत्र श्रवणमनना-

दिभिः यद् विवेकविज्ञानं तेन विवेकाग्रहे निवर्तिते. अध्यासापवादात्मकं वस्तुतत्त्वावधारणं विद्याविद्यात्मरूपं स्वरूपे व्यवतिष्ठते इत्यर्थः।

स्यात् एतत् — अतिनिरूढनिबिडवासनानुविद्धा अविद्या विद्यया अपबाधिता अपि स्ववासनावशात् पुनः उद्भविष्यति। प्रवर्तयिष्यति वासनादि कार्यं स्वोचितम् इति अतः आह 'तत्र एवं सति' एवं भूतवस्तुतत्त्वावधारणे सति 'यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन अणुमात्रेण स न सम्बध्यते" अन्तःकरणादिदोषेण अशनायादिना चिदात्मा ' चिदात्मनः गुणेन चैतन्यानन्दादिना अन्तः करणादि न सम्बध्यते। एतद् उक्तं भवति तत्त्वावधारणाभ्यासस्य हि स्वभाव एव स तादृशः, यद् अनादिम् अपि निरूढनिबिडवासनाम् अपि मिथ्याप्रत्ययम् अपनयति। तत्त्वपक्षपातः हि स्वभावः धियाम्। यथाहुः बाह्या अपि —

"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपातः॥" इति।

विशेषस्तु मिथ्यात्मस्वभावस्य तत्त्वज्ञानस्य अत्यन्तारङ्गस्य कुतः अनिर्वाच्यया अविद्यया बाध इति। यदुक्तम् — 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य विवेकाग्रहात् अध्यस्य अहम् इदम्", "मम इदम्", इति लोकव्यवहारः इति. तत्र व्यपदेशलक्षणः व्यवहारः कण्ठोक्तः। इतिशब्दसूचितं लोकव्यवहारम् आदर्शयति—"तम् एतम् अविद्याख्यम्" इति। निगदव्याख्यातम्।

पुष्पलता

हजारों अध्यास हैं, तब इसी (आत्मा में अनात्मा के) अध्यास को आपेक्ष और समाधान के द्वारा क्यों अवगत कराया गया है? अध्यासमात्र को क्यों नहीं अवगत कराया गया है? इसी के उत्तर में भाष्य में कहा है—'तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिताः अविद्या इति मन्यन्ते"। क्योंकि आत्मा में अनात्मा का अध्यास स्वरूप) अविद्या सभी अनर्थों का मूल है—यह श्रुति, स्मृति, और पुराणादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है, उसका नाश करने के लिए समग्र वेदान्त प्रवृत्त हुआ है यह आगे कहेंगे। प्रत्यग् आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही

सभी अनर्थों का साधन है, (शुक्तिमें) रजत आदि का भ्रम सभी अनर्थों का साधन नहीं है, इसलिए आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही अविद्या है और आत्मा में अनात्मा का अध्यास रूप अविद्या का स्वरूप अवि- ज्ञात रहने पर उसका उच्छेद नहीं किया जा सकता है. अतः आत्मा में अनात्मा का अध्यास स्वरूप ही अवगत कराना चाहिए, सभी अध्यासों को समझाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर 'एवं लक्षणं' इन पदों में 'एवं' पद के द्वारा (अविद्या रूप कथित अध्यास की) अनर्थ साधनता कही गई है। [प्रत्यगात्मा में अनात्मा अन्तःकरण अहङ्कारादिरूप तादात्म्या ध्यास "एवं लक्षण" शब्द का अर्थ है, ऐसी स्थिति में 'एवं लक्षण' शब्द के द्वारा कैसे अनर्थ साधनता कही गई है—इसी का उत्तर भामती में है] कारण, भूख, प्यास आदि से रहित प्रत्यग् आत्मा में क्षुधा, तृष्णा आदि से युक्त अन्तः करण आदि रूप अहित वस्तु का आरोप कर यह अविद्या उस दुःख-रहित आत्मा को दुःखमय कर देती है. इसी कारण से यह अविद्या सभी अनर्थों का साधन कही गई है। यदि यह कहा जाय कि अपण्डित व्यक्ति भी अध्यास को इस प्रकार समझते हैं। अतः, उनको समझाने की आवश्यकता ही क्या है—इसी भाव से कहा है "पण्डिता मन्यन्ते" अर्थात् पण्डित ही इस रूप में समझते हैं, साधारण व्यक्ति इस रूप में नहीं समझते हैं। इस अनादि अतिशय दृढ़भाव से बद्धमूल गहन वासना जाल से ग्रथित अविद्या का निरोध किसी प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि, इसके निरोध का कोई उपाय नहीं है—यह शङ्का होने पर इस अविद्या के निरोध का क्या उपाय है- यह समझाने के लिए कहते हैं— 'तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणम्" अध्यस्त देह इन्द्रिय आदि से पृथक् रूप से वस्तु स्वरूप विषयक असन्दिग्ध ज्ञान को पण्डितों ने विद्या कहा है। बुद्धि आदि से अत्यन्त भिन्न प्रत्यगात्मा में बुद्धि आदि के भेद के ज्ञान का अभाव होने से बुद्धि आदि का तादात्म्य और उसके धर्मों का अध्यास हो जाता है। उस आत्मा के श्रवण, मनन आदि के द्वारा आत्मा का बुद्धि आदि से भेद का ज्ञान होने से उक्त भेद का अग्रहण निवृत्त होने पर अध्यास बाधक स्वरूप वस्तुस्वरूप का अवधारण विद्या है, (ऐसा होने पर)

चिदात्मा अपने स्वरूप में व्यवस्थित होता है—यही इसका तात्पर्य है। [प्रकृत में वस्तु स्वरूपं च तदवधारणं च यह कर्मधारय स्वीकार किया है, अतः अविद्या निवर्तक अखण्डाकार वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य ही विद्या है। अभिव्यक्त चैतन्य स्वरूपतः अजड होने पर भी अभिव्यक्त विशिष्ट रूप से जड होने से ज्ञानरूप विद्यात्व न होने से उसके द्वारा अविद्या की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? अभिव्यक्त चैतन्य भी विशेषण अंश को छोड़कर चैतन्यस्वरूप में पर्यवसान करता है, अतः वह वृत्ति की सहकारिता से अज्ञान का निवर्तक होता है।] ऐसा मान लिया जाय [तब भी] अत्यन्त निरूढ गहन वासना के साथ ग्रथित अविद्या का विद्या के द्वारा उच्छेद होने पर भी वह अविद्या अपनी वासना के कारण पुन उत्पन्न हो जायगी एवं अपने स्वभाव के अनुरूप वासना आदि कार्य प्रवृत्त करेगी, —इस शङ्का के उत्तर में कहा है "तत्र एवं सति" अर्थात् इस प्रकार वस्तुतत्त्व का अवधारण होने पर "यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेण अपि स न सम्बध्यते अर्थात् भूख आदि रूप अन्तःकरण दोष या गुण से लेशमात्र भी चिदात्मा का सम्बन्ध नहीं होता है एवं चिदात्मा के गुण चैतन्य, आनन्द आदि के साथ अन्तःकरण आदि सम्बद्ध नहीं होता है, इसके द्वारा यही कहा गया है कि तत्त्वज्ञान के अभ्यास का स्वभाव ही ऐसा है कि अनादि एवं अतिनिरुढ़-निविड वासना युक्त मिथ्याज्ञान को भी वह नष्ट कर देता है। तत्त्व के प्रति पक्षपात ही बुद्धि का स्वभाव है। साधारण व्यक्तियों ने भी कहा है - "उपद्रवशून्य सिद्धवस्तु (सत्यस्वरूपवस्तु का स्वभाव का स्वभाव विपरीत ज्ञान से बाधित नहीं होता है, इस विषय में प्रयास न करने पर भी बुद्धि का तत्त्वविषयक पक्षपात के कारण ही ऐसा हो जाता है।" इस विषय में विशेष यह है कि तत्त्वज्ञान चिदात्मा का अतिशय अन्तरङ्ग स्वभाव है, इसलिए अनिर्वाच्य अविद्या के द्वारा इस स्वभाव का बाध कैसे हो सकता है ? पूर्व भाष्य में जो कहा गया है "सत्यानृते मिथुनीकृत्य विवेकाग्रहात् अध्यस्य अहम् इदम् ममेदम् इति लोकव्यवहारः" सत्य और मिथ्या वस्तु को मिलाकर भेद के अज्ञान के कारण अध्यास कर 'मैं यह, या मेरा यह— इस प्रकार लोक व्यवहार होता है इति इस स्थल में व्यपदेश रूप व्यवहार

सुख से ही कहा है। यहां इति शब्द के द्वारा सूचित लौकिक व्यवहार को दिखाने के लिए कहा गया है "तमेतमविद्याख्यम्" इति। वह इस अविद्या नामक अध्यास को, इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है. कारण. सुनने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

कुसुमलता

आत्मा मेंअनात्मा का अध्यास सम्भव है—यह पूर्व में ही सिद्ध हो गया है। इस स्थल में पण्डित अध्यास को जिस रूप में समझते हैं उसको व्यक्त करने के लिए इस भाष्य को आरम्भ किया है। पण्डितों ने इस अध्यास को अविद्या कहा है. कारण. आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही सभी अनर्थों के साधन के रूप में शास्त्र में कहा गया है और इसी का उच्छेदकरने के लिए वेदान्त शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। शुक्ति में रजतभ्रम या रस्सी में सर्पभ्रम आदि अध्यास होने पर भी वे सभी अनर्थों के साधन नहीं हैं, इसलिए. आचार्य ने साधारण रूप से अध्यास न कहकर आत्मा में अनात्मा के अध्यास की ही विशेष रूप से आलोचना की है। भाष्यकार ने 'एवं लक्षणम्' पदों में एवं ही शब्द के द्वारा आत्मा मेंअनात्मा काअध्यास सभी अनर्थों का साधन है यही कहा है। आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही सभी अनर्थों का साधन है, क्या इसमें शास्त्र वचन से अतिरिक्त भी प्रमाण है? आत्मा का धर्म आनन्द विभुत्व आदि एवं बुद्धि आदि अन्तःकरण का धर्म क्षुधा प्यास, शोक, दुःख आदि पूर्वोक्त धर्म से आक्रान्त आत्मा में पूर्वोक्त धर्मों से आक्रान्त बुद्धि आदि अन्तःकरण का अध्यास होने पर बुद्धि आदि अन्तःकरण के धर्म आत्मा में उपस्थित होते हैं एवं आत्मा के आनन्द आदि धर्म बुद्धि आदि में उपस्थित होते हैं और इसके फलस्वरूप अज्ञ जीव सुखी, दुःखी आदि समझता है, इस अध्यास के अधीन होकर जीव जो करता है, जितना भी दुःख के नाश करने की चेष्टा करता है, अज्ञता के कारण उसमें उसकी बद्ध अवस्था ही विशेष दृढ़ होती है और वह अनन्त वासना जाल में फंस जाता है एवं आत्मस्वरूप निष्क्रिय आनन्दमय अवस्था का लाभ करता है, अतः, आत्मा में अनात्मा का अध्यास सभी अनर्थों का सन्देह है—इसमें क्या

सन्देह है ? आत्मा में अनात्मा का अध्यास अर्थात् अविद्या का वास्तविक स्वरूप पण्डित ही समझते हैं, साधारण लोगों को इसका स्वरूप अवगत नहीं है। अतः, इसके निरोध का उपाय पण्डित ही जानते हैं। साधारण व्यक्ति इसकी निवृत्ति के कौशल को नहीं जानते हैं, इसलिए आचार्य ने इस अविद्या के परिचय के व्याज से इसकी निवृत्ति के मार्ग का भी उपदेश कर दिया है। आचार्य ने इससे भिन्न वस्तु के स्वरूप अवधारण को विद्या कहा है—इस प्रकार के कथन का अभिप्राय यह है कि अविद्या की निवृति के लिए विद्या ही शरण है, अर्थात् पारमार्थिक सद्वस्तु के ज्ञान-लाभ से ही अविद्या का नाश होता है, परमार्थ तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त कोई साधन नहीं है। यदि यह प्रश्न हो कि विद्या के उदय से किस प्रकार आत्मा में अनात्मा का अध्यास रूप अविद्या की निवृत्ति हो जाएगी ? इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है किप्रत्यगात्मा अन्तःकरण एवं बुद्धि आदि से सर्वथा भिन्न है एवं प्रत्यगात्मा और बुद्धि आदि अन्तःकरण के धर्म सर्वथा भिन्न है यह शास्त्र से उक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा निश्चयपूर्वक अवगत करने पर अध्यास नहीं रह सकता है। कारण, अध्यास के कारण आत्मा और बुद्धि अन्तःकरण परस्पर अभिन्न, अपृथक् रूप में प्रतीत होता है, जो वस्तु वस्तुतः भिन्न हैं, उनका अभिन्न रूप में ज्ञात होने पर उनका पुनः भिन्न रूप में निश्चयात्मक ज्ञान होने पर वह अभिन्न ज्ञान नष्ट हो जायगा—इसमें किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं हो सकता है। इसमें यह शङ्का हो सकती है कि अनेक व्यक्ति शास्त्र के अभ्यास से आत्मा को बुद्धि आदि से जानते हैं, किन्तु फिरभी उनका अज्ञजनोचित व्यवहार क्यों नहीं नष्ट होता है? आत्मा अनात्मभ्रम प्रत्यक्ष भ्रम है और शास्त्र आदि से आत्मा और अनात्मा का भेद ज्ञान अप्रत्यक्ष ज्ञान है, अतः, अप्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा भ्रम की निवृति नहीं हो सकती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जब आत्मा और अनात्मा का भेद प्रत्यक्ष होने पर अज्ञ जन के समान व्यवहार नष्ट हो जाता है। भ्रम जिस प्रकार दृढ़ बद्ध है उसके बाधक ज्ञान को भी उसी प्रकार सुदृढ होना आवश्यक है। जिसका विषय निरन्तर श्रवण और

मनन किया जाता है, वह किसी समय प्रत्यक्ष हो जाता है—यह सभी ने माना है; अतः उक्त आपत्ति ठीक नहीं है। भ्रम बाधित होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होगा यह कौन कह सकता है? अनादिकाल से प्रवर्तित भ्रमसंस्कार अतिशय बद्धमूल होगा, फलतः भ्रम का संस्कार नितान्त गहन है। अतः, जिस प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा यह प्रत्यक्ष भ्रम बाधित होता है, वह कभी भी भ्रम और भ्रमजन्य संस्कार के समान सुदृढ और सबल नहीं हो सकता है। भामती में इसके समाधान के प्रसङ्ग में कहा है कि बुद्धिका धर्म ही तत्त्व के प्रति पक्षपात है, जिस प्रकार अविद्या अनादिकाल से निरन्तर अविद्या की सृष्टि करती है उसी प्रकार विद्या का भी स्वभाव है कि वह अविद्या और अविद्या के साधन संस्कार का विनाश करती है। श्रवण, मनन, आदि के द्वारा विद्या उत्पन्न होने पर वह अविद्या और उसके संस्कार दोनो का विनाश करती है, श्रवण आदि के द्वारा विद्या जैसे दृढ होती जायेगी संस्कार का भी वैसे ही लय होता जायगा, अर्थात् यही मानना पड़ेगा कि अविद्या का विनाश होने पर उसकी पुनः उत्पत्ति की आशङ्का व्यर्थ है। विनष्ट अविद्या की पुनः उत्पत्ति तब स्वीकार की जा सकती थी यदि आत्मा में अनात्मा के अध्यास से अनात्मधर्म आत्मा में संक्रान्त हो सकता, किन्तु भ्रम-स्थल में ऐसा नहीं होता है अर्थात् आरोप विषय में आरोप्य का दोष और गुण अणुमात्र भी स्पर्श नहीं करता है, अतः यह आशङ्का नहीं हो सकती है। "यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न सम्बध्यते" इस भाष्य का आशय भामतीकार ने उक्त रूप में ही व्यक्त किया है। जन्म, मृत्यु आदि अनात्मधर्म आत्मा का वस्तुतः स्पर्श नहीं करता है, ऐसी स्थिति में आत्मा में अनात्मा के अध्यास का संस्कार के साथ विनाश हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? बुद्धि का स्वभाव तत्त्वपक्षपात है – यह कैसे जानते हैं? प्रति विश्वास रखनेवाले युक्ति की नित्यता के लिए यह मानते हैं, यह उनकी दुर्बलता है, इसके उत्तर में यही कहना उचित होगा कि यह स्वाभाविक कथन है, वेद आदि शास्त्रों के ज्ञान से रहित व्यक्ति भी इस विषय को स्वीकार करते हैं। यदि श्रवण, मनन आदिसे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तो बौद्धोंके शून्यकेध्यान से

शून्य तत्त्व का भी साक्षात्कार होना चाहिए ? कारण, भावना का प्रकर्ष दोनों मतों में तत्त्व के साक्षात्कार का साधन है। शून्यतत्त्व के साक्षात्कार और ब्रह्म के साक्षात्कार में वास्तविक दृष्टि से कोई भेद भी नहीं है, कारण जिस प्रकार दुःख की निवृत्ति के लिए अद्वैतवेदान्ती द्वैतरहित एक अद्वैत सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार को कारण मानता है, वैसे ही बौद्धों ने भी द्वैतान्यरहित एक शून्यतत्त्व के साक्षात्कार को दुःखनिवृत्ति का कारण माना है। दोनों स्थलों में द्वैतज्ञान की निवृत्ति ही दुःखनाश का साधन है। अतः वेदान्ती के साथ शून्यवादी बौद्धों का क्या भेद है ? भावना प्रकर्ष दोनों मतों में ही ध्येय-वस्तु का विशद आभासरूप साक्षात्कार का साधन है, किन्तु बौद्ध के मत में प्रयत्न का आधिक्य है वेदान्त मत में ऐसा नहीं है। कारण, बुद्धि का दो स्वभाव है। एक—भावना के प्रकर्ष से ध्येय-साक्षात्कार एवं द्वितीय—तत्त्वपक्षपात। बुद्धि ध्यान के द्वारा यथार्थ या अयथार्थ सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करती है, किन्तु, ध्येय वस्तु यदि यथार्थ है तो उसको शीघ्र लाभ करने में समर्थ होता है, इस मार्ग में उसकी प्रवणता दृष्ट होती है। अयथार्थ ध्येय वस्तु के ध्यान में पुरुष का जितना प्रयत्न आवश्यक है उतना यथार्थ वस्तु के ध्यान में आवश्यक नहीं है। इसलिए बुद्धि यथार्थ वस्तु के ध्यान में ही पक्षपात करती है अयथार्थ वस्तु के ध्यान में पक्षपात नहीं करती है। ध्यान के द्वारा यथार्थ विषय के साक्षात्कार को वस्तुतन्त्र कहा जा सकता है अयथार्थ वस्तु के ध्यान से साक्षात्कार को मात्र भावना का फल या पुरुषतन्त्रा कहा जा सकता है। बौद्धमत में शून्य अयथार्थ पदार्थ है, इसलिए उसके साक्षात्कार में प्रयत्न का आधिक्य है, वेदान्तियों का स्वयंप्रकाश अद्वैतब्रह्म वास्तविक तत्त्व है, अतः, उसके साक्षात्कार के लिए बुद्धि को अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता है ' इसलिए वेदान्त सहजमार्ग है और बौद्धमत सहजमार्ग नहीं है, इस विषय की ओर दृष्टि रखकर ही भामती कार ने बुद्धि के तत्त्व के प्रति पक्षपात का वर्णन किया है। आचार्य ने अविद्या का विशेष परिचय देने के प्रसङ्ग में अविद्या के नाश के उपाय का भी वर्णन किया है। किसी वस्तु का विशेष परिचय देने के समय उसकी और स्वरूप के साथ-साथ स्थिति और लय का भी वर्णन करना पड़ता है—

यही प्रकृत में किया गया है। अविद्या के स्वरूप के परिचय के प्रसङ्ग में आचार्य की पंक्तियों का व्याख्यान कर भामतीकार ने अति स्पष्ट कह कर विवेचना नहीं की है। आत्मा में अनात्मा के, अध्यास एवं अविद्या का अवलम्बन कर इसी के कारण जीव और जगत् का सभी प्रमाण,-प्रमेय -व्यवहार प्रवर्तित होता है, लौकिक वैदिक, विधिशास्त्र और निषेधशास्त्र या तत्त्वज्ञानप्रद मोक्षशास्त्र सभी इसी अविद्या को अवलम्बन कर आत्मा में अनात्मा को अध्यास को आश्रय कर प्रवृत्त होता है। जिसका यह अध्यास निमित्त हो गया है उसके लिए प्रमाण भी नहीं, प्रमेय भी नहीं शास्त्र भी नहीं, विधि और निषेध भी नहीं, मुक्ति भी नहीं साधन भी नहीं है। श्रुति में भी कहा है—

न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च शासनम्।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद्॥

निरोध नहीं, उत्पत्ति नहीं, बन्ध नहीं, मुक्ति की इच्छा या मुक्ति भी नहीं—यही परमार्थता है। अविद्या का यह स्वरूप अवगत कर विद्या की सहायता से इस अक्षर पद का लाभ करते हैं—यही आचार्य का मत है।

इस प्रसङ्ग में रत्नप्रभाकार ने कहा है कि आचार्य शङ्कर ने अध्यास का व्याख्यान करते हुए अध्यास को अविद्या के नाम से अभिहित किया है। अविद्या का कार्य अध्यास है, अतः अध्यास को अविद्या कहा गया है। फलतः, अविद्या अध्यास का कारण होने से कार्य रूप अध्यास को कारण स्वरूप अविद्या के नाम से कहा जाता है साथ ही अध्यास को अविद्या नाम से कहने का दूसरा कारण यह है कि अध्यास विद्या के द्वारा निवर्तित है, अतः अध्यास को अविद्या कहा जाता है। इसलिए अविद्याका अर्थ विद्या का अभाव नहीं है। वरन् विद्या से नाश होनेवाला ज्ञान विशेष होता है। अविद्या दो प्रकार की है-एक कारणस्वरूप और दूसरी कार्यस्वरूप। कारणस्वरूप अविद्या सुषुप्ति काल में लक्षित होती है एवं कार्यस्वरूप अविद्या जाग्रत् और स्वप्नकाल में दृष्ट होती है। कारण स्वरूप अविद्या में उसका मात्र आवरण धर्म विद्यमान रहता है और कार्य

रूप अविद्या में ही आवरण और विक्षेप दोनों धर्म रहते हैं, इसलिए अविद्या से जन्म दुःख आदि कार्यरूप अविद्या में विक्षेप शक्ति का फल समझना चाहिए। तृतीय बात यह है कि प्रमाण-प्रमेय आदि व्यवहार कार्यस्वरूप अविद्या का ही फल है, विक्षेप शक्ति के फल के अनुसार ही संसार में यह प्रमाण है, यह प्रमेय है, यह सत्य है, यह मिथ्या है इत्यादि व्यवहार चलता है। कारणस्वरूप अविद्या के फल के अनुसार प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार सिद्ध नहीं होता है। सुखलाभ और दुःख की निवृत्ति आदि विषय में प्रवृत्ति अविद्या की विक्षेप शक्ति का कार्य है और इस सुखलाभ और दुःख की निवृत्ति के लिए ही सत्य और असत्य का निर्णयस्वरूप प्रमाण-प्रमेय व्यवहार होता है। शास्त्र को विधि, निषेध और मोक्ष तीन रूप में विभक्त किया गया है। इनमें विधि और निषेध शास्त्र से कर्मकाण्डात्मक वेदादि को कहा गया है और मोक्षशास्त्रोक्त वेदान्त कहा गया है। आचार्य ने शास्त्रों को क्यों अविद्या का फल कहा गया है- उसी का प्रदर्शन किया गया है।

शाङ्करभाष्यम्

कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च इति। उच्यते—देहेन्द्रियादिषु अहं ममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति। न च अधिष्ठानम् अन्तरेण इन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति। न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति असङ्गस्य आत्मनः प्रमातृत्वम् उपपद्यते। न च प्रमातृत्वम् अन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिः अस्ति। तस्मात् अविद्यावद्विषयाणि एव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

पुष्पलता

किस कारण से पुनः प्रत्यक्षादि प्रमाणसमूह एवं शास्त्रसमूह अविद्यापरिकल्पित होते हैं? कहता हूँ—देह इन्द्रिय आदि में मैं और मेरा अभिमान

से रहित व्यक्ति को प्रमातृत्व अर्थात् यथार्थ विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति का आश्रय प्रमाता, उसके स्वभाव की अनुपपत्ति होने से प्रमाण की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होती है, क्योंकि, इन्द्रियों का अवलम्बन किये बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं है और अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार भी सम्भव नहीं होता है और देह में आत्मभाव के अध्यास के बिना उस देह के द्वारा कोई कार्य नहीं कर सकता है। इन सब व्यापारों के न होने पर असंग आत्मा का प्रमातृत्व उपपन्न नहीं हो सकता है और प्रमातृत्व के बिना प्रमाणप्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए, अविद्यापरिकल्पित वस्तु ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र के विषय होते हैं।

कुसुमलता

यह मान लिया कि प्रमाण प्रमाता को आश्रयण कर प्रवृत्त होता है, किन्तु, इससे प्रमाण अविद्याविषयक कैसेहो सकता है? प्रमाणानि शास्त्राणि अविद्यावद्विषयाणि कथम् अविद्यावान् पुरुष का आश्रयण कैसे करते हैं— यह योजना है। या प्रमाता को आश्रयण कर प्रवृत्त होता हुआ प्रमाण को यदि पूर्वोक्त रूप से अविद्याविषयक मानते हैं तो प्रमाण मिथ्याज्ञान निमित्तक होने से उनमें प्रमाणत्व ही नहीं रहेगा, अतः प्रमाणत्व के निर्वाह के लिए प्रमाण अविद्या का विरोधी मानना ही उचित है। इसी आशङ्का से भाष्यकार ने कहा है—"कथं पुनः" इति अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि—यह योजना है। प्रथम योजना में प्रमाणों को उद्देश्य कर अविद्यावद्विषयत्व के अभाव का आपादन किया जाता है और द्वितीय योजना में अविद्यावद्विषयप्रत्यक्षादि को उद्दिश्यकर प्रमाणत्वाभाव का आपादन है। आशय यह है कि पूर्व वाक्य के ऊपर प्रतिवादियों की यह शङ्का है कि प्रत्यक्ष आदि जितने लौकिक और शास्त्रीय प्रमाण है, सभी अविद्या-मूलक है—इसमें क्या प्रमाण है? जो यथार्थ ज्ञान का उत्पादन करता है—वही प्रमाण है, ये प्रमाण यदि अविद्या के विषय को ही विषय करता है एवं वे अविद्या के विषय भी भ्रम, कल्पित है, तब यथार्थ ज्ञान का जनक प्रमाण भी भ्रम का ही उत्पादक होगा, अर्थात् प्रमाण के द्वारा प्रमा या यथार्थ ज्ञान न होकर अयथार्थ ज्ञान ही

उत्पन्न होगा यह कैसे सम्भव है? प्रथम प्रमाण की प्रवृत्ति, अहम् के अध्यास के कारण है, अविद्या के अन्वय-व्यतिरेक के अनुविधायी होने से, जैसे मिट्टी के अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधायी घट मृत्तिका-मूलक है. जहां सुषुप्ति में अहम् का अभिमान नहीं है, वहां प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती है—इस व्यतिरेक व्याप्ति को दिखाते हुए सिद्धान्त पर आक्षेप आगे की पंक्तियों से करते हैं। (प्रमाण प्रवृत्तिः, अहमध्यासमूला, अविद्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यथा मृदन्वयव्यतिरेकानुविधायी घटो मृत्मूलकः यत्र तु नाहमभिमानः सुषुप्तौ, न तत्र प्रमाणप्रवृत्तिरिति व्यतिरेकव्याप्तिः।)

देह और इन्द्रिय आत्मा नहीं है—यह सभी आस्तिक दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, अतः, देह एवं इन्द्रियादि में मैं और मेरा अभिमान हुए बिना वह प्रमाता नहीं हो सकता है, अर्थात् प्रमाण की सहायता से उत्पन्न होनेवाले प्रमाज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, और प्रमाता न होने पर चक्षुः आदि इन्द्रिय रूप प्रमाणों की प्रवृत्ति अर्थात् प्रमाज्ञान को उत्पादन करने का सामर्थ्य नहीं रहेगा, इन्द्रियादि प्रमाणों की सहायता के बिना किसी प्रकार भी प्रत्यक्षादि व्यवहार नहीं हो सकता है। जब तक आत्मभाव या आत्मीयत्व का आरोप इन्द्रियों पर नहीं होता है, तब तक किसी प्रकार इन्द्रियों का व्यापार नहीं हो सकता है। निद्रा अर्थात् सुषुप्ति काल में इन्द्रियों पर आत्मभाव या आत्मीयत्व आरोपित नहीं होता है, अत एव, उस समय सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती है, जागरण या स्वप्न की अवस्था में आत्मभाव या आत्मीयत्व इन्द्रियों पर आरोपित होता है, इसलिए, स्वप्नावस्था एवं जागरण काल में इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में व्यापृत रहती है—यह सभी लोगों का अनुभव से सिद्ध विषय है. फलतः यही सिद्ध होता है कि देह और इन्द्रिय आदि पर आत्मा का अध्यास या भ्रान्ति न होने पर हमलोगों को इन्द्रिय आदि की सहायता से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है, अतः, सभी को मानना पड़ेगा कि सभी प्रकार के प्रमाण और प्रमेय व्यवहार का मूल या उपजीव्य अविद्या ही है, देह के ऊपर आत्मभाव अध्यस्त न होने पर कोई भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिए अध्यास के बिना आत्मा किसी प्रकार प्रमाता नहीं हो

सकता है, प्रमाता न होने पर प्रमाण अर्थात् इन्द्रिय आदि कैसे प्रवृत्त होंगी ? अतः, आत्मा में प्रमातृत्व के आरोप के बिना प्रमाणों का व्यापार भी असम्भव है। इसीलिए, कहा गया है प्रत्यक्ष आदि लौकिक एवं शास्त्रीय सभी प्रमाण भ्रान्ति या अविद्या को अवलम्बन करके ही अपने-अपने विषयों के ज्ञान के उत्पादन में व्याप्त होते हैं।

भामती

आक्षिपति—"कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि।" तत्त्वपरिच्छेदः हि प्रमा विद्या, तत्साधनानि प्रमाणानि कथम् अविद्यावद्विषयाणि। न अविद्यावन्तं प्रमाणानि आश्रयन्ति, तत्कार्यस्य विद्याया अविद्याविरोधित्वात् इति भावः। सन्तु वा प्रत्यक्षादीनि संवृत्या अपि यथा तथा, शास्त्राणि तु पुरुषहितानुशासनपराणि अविद्याप्रतिपक्षतया न अविद्यावद्विषयाणि भवितुम् अर्हन्ति इत्याह—"शास्त्राणि च" इति। समाधत्ते—"उच्यते देहेन्द्रियादिषु अहं ममाभिमानहीनस्य" तादात्म्यतद्धर्माध्यासहीनस्य "प्रमातृत्वानुपपत्तौ सत्यां प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः"। अयम् अर्थः प्रमातृत्वं हि प्रमां प्रति कर्तृत्वम्, तत् च स्वातन्त्र्यम्। स्वातन्त्र्यं च प्रमातुः इतरकारकाप्रयोज्यस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वम्। तत् अनेन प्रमाकरणं प्रमाणं प्रयोजनीयम्। न च स्वव्यापारम् अन्तरेण करणं प्रयोक्तुम् अर्हति। न च कूटस्थनित्यः चिदात्मा अपरिणामी स्वतः व्यापारवान्। तस्मात् व्यापारवद्बुद्ध्यादितादात्म्याध्यासात् व्यापारवत्तया प्रमाणम् अधिष्ठातुम् अर्हति इति भवति अविद्यावत्पुरुषविषयत्वम् अविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वं प्रमाणानाम् इति।

अथ मा प्रवर्त्तिषत प्रमाणानि, किं नः छिन्नम् इति अतः आह—"न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति।" व्यवह्रियते अनेन इति व्यवहारः फलम् प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानां फलम् इत्यर्थः। "इन्द्रियाणि" इति, इन्द्रियलिङ्गादीनि इति द्रष्टव्यम्, दण्डिनः गच्छन्ति इतिवत् एवं हि "प्रत्यक्षादि" इति उपपद्यते। व्यवहारक्रियया च व्यवहार्याक्षेपात् समानकर्तृकता। अनुपादाय यः व्यवहार

इति योजना। किम् इति पुनः प्रमाता उपादत्ते प्रमाणानि ? अथ स्वयम् एव कस्मात् न प्रवर्तन्ते इति अतः आह—"न च अधिष्ठानम् अन्तरेण इन्द्रियाणां व्यापारः"-- प्रमाणानां व्यापारः 'सम्भवति ।" न जातु करणानि अनधिष्ठितानि कर्त्रा स्वकार्ये व्याप्रियन्ते, माभूत् कुविन्दरहितेभ्यः वेमादिभ्यः पटोत्पत्तिः इति। अथ देह एव अधिष्ठाता कस्मात् न भवति, कृतम् अत्र आत्माध्यासेन इत्यत आह "न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते ।" सुषुप्ते अपि व्यापारप्रसङ्गात् इति भावः।

स्यात् एतत्। यथा अनध्यस्तात्मभावं वेमादिकं कुविन्दः व्यापारयन् पटस्य कर्त्ता, एवम् अनध्यस्तात्मभावं देहेन्द्रियादि व्यापारयन भविष्यति तदभिज्ञः प्रमाता इति अतः आह—"न च एतस्मिन्" इतरेतराध्यासे इतरेतरधर्माध्यासे च "असति आत्मनः असङ्गस्य" सर्वथा सर्वदा सर्वधर्मधर्मि वियुक्तस्य "प्रमातृत्वम् उपपद्यते"। व्यापारवन्तः हि कुविन्दादयः वेमादीन् अधिष्ठाय व्यापारयन्ति, अनध्यस्तात्मभावस्य तु देहादिषु आत्मनः न व्यापारयोगः असङ्गत्वात् इत्यर्थः। अतः च अध्यासाश्रयाणि प्रमाणानि इति आह—"न च प्रमातृत्वम् अन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिः अस्ति।" प्रमायां खलु फले स्वतन्त्रः प्रमाता भवति। अन्तःकरणपरिणामभेदः च प्रमेयप्रवणः कर्तृस्थः चित्स्वभावः प्रमा। कथं च जडस्य अन्तःकरणस्य परिणामः चिद्रूपः भवेत्, यदि चिदात्मा तत्र न अध्यस्येत। कथं च एष चिदात्मकर्तृकः भवेत्, यदि अन्तः करणं व्यापारवच्चिदात्मनि न अध्यस्येत्। तस्मात् इतरेतराध्यासात् चिदात्मकर्तृस्थं प्रमाफलं सिद्धयति तत्सिद्धौ च प्रमातृत्वम् ताम् एव च प्रमाम् उररीकृत्य प्रमाणस्य प्रवृत्तिः। प्रमातृत्वेन च प्रमा उपलक्ष्यते। प्रमायाः फलस्य अभावे प्रमाणं न प्रवर्तेत। तथा च प्रमाणम् अप्रमाणं स्यात् इत्यर्थः। उपसंहरति—"तस्मात् अविद्यावद्विषयाणि एव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि"।

पुष्पलता

"कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि" इत्यादि वाक्य में पूर्व पक्षी आपत्ति करते हैं। (क्योंकि) तत्त्व परिच्छेद ही प्रमा अर्थात विद्या है, उस प्रमा के साधन ही प्रमाण है, उन प्रमाणों के

विषय अविद्यापरिकल्पित कैसे हो सकते हैं ? अविद्यावाले अर्थात् अविद्या विशिष्ट व्यक्ति को कभी भी प्रमाण आश्रय नहीं करता है । (यह कथं शब्द से सूचित अर्थ को व्यक्त कर रहा है) कारण प्रमाण में कार्य विद्या के साथ अविद्या का विरोध है—यही आशय है। (अग्रिम पंक्तियों से शास्त्रों के अविद्यावद्विषयत्व के आक्षेप का विश्लेषण करते हैं। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण अविद्या के द्वारा जिस रूप में भी क्यों न हो किन्तु, शास्त्र प्राणियों के हित का अनुशासन करता है, अतः अविद्या के प्रतिकूल होने से अविद्या विषय नहीं हो सकते हैं यही "शास्त्राणि च" इससे कहा गया है । समाधान कर रहे हैं—"उच्यते' —"देहेन्द्रियादिषु अहं ममाभिमानहीनस्य" (देह, इन्द्रिय आदि का) तादात्म्य और उसके धर्म का अध्यास न होने पर 'प्रमातृत्वानुपपत्तौ सत्यां प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः" अर्थात् प्रमातृत्व अनुपपत्ती होने से प्रमाण प्रवृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती है। (इन वाक्यों के द्वारा उन्हीं आपत्तियों का उत्तर दिया गया है।) अध्यासपूर्वक प्रमाण की प्रवृत्ति होने से प्रमाणों का अविद्याकल्पित होना आवश्यक है। यह आशय है—प्रमातृत्व [शब्द का अर्थ] प्रमा के प्रति कर्तृत्व [है] और वह कर्तृत्व स्वातन्त्र्य हैं। और स्वातन्त्र्य प्रमाता के प्रमा का अन्य [जो] कारकसमुदाय है, उसके द्वारा वह प्रेरित नहीं होता है।

यह सभी कारकों का प्रयोगकर्ता होता है। इस प्रकार का जो होता है उसी का धर्म प्रमातृत्व होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रमाता प्रमाका असाधारण कारण या व्यापारविशिष्ट कारण प्रमाण. उसको प्रयोजित करता है। प्रयोजक के अपने व्यापार के बिना वह करण को प्रयुक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता है। कूटस्थ नित्य अपरिणामी चिदात्मा स्वतः व्यापारवान नहीं हो सकता है। अतः, व्यापारयुक्त बुद्धि आदि तदात्म्याध्यास के द्वारा व्यापारवान होकर प्रमाण को अधिष्ठान करने में (प्रयुक्त करने में समर्थ होती है। इसलिए, अविद्यावान पुरुष को ही प्रमाणसमूह आश्रय करता है – यही अविद्यावद्विषयत्व शब्द का अर्थ है।

यदि प्रमाणसमूह प्रवृत्त नहीं हो तो क्या क्षति है ? (आशय यह है कि प्रमाणप्रवृत्ति की आवश्यकता होने पर पूर्व विश्लेषण के अनुसार अविद्या विषय होगा या प्रमाण - प्रवृत्ति ही न हो इससे अनिष्ट क्या है ? प्रमाण-प्रवृत्ति के बिना प्रत्यक्षादि व्यवहार असम्भव होगा। अतः, प्रमाण-प्रवृत्ति आवश्यक है) इसलिए कहा है-"न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादि-व्यवहारः सम्भवति इन्द्रियों के (प्रमाणों के) ग्रहण के बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार नहीं हो सकता है। (आशय यह है कि—प्रमातृत्व प्रमा के प्रति स्वातन्त्र्य है, यह प्रमाण व्यापारवान् के बिना उपपन्न नहीं होता है, अतः, प्रमाता के देह, इन्द्रिय आदि का अध्यास आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि प्रमाता, प्रमाण, देह में अहं के अभिमान से प्रवृत्त होगा, इन्द्रिय के अध्यास से तथा अन्तःकरण एवं उसके धर्म के अध्यास की क्या आवश्यकता है, इसी के उत्तर में भाष्य में पंक्ति कही गयी है—प्रमाण प्रमा का करण है, प्रमाकरण प्रमा के लिए प्रमाता के साधन है, अतः, प्रमाता प्रामाण्य के तादात्म्य की कल्पना के बिना प्रमाणभूत इन्द्रिय आदि का प्रमाणत्व ही नहीं होगा, अतः, इन्द्रिय आदि का अध्यास उपपन्न होता है।) जिसके द्वारा व्यवहार होता है वही व्यवहार है। (प्रत्यक्ष शब्द से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का फल प्रत्यक्षादि व्यवहार कहा जाता है) व्यवहार शब्द का अर्थ फल है। "इन्द्रियाणि" इस शब्द के द्वारा इन्द्रिय एवं अनुमान आदि प्रमाण गृहीत होते हैं। जैसे—दण्डधारी सब जाते हैं। (दण्डी सब जाते हैं यह कहने पर दण्डधारी - पुरुष एवं उनके साथ जाते हुए दण्डरहित - पुरुषों की भी प्रतीति होती है, इसी प्रकार "इन्द्रियाणि" इस कथन से लक्षणावृत्ति इन्द्रिय और अनुमान आदि प्रतीत होते हैं) इस प्रकार व्याख्या करने पर "प्रत्यक्षादि" यह भाष्यकार का प्रयोग उपपन्न होता है और, व्यवहारक्रिया के द्वारा व्यवहारकर्ता का आक्षेप होने से ("अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः" इस स्थल में) समानकर्तृत्व उपपन्न होता है। (व्यवहारी का प्रयोग न होने पर भी व्यवहरणक्रिया से व्यवहारीकर्ता का आक्षेप होने से अनुपादान और व्यवहार में समान कर्तृकत्व उपपन्न होता है) उपादान न कर जो

व्यवहार (वह नहीं हो सकता है) इस प्रकार योजना है। क्या कारण है कि प्रमाता प्रमाण का ग्रहण करते हैं? ये प्रमाण स्वयं ही प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं? इसी के उत्तर में कहा है—"न च अधिष्ठानम् अन्तरेण इन्द्रियाणां व्यापारः सम्भवति"। अष्ठिान के बिना इन्द्रियों का अर्थात् प्रमाणों का व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। (आशय यह है कि प्रत्यक्ष आदि व्यवहारों के अनुरोध से इन्द्रिय आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति की आवश्यकता होने पर स्वयं ही इन्द्रिय आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति होनी चाहिए, इसके लिए प्रमाता की अपेक्षा क्यों होती है? जिससे प्रमातृत्व के लिए अध्यास आवश्यक होने से प्रमाण अविद्यावत् विषयक होते हैं? यही शंका भामती में की गई है। इन्द्रिय आदि प्रमाणों की प्रवृत्ति व्यापार है, और वह अधिष्ठान के बिना स्वतः नहीं हो सकती है) करण किसी कर्ता के द्वारा अधिष्ठित हुए बिना अपने कार्य में व्यापारवान् नहीं हो सकता है। जुलाहा (तन्तुवाय) के विना मात्र वेमा आदि से पट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।) ऐसी स्थिति में देह ही प्रमाणों का अधिष्ठाता क्यों नहीं होता है? उस देह में आत्मा के अध्यास का क्या प्रयोजन है? इसी के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—'न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चित् व्याप्रियते" जिस शरीर में आत्मभाव का अध्यास नहीं रहता है उसके द्वारा कोई भी व्यक्ति व्यापारवान् नहीं हो सकता है, कारण, ऐसा मानने पर सुषुप्ति अवस्था में भी प्रमाणसमूह के व्यापार की प्रसक्ति होगी। अच्छा, ऐसा ही हो, जैसे तन्तुवाय वेमा आदि के ऊपर आत्मभाव का अध्यास किये विना ही वेमा आदि को व्यापारवान् कर वस्त्र आदि का कर्ता होता है, वैसे ही आत्मभाव के अध्यास के विना भी पुरुष देह, इन्द्रिय आदि को व्यापारवान् कर ज्ञानवान् और प्रमाता होगा। इसके उत्तर में कहा है 'न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति आत्मनः असङ्गस्य प्रमातृत्वम् उपपद्यते" इस इतरेतराध्यास एवं इतरेतरधर्माध्यास नहीं रहने पर सभी समय सभी प्रकार के सभी धर्म-धर्मिभाव से विनिर्मुक्त आत्मा का प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि, तन्तुवाय आदि जब व्यापारवान् होता है, तभी वेद आदि को

अधिष्ठान कर व्यापृत करता है। देहादि में आत्मा के तादात्म्य के बिना आत्मा किसी प्रकार व्यापारवान् नहीं हो सकता है। कारण, आत्मा स्वयं असङ्ग है। इसलिए सभी प्रमाण अध्यासमूलक हैं। इसी लिए कहा है— " न च प्रमातृत्वम् अन्तरेण प्रमाण-प्रवृत्तिः अस्ति "। आत्मा के प्रमातृत्व के विना प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रमारूप फल का स्वतन्त्र कर्ता प्रमाता होता है। अन्तःकरण का विषयाकार परिणामविशेष प्रमा शब्द का अर्थ होता है। यह प्रमा कर्तृगत चित्स्वभाव विशेष है। यदि चिदात्मा अन्तःकरणमें अध्यस्त न हो तो जडस्वरूप अन्तःकरण का चिद्रूप परिणाम कैसे होगा ? यदि व्यापारयुक्त अन्तःकरण चिदात्मा में अध्यस्त न हो तो यह चिदात्मकर्तृक कैसे होगा ? इसलिए, इतरेतराध्यास प्रयुक्त ही चिदात्मा का प्रमातृत्व सिद्ध होता है और इस प्रमाण का अवलम्बन कर प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। इस स्थल में प्रमातृत्व इस शब्द से प्रमा भी उपलक्षित होती है। (प्रमारूप फल के न रहने पर प्रमाण भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है।) ऐसी स्थिति में प्रमाण अप्रमाण ही रहेगा। इस प्रसङ्ग का उपसंहार करने के लिए कहा है—"तस्मात् अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षाणि प्रमाणानि "। इसलिए प्रत्यक्षादिप्रमाण अविद्यावद्विषयक होते हैं।

कुसुमलता

पूर्वप्रसङ्ग में भाष्यकार ने जिस प्रसङ्ग का प्रतिपादन किया है, इस स्थल में उसी विषय पर आपत्ति का उद्भावन कर समाधान किया है।

प्रमाण प्रमाता का आश्रयण कर प्रवृत्त होता है यह मानने पर भी अविद्या का साधक प्रमाण कैसे हो सकता है— इसी विषय का प्रतिपादन इस भाष्य के द्वारा किया गया है। आक्षेप करने का आशय यह है कि लौकिक प्रमाण प्रमाता आदि का व्यवहार एवं शास्त्र अज्ञानी को आश्रयण कर प्रवृत्त होता है, अतः, इनकी अन्यथा अनुपपत्ति ही आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास में प्रमाण है, किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है, कारण, प्रत्यक्ष आदि में प्रमाणत्व ही नहीं रहेगा, अध्यासमूलक होने

पर यथार्थज्ञान नहीं रहेगा। यदि प्रमाता आध्यासिक होगा तो उसका उपकरणभूत प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी आध्यासिक ही होगा, जैसे सपने में देखा गया छत्र चामर आदि रस्सी में भ्रमरूप सर्प का काटना और विष का काटना आदि। प्रत्यक्ष आदि के आध्यासिक होने पर मिथ्याज्ञान रूप होने से उसमें प्रामाण्य उपपन्न नहीं होगा। प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य मानने पर संसार का व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि लोक व्यवहार प्रमाणपूर्वक होता है। अन्यथा प्रामाणिक और अप्रामाणिक व्यवहार के भेद की उपपत्ति नहीं होगी। इसलिए लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए इच्छा न होने पर भी प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य मानना होगा, प्रत्यक्ष आदि का प्रमाण मानने पर उसके आश्रय प्रमाता को आध्यासिक नहीं माना जा सकता है, आध्यासिकमें प्रमाण का आश्रयत्व उपपन्न नहीं हो सकता है, वरन् पारमार्थिक में ही प्रमाण का आश्रयत्व होता है। अतः प्रमाता आदि का व्यवहार अध्यासमूलक न होने पर प्रमाण की अन्यथा अनुपपत्ति आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास में प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाता आदि अनध्यस्तमूलक ही हैं। साथ ही विवेकियों के यहाँ भी प्रमाता आदि का व्यवहार होता है, उनलोगों का व्यवहार अध्यासमूलक नहीं हो सकता है, क्योंकि उनका व्यवहार भी अध्यासमूलक मानने पर उनमें विवेकित्व ही नहीं रहेगा, अर्थात् व्यवहार अध्यासमूलक होने पर वे विवेकी नहीं रहेंगे। दोनों का व्यवहार समान रहने पर एक विवेकी और दूसरा अविवेकी नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि लौकिक व्यवहार किसी प्रकार उपपन्न हो सकता है, कारण देह को आत्म भाव मानने से उनका व्यवहार किसी तरह सम्भव हो सकता है किन्तु शास्त्रीय व्यवहार को अध्यासमूलक होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, देह से अतिरिक्त को भोक्ता माने बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। देह से अतिरिक्त नित्य भोक्ता को स्वीकार किये बिना कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अतिशय कष्टसाध्य अन्य शरीर और अन्य समय में भोग्य फल देनेवाले वैदिक कर्म में प्रवत नहीं हो सकता है। अतः पूर्वोक्त व्यवहार की अन्यथा अनुपपत्ति आत्मा और अनात्मा के परस्पर

अध्यास में प्रमाण नहीं है। अथवा प्रमाता को आश्रयण कर प्रवृत्त होने वाला प्रमाण यदि परम्परा क्रम में पूर्वोक्त विश्लेषण के अनुसार अविद्यावद्विषयक है—यह मानने पर मिथ्याज्ञान निमित्तक होने से उसमें प्रमाणत्व ही नहीं रहेगा. अतः, प्रमाणों के प्रमाणत्व का निर्वाह करने के लिए अविद्याविरोधी ही इसको मानना चाहिए अविद्या का साधक नहीं माना जा सकता है—इसी लिए कहा है—"कथं पुनः" इत्यादि। अविद्यावद्विषयक प्रत्यक्षादि कैसे प्रमाण हो सकते हैं यह योजना है। प्रथम योजना में प्रमाणों को उद्दिश्य कर अविद्यावद्विषयत्वाभाव की आपत्ति है और द्वितीय योजना में अविद्यावद्विषयक प्रत्यक्षादि को उद्दिश्य कर प्रमाणत्वाभाव की आपत्ति है।

आशय यह है कि जगत् के जो भी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार अर्थात् यही यथार्थज्ञान का जनक है, और 'यही अर्थात् वस्तु है' यह ज्ञान का विषय है' इत्यादि जितने लौकिक और शास्त्रीय-व्यवहार हैं, सभी व्यवहार अविद्यामूलक हैं। अर्थात् भ्रान्त व्यक्ति ही यह व्यवहार करता है, एवं जिसको प्रमाता माना जाता है वह भी भ्रान्त पुरुष से अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः, यदि इसको सत्य माना जाय तो जगत् के सभी प्रमाणों का प्रामाण्य समाप्त हो जायगा। आचार्य इस कथन को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षियों के द्वारा जिन आपत्तियों का प्रदर्शन किया गया है, भामतीकार ने उसी का तात्पर्य-प्रदर्शन-प्रसङ्ग में इस प्रकार कहा है—प्रमाण का अर्थ तत्त्वों का परिच्छेद होता है। अर्थात्, जिस वस्तु का जो स्वाभाविक स्वरूप है, उस स्वरूप का दूसरे के स्वरूप से भिन्न रूप में समझना-इसी का दूसरा नाम विद्या है। यह प्रमाज्ञान जिसको होता है, उसी को प्रमाता कहा जाता है, एवं प्रमाता जिन उपायों के द्वारा इस प्रमा का ज्ञान करता है, वे उपाय ही प्रमाण कहे जाते हैं। ऐसी स्थिति में किस प्रकार प्रमाता को अविद्यावान् या भ्रान्त कहा जा सकता है? जिसको प्रमाज्ञान होता है उसको भ्रान्ति नहीं रहती है, और जिसको भ्रान्ति रहती है उसको प्रमाज्ञान असम्भव है यह सभी जानते हैं। आचार्य के द्वारा प्रमाता को अविद्यावान् या भ्रान्त

कहने पर उनके वाक्य में अपरिहरणीय विरोध उपस्थित होता है। आचार्य पूर्वपक्षियों के द्वारा ही आपत्तियों का उत्थापन कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण बहुधा ठीक नहीं रहते हैं, प्रत्यक्ष के द्वारा जो पदार्थ जिस रूप में देखा जाता है, कभी-कभी वह अन्य रूप में भी रहता है, अतः, प्रत्यक्षआदि लौकिक प्रमाणों को अविद्यावद्विषय कहा जा सकता है, किन्तु, शास्त्र-प्रमाण तो वैसा नहीं हो सकता है। वेदान्तियों ने भी स्वीकार किया है कि शास्त्र प्रमाण से भ्रम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में आचार्य ने कैसे कहा कि शास्त्र भी अविद्यावद्विषयक, अर्थात् अविद्यावान् का आश्रयण कर ही प्रवृत्त होते हैं। शास्त्रजनित-प्रमाज्ञान भी अविद्यावान् को ही होता है, इत्यादि। शास्त्र की ओर दृष्टि करने पर तो यह आपत्ति और भी दृढ़तर हो जाती है—यही पूर्वपक्षियों का आशय है।

आचार्य के आशय को भामतीकार ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है--इस विषय की अवगति के लिए प्रमातृत्व का अर्थ अवगत करना आवश्यक है, प्रमा का कर्ता प्रमाता होता है, और, प्रमाता का धर्म प्रमातृत्व होता है। क्रिया का स्वतन्त्ररूप में उत्पादक कारक को कर्ता कहा जाता है। क्रिया के अन्य कारकों में जो कारक पराधीन नहीं रहता है, उसको स्वतन्त्र कहा जाता है, साथ ही वह अन्य कारकों को व्यापारवान् करता है, और इसी का धर्म स्वातन्त्र्य या स्वतन्त्रभाव है। ऐसी स्थिति में प्रमा के जो कारण हैं, उन कारणों को प्रमा की उत्पत्ति के लिए जो नियोजित करता है—वही प्रमा का स्वतन्त्र कर्ता या प्रमाता है। प्रमा के कारणों को प्रमारूप कार्य के उत्पादन के लिए जो व्यापारवान् करेगा, उसको स्वयं भी व्यापार-वान् होना आवश्यक है। पाकरूपक्रिया का कर्ता पाचक पाकक्रिया की निष्पत्ति के लिए स्थाली, काष्ठ, जल, तण्डुल और अग्नि आदि कारकों को नियोजित करता है, तब वह स्वयं भी व्यापृत होता है, उसका अपना व्यापार कुछ न रहने पर पाकक्रिया भी सिद्ध नहीं होती है। पूर्वोक्त नियम के अनु-सार यदि आत्मा को प्रमाता कहा जाय तो उसको भी प्रमा के उत्पादन करने के लिए प्रमा का करण जो चक्षुः आदि, उसको नियुक्त करना होगा,

किन्तु वास्तविक आत्मा तो व्यापारवान् नहीं हो सकता है। प्रभाकर, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य जिन लोगों ने आत्मा को विभु माना है, वे आत्मा को निष्क्रिय मानने के लिए बाध्य हैं। कारण, विभु में किसी प्रकार क्रिया सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि आत्मा को अणु मानने वाले रामानुज, मध्व वल्लभ, जीव, बलदेव आदि इस कथन में आपत्ति कर सकते हैं। किन्तु, आत्मा के अणुत्व का खण्डन ही कर दिया जायगा। अतः यह मानना होगा कि निष्क्रिय आत्मा में किसी प्रकार का व्यापार सम्भव होने से प्रमातृत्व भी सम्भव नहीं है। प्रमातृत्व का अर्थ आत्मा का व्यापार-विशेष होने से निष्क्रिय आत्मा में व्यापारतत्त्व कभी भी सम्भव नहीं है, और इन कारणों से आत्मा का प्रमातृत्व भी सम्भव नहीं है। यदि आत्मा के प्रमातृत्व की रक्षा करनी है तो बाध्य होकर यह मानना होगा कि यह प्रमातृत्व आत्मा के ऊपर अध्यस्त से भिन्न क्रिया हो सकता है। जो जिसमें वास्तविक नहीं है, उसको उसमें स्वीकार करने पर उसको अध्यस्त या भ्रम-कल्पित से अतिरिक्त क्या माना जा सकता है। अतः आत्मा का प्रमातृत्व आत्मा में अध्यस्त है—यह अवश्य मानना पड़ेगा। अब यह जिज्ञास्य है कि अध्यस्त प्रमातृत्व किसके ऊपर होता है—इसको शुद्ध आत्मा में नहीं माना जा सकता है। कारण, आत्मा असङ्ग और अद्वैत है। अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रमातृत्व अध्यस्त अर्थात् कल्पित और आत्मा में ही है। अनादि पूर्व-पूर्व भ्रम का आश्रय जो आत्मा उसी को आश्रयण कर यह प्रमातृत्व धर्म विद्यमान रहता है. अतः प्रमातृत्व अविद्यावद्विषय अर्थात् अविद्या-युक्त आत्मा का आश्रयण करता है—यह कथन सुसंङ्गत है। इसी को "आक्षिपति" इत्यादि भामती के द्वारा कहा गया है। इस स्थल में यह जिज्ञास्य है कि आचार्य ने प्रमाण पदार्थ की ही अविद्यावद्विषयत्व सम्बन्ध में पूर्वपक्षियों के द्वारा शङ्का की है, किन्तु, भामतीकार ने आचार्य के अभिप्राय को व्यक्त करते हुए जो कहा है उससे स्पष्ट है कि प्रमाता का धर्म प्रमातृत्व अविद्यावद्विषय है। प्रमाता के आधार पर ही प्रमाण और प्रमेय निर्भर करता है, इसलिए प्रमाण और प्रमेय के मूलभूत पदार्थ का अवलम्बन कर आचार्य के अभिप्राय को व्यक्त किया है।

यदि यह कहा जाय कि प्रमातृभाव का अध्यास न होने पर इन्द्रिय आदि का व्यापार नहीं हो सकता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रिय आदि के व्यापृत न होने पर संसार में प्रत्यक्ष आदि व्यवहार ही नहीं हो सकता है। व्यवहार शब्द का अर्थ फल होता है, प्रत्यक्षआदि प्रमाण का फल। यदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति न हो तो उसका फल किस प्रकार होगा? अतः, प्रमातृभाव का अध्यास न होने पर इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति न होने पर प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का उत्पादन भी नहीं हो सकता है ऐसी स्थिति में संसार के आन्ध्य की प्रसक्ति होगी। इस स्थल में भाष्यकार के द्वारा किया गया इन्द्रिय शब्द का प्रयोग इन्द्रिय से अनुमान आदि सभी प्रमाणों का सूचक है। कारण, प्रत्यक्षआदि में आदि शब्द के प्रयोग से इसी की सूचना दी है। क्योंकि, यदि मात्र प्रत्यक्ष का ग्रहण ही अभिप्रेत रहता तो आदि शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। प्रकृत भाष्य में "न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः सम्भवति" इस वाक्य में सम्भवति क्रिया का कर्ता व्यवहार है, अतः, साधारण नियम के अनुसार 'अनुपादाय' इस असमापिका क्रिया का भी कर्ता 'व्यवहार' ही हो सकता है, किन्तु, इस स्थल में यह आशय नहीं है। कारण, 'व्यवहार' पद के 'हृ' धातु में जो क्रिया है, उस क्रिया का जो कर्ता है उस व्यक्ति को ही इस 'अनुपादाय' क्रिया का कर्ता होना उचित है, अतः, इस स्थल में 'अनुपादाय' इस असमापिका क्रिया के साथ 'सम्भवति' क्रिया का समानकर्तृकत्व ग्रहण न कर व्यवहार रूप क्रिया के साथ समानकर्तृकत्व ग्रहण करना होगा। ऐसी स्थिति में उक्त वाक्य का स्वरूप—"न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय व्यवहारिणः सम्भवति।" इस स्थल में व्यवहारिणः पद का आक्षेप कर अर्थ करना पड़ता है, अतः, प्रमातृभाव आत्मा में अध्यस्त न होने पर इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति नहीं होगी—यही सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि प्रमाता के द्वारा प्रमाणों को नियोजित करने पर ही प्रमाण से फल उत्पन्न होता है--यह क्यों स्वीकार किया जायेगा, इन्द्रिय आदि प्रमाण स्वतः ही प्रवृत्त होकर क्यों नहीं फल का उत्पादक हो सकता है? इसके समाधान में भाष्यकार ने कहा है "न च अधिष्ठानमन्तरेण

इन्द्रियाणां व्यापारः सम्भवति ।" अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। इस स्थल में अधिष्ठान शब्द का अर्थ कर्ता का व्यापार है। अतः, करण से भिन्न जो कर्ता उसका व्यापार न रहने पर करणभूत इन्द्रिय आदि का व्यापार भी सम्भव नहीं है, कारण, घट की उत्पत्तिरूप कार्य के प्रति तन्तुवाय कर्ता है, बेमा आदि करण हैं। इस स्थल में तन्तुवाय कर्ता के व्यापार के विना स्वयं स्वतन्त्ररूप से वेमा आदि करण घटका उत्पादन कभी नहीं कर सकते हैं। वैसी ही प्रकृत स्थल में स्थिति है। अतः, आत्मा में प्रमातृत्व अध्यस्त न होने पर आत्मा का व्यापार नहीं हो सकता है और आत्मा का व्यापार न होने पर इन्द्रिय आदि करण का व्यापार भी नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि शरीर ही प्रमाता क्यों नहीं होता है एवं देह के व्यापार से ही इन्द्रिय आदि व्यापृत हों, इसके लिए आत्मा में प्रमातृभाव के अध्यास करने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—"न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते" देह में आत्मभाव अध्यस्त हुए विना देह व्यापारवान् नहीं होता है, अर्थात् देह और इन्द्रियाँ कभी भी व्यापारवान् नहीं होती हैं। कारण, सुषुप्ति के समय देह में आत्मभाव अध्यस्त न होने से इन्द्रिय आदि का भी व्यापार नहीं रहता है, जाग्रत् अवस्था में देह में आत्मभाव अध्यस्त रहता है। अतः, उस समय इन्द्रिय आदि का व्यापार रहता है। स्वप्नकाल में सूक्ष्म देह में आत्मभाव अध्यस्त होने से उस समय भी मन एवं उससे स्वाप्न इन्द्रिय आदि का व्यापार होता है। फलतः, जिस समय देहादि में आत्मभाव अध्यस्त रहता है, उसी समय इन्द्रिय आदि का व्यापार होता है और जब देहादि में आत्मभाव अध्यस्त नहीं रहता है, तब इन्द्रिय आदि का व्यापार भी नहीं रहता है—यह अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की युक्तियों से सिद्ध है। देहादि में आत्मभाव अध्यस्त होने पर, आत्मा में प्रमातृत्वभाव का अध्यस्त होना भी आवश्यक है। जिस अवस्था में आत्मा में प्रमातृत्व अध्यस्त

नहीं होता है, उस अवस्था में देहादि में भी आत्मभाव का अध्यास नहीं होता है। सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि इसके दृष्टान्त हैं। अतः, देहादि के द्वारा इन्द्रिय की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर इच्छा करने पर भी मूल में आत्मा में प्रमातृत्व का अध्यास रहता है—यह मानना ही पड़ेगा। क्रम निम्नलिखित है प्रथम—आत्मा में प्रमातृभात्र का अध्यास, अर्थात् आत्मा में देहादिविशिष्ट अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यभाव का आरोप। अनन्तर, इन्द्रिय आदि का व्यापार। अनन्तर, प्रत्यक्ष आदि प्रमाज्ञान की उत्पत्ति। पूर्वोक्त विवेचन से यह मान लिया जाय कि करण के व्यापार के लिए कर्ता का व्यापार अपेक्षित है। अतः, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का व्यापार और फल, अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान आदि के होने में कर्ता का व्यापार आवश्यक होता है। ऐसा होने पर भी आत्मा में अनात्मा के अध्यास की क्या आवश्यकता है? तन्तुवाय जब वेमा आदि को व्यापारवान् करता है, तब वह अपने ऊपर वेमा आदि के धर्म को या तादात्म्य का आरोप नहीं करता है। अतः आत्मा ही व्यापारवान् होकर उक्त इन्द्रिय आदि को व्यापारविशिष्ट करने के समय अनात्मधर्म या देह आदि अनात्मवस्तु को तादात्म्य का आरोप अपने पर क्यों करेगा? अतः, आत्मा में अनात्माध्यास की क्या आवश्यकता है? इसके समाधान में भाष्यकार ने कहा है—'न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति आत्मनः असंगस्य प्रमातृत्वम् उपपद्यते" आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास न रहने पर असंङ्ग सभी धर्मों से रहित आत्मा का प्रमातृत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। तन्तुवाय आदि स्वयं व्यापारवान् होकर ही वेमा आदि को ग्रहण कर उनको व्यापारवान् करता है। वैसे ही इन्द्रिय आदि को व्यापारवान् करने के लिए आत्मा में भी किसी व्यापार को मानना होगा, किन्तु, श्रुति कहती है---आत्मा असंग सभी धर्मों से रहित है; अतः, व्यापाररूप धर्म कैसे हो सकता है? इसलिए मानना होगा कि आत्मा को व्यापारवान् करने के लिए उसमें सक्रियभाव का आरोप करना होगा, जो वस्तु सक्रिय है, उसके धर्म या तादात्म्य का उसमें आरोप कर उस आरोप के

विषयीभूत आत्मा में व्यापार मानना होगा। इसीलिए आत्मा में प्रमातृत्व के अध्यास के बिना किसी प्रकार प्रमाण आदि व्यापार उपपन्न नहीं हो सकते हैं। फलतः, सभी प्रमाण अध्यास का आश्रयण कर ही अपने कार्य के साधन में प्रवृत्त होते हैं--यही सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त विषय की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए भाष्यकार ने कहा है— 'न च प्रमातृत्वम् अन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति'। प्रमातृत्व के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रमारूप जो फल उस फल के प्रति स्वतन्त्रकर्ता ही प्रमाता होता है और प्रमा शब्द का अर्थ प्रमाकार अन्तःकरणवृत्तिविशेष होता है। यह वृत्ति अन्तःकरणस्थित होकर भी अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चिदात्मा के साथ सम्बद्ध होती है और इसलिए उसको चित्स्वभाव भी कहा जाता है। अन्तकरण में चिदात्मा का इस प्रकार प्रतिबिम्ब नहीं मानने पर जड अन्तःकरण कभी स्वगतवृत्ति को एवं उसकी सहायता से घटादि विषय का प्रकाश नहीं कर सकता है। प्रकाश जड का धर्म नहीं है। अतः, स्वयंप्रकाश चिदात्मा, यदि अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध नहीं हो तो उस अन्तःकरण से विषय आदि का प्रकाश नहीं हो सकता है। जैसे, जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसी की सहायता से जल एवं जल के मध्य में स्थित वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। इसी प्रकार जल का चाञ्चल्य आदि धर्म इस प्रतिबिम्ब चन्द्र में आरोपित होता है. वैसे ही अन्तःकरण का धर्म कर्तृत्व, दुःखित्व आदि अन्तःकरण-प्रतिबिम्बित चिदात्मा में आरोपित होता है एवं अन्तःकरण में आत्मरूप प्रकाश का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण को तथा उसके धर्म विषयाकारवृत्ति आदि को प्रकाशित करता है। अतः, प्रमाशब्द का अर्थ मात्र अन्तःकरणवृत्ति नहीं, वरन् प्रकाशरूपचिदात्मप्रतिबिम्बयुक्तअन्तःकरण की विषयाकारवृत्ति ही प्रमा है। अतएवं, यह परस्पर अध्यास होने से चिदात्मा प्रमारूप फल का कर्ता या प्रमाता होता है। उसी प्रमा को उत्पन्न कराने के लिए प्रमाण की भी प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः, प्रमा और प्रमातृत्व भिन्न-वस्तु नहीं हैं, प्रमाता का धर्म ही प्रमा है, प्रमातृत्व कहने से

प्रमा को ही अवगत करना चाहिए। इस विश्लेषण से प्रमा की उत्पत्ति करने में उसके मूल में आत्मा का एवं अनात्मा का परस्पर अध्यास अवश्य ही मानना होगा और, ऐसी स्थिति में जिसको प्रमाण कहा जाता है, पारमार्थिक-दृष्टि में वह अप्रमाण ही है। इसी विषय की अवगति के लिए भाष्यकार ने कहा है—"तस्मात् अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि" प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्यावद् विषय ही होते हैं।

"देहेन्द्रियादिषु" इत्यादि भाष्य में देह में अहम् के अभिमान के बिना और इन्द्रिय में ममता के अभिमान से रहित—इस रूप में विवरण के अनुसार योजना है। कारण, उनकी इन्द्रियाँ परोक्ष हैं, अतः, इन्द्रियाँ अध्यास के अपरोक्ष अहम् इस अभिमान का विषय नहीं हो सकती हैं, किन्तु, मैं अन्धा हूँ' इस अन्धत्व आदि धर्म का अध्यास ही अपरोक्ष अहम् अभिमान का विषय होता है। भामतीकार के मत में ऐसी स्थिति नहीं है, वरन् उभयत्र दोनों का अध्यास अपरोक्ष है। प्रमातृत्व की अनुपपत्ति का आशय यह है कि प्रमातृत्व प्रमा के प्रति स्वातन्त्र्य है. यह प्रमाण व्यापार करनेवाले के विना उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः प्रमाता के देह इन्द्रिय आदि का अध्यास आवश्यक है। प्रमाता अध्यास के बिना इन्द्रिय का व्यापार नहीं करा सकता है।

रत्नप्रभाकर ने इसका आशय इस प्रकार व्यक्त किया है। इस प्रकार तीन प्रकार के व्यवहार का हेतु होने से अध्यास प्रत्यक्ष सिद्ध है, फिर भी उसमें दूसरे प्रमाण की "कथं पुनः" आदि से जिज्ञासा करते हैं। शरीर आदि में "मैं" इस अध्यासवाला आत्मा-प्रमाता जिनका विषय—आश्रय है, वे शास्त्र अविद्यावद्विषय है यह विग्रह है। प्रमेय व्यवहार के हेतुभूत प्रमा का आधार अध्यासविशिष्ट प्रमाता है, यद्यपि इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यायुक्त आत्मा के आश्रित हैं—यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब भी दूसरे किस प्रमाण से यह सिद्ध होगा कि वे अविद्यायुक्त आत्मा के आश्रित हैं—इस प्रकार वाक्य की योजना करनी चाहिए,' या इस प्रकार योजना करनी कि अविद्यायुक्त आत्मा के आश्रित प्रमाण

कैसे हों। कारण, आश्रय के दोष से प्रमाण अप्रमाण हो जाता है। इस प्रकार दूसरे पक्ष में आक्षेप है। प्रमाण अविद्यावद्विषय हैं—इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में 'उच्यते' इत्यदिसे "तस्मात्" इत्यन्त वाक्यों से प्रमाण अविद्यावद्विषय न हों तो कोई व्यवहार ही नहीं हो सकता है। व्यवहार लोक में होता है, अतः, प्रमाण अविद्यावद्विषय है, प्रमाण और व्यवहार हेतुक अनुमान का प्रदर्शन करते हैं। अनुमान का प्रयोग निम्नलिखित है- देवदत्ताकर्तृक व्यवहार (पक्ष) देह आदि में मेरा अध्यासमूलक है; (साध्य) कारण, वह देह आदि अध्यास के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसारी होता है। जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसारी होता है, वह तन्मूल होता है, (हेतु) जैसे घट मृत्तिका के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसारी होने से मृत्तिकामूलक है। (उदाहरण) उक्त अनुमान में 'देहेन्द्रियादिषु' इत्यादि भाष्य से व्यतिरेकव्याप्ति प्रदर्शित करते हैं। जब देवदत्त सुषुप्ति अवस्था में रहता है तब अध्यास का अभाव रहता है और व्यवहार का अभाव हैं। व्यतिरेक व्याप्ति का यह उपयोग है -जहां अध्यास नहीं है, वहां व्यापार नहीं होता है जैसे सुषुप्ति में। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में व्यवहार होता है, इसलिए अध्यास है यह अन्वय व्याप्ति स्पष्ट है—इसलिए यहां उसका वर्णन नहीं किया। इस हेतु से व्यवहार के कारणत्व के रूप से अध्यास की सिद्धि होती है, या व्यवहार रूप कार्य की अनुपपत्ति से अध्यास की सिद्धि होती है। यदि यह शंका हो कि मनुष्यत्व आदि जातिमान् शरीर में 'मैं' इस अभिमान मात्र से व्यवहार सिद्ध हो, इन्द्रिय आदि में मेरा इस अभिमान का क्या प्रयोजन है? इस शंका के उत्तर में "नहि" इत्यादि कहते हैं। इन्द्रिय पद लिंग आदि का भी उपलक्षण है, कारण, प्रत्यक्षादीनि इस अग्रिम ग्रन्थ में आदि पद का प्रयोग है। मैं देखनेवाला हूँ यह व्यवहार प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न होता है और मैं अनुमान करनेवाला हूं यह व्यवहार अनुमिति ज्ञान से होता है, एवं मैं श्रवण करने वाला हूं" यह व्यवहार पदज्ञास से उत्पन्न होता है प्रत्यक्ष और लिंग आदि से युक्त व्यवहार द्रष्टा, अनुमाता, श्रोता आदि के रूप में देखने में आता है वह,

ममता से इन्द्रियों का ग्रहण किये बिना व्यवहार नहीं हो सकता है इस प्रकार योजना करनी चाहिए। प्रथम योजना में अग्रहण और असम्भव रूप दो क्रियाओं का कर्ता एक व्यवहार है, अतः 'अनुपादाय' शब्द में क्त्वा प्रत्यय ठीक है। दूसरी योजना में अग्रहण और व्यवहार दोनों की क्रियाओं का कर्ता एक आत्मा है, अतः क्त्वा प्रत्यय ठीक है। यही दोनों योजनाओं में भेद है। इन्द्रिय आदि में मेरा यह अध्यास न होने से मैं द्रष्टा हूँ इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकता है। जैसे अन्धों को नहीं होता है। यदि यह शंका हो कि जब इन्द्रियाध्यास से ही काम चल जायगा तो देहाध्यास का क्या प्रयोजन है? 'न च' इत्यादि भाष्य से इस शंका का निवारण करते हैं। इन्द्रियों के आश्रयस्थान शरीरका नाम अधिष्ठान है। यदि शंका हो कि आत्मा से संयुक्त शरीर इन्द्रियों का आश्रय स्थान रहे अध्यास का क्या प्रयोजन है? इस शंका की निवृत्ति के लिए "न चानध्यस्तात्मभावेन" आदि कहा है। जिसमें आत्मतादात्म्य अध्यस्त नहीं है, वह अनध्यस्तात्मभाव कहा जाता है। असंगोहि (आत्मा संसर्गरहित है) इस वेदवाक्य से देह और आत्मा का संयोग आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है, किन्तु, अध्यास से ही इन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध होता है। यदि यह शंका हो कि आत्मा का देह आदि के साथ आध्यासिक सम्बन्ध के बिना भी आत्मा चेतन होने के कारण प्रमाता हो जायेगा। सुषुप्ति में आत्मा के प्रमाता होने की आपत्ति होगी—यह शंका ठीक नहीं है, कारण, सुषुप्ति समय में मन के साथ सभी इन्द्रियां अविद्या में लीन हो जाती हैं, अतः, सुषुप्ति में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। इस आशंका को दूर करने के लिए "न चैतस्मिन् " आदि लिखा है। प्रमा-यथार्थ ज्ञान, प्रमा के आश्रय को प्रमाता कहा जाता है। प्रमा यदि नित्यज्ञानस्वरुप हो तो उसका कोई आश्रय नहीं होगा और इन्द्रियां आदि व्यर्थ जायेंगी। यदि वृत्ति मात्र को प्रमा कहा जाय तो वृत्ति के जड होने से सारा संसार ज्ञान रहित हो जायेगा। इसलिए वृत्ति में अभिव्यक्त ज्ञान ही प्रमा है। वृत्तिमान् अन्तःकरण में तादात्म्याध्यास के बिना असंग आत्मा प्रमा का आश्रय नहीं हो सकता

है। देहाध्यास और उसके धर्म का अध्यास न होने पर-यह अक्षरार्थ है। यदि यह शंका हो कि आत्मा प्रमाता न हो क्या आपत्ति है? इसके समाधान मे "न च" आदि कहा है। आत्मा में प्रमाता के व्यवहार के लिए अध्यास को स्वीकार करना चाहिए। अतः प्रमाण होने से, यह 'तस्मात्' से उपसंहार है। या प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावान् आत्मा के आश्रित किस प्रमाण से हैं, इसका समाधान कर अविद्यावान् आत्मा आश्रय हो तो प्रत्यक्ष आदि किस प्रकार प्रमाण हो सकेंगे इस आक्षेप का खण्डन 'तस्मात्' इत्यादि से किया गया है। अध्यास के विना आत्मा प्रमाता नहीं है और अध्यास, प्रमाता के स्वरूप के अन्तर्गत होने से दोष नहीं है, इसलिए, अविद्यावान् अध्यासवान् का आश्रय होते हुए भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण ही हैं। प्रमाता के स्वरूप से भिन्न यदि दोष हो तो वह दोष हो. जैसे नेत्ररोग आदि। अविद्या तो प्रमाता के स्वरूप के अन्तर्गत है, अतः दोषरूप नहीं है और ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष आदि के प्रमाण होने में कोई आपत्ति नहीं है।

अविद्या के परिचय के प्रसङ्ग में भाष्यकार ने कहा है-प्रमाणप्रमेयव्यवहार, विधि, निषेध और मोक्षरूप शास्त्र आदि सभी अविद्यावद्विषयक हैं, जिनको अविद्या या अज्ञान है उनलोगों के लिए हैं जिनलोगों को अविद्या या अज्ञान नहीं है उनलोगों के लिए नहीं है। ब्रह्मज्ञानीके लिए विधि भी नहीं है, निषेध भी नहीं है, शास्त्र भी नहीं है। इस प्रसङ्ग में आचार्य शङ्कर ने शास्त्र आदि प्रमाण किस प्रकार अविद्यावद्विषयक हैं, इसीको आपत्ति और उत्तर के द्वारा प्रतिपादन किया है। इस विषय की अवगति के लिए अविद्यावद्विषय शब्द का अर्थ अवगत करना आवश्यक है। अविद्यावान् अर्थात् 'मैं' इस अध्यासयुक्त आत्मा प्रमाता या प्रमाणकर्ता होता है। प्रमाता का आश्रय अविद्यावद्विषय है अविद्या से युक्त अविद्यावत् है और अविद्यावत् का विषय अविद्यावद्विषय है यह इसका अर्थ नहीं है। या अविद्यायुक्त विषय अर्थात ज्ञेय जिसका होता है—वह अविद्यावद्विषय है यह भी इसका अर्थ नहीं है, किन्तु अविद्यायुक्त प्रमाता जिसका विषय

अर्थात् आश्रय होता है—वह अविद्यावद्विषय है। ऐसी स्थिति में विशेष-विशेष प्रमेय व्यवहार का अर्थात् "यह घट" "यह पट" इत्यादि व्यवहार का हेतुभूत प्रमा अध्यस्त प्रमाता को आश्रित होने से प्रमाणसमूह भी अविद्यावद्विषय होता है। यद्यपि यह लोक में प्रत्यक्ष है तथापि प्रमाण अविद्यावद्विषय होता है, इसमें अन्य प्रमाण है कि नहीं, वही जिज्ञासा इस स्थल में की गई है। कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण बलवान् होने पर भी बहुधा भूल होती है, इन्द्रिय आदि करण दोष के आदि सहसा उपस्थित होने से प्रत्यक्षज्ञान भ्रम-शून्य नहीं रहता है, इसलिए प्रत्यक्ष को दृढ़ करनेके लिए संसारमें प्रत्यक्ष के बाद भी अनुमान आदि के साहाय्य को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं, इस इच्छा के अधीन होकर भाष्यकार ने पूर्वपक्षी के द्वारा आपत्ति का उत्थापन किया है। या इस स्थल में पूर्वपक्षी की आपत्ति का अन्यथा आशय भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रत्यक्ष आदि और शास्त्रप्रमाण अविद्यावद्विषय हैं, इसके लिए अनुमान प्रमाण के अनुसन्धान का अन्य आशय भी हो सकता है। जैसे—पूर्वपक्षी कहते हैं, अविद्यावद्विषय को प्रमाण शब्द से कैसे कहा जा सकता है। प्रमाण के अविद्यायुक्त पुरुष का आश्रयण कर प्रवृत्त होने पर, वह प्रमाण अर्थात् प्रमा का जनक कभी भी नहीं हो सकता है, इस अवस्था में प्रामाण का प्रमाण्य ही नहीं रहेगा और प्रमाण अप्रमाण हो जाएगा और, इस अवस्था में संसार में किसी को भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। वेदान्ती ब्रह्मज्ञान के लिए, और, ऐसी स्थिति में यह अभीष्ट भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र कभी भी अविद्यावद्विषय नहीं हैं।

पूर्वपक्षी की इस आपत्ति के उत्तर में आचार्य ने कहा है—प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावद्विषय हैं, इसमें अनुमान प्रमाण भी है। जैसे देवदत्तकर्तृकव्यवहार उसके देहादि में अहं और मम अध्यासमूलक हैं। (प्रतिज्ञा) कारण उसमें अध्यास का अन्वय-व्यतिरेकानुसारित्व विद्यमान है। (हेतु) जिसमें जिसका अन्वय-व्यतिरेकानुविधायित्व है, वह तन्मूलक ही होता है, जैसे मृन्मूलक घट। (उदाहरण) यह भी वैसा है। उपनय)

अतः, देवदत्तकर्तृक व्यवहार उसके देह आदि में अहंमम अध्यासमूलक है। (निगमन)। इस अनुमान से देवदत्त का व्यवहार अध्यासमूलक प्रमाणित होनेपर जनसाधारण का व्यवहार भी अध्यासमूलक प्रमाणित होता है। देवदत्त के नाम का निर्देश उपलक्षण है, वस्तुतः, प्राणिमात्र का व्यवहार अध्यासमूलक ही इसके द्वारा प्रमाणित हुआ। अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र के द्वारा लब्ध प्रमारूप ज्ञान अर्थात् व्यवहार अविद्यावद्विषय हैं–यह अनुमान प्रमाण की सहायता से प्रमाणित होता है। प्रमाण आदि की आशङ्का होने पर सभी प्रमाणों का पारमार्थिक प्रामाण्य न रहने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य अव्याहत रहता है–इसमें सन्देह नहीं हैं। प्रमा होने पर प्रमा अपने विषय और अपने आश्रय को प्रकाशित कर अपना भी प्रकाश करती है–यही स्वप्रकाशवादी वेदान्ती का मत है। इसलिए प्रमा का आश्रय प्रमाता अध्यस्त आत्मा के होने पर उस अंश में सभी प्रमा का अप्रमाण्य रहेगा एवं आश्रय के दोष से प्रमा भी दुष्ट होती है। फलतः प्रमा का विषयीभूत वस्तु समूह भी वास्तव नहीं रहता है, कारण, प्रमा के दुष्ट होने पर उसके द्वारा प्रकाशित वस्तु का स्वरूप यथार्थ कैसे हो सकता है एवं प्रमा का जनकप्रमाण भी प्रमाणपदवाच्य नहीं हो सकता है। इसलिए प्रमा का अप्रमाण्य अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। किन्तु, ऐसी स्थिति में भी साधारण भ्रमज्ञान से इस प्रमा का भेद है और यह भेद ही इसका व्यावहारिक प्रामाण्य है। व्यावहारिक प्रामाण्य शब्द का अर्थ प्रमा के आश्रय अर्थात् अध्यस्त आत्मरूप प्रमाता की व्यावहारिक सत्ता रहने पर और प्रमा के विषय की भी व्यावहारिक सत्ता रहने पर व्यवहार दशा में उसको यथार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसका ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त किसी प्रकार के ज्ञान से बाध नहीं होता है वही व्यावहारिक सत् है और इसी का धर्म व्यावहारिक सत्ता है। प्रमा के आश्रय अर्थात् अध्यस्त आत्मरूप प्रमाता की जैसी सत्ता है, उसकी अपेक्षा न्यून-सत्ता प्रमा के विषय की रहे अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता अर्थात् रस्सी में सर्प-ज्ञान के समान रहे तो व्यवहार दशा में वह वस्तु अयथार्थ कही जाती

है। यही व्यवहार के समय में प्रमा और अप्रमा की विलक्षणता है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से प्रमा का प्रामाण्य न रहने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से उसका प्रामाण्य है। अतः, पूर्वपक्षी की प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र के अप्रमाण की शङ्का—निरर्थक है। आचार्य ने पूर्वपक्षी की आपत्ति में कहा है - "प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र क्यों अविद्यावद्विषय हैं"। उत्तर में कहा है कि "देहादि में अहं मम का अभिमान न रहने पर प्रमातृत्व अनुपपन्न होने पर प्रमाण प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होती है"। दूसरे को प्रमाण की सहायता से कुछ समझाने के लिए शास्त्र में यह मार्ग सूचित किया है—नैयायिकमत में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के द्वारा उसको समझाया जाता है। वेदान्तीमत में प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण के द्वारा समझाया जाता है। प्रकृत में आचार्य ने उत्तर के प्रसङ्ग में वेदान्तिसम्मत प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का प्रदर्शन नहीं किया है, मात्र उदाहरण की उपजीव्यभूतव्याप्ति का ही प्रदर्शन किया है। साध्य और हेतु का अव्यभिचरित सम्बन्ध विशेष ही व्याप्ति है, उसको दो प्रकार के उदाहरणों के द्वारा प्रकाश किया है – अन्वय उदाहरण और व्यतिरेकउदाहरण। न्यायमत में व्याप्ति दो प्रकार की है—अन्वय-व्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति। पर्वतो वह्निमान् इसको प्रमाणित करने के लिए उदाहरण है 'जहां-जहां धूम है वहां वह्नि है जैसे-महानस,' जहां-जहां वह्नि नहीं है वहां धूम नहीं है, जैसे-जलह्रद" इनमें प्रथम अन्वयी उदाहरण है एवं द्वितीय व्यतिरेकी उदाहरण है। इस अन्वयी उदाहरण की सारभूत व्याप्ति अन्वयी व्याप्ति है।

इस स्थल में साध्य वह्नि है एवं हेतु धूम है। इस वह्नि के साथ इस धूम का अव्यभिचरित समानाधिकरण्य है, अर्थात् नियत एक स्थान में रहना, एवं उक्त व्यतिरेकी उदाहरण की सारभूत व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति है। इस स्थल में साध्य वह्नि के अभाव में हेतुभूत धूम के अभाव का अव्यभिचरित समानाधिकरण्य, अर्थात् नियत एक स्थान में अवस्थिति है। आचार्य के उत्तर में यह व्यतिरेक व्याप्ति मानते हैं। इतने से ही उनके उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है।

शाङ्करभाष्यम्

पश्वादिभिः च अविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते, ततः निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखम् उपलभ्य मां हन्तुम् अयम् इच्छति इति पलायितुम् आरभन्ते हरिततृणपूर्णपाणिम् उपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीन खड्गोद्यत-करान् बलवतः उपलभ्य ततः निवर्तन्ते तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः

कुसुमलता

जिस पुरुष को अविद्या है, वही प्रमाता होता है, और उसी का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार होता है—ऐसी बात नहीं है, वरन् पशु, पक्षी आदि आविद्यिक जीव साधारण का भी इसी प्रकार का प्रमा-प्रमेय-व्यवहार होता प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार अविद्यायुक्त मनुष्य का ही नहीं है किन्तु, यह सभी प्राणियों का साधारण है । पशु आदि प्रमातृत्व आदि व्यवहार के समय प्रवृत्ति, निवृत्ति और उदासीनता का अवलम्बन करते हैं, अतः, कार्य-कारण संघात में अहं का अध्यास रखते हैं—यह संसार में प्रसिद्ध है । उनके समान योग क्षेम रखने वाला मनुष्य जन्म से ही उनसे अधिक विवेक बुद्धि सम्पन्न शास्त्रानुसार कार्यकरण सामर्थ्यवाली बुद्धि से सम्पन्न होकर भी उनके समान इनका कार्य देखने से कार्यकारणसंघात में आत्मा का अभिमान दोनों में समान ही है । सभी लोग जानते हैं, जिस तरह मनुष्य शत्रु को देखकर भीत होता है या भागता है, उसी तरह पशु पक्षी आदि भी व्यवहार करते हैं । मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी आदि भी शत्रु और मित्र को प्रतिकूल और अनुकूल समझते हैं । पशु आदि लाठी आदि हाथ में लिए हुए मनुष्य को सामने देखकर यह हमको मारेगा यह समझकर भागते हैं एवं तृण आदि हाथ में लिए हुए मनुष्य को देखकर उस व्यक्ति की ओर अग्रसर होते हैं, इसी प्रकार विवेक-सम्पन्न व्यक्ति प्रहार करने के लिए उद्यत बलवान् व्यक्ति को देखकर उसके पास से भाग जाता है एवं सदय किसी व्यक्ति को देखकर उसके समीप अग्रसर होता है । अतः दोनों ही

समान हैं। इसलिए, प्रमाण आदि अविद्यावान् का आश्रयण करता है—इसमें सन्देह नहीं है। अविद्या सृष्ट सभी जीवों के लिए साधारण है, इसलिए प्र माण-प्रमेय-व्यवहार सभी के लिए अविद्यावद्विषय है।

भामती

स्यात् एतत्—भवतु पृथग्जनानाम् एवम्। आगमोपपत्ति-प्रतिपन्न-प्रत्यगात्मतत्त्वानां व्युत्पन्नानाम् अपि पुंसां प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः दृश्यन्ते इति कथम् अविद्यावद्विषयाणि एव प्रमाणानि इति अतः आह—"पश्वादिभिः च अविशेषात्" इति। विदन्तु नाम आगमोपपत्तिभ्यां देहेन्द्रियादिभ्यः भिन्नं प्रत्यगात्मानम्, प्रमाणप्रमेयव्यवहारे तु प्राणभृन्मात्रधर्मान् न अतिवर्तन्ते। यादृशः हि पशुशकुन्तादीनाम् अविप्रतिपन्नमुग्धभावानां व्यवहारः, तादृशः व्युत्पन्नानाम् अपि पुंसां दृश्यते। तेन तत्सामान्यात् तेषाम् अपि व्यवहारसमये अविद्यावत्त्वम् अनुमेयम्। "च" शब्दः समुच्चये। उक्त शङ्कानिवर्तनसहितपूर्वोक्तापत्तिः अविद्यावत्पुरुषविषयत्वं प्रमाणानां साधयति इत्यर्थः। एतद् एव विभजते 'यथाहि पश्वादयः" इति। अत्र च 'शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति' इति प्रत्यक्षं प्रमाणं दर्शितम्। "शब्दादिविज्ञाने इति तत्फलम् उक्तम्। "प्रतिकूले इति च अनुमानफलम्। तथा हि" शब्दादिस्वरूपम् उपलभ्य तज्जातीयस्य प्रतिकूलताम् अनुस्मृत्य तज्जातीयतया उपलभ्यमानस्य प्रतिकूलताम् अनुमिमते इति। उदाहरति "यथा दण्ड" इति। शेषम् अ-तिरोहितार्थम्।

पुष्पलता

अच्छा ऐसा ही हो अनधीतशास्त्रवालों का ऐसा हो, शास्त्र की युक्तियों के द्वारा जिनको प्रत्यगात्मतत्त्व का ज्ञान है, ऐसे व्युत्पन्न व्यक्तियों का (अविद्या रहित व्यक्तियों का) भी प्रमाण प्रमेय-व्यवहार देखा जाता है. अतः प्रमाण अविद्यावद्विषय कैसे हो सकता है इसके उत्तर में कहा है—'पश्वादिभिः च अविशेषात्' इति। (उन लोगों के व्युत्पन्न होने पर भी उनका प्रमाण-प्रमेयव्यवहार पशुपक्षी के समान होने से अविद्यावद्विषयक है, इस अंश का विशद विवेचन आगे की पंक्तियों मे किया जा रहा है)

(पण्डितवर्ग) शास्त्र और युक्तियों के द्वारा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न प्रत्यगात्मा को समझें, किन्तु, प्रमाण-प्रमेयव्यवहार में प्राणिमात्र के स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। कारण, असन्दिग्ध मोहभावापन्न पशु, पक्षी आदि का जैसा व्यवहार है, वैसा ही अविद्यारहितव्यक्तियों का भी देखा जाता है। अतः, पशु, पक्षी आदि का समान धर्म होने से अविद्यारहित व्यक्तियों के भी व्यवहार के समय में अविद्यावत्त्व का अनुमान करना चाहिए। (भाष्य में) 'च' शब्द समुच्चय (आधिक्य) अर्थ का बोधक है। उक्त शङ्का के निरास के साथ पूर्व-कथित-युक्तियाँ भी प्रमाण को अविद्या वा पुरुष विषयत्व को सिद्ध करती हैं। इसी को स्पष्टरूप से अवगत कराने के लिए भाष्यकार ने कहा है—'यथा हि पश्वादयः' इति। और यहाँ पर 'शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति इस कथन से प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाया गया है। 'शब्दादिविज्ञाने' इस कथन से प्रमाण के फल प्रमाबोध को कहा है। "प्रतिकूले" इस कथन से अनुमान के फल अनुमिति को कहा है। आशय यह है कि पशु, पक्षी आदि शब्द आदि के स्वरूप को प्रत्यक्ष कर (पूर्वानुभूत तज्जातीय शब्दादि के प्रतिकूल भाव का स्मरण करता है, और उसी प्रतिकूल शब्दादिजातीय रूप में उस समय उपलब्ध शब्दादि के प्रतिकूलता का भी अनुमान करता है। इसी का उदाहरण प्रदर्शन करने के लिए कहा है "यथा दण्ड" इत्यादि। अवशिष्ट अंश का अर्थ स्पष्ट है।

कुसुमलता

पूर्व भाष्य में कहा गया है कि प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सभी अविद्यावद्विषयक हैं. उसी विषय पर प्रकृत में शङ्का की जा रही है। साधारण लोगों का प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार भ्रान्तिमूलक स्वीकार करने पर भी जिनको अध्यात्मशास्त्र और अनुकूल युक्तियों के द्वारा देह आदि से भिन्न रूप में प्रत्यगात्मा का ज्ञान है, ऐसे पण्डितों का प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार भी भ्रान्तिमूलक कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में आचार्य ने वास्तविक उत्तर देने से पूर्व पूर्वपक्षी के कथन का उत्तर दे रहे हैं, इस विषय

में पशु, पक्षी आदि के विज्ञ व्यक्तियों का साम्य होने से साधारण प्राकृत पुरुषों के साथ भी साम्य है, अतः, इस विषय में अधिक वक्तव्य की आवश्यकता नहीं है। पशु, पक्षी आदि का व्यवहार जिस प्रकार अविद्यामूलक है, उसी प्रकार विज्ञ व्यक्तियों का भी व्यवहार अविद्यामूलक है. पशु, पक्षी आदि का भी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार होता है, कारण उनलोगों का भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से व्यवहार देखा जाता है। कारण, पशु पक्षी आदि भी जब कुछ देखते हैं, तब उनको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अनन्तर वे पूर्वदृष्ट उसके सजातीय वस्तु की अनुकूलता या प्रतिकूलता का स्मरण करते हैं, और इस स्मरण के बाद उस समय अनुभूत वस्तु की अनुकूलता या प्रतिकूलता का स्मरण करते हैं एवं उस अनुमान के फलस्वरूप अनुकूल विषय में उनकी प्रवृत्ति होती है और प्रतिकूल विषय से उनकी निवृत्ति होती है। इसके द्वारा इनका प्रत्यक्ष और अनुमान व्यवहार है, यह जिस प्रकार सिद्ध होता है वैसे ही खाना देनेवाले का आह्वान शब्द सुनकर वे उसके अभिमुख होते हैं और इससे उसको शाब्दबोध भी है—यह मानना पड़ेगा। भाष्यकार ने इस विषय का विवेचन दण्डोद्यतकर पुरुष और हरिततृणपूर्णहस्त व्यक्ति के दृष्टान्त के द्वारा विवेचित किया है। पशु, पक्षी और विज्ञ-व्यक्तियों में भेद इतना ही है कि वे मूढ, अज्ञ हैं, वे समझ नहीं पाते हैं, किन्तु विज्ञव्यक्ति अवगत कर पाते हैं, वे अपना उपज्ञान भी समझ पाते हैं, यह भेद रहने पर भी पशु, पक्षी के प्रमाण-प्रमेय व्यवहार के समान ही विज्ञों का भी प्रमाण-प्रमेय व्यवहार है, इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रसङ्ग में प्रत्यक्षादि प्रमाण के अविद्यावद्विषयत्व में अतिरिक्त युक्ति का प्रदर्शन किया है।

रत्न प्रभाकार ने इस भाष्य की व्याख्या में कहा है कि अध्यास होता है तभी व्यवहार सिद्ध होता है, अध्यास न हो तो व्यवहार सिद्ध नहीं होता है. इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक से व्यवहार अध्यास का कार्य है. अध्यास से ही व्यवहार उत्पन्न होता है—यह कथन असमीचीन है, कारण, विद्वानों का अध्यास के बिना भी व्यवहार देखा जाता है—इस आशङ्का से आचार्य

शङ्कर ने कहा है—'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'। च शब्द का प्रयोग शङ्का की निवृत्ति के लिए है प्रकृत में शङ्का करने वाले विद्वत्ता से क्या आशय विवक्षित है? "मैं ब्रह्म हूँ" यह साक्षात्कार या आत्मा और अनात्मा में युक्तिसिद्ध भेद का परोक्षज्ञान? प्रथम पक्ष में बाधित अध्यास की अनुवृत्ति से व्यवहार होता है ऐसा समन्वय सूत्र में कहेंगे। द्वितीय कल्प में मात्र युक्तिसिद्ध परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष भ्रम का निवर्तक नहीं हो सकता है, कारण, जिनको शरीर, इन्द्रिय आदि अनात्मरूप से आत्मा भिन्न है यह परोक्ष ज्ञान है उन विवेकियों को भी व्यवहार काल में पशुओं की अपेक्षा वैशिष्ठ्य नहीं है, वे भी पशु आदि के समान ही अध्यासवान् होते हैं, अतः उनका व्यवहार भी अध्यास का कार्य है। इसकी सिद्धि के लिए इस प्रकार अनुमान का प्रयोग भी किया जा सकता है विवेकी, अध्यासवान् है, व्यवहारवान् होने के कारण, पशु के समान। पशु आदि से विशेष नहीं है इस संग्रह वाक्य को जिस वाक्यों में अनेक वाक्यों से कहा हुआ अर्थ एकत्रित रहता है, वह संग्रह वाक्य है, "बहुवर्थानामेकत्र संकलनं संग्रहः"। स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त में हेतु को स्पष्ट कर रहे हैं 'यथाहि इत्यादि से। यह मेरा इष्ट-साधन है, ऐसा ज्ञान अनुकूल गोचर है और यह मेरा अनिष्टकारक है यह ज्ञान प्रतिकूल गोचर है। इसी विषय का "यथा" इत्यादि से उदाहरण दिया गया है। यह दण्ड मेरा अनिष्ट कारक है, दण्ड होने से, प्रथम अनुभूत दण्ड के समान। ये तृण मेरे इष्ट साधन हैं अनुभूत तृण के सजातीय होने से, पूर्वभक्षित तृण की तरह। ऐसा अनुमान कर पशु आदि प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहार करते हैं। पूर्वोक्त हेतु की पक्षवृत्तिता 'एवम्' इत्यादि से व्यक्त की गई है। 'पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः इसमें व्युत्पन्नचित्ता अपि पुरुषाः' इस प्रकार अन्वय समझना चाहिए। विवेकी व्यक्ति भी यह इसका अर्थ होता है। 'अतः' आदि से फकित कहा गया है। अनुभव के बल से यह अर्थ है "समान" इति पुरुषों के प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार पशुओं के समान हैं, कारण दोनों के अध्यास का कार्य व्यवहार हैं। यदि यह शंका हो कि पशु आदि बोल नहीं सकते हैं कि

मेरी आध्यासिक प्रवृति है, दूसरों को भी मालूम नहीं होता है, अतः, अध्यासरूप दृष्टान्त साध्यरहित होने से ठीक नहीं है। इस शङ्का का निराकरण करने के लिए कहा है—"पश्वादीनां च" इत्यादि। पशुओं को आत्मा और अनात्मा का मात्र ज्ञान है, विवेक नहीं है, कारण, उनको कोई उपदेश नहीं कर सकता है, विवेक विना भी पशु आदि में व्यवहार देखने में आता है, इसलिए सामग्री होने से व्यवहार आध्यासिक है—यह प्रसिद्ध है, अतः पशुरूप दृष्टान्त अध्यासरूप साध्य से विकल नहीं है। उक्त अनुमान का उपसंहार "तत्सामान्य" इत्यादि से किया गया है। पशु आदि के साथ व्यवहार-सादृश्य होने से विवेकियों का भी व्यवहार तत्काल समान-आध्यासिक है। दोनों में व्यवहार की समानता अध्यास का कार्य होने से है—यह पूर्व में ही कहा गया है। "तत्काल" इत्यादि से उक्त अन्वय-व्यतिरेक का स्मरण कराया गया है। अध्यास का काल ही काल है जिसका—जब अध्यास है तब व्यवहार है, सुषुप्ति में जब अध्यास नहीं होता है, तब व्यवहार भी नहीं होता है—इस अन्वय और व्यतिरेक से युक्त व्यवहार समान है। इस प्रकार व्यवहार रूप हेतु से विवेकियों को देह आदि में 'मैं' मेरा यह अभिमान है—यह सिद्ध होता है। आशय यह है कि यदि प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार अविद्यावान् व्यक्ति को ही होता है—यह सिद्ध है तब जिनको "मैं ब्रह्म हूँ" इस रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार है या जिनको श्रवण और युक्ति के द्वारा यह निश्चयात्मक ज्ञान है उनको भी व्यवहार करते हुए देखा जाता है, अतः, वे अविद्यायुक्त ही हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म विचार शास्त्र की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में रत्न प्रभाकर ने कहा है कि यह आशंका निराधार है। कारण, जिनको साक्षात्कार हुआ है उनकी प्रारब्ध कर्म के अधीन बाधित अज्ञान की अनुवृत्ति माननी होगी एवं जिनको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है उनका ज्ञान परोक्ष होने से अविद्या सर्वथा निर्मूल नहीं है।

शाङ्करभाष्यम्

शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी न अविदित्वा आत्मनः

परलोक सम्बन्धम् अधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम् अशनायाद्यतीतम् अपेत ब्रह्मक्षत्रादि भेदम् असंसार्यात्मतत्त्वम् अधिकारे अपेक्ष्यते, अनुपयोगात् अधिकार विरोधात् च । प्राक् च तथा भूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावद्विषयत्वं न अतिवर्तते । तथा हि 'ब्राह्मणो यजेत" इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते ।

पुष्पलता

किन्तु शास्त्रीय व्यवहार में यद्यपि बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला व्यक्ति आत्मा का परलोक के साथ सम्बन्ध जाने बिना अधिकारी नहीं होता है, तथापि वे भूख-प्यास से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातिभेद से शून्य असंसारी आत्मतत्त्व अधिकार में अपेक्षित नहीं है, कारण, वह अनुपयोगी एवं अधिकार विरोधी है। उस प्रकार के आत्मज्ञान से पूर्व प्रवृत्त हुआ शास्त्र अविद्यावद्विषयत्व का अतिक्रमण नहीं करता है। कारण, "ब्राह्मणो यजेत" ब्राह्मण याग करें इत्यादि शास्त्र, वर्ण, आश्रम, वयः अवस्था आदि विशेष के अध्यास का आश्रयण कर ही प्रवृत्त होते हैं।

कुसुमलता

यदि कहा जाय कि भूख-प्यास या रागद्वेषमूलक जो भी लौकिक व्यवहार है, वे पशु आदि के व्यवहार के समान अविद्यामूलक हैं, अतः, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणमूलक व्यवहार भी अविद्यावद्विषय है—यह स्वीकार किया गया है। किन्तु यह मानने से ही सभी याग होम देवपूजा और तपस्या आदि शास्त्रीय-व्यवहार भी अविद्यामूलक क्यों माने जायेंगे ? कारण, इन व्यवहारों में आत्मा देह आदि से भिन्न है, यह हमलोगों को जानना जरूरी है। क्योंकि यदि हमलोगों को इस प्रकार का ज्ञान रहे कि देह से भिन्न आत्मा नहीं है तो परलोक वा स्वर्गभोग करने के लिए हमलोग याग होम आदि के सम्पादन के लिए क्यों प्रवृत्त होंगे ? ऐसी स्थिति में शास्त्रीय व्यवहार को अविद्यामूलक मानना उचित नहीं है। इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहा गया है कि यद्यपि शास्त्रीयव्यवहारों में

जब बुद्धिमान् मनुष्य प्रवृत्त होता है तब वह आत्मा का परलोक में अस्तित्व मानकर ही प्रवृत्त होता है, और, ऐसी स्थिति में देह से आत्मा भिन्न है यह ज्ञान उसको रहता ही है। किन्तु, ऐसा रहने पर भी वेदान्तवेद्य भूख-प्यास आदि से अनाक्रान्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी जाति-भेद से शून्य असंसारी आत्मा है, यह ज्ञान शास्त्रीय कर्म करने के समय आवश्यक नहीं है। इस प्रकार का आत्मज्ञान किसी भी तरह शास्त्रीय कर्म के अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही है। कारण, आत्मा को इस प्रकार समझने पर हमलोगों की किसी भी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः उस वेदान्तवेद्य आत्मतत्त्व के ज्ञान से पूर्व कर्मकाण्ड शास्त्र हमलोगों को होम, याग आदि कार्य में प्रवृत्त करता है, इसलिए, उसके अविद्यावद्विषय होने में कोई सन्देह नहीं है। यह स्वीकार करने का यह कारण है, वेद में "ब्राह्मणः यजेत" इत्यादि विधि वाक्य के द्वारा याग करने का आदेश देखा जाता है, जो व्यक्ति अपने को विशेषवर्णाश्रमधर्मपरायण विशेष वयोयुक्त, विशेष अवस्था सम्पन्न समझेगा उसी व्यक्ति का कर्तव्य है, अन्य का नहीं। यह तो कर्ममीमांसा शास्त्र से भी अवगत है। यह ज्ञान आत्मा में अनात्मधर्म के अध्यास का फल है इसमें सन्देह नहीं है। अतः, शास्त्रीय-व्यवहार अविद्यामूलक है इसमें सन्देह नहीं है।

भामती

स्यात् एतत्। भवन्तु प्रत्यक्षादीनि अविद्यावद्विषयाणि, शास्त्रं तु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः यजेत" इत्यादि न देहात्माध्यासेन प्रवर्तितुम् अर्हति। अत्र खलु आमुष्मिकफलोपभोगयोग्यः अधिकारी प्रतीयते। तथा पारमर्षं सूत्रम्—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्" इति (पू० मी० ३।७।१८) न च देहादि भस्मीभूतं पारलौकिकाय फलाय कल्पते इति देहाद्यतिरिक्तं कञ्चित् अधिकारिणम् आक्षिपति शास्त्रम्, तदवगमश्च विद्या, इति कथम् अविद्यावद्विषयं शास्त्रम् इत्याशंक्य आह 'शास्त्रीं तु' इति। "तु" शब्दः प्रत्यक्षादिव्यवहारात् भिनत्ति शास्त्रीयम्। अधिकारशास्त्रं हि स्वर्गकामस्य पुंसः परलोक सम्बन्धं विना न निर्वहति इति

ता॰न्मात्रम् आक्षिपेत् न तु अस्य असंसारित्वम् अपि, तस्य अधिकारे अनुपयोगात् । प्रत्युत औपनिषदस्य पुरुषस्य अकर्तुः अभोक्तुः अभोक्तुः अधिकार विरोधात् । प्रयोक्ता हि कर्मणः कर्मजनितफलभोगभागी कर्मणि अधिकारी स्वामी भवति । तत्र कथम् अकर्ता प्रयोक्ता कथं वा अभोक्ता कर्मजनितफल भोगभागी । तस्मात् अनाद्यविद्यालब्ध-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनं नरम् अधिकृत्य विधि-निषेध शास्त्र प्रवर्तते । एवं वेदान्ता अपि अविद्यावत्पुरुष विषया एव । न हि प्रमात्रादिविभागात् ऋते तदर्थाधिगमः । ते तु अविद्यावन्तम् अनुशासन्तः निर्मृष्टनिखिलविद्यम् अनुशिष्टं स्वरूपे व्यवस्थापयन्ति इति एतावान् एषां विशेषः । तस्मात् अविद्यावत्पुरुषविषयाणि एव शास्त्राणि इति सिद्धम् ।

स्यात् एतत् । यद्यपि विरोधानुपयोगाभ्याम् उपनिषदः पुरुषः अधिकारे न अपेक्ष्यते, तथापि उपनिषद्भ्यः अवगम्यमानः शक्नोति अधिकारं निरोद्धुम् । तथा च परस्परापहतार्थत्वेन कृत्स्न एव वेदः प्रामाण्यम् अपजह्यात् इति अतः आह "प्राक् च तथाभूतात्म" इति । सत्यम्, उपनिषदपुरुषाधिगमः अधिकार विरोधी, तस्मात् तु पुरस्तात् कर्मविषयः स्वोचितं व्यवहारं निर्वर्तयन्तः न अनुपजातेन ब्रह्मज्ञानेन शक्या निरोद्धुम् । न च परस्परापहतिः, विद्याऽविद्यावत्पुरुषभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः । यथा "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण-प्रमेय व्यवहारः, । पश्वादीनां च प्रसिद्धः अविवेक पुरःसरः प्रत्यक्षादि व्यवहारः, तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमताम् अपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारः तत्कालः समानः इति निश्चीयते ।

पुष्पलता

और (प्रमाणादि व्यवहार) पशु आदि के साथ (इन विषयों में) विशेष नहीं है । जैसे पशु आदि शब्द आदि विषयों के साथ श्रवण आदि (इन्द्रियों का) सम्बन्ध होने पर शब्द आदि विज्ञान के प्रतिकूल रहने पर उससे निवृत्त होता है, और, अनुकूल होने पर प्रवृत्त होता है। जैसे—डंडा हाथ में लिए हुए पुरुष को सामने देखकर यह व्यक्ति मुझको मारने की इच्छा करता है, यह समझकर, भागना आरम्भ करता है एवं हरे घास से

भरे हुए हाथ वाले पुरुष को देखकर उसकी ओर आ जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी दूसरे के मन की बात समझकर भयंकर दृष्टि, गाली बकते हुए और हाथ में तलवार लिए हुए बलवान् पुरुष को देखकर हट जाते हैं, इससे विपरीत (प्रेमपूर्ण दृष्टिवाले पुरुषों की ओर) की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिए पुरुषों का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार पशु आदि के समान है, और— पशु आदि का प्रत्यक्ष आदि व्यवहार (प्रमाणप्रमेय व्यवहार) अविवेकपूर्वक होता है, यह प्रसिद्ध है। पशु आदि के व्यवहार की समानता देखने से विद्वान् पुरुषों का भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार उस समय का समान ही है (अविवेक पूर्वक ही है) यह निश्चय किया जाता है।

चरन् यजेत", इति शास्त्रं प्रवर्तमानं न "हिंस्यात्" इत्यनेन न विरुध्यते तत् कस्य हेतोः पुरुषभेदयत् इति। अयजितक्रोधारातयः पुरुषाः निषेधे अधिक्रियन्ते, क्रोधारातिवशीकृता तु श्यनादिशास्त्रे इति। अविद्यावत्पुरुषविषयत्वं न अतिवर्तते इति यत् उक्तं तदेव स्फोरयति "तथाहि" इति। वर्णाध्यासः 'राजा राजसूयेन यजेत' इत्यादिः। आश्रमाध्यासः "गृहस्थः सदृशी भार्यां विन्देत्" इत्यादिः। वयोऽध्यासः "कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" इत्यादिः। अवस्थाध्यासः "अप्रतिसमा धेयव्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः" इति। "आदि" ग्रहणं महापातकोपपातकसङ्करीकरणपात्रीकरणमलिनीकरणाद्यध्यासोपसंग्रहार्थम्।

पुष्पलता

अच्छा, ऐसा ही हो, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्यावद्विषय ही हो, किन्तु "स्वर्ग की कामना करनेवाला ज्योतिष्टोमनामक याग करे" इत्यादि शास्त्र देह के ऊपर आत्मा का अध्यास कर प्रवृत्त नहीं हो सकता है, कारण ऐसे स्थल में पारलौकिक फल का उपभोग करने के योग्य व्यक्ति ही अधिकारी प्रतीत होता है। इस विषय में परम ऋषि जैमिनि का सूत्र भी है— "शास्त्रफल अनुष्ठानकर्त्ता को ही होता है, कारण, शास्त्र ही इसका प्रमाण है अतः, यजमान स्वयं ही अनुष्ठान करेगा" इति। देह आदि भस्मी भूतहोने से [वह] पारलौकिक फल का मौका नहीं हो सकता है, अतः

शास्त्र देह आदि से विलक्षण किसी अधिकारी का ही आक्षेप करता है। और इस प्रकार आत्मा का ज्ञान विद्या है, (ऐसी स्थिति में) तब कैसे अविद्यावद्विषय शास्त्र है ? इस प्रकार की आशङ्का कर भाष्यकार ने कहा है "शास्त्रीये तु" इत्यादि। "तु" शब्द प्रत्यक्षादिव्यवहार से शास्त्रीय-व्यवहार को अलग कर देता है। अधिकार शास्त्र स्वर्गकामनावाले पुरुष का परलोक सम्बन्ध के ज्ञान के विना निर्वाह नहीं होता है, अतः, मात्र परलोक के सम्बन्ध का ही आक्षेप करेगा किन्तु, आत्मा के असंसारित्व का भी (आक्षेप करेगा)। कारण उसका कर्तृत्व के विषय में उपयोग नहीं है। वरन्, उपनिषत्प्रतिपाद्य अकर्ता एवं अभोक्तृरूप पुरुष के साथ सभी प्रकार के अधिकार का विरोध ही है। कर्म का अनुष्ठान करने वाला ही कर्म-जनित फल का भोक्ता कर्म का अधिकारी या स्वामी होता है। इस स्थिति में (जो) कर्ता नहीं है (वह) कर्म का अनुष्ठान करेगा ? (एवं जो) भोक्ता नहीं है (वह) कर्मजनित फल का भोक्ता कैसे होगा ? अतः अनादि अविद्या के प्रभाव से कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्व आदि (धर्म) का अभिमानी (जो व्यक्ति अनादि अविद्या के कारण अपने ऊपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ब्राह्मणत्व आदि का आरोप करता है) पुरुष को आश्रयण कर विधि और निषेध शास्त्र प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वेदान्त शास्त्र भी अविद्यावान् पुरुष का ही आश्रयण करता है। कारण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण के विभाग के बिना वेदान्त-प्रतिपाद्य अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु वे अविद्ययाविशिष्ट पुरुष को आत्मतत्व का उपदेश कर जिस पुरुष की सभी अविद्याएँ विनष्ट हो गई है ऐसे उपदिष्टब्रह्मभाव स्वरूप अधिकारी को स्वरूप में व्यवस्थापित करते हैं—यही अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इस शास्त्र में विशेष है। अतः, अविद्यावत्पुरुष विषयक ही शास्त्र है—यह सिद्ध होता है।

अच्छा, ऐसा ही हो, यद्यपि विरोध एवं निष्प्रयोजन के कारण उपनिषद् से वेद्य पुरुष अधिकार में आवश्यक नहीं है; तथापि उपनिषद् से अवगम्यमान आत्मा। अधिकार का निरोध करने में समर्थ हो सकता है। और ऐसी स्थिति में परस्पर विरुद्ध एक अशंका दूसरे अंश से बाधित)

अर्थ का प्रतिपादन होने से सम्पूर्ण वेद ही प्रामाण्य से शून्य हो जायगा—इस आशङ्का से भाष्यकार ने कहा है "प्राक् च तथा भूतात्म" इति। (यह) सत्य है, उपनिद् से प्रतिपाद्य पुरुष का ज्ञान अधिकार का विरोधी है; किन्तु इस ज्ञान होने से पूर्व कर्मविधियाँ अपने अनुरूप व्यवहार को सम्पादन करती हुई ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व निरोध नहीं कर सकती हैं (ज्ञान-काण्ड और कर्मकाण्ड में) परस्पर व्याघात (बाध) नहीं है। कारण, (ज्ञानकाण्ड) विद्वान् पुरुष का आश्रयण करता है (एवं कर्मकाण्ड) अविद्वान् पुरुष का आश्रयण करता है, अतः, आश्रय के भेद से व्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। जैसे—"सभी प्राणियों की हिंसा न करें' (इस शास्त्र से हिंसामात्र का निषेध होने पर भी "हिंसा के लिए उद्यत व्यक्ति श्येन याग करें" इस शास्त्र की प्रवृत्ति होने पर भी "सभी प्राणियों की हिंसा न करें" इस शास्त्र का विरोधी नहीं होता है। इसका क्या कारण है? अधिकारी का भेद इसमें वर्त्तमान है? क्रोधरूपशत्रु पर जय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही निषेध शास्त्र का अधिकारी है और क्रोधरूप शत्रु के वश में रहनेवाला श्येन आदि शास्त्र में अधिकारी है। (सभी शास्त्र) में अधिकारी है। (सभी शास्त्र) अविद्यावत्पुरुष का यह जो कहा है—इसी को स्पष्टभाव से कहते हैं "तथा हि" इति। वर्णाध्यास "राजा राजसूय यज्ञ करे" इत्यादि। आश्रमाध्यास "गृहस्थ अनुरूप भार्या के साथ विवाह करे" इत्यादि। वयोऽध्यास 'मस्तक का केश काला रहते ही अग्नि का आधान करे" इत्यादि। अवस्थाध्यास "अचिकित्स्य व्याधि से युक्त व्यक्ति जल आदि में प्रवेश के द्वारा प्राण का त्याग करे" इत्यादि। "आदि" पद के द्वारा महापातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण आदि पातकों के अध्यास के ग्रहण के लिए है।

कुसुमलता

प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण और तन्मूलक सभी व्यवहार ही अविद्या-वद्विषय है--अनात्मज्ञ व्यक्ति के पक्ष में ही सम्भव है, यह विवेचन पूर्व-प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया गया है। किन्तु शास्त्रीय प्रमाण एवं

शास्त्रप्रमाणमूलक व्यवहार भी अविद्यावद्विषय है—यह किस प्रकार माना जा सकता है। यही आशङ्का "शास्त्रीये तु" इत्यादि भाष्य के द्वारा सूचित हो रही है। प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण अविद्यावद्विषय होते हैं तो हों, किन्तु शास्त्र से जिस अपौरुषेय विधि और निषेध का बोध न हो रहा है-वे अविद्यावद्विषय कैसे हो सकते हैं? कारण, "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग की कामना करनेवाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे इत्यादि अनेक शास्त्रों से अनेक याग एवं होम आदि की विधि देखने में आती है। इसी प्रकार "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" सभी प्राणियों की हिंसा न करें, इत्यादि अनेक निषेधशास्त्र देखे जाते हैं। अतः शास्त्र कहने से अनेक विधि और निषेध की ही समष्टि की अवगति होती है। इन शास्त्रों के अनुसार संसार में जब किसी विहितकर्म में प्रवृत्ति या किसी निषेध कर्म से निवृत्ति होती है, उस समय उसके शरीर में आत्मा का अध्यास रहता है—यह नहीं माना जा सकता है। कारण, शरीर को आत्मा मानने वाला व्यक्ति अन्य लोक में स्वर्ग रूप फल के साधक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत नहीं हो सकता है। कारण उसको यह अवगत है कि स्वर्ग के समय से देहरूप आत्मा नहीं रह सकता है। जो व्यक्ति यह जानता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, देह के भस्म होकर विनष्ट होने पर भी आत्मा रहता है और वही अनुष्ठान के समय का आत्मा शरीर का इस लोक में ही विनाश होने पर भी रहता है, वही आत्मा परलोक में स्वर्ग आदि का भोग करता है, इस विषय को समझकर ही पुरुष शास्त्र से विहित ज्योतिष्टोम आदि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार मद्यपान, ब्रह्महत्या आदि निषिद्ध कर्मों से निवृत्त होने के लिए भी देह से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा निषिद्ध कर्मों से निवृत्त होने की क्या आवश्यकता है। मनुष्य निषिद्ध कर्मों के आचरण से नरक रूप परलोक के भोग की आशङ्का से अन्याय-कर्मों से निवृत्त होता है, किन्तु देह को ही आत्मा मानने पर देह के नष्ट हो जाने परलोक में नरकलोक के भोग की आशङ्का ही नहीं रह जाती है तब अन्याय कर्मों के

(निषिद्ध कर्मों) के आचरण से निवृत्त होने की क्या आवश्यकता होगी ? क्योंकि पाप कार्य से इस लोक में तो अभीष्ट की ही सिद्धि होती है और अन्त में अनिष्ट की आशंका ही नहीं है। अतः, यह मानना होगा कि शास्त्रीय-कर्म के अनुष्ठान में जो व्यक्ति प्रवृत्त होता है, उस व्यक्ति को देह में आत्मा का अध्यास नहीं रह सकता है, वरन् आत्मा देह से भिन्न है यह ज्ञान उसको रहता है. फलतः, शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त या निवृत्त होनेवाला व्यक्ति आत्मा के ज्ञान से शून्य नहीं हो सकता है। अतः, शास्त्रीय प्रमाणमूलकव्यवहार को भाष्य में अविद्याद्विषयक कहना सङ्गत नहीं है। कर्मकाण्ड के मीमांसकों का कर्मकाण्ड के तत्त्व के विषयों में प्रमाण माना गया है, जैमिनि ही पूर्वमीमांसा दर्शन के रचयिता हैं—उन्होंने भी इसका समर्थन किया है। पूर्वमीमांसा ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में सप्तमपाद के अठाहरवें सूत्र में आत्मा का परलौकिक अस्तित्व एवं देहादि से भिन्नत्व दोनों ही माना है।

"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगेस्यात्" (पू० मी० ३।७।१८) शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित याग आदि के अनुष्ठान का फल अनुष्ठानकर्ता को ही होता है, अतः, इस यज्ञ के सभी अङ्गों का अनुष्ठान याग के कर्ता को ही करना चाहिए. कारण, शास्त्र ही अवगत करा देता है कि जो व्यक्ति स्वर्ग की कामना करेगा, वही याग करेगा। पूर्वमीमांसा में यह सूत्र "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग की कामनावाले व्यक्ति दर्शपूर्वर्णमासनामक याग करे-इस वेद के विधि-वाक्य का अवलम्बन कर पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है। इस श्रुतिवाक्य के पढ़ते ही लोगों के मन में सन्देह हो सकता है कि जो व्यक्ति यज्ञ करेगा वह व्यक्ति उस याग के सभी अंगों का अनुष्ठान स्वयं ही करेगा या पुरोहित आदि का नियोग कर करेगा, क्योंकि, संसार में देखा जाता है कि कर्ता अनेक स्थानों में अनेक कार्यों का सम्पूर्ण रूप में स्वयं ही सम्पादन करता है एवं अनेक स्थलों में कर्ता दूसरे के द्वारा भी कार्य का सम्पादन कराता है, किन्तु दोनों स्थलों में समान रूप में ही फल का भागी होता है।

अतः, इस स्थल में सन्देह होता है—याग कर्ता स्वयं ही सम्पूर्ण याग के अंगों का अनुष्ठान करेगा या नहीं ? इस प्रकार के सन्देह के निराकरण के लिए पूर्वपक्षी ने कहा है कि यागादि के सभी अङ्गों को याग के अनुष्ठानकर्ता को ही सम्पादन करना होगा। अनन्तर महर्षि जैमिनि ने सिद्धान्तसूत्र के द्वारा पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए कहा है कि "अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानात् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि"। (पू० मी० ३/७/२०) यजमान से अतिरिक्त ऋत्विक् आदि भी याग का अनुष्ठान कर सकते हैं, क्योंकि शास्त्र में ही कहा गया है कि दक्षिणा आदि के द्वारा ऋत्विक् यज्ञ आदि का काम कर अपनी आत्मा का स्वयं दक्षिणा आदि के द्वारा क्रय कर ऋत्विक् नहीं किया जा सकता है इत्यादि। इसमें महर्षि ने शास्त्रवाक्य का प्रदर्शन कर उक्त सन्देह का विचार किया है. यह भी लक्ष्य करने का विषय है। पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष दोनों में ही यागकर्ता को स्वर्ग आदि फल के भोक्तृत्वरूप में माना गया है। जो व्यक्ति उक्त दर्शपूर्णमास आदि याग करता है. वह देह के विनाश होने पर स्वर्ग में जाकर उस याग के फल का भोग करता है, अतः, देह से अतिरिक्त परलोकगामी आत्मा के अस्तित्व को मीमांसा ने भी माना है। इसलिए, यह मानना होगा कि शास्त्रप्रमाणमूलक व्यवहार में व्यवहारकर्त्ता को देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान है फलतः, शास्त्र-प्रमाण और तत्मूलक व्यवहार कभी भी अविद्यावद्विषय नहीं हो सकता है—इसी विषय को 'स्यादेतत्' आदि से भामती में कहा है।

इस स्थल में भामतीकार ने पूर्वमीमांसा का पूर्वपक्ष मात्र सूत्र को उद्धृत कर भाष्य में सूचित आशंका का वर्णन किया है। भामतीकार एवं कल्पतरुकार ने पूर्वमीमांसा के जिन दो सूत्रों को उद्धृतकर विश्लेषण किया है, उनमें देह से अतिरिक्त आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्पष्टरूप में नहीं कहा गया है, वास्तविक स्थिति तो यह है कि जैमिनि के मीमांसासूत्र में इस विषय की किसी भी सूत्र में सुस्पष्ट चर्चा नहीं मिलती है। अतः जिस कर्मकाण्ड के प्रामाण्य पर आत्मा के पारलौकिक अस्तित्व की मीमांसा की जाती है, उस मीमांसा के आचार्य जैमिनि ने आत्मा के स्वरूप के विषय

में कुछ भी नहीं कहा है। जैमिनि कर्मकाण्ड की ही मीमांसा करते हैं वेद में कर्मकाण्ड विषयक विधि और निषेध को देखकर कर्म के सम्बन्ध में जितने प्रश्न हो सकते हैं, उन्हीं की मीमांसा की है, यही इस शास्त्रका प्रधान लक्ष्य है, आत्मा के स्वरूप का विचार उत्तर मीमांसा का विषय है, ये दोनों दर्शन सर्वथा भिन्न शास्त्र हैं।

"शास्त्रीये तु" इस वाक्य में 'तु' शब्द के द्वारा लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण-प्रमेय व्यवहार से शास्त्रीय प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार सर्वथा विलक्षण है—यह अवगत होता है। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि अधिकारशास्त्र स्वर्गकामी को परलोक सम्बन्ध की अवगति कराता है। पर आत्मा को अध्यासरहित असंसारी होने का बोध तो नहीं कराता है, जिससे शास्त्रीय प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार अविद्यावद्विषय नहीं होगा। इसी आशङ्का से भाष्य की अवतारणा की गई है। स्वर्गकामनावाले व्यक्ति को लोक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहने पर अर्थात् मृत्यु के बाद दूसरे परलोक में आत्मा—स्वर्ग आदि सुख का भोग करता है यह ज्ञान नहीं रहने पर 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अधिकारशास्त्र, अर्थात् कर्म करने वाले पुरुष के साथ कर्म फल के सम्बन्ध का बोधक शास्त्र प्रामाणिक माना ही नहीं जा सकता है। वरन् असंसारित्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि आत्मा को यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कर्मकाण्ड में आवश्यक नहीं है, आत्मा के असंसारित्व, उपभोक्तृत्व आदि का ज्ञान होने पर व्यक्ति की कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति ही नहीं होगी, कारण, जिस भोग के लिए कर्म किया जाता है, वह भोग आत्मा में असम्भव है, वह मिथ्या है, यदि वह भ्रम से कल्पित है, आत्मा ही एकमात्र नित्य सत्य है- यह मानने पर मिथ्या वस्तु के लाभ के लिए किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी, इसलिए आत्मा को अभोक्तृत्व आदि का ज्ञान कर्मकाण्ड के अनुकूल नहीं है, वरन्, वह विरोधी ही है। कर्म का अनुष्ठान करने वाला कर्म का कर्ता या कर्म से उत्पन्न फल का भोग करने वाला कहा जाता है, और, इसी को कर्म का अधिकारी या स्वामी कहा जाता है। फलत, जो अपने को अकर्ता समझता है, वह कर्म का कर्त्ता किस प्रकार हो सकता है? इसी प्रकार जो अपने को अभोक्ता

समझता है, वही उस कर्म के फल का भोक्ता कैसे हो सकता है ? अतः, अगत्या यह मानना होगा कि अनादि अविद्या के कारण कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ब्राह्मणत्व आदि का अभिमान रखने वाला व्यक्ति ही समग्र विधि और निषेध शास्त्र समग्र कर्मकाण्ड में प्रवृत्त होता है, फलतः सभी विधि-निषेध शास्त्र अज्ञानी का ही शास्त्र है, अज्ञानी ही इस शास्त्र के अधिकारी होते हैं, अविद्वान् ही इसको प्रामाणिक मानकर विवेचना करते है। जिसको आत्मा का यथार्थ तत्त्वज्ञान रहता है, उनकी दृष्टि में विधि और निषेध शास्त्र प्रमाण ही नहीं है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोधक वेदान्तशास्त्र अज्ञानी को ही अवलम्बन कर प्रवृत्त नहीं होता है. इसलिए वेदान्त अविद्यावद्विषय नहीं हो सकता है, विधि और निषेध शास्त्र अज्ञानी शास्त्र है, क्योंकि अज्ञानी का ही अवलम्बन करता है। किन्तु, भाष्यकार ने सामान्य रूप में सभी शास्त्रों को अविद्यामूलक कैसे कहा ? भामती कार ने इस आपत्ति की आशंका से कहा है—वेदान्त भी कर्मकाण्ड के समान अविद्यावद्विषय है, अतः यह भी अज्ञानियों का शास्त्र है. ज्ञानी का शास्त्र नहीं है। कारण, वेदान्त के अर्थ, वेदान्त के प्रतिपाद्य अर्थ की अवगति के लिए ही प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय का विभाग आवश्यक है. अर्थात् वेदान्तशास्त्र प्रमाण है. वेदान्त का अर्थ या प्रतिपाद्य प्रमेय है, एवं इसका बोद्धा या ज्ञाता प्रमाता है। वेदान्तशास्त्र के आलोचक के लिए यह विभाग ज्ञान अवश्यभावी है, यह विभागज्ञान न रहने पर वेदान्त की आलोचना या वेदान्त का अध्ययन सम्भव नहीं है। इस विभाग का ज्ञान जिसको रहता है उसको द्वैतज्ञान रहता है उस व्यक्ति को आत्मा का असंसारित्व अभोक्तृत्व अद्वैतत्त्व आदि स्वरूपज्ञान इस समय परिस्फुट नहीं रहता है आत्मा का संसारित्व और द्वैतज्ञान आदि धर्म अज्ञान या अविद्या का ही फल है. अतः वेदान्तशास्त्र भी अविद्वान् का शास्त्र है, जिस व्यक्ति को देहादि में आत्मा अध्यास रहता है, उसी का शास्त्र है—यह मानना होगा। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि वेदान्त शास्त्र की आलोचना के फलस्वरूप आत्मा का अभोक्तृत्व, असंसारित्व आदि यथार्थ

स्वरूपज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? वेदान्त में अन्य विधि-निषेधात्मक शास्त्र से वैशिष्ट्य ही क्या है ? भामती वाले ने स्वयं ही कहा है कि जिस अविद्वान् व्यक्ति को वेदान्तशास्त्र का उपदेश किया जाता है, उस व्यक्ति की अविद्या का ध्वंस हो जाता है एवं इसके फलस्वरूप अपने आत्मस्वरूप में अवस्थान करने में समर्थ होता है। वेदान्तशास्त्र के उपदेश की प्राप्ति के समय में वेदान्तशास्त्र के अध्ययन की आलोचना के समय में पुरुष के देहादि में आत्मा का अध्यास ही रहता है, साधक अविद्वान् ही रहता है, अतः, उस समय आत्मा का अध्यास नष्ट नहीं होता है, किन्तु, उपदेश के बाद उस उपदेश के अनुसार वेदान्त से कथित मनन और निदिध्यासन करते-करते साधक के द्वैतज्ञान की निवृत्ति होती है एवं वह व्यक्ति उस अपने स्वरूप में अवस्थित होता है--यही अन्य शास्त्र से वेदान्त शास्त्र की विलक्षणता या विशेषता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सभी शास्त्र अविद्वान् । को अवलम्बन कर ही प्रवृत्त होते हैं अर्थात् अविद्यावद्विषय हैं, वेदान्त के प्रतिपाद्य का ज्ञान शास्त्रमात्र का ही अधिकार विरोधी एवं अनुपयोगी है। इसी आशय की अभिव्यक्ति करने के लिए "तु" शब्द से "इति सिद्धम्" यह भामती ग्रन्थ कहा है। "शास्त्रीये तु" "विरोधात् च" इस भाष्य का भी यही आशय है। वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य अद्वैत आत्मा का तत्वज्ञान कर्मकाण्ड शास्त्र का अनुपयोगी है। एवं कर्मकाण्ड के अधिकार का विरोधी है, किन्तु, इस स्थिति में भी यह शङ्का हो सकती है कि वेदान्त और कर्मकाण्डशास्त्र दोनों ही वेदशास्त्र हैं, वेद का ही एक अंश वेदान्त शास्त्र हैं उस वेदान्त का प्रतिपाद्य अद्वैत आत्मतत्व कर्मकाण्ड के अधिकार के स्वरूप को मिथ्या सिद्ध कर देता है एवं कर्मकाण्ड के अधिकारी का स्वरूप ज्ञान वेदान्तशास्त्र प्रतिपाद्य आत्म तत्वज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर देता है तो परस्पर विरोध प्रयुक्त ज्ञान और कर्मकाण्डात्मक समग्र वेद ही अप्रमाणित हो जायगा। अर्थात् कर्मकाण्ड आत्मा को कर्तृत्व और भोक्तृत्व के ऊपर निर्भर करता है, जो व्यक्ति आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर विश्वास नहीं करता है, अर्थात् वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मतत्व के विषय में

विश्वास करता है, वह कभी भी कर्मकाण्ड का अवलम्बन नहीं करता है, अतः इनकी दृष्टि में कर्मकाण्ड अप्रमाण हैं एवं कर्मकाण्ड की दृष्टि में आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि आवश्यक है, इस पर जिसका विश्वास है, वह व्यक्ति वेदान्त-प्रतिपाद्य अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व पर आस्था नहीं करता है। अतः उसकी दृष्टि में वेदान्त अप्रमाण है, इसप्रकार समग्र वेदान्त ही शास्त्र परस्पर विरुद्ध स्वभाव होकर अप्रमाणित हो जायगा

पूर्वोक्त आशङ्का के कारण ही आचार्य ने कहा है—'प्राक् च तथा-भूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावद्विषयत्वं न अतिवर्तते"। उक्त आत्मज्ञान के पूर्व में प्रवृत्त शास्त्र अविद्यावद्विषयत्व का अतिक्रमण नहीं करता है। इस भाष्यांश की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति ने कहा है--सभी शास्त्रों की फलदशा, अधिकार दशा और व्यवहारदशा है। याग आदि के फलभोग की अवस्था कर्मकाण्ड की फलदशा है। साधक की अद्वैत आत्मज्ञान निश्चय की अवस्था वेदान्त की फलदशा है। यागादि के अनुष्ठान की अवस्था कर्मकाण्ड की व्यवहार दशा है और वेदान्त के श्रवण (विचार) आदि के समय में भी कर्तृत्व और प्रमातृत्व आदि ज्ञान आवश्यक हैं। अतः, दोनों शास्त्रों के अनुष्ठान-दशा में आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि ज्ञान रहने से सम्पूर्ण वेदशास्त्र का व्यावहारिक-प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहता है। किन्तु वेदान्त शास्त्र की फल दशा में जब आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है तब कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि और प्रमाण-प्रमेय ज्ञान के अभाव में कर्मकाण्ड और वेदान्तशास्त्र दोनों ही उनकी दृष्टि में अप्रमाणित हो जाते हैं। किन्तु दूसरे की दृष्टि में कर्मकाण्ड का व्याव-हारिक प्रामाण्य एवं कर्मकाण्ड का व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों ही प्रामाण्य रहता है। कारण, ज्ञानकाण्ड में अनुष्ठान की अवस्था में व्याव-हारिक प्रमाण्य रहने पर भी अन्त में ब्रह्मके साक्षात्कार का वह जनक होने से पारमार्थिक प्रामाण्य के रूप में ही परिगृहीत होता है। तीनों कालों में अबाधित ज्ञान ही वेदान्तशास्त्र से उत्पन्न होता है एवं कर्मकाण्ड उसका ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है, अतः, वेदान्त का पारमार्थिक प्रामाण्य कर्म

काण्ड की तुलना में अधिक है, किन्तु व्यावहारिक प्रामाण्य दोनों में समान रूप में वर्तमान रहता है। तीनों कालों में सर्वाधिक विषय के प्रमाण को ही पारमार्थिक प्रमाण कहा जाता है, याग आदि का फल तीनों कालो में अबाधित नहीं रहता है, अतः उसके बोधक कर्मकाण्ड में केवल व्यावहारिक-प्रामाण्य ही है। इसी सिद्धान्त पर स्थिर होकर भामतीकार ने कहा है कि—यह सत्य है कि उपनिषद् से प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व का ज्ञान अधिकार का विरोधी है, वह व्यक्ति किसी अनुष्ठान का अधिकारी नहीं हो सकता है, उनके द्वारा याग आदि के अनुष्ठान के समान ही वेदान्त की आलोचना भी असम्भव है। किन्तु इस प्रकार के आत्मतत्त्व साक्षात्कार होने से पूर्व अधिकार बोधक सभी शास्त्र अपने-अपने अनुरूप व्यवहार को उत्पन्न करते हैं, ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति उस समय तक होने से इन अधिकार शास्त्रों का ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाध नहीं होता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में परस्पर विरोध की सम्भावना भी नहीं रह जाती है। कारण, व्यावहारिक प्रमाण स्वरूप सभी शास्त्र अविद्वान् पुरुष को ही अधिकारी कर प्रवृत्त होते हैं, एवं पारमार्थिक प्रमाण स्वरुप सभी शास्त्र विद्वान् अर्थात प्राकृत अद्वैतआत्मतत्त्व वेत्ता पुरुषको ही अधिकारी बनाकर चरितार्थ होता है, अतः पूर्वोक्त विरोध की सम्भावना नहीं है। विरोध शब्द का अर्थ है—िक व्यक्ति को एक ही समय में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का आश्रयण करना। जैसे जो व्यक्ति जिस समय आत्मा को कर्ता समझ कर विश्वास करता है, उसी समय यदि व्यक्ति को अकर्ता समझकर विश्वास है, ऐसी स्थिति में ये दोनों विश्वास परस्पर विरुद्ध होते हैं एवं इस प्रकार के दो विश्वासों में परस्पर विरोध सम्भव होता है। किन्तु, प्राकृत स्थल में इस प्रकार का विरोध नहीं है। कारण, जो व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करता है उस समय वह वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैतवेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैत आत्मतत्त्व पर विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति जिस समय वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैत आत्म तत्व पर विश्वास करता है, वह व्यक्ति उस समय आत्मा को कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों में विश्वास नहीं करता है, अतः

पूर्वोक्त विरोध का अवसर ही नहीं रहता है। भामतीकार ने इस विषय को भली-भांति अवगत कराने के लिए कर्मकाण्डात्मक शास्त्रों में से एक उदाहरण प्रदर्शन कर सम्भावित विरोध के परिहार का मार्ग प्रदर्शित किया है— कर्मकाण्ड में कहा गया है कि "किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए"। और अन्यत्र कहा गया है कि "श्येनयाग कर शत्रु का विनाश करना चाहिए"। पूर्वोक्त निषेध शास्त्र है और यह विधि शास्त्र है। एक ही शास्त्र में हिंसा न करना और हिंसा करना दो परस्पर विरुद्ध विधि हैं। किन्तु, इतने ही से क्या ये अप्रमाण हो जायेगी. वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, कारण, सभी प्राणियों के हिंसाविषयक निषेध का अधिकारी क्रोध पर विजयी पुरुष ही होता है एवं श्येनयाग के द्वारा हिंसा विषय का अधिकारी क्रोधी पुरुष ही होता है, अतः अधिकारी का भेद होने से दोनों शास्त्रों में विरोध सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड और वेदान्त का सम्भावित परस्पर विरोध भी नहीं रहता है। अतः, आत्मतत्त्वज्ञान के पूर्व में प्रवृत्त अधिकार शास्त्र अविद्वान् पुरुष का ही आश्रयणकर स्थित है, इसलिए यह अविद्यावद्विषयक ही होगा। यही "स्यादेतत् से श्येनादिशास्त्र इति" इस भामती का आशय है।

आचार्य शङ्कर ने इसी विषय को सुस्पष्ट रूप से समझाने के लिए कहा है'—'तथा हि ब्राह्मणो यजेत इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते। ब्राह्मणो यजेत इत्यादि शास्त्र आत्मा में वर्ण, आश्रम, वय और अवस्था आदि विशेष धर्मों के अध्यास का अवलम्बन कर प्रवृत्त होते हैं। कर्मकाण्ड के प्रवृत्त होने के लिए आत्मा में अनात्मा का अध्यास या भ्रमज्ञान आवश्यक होता है, ब्राह्मण आदि का अध्यास ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों का अध्यास एवं अवस्था आदि का अध्यास आवश्यक होता है। कर्मकाण्ड वर्णाध्यास का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, इसका दृष्टान्त—'राजा राजसूयेन यजेत" राजा राजसूययाग करे, इस स्थल में क्षत्रियवर्णत्वका अध्यास है। कर्मकाण्ड में आश्रमाध्यास के अवलम्बन का दृष्टान्त "गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत्" गृहस्थ अनुरूप भार्या लाभ करे। इस स्थल में आत्मा में गृहस्थ आश्रम

का अध्यास होता हैं। उम्र के अध्यासका दृष्टान्त 'कृष्णकेशोऽग्नी नादधीत' शिर काला रहने तक ही अग्नि का आधान करे। इस स्थल में युवा वस्थाका अध्यास हैं। अवस्था के अध्यासका दृष्टान्त है "अप्रतिसमाधेव व्याधीनां जलादिप्रवेशेन प्राणत्यागः" असाध्य व्याधि होने पर जल प्रवेश कर प्राण का त्याग करना चाहिऐ। इस स्थल के असाध्य व्याधिरुप स्थूल शरीर की अवस्था का अध्यास आत्मा में होता है। इस स्थल में आचार्यने "वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि" इस शब्द में आदि शब्द का प्रयोग किया है। इस आदि पद के द्वारा सूक्ष्म शरीर मी अवस्था स्वरुप अनात्मक वस्तु का आत्मा में अध्यास भी क हा गया हैं। भामतीकार ने कहा है महापातक, उप पातक संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण प्रभृति। वस्तुतः उपनिषद में कथित अपापविद्ध आत्मा में पापका अध्यास करके ही कर्मकाण्डमें कथित प्रायश्चित्त आदि कर्मो का अनुष्ठान होता हैं, इसलिए यह भी आत्मा में अनात्म वस्तु के अध्यास का उदाहरण हैं। महापातक शब्द से ब्रह्महत्या, सुरापान, ब्राह्मण का सोना चुराना, विमातृ गमन आदि हैं।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः

महान्ति पाताकान्याहुस्तत्संसर्गी च पञ्चमः ।। मनु० अ० ११ शूद्र के लिए सुरापान महापातक नहीं हैं, वरन्, ब्राह्मणीगमन ही उसके लिए महापातक है। जो दण्डनीय नहीं है उसको दण्ड देना एवं युद्ध में भागना क्षत्रिगो के लिए महापातक हैं। तौल में कम देना वैश्य के लिए महापातक है। कपिला गौ का दुग्धपाब और मांस विक्रय शूद्र के लिए महापातक है।

उपपातक—गोहत्या, व्रात्यता (यथासमय उपनयन न होना] चौर्य, ऋण का परिशोध न करना, अधिकार न रहने पर अग्निहोत्र याग करना, लवण आदि अविक्रेय वस्तु का वेचना, ज्येष्ठ अविवाहित रहने पर कनिष्ठ का विवाह, वेतन प्रदान पूर्वक अध्ययन और वेतन ग्रहण पूर्वक अध्यापन, परस्त्रीगमन परिवित्ति (कनिष्ठ का विवाहकाल उपस्थित होने पर भी ज्येष्ठ का विवाह न करना), शास्त्रनिषिद्ध सूद लेना, लवण उत्पन्न करना, स्त्रीहत्या; शूद्र हत्या, अदीक्षित वैश्यहत्या,

अदीक्षित क्षत्रिय हत्या' निन्दित धन के द्वारा जीविका निर्वाह, नास्तिकता' व्रतलोप अर्थात् ब्रह्मचारी का स्त्री संसर्ग, अपत्यविक्रय, धान्यहरण, ताम्रादितैजस पदार्थों का हरण, गौ आदि पशुका हरण, अयाज्ययाजन, पिता-माता और गुरु आदि का त्याग, जलाशय आदि का विक्रय, कुमारी के कलङ्क की चर्चा, अविवाहिता बड़े के रहने पर छोटे के विवाह में पौरोहित्य, अविवाहित बड़े के रहने पर कनिष्ठ को कन्यादान, दूसरों की हानि करने वाली कुटिलता सकंल्पित व्रत भंग, मात्र अपना पेट भरने के लिए भोजन वनाना, मद्य पीने वाली अपनी पत्नी के साथ संसर्ग, वेदाध्ययन का परित्याग' आहित अग्निका परित्याग, पुत्र त्याग, पितृव्य, मातुल और बान्धवों का अकारण परित्याग, भोजन बनाने के लिए हरे वृक्षों का काटना, पत्नी, भगिनी, कन्या आदि का वेश्या बनाकर अर्थोपार्जन, औषध विक्रय द्वारा जीविका निर्वाह, ब्राह्मण और क्षत्रिय के द्वारा तिल ईख आदि का रस निकालने वाले यन्त्र का संचालन, मृगया आदि व्यसन में आसक्ति, अपने को बेचना, असमीचीन शासन का आलोचन, ऋण रखना' पत्नी को बेचना।

गोवधो व्रात्यता स्तेयमृणानामानपक्रिया।
अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रयः परिवेदनम्॥
भृताद्ध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा।
पारदार्यं पारवित्यं वार्द्धुष्यंलवणक्रिया॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम्।
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानाञ्चैव विक्रयः॥
धान्य कूप्य पशुस्तेयमयाज्यानाञ्च याजनम्।
पितृमातृगुरुत्यागस्तडागाराम विक्रयः॥
कन्यासन्दूषणञ्चैव परिवेदकयाजनम्।
कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम्॥
आत्मार्थे च क्रियारम्भो मद्यपत्नीनिषेवणम्।

स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ।
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधजीवनम् ।
हिंसायन्त्रविधानञ्च व्यसनान्यात्मविक्रयः ।
असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता ।
भार्यायाश्च विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ या० स्मृ० अ० ३ श्लो० २३४ से २४१

संकरीकरण से गदहा, घोड़ा ऊँट, मृग, हाथी, बकरी, भेंड, मछली, साँप और भैंस का बध समझा जाता है। अपात्रीकरण से निन्दित व्यक्ति से धन ग्रहण, निषिद्ध वाणिज्य, शूद्र की सेवा, और झूठ बोलना समझा जाता है। मलिनीकरण से कृमि, कीट और पक्षी की हत्या, मद्य के साथ एक जगह लाकर खाद्य भोजन, फल की चोरी, काठ की चोरी फूल की चोरी और थोड़े में अधीरता अवगत होता है। इस स्थल में भी भामतीकार ने मलिनीकरण आदि अध्यास पद में एक आदि पद का ग्रहण किया है, अतः, इसके द्वारा अवशिष्ट पातकों का ग्रहण करना होगा। इन पातकों से अतिरिक्त पातक भी हैं। जैसे अतिपातक, अनुपातक, जातिभ्रशंकर एवं प्रकीर्णक इन नव पातकों की अवगति होती है। अतिपातक से मातृगमन पितृगमन पुत्रवधूगमन तथा स्त्री पक्ष में पितृगमन, पुत्रगमन, ससुरगमन अवगत होता है। अनुपातक से निम्न लिखित अवगत होते हैं—दूसरे के उत्कर्ष को देख कर ईर्ष्यावश मिथ्या कहना, राजा के साथ दुष्टता, पिता के मिथ्या दोष का कथन, अधीत वेदका विस्मरण, वेदनिन्दा, कूटशिक्षा प्रदान ब्राह्मण व्यतिरिक्त मित्रवध, ज्ञानपूर्वक पुनः पुनः अन्त्यजों का अन्नग्रहण, ज्ञानपूर्वक पुनः पुनः छाता हरण, मनुष्य का हरण, अश्वग्रहण, चाँदीहरण, भूमिहरण, हीरकहरण, मणिहरण, सपिण्डस्त्रीगमन, कुमारीगमन, अन्त्यजागमन, बन्धुपत्नीगमन, औरसपुत्र भिन्न पुत्र की स्त्री का गमन, औरस पुत्र के असवर्णस्त्रीगमन माता की बहन का गमन, पितृभगिनीगमन, सासगमन, मामीगमन, शिष्यपत्नीगमन, भगिनीगमन, आचार्यभार्या-

गमन, शरणागतागमन, राज्ञादिगमन, प्रव्रजितागमन, धात्रीगमन, साध्वीगमन, वर्णोत्तमागमन—शब्दकल्पद्रुम। जातिभ्रंशक शब्द का अर्थ ब्राह्मण को पिंडा देना, अघ्रेयवस्तु या मद्य का आघ्राण, खलता और पुंमैथुन। मनु० स्मृ ११ ६८। प्रकीर्णक से इसके अतिरिक्त सभी पातकों का ग्रहण होता है। प्रायश्चित्तरूप कर्मकाण्ड के लिए इन नव पापों का कोई न कोई अध्यास शुद्ध आत्मा में होता है। इस स्थल में सभी पापों का प्रायश्चित्त ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। इस स्थल में भामतीकार ने कर्मकाण्ड में अपेक्षित अवस्था-ध्यास के परिचय-प्रसङ्ग में प्रायश्चित्तरूप कर्मों के लिए सभी प्रकार के पापों का उल्लेख किया है। किन्तु, अन्य अध्यासों के परिचय के रूप में यागादि का कोई परिचय नहीं दिया है। यागों का भी सामान्य-परिचय आवश्यक है अतः, उनका सामान्य निर्देश दे रहा हूँ—

वेदविहित कर्म तीन भागों में विभक्त हैं, यज्ञ, होम और दान। देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग करना यज्ञ या याग है। यह तीन प्रकार का है पयोद्रव्यक, ओषधि-द्रव्यक एवं पशुद्रव्यक। देवता के उद्देश्य से दूध, दही, छेना के जल आदि दुग्धप्रकृतिक द्रव्य जिस याग में अर्पित किये जाते हैं—वे पयोद्रव्यक याग कहे जाते हैं। व्रीहि यव, गोधूम आदि द्रव्यप्रकृतिक पुरोडाश अर्थात् पिष्टक-विशेष जिस याग में देवता के उद्देश में अर्पित होता है, वह ओषधि-द्रव्यक-याग कहा जाता है। पशुमांस अर्थात् छाग मेष आदि प्राणी के मांस-प्रकृतिक पुरोडाश के द्वारा जो याग निष्पन्न होता है, पशु-द्रव्यक याग या यज्ञ कहा जाता है। घृत सभी याग में साधारण उपकरण है। त्रैवर्णिक गृहस्थ ही इन यागों का अधिकारी है। जैसे—पयोद्रव्यक-अग्निहोत्र, वैश्वदेव या आमिक्षायाग और सान्नाय्य आदि। इसका फल स्वर्ग है। पशुद्रव्यक-ज्योतिष्टोम या सोमयाग अग्निषोम, अश्वमेघ, राजसूय, वाजपेय, आप्तोर्याम, अतिरात्र आदि। इनका फल स्वर्ग और प्रतिष्ठा आदि हैं। इनमें राजसूय और अश्वमेघ में क्षत्रिय का ही अधिकार है। इनका फल सामान्यतया स्वर्ग होने पर भी अनुष्ठान क्लेश की मात्रा के अनुसार स्वर्ग के सुख में भी तारतम्य है। होम शब्द का अर्थ संस्कृत अग्नि में देवता के उद्देश से द्रव्यप्रक्षेप अर्थात्

त्याग अवगत होता है। यह भी याग के अन्तर्गत है। इसमें घृत आदि द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेपरूप विशेष रहने से भिन्न रूप में निर्देश किया गया है। होम का फल भी स्वर्ग होता है। अग्निहोत्र आदि ही इसका दृष्टान्त है। अन्तर्वेदी और बहिर्वेदी के भेद से दान दो प्रकार का होता है। यज्ञकाल में दक्षिणा आदि का प्रदान करना अन्तर्वेदिक दान कहा जाता है एवं अन्य समय का दान, जैसे पुष्करणी प्रतिष्ठाकाल में दान, ग्रहणदान तीर्थदान आदि बहिर्वेदिकदान है। दान का फल स्वर्ग, रोग-निवृत्ति और पापनिवृत्ति आदि है। नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं, नित्यकर्म न करने से प्रत्यवाय होता है उस प्रत्यवाय का परिहार ही इस कर्म का फल है। वेदान्त में नित्यकर्म का फल चित्तशुद्धि है। प्रतिदिन अनुष्ठेय कर्म नित्य कर्म है। निमित्तवश किया जाने वाला कर्म नैमित्तिक कर्म है, जैसे—पुत्रजन्मकाल में पुत्रेष्टियाग, ग्रहण आदि में दान एवं श्राद्ध आदि यह पुनः दो प्रकार का है— नित्य-नैमित्तिक और काम्यनैमित्तिक। नित्यनैमित्तिक का अर्थ है आगन्तुक निमित्त के कारण जिसका अनुष्ठान कर्तव्य है, उत्तरकाल में जिसके न करने से प्रत्यवाय होता है। इसका भी पूर्व के समान ही फल है अर्थात् इसका सम्पादन न करने पर प्रत्यवाय होता है उसका परिहार अथवा चित्तशुद्धि। पुत्रेष्टि याग ही इसका दृष्टान्त है। काम्यनैमित्तिक का अर्थ है आगन्तुक निमित्त के कारण कामनापूर्वक जिस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, इसका फल काम्य-वस्तु का लाभ है, इसके न करने से प्रत्यवाय नहीं होता है किन्तु करने पर कामना की सिद्धि होती है। ग्रहण आदि में दान करना इसका दृष्टान्त है। कामना के लिए जो कर्म किया जाता है-वह काम्य कर्म है। जैसे—दर्शपूर्णमास याग आदि इसका फल स्वर्ग आदि अनेक प्रकार का हो सकता है। निष्काम होकर काम्य कर्म का सम्पादन करने पर चितशुद्धि इसका फल है। ऊपर में कहे गये कर्म विहित कर्म के नाम से कहे जाते हैं. इनके अतिरिक्त अनेक निषिद्ध कर्म भी हैं, उनको अवलम्बन कर निषेधात्मक कर्मकाण्ड प्रवृत्त होते हैं। इन सभी वेदविहित

कर्मों को श्रौतकर्म कहा जाता है, और इनके अतिरिक्त कर्मों को स्मार्त कर्म कहा जाता है। ये साक्षात् वेद में विहित नहीं है, वरन्, वेदमूलक स्मृति और पुराण आदि शास्त्र में विहित हैं। पूर्वोक्त रीति से ही इनका भी विभाग किया जा सकता है। इनका दृष्टान्त भी श्राद्ध, तर्पण, व्रत, नियम तीर्थयात्रा, विवाह आदि दश संस्कार, प्रायश्चित, पचमहायज्ञ, पञ्च देवताओं की उपासना आदि हैं इनमें कतिपय कर्म स्पष्ट वेद में उक्त हैं, किन्तु उनकी इतिकर्तव्यता अंश का निर्देश उसमें नहीं है। यही कर्मकाण्ड का सामान्य-परिचय है। इन सभी कर्मों के सम्पादन केलिए अध्यास की आवश्यकता है, इनका फल चित्तशुद्धि है, चितशुद्धि न होने पर आत्मस्वज्ञान दृढ़ नहीं हो सकता है, अतः यह अवश्य कर्तव्य है। अतः शास्त्र अविद्यावद्विषय है– इसमें सन्देह नहीं है।

रत्नप्रभा

ननु लौकिकव्यवहारस्य अध्याासिकत्वे अपि ज्योतिष्टोमादिव्यवहारस्य न अध्यासजन्यत्वम् तस्य देहातिरिक्तात्मज्ञानपूर्वकत्वात् इत्याशङ्क्य हेतुम् अङ्गीकरोति–'शास्त्रीयं तु" इति। तर्हि कथं वैदिककर्मणः अध्यासजन्यत्वसिद्धिः इत्याशङ्क्य किं तत्र अध्यासबाधकत्वात् तत्सिद्धिः इत्याह– 'तथापि" इति। न द्वितीयः इत्याह— न वेदान्त' इति। क्षुत्पिपासादिग्रस्तः जातिविशेषवान् अहम् संसारी इति ज्ञानं कर्मणि अपेक्षितं न तद्विपरीतामतत्त्वज्ञानम् अनुपयोगात् प्रवृत्तिबाधात् च इत्यर्थः। शास्त्रीयकर्मणः अध्यासजन्यत्वं निगमयति 'प्राक् च" इति। अध्यासे आगमं प्रमाणाति–'तथाहि" इति। यथा प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तयः अध्यासे प्रमाणं तथा आगमः अपि इत्यर्थः। ब्राह्मणो यजेत," "न ह वै स्नात्वा भिक्षेत" अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" इति आगमः ब्राह्मणादिपदैः अधिकारिणं वर्णाद्यभिमानिनम् अनुवदन् अध्यासं गमयति इति भावः।

लौकिक व्यवहार को आध्यासिक मान भी लिया जाय फिर भी ज्योतिष्टोम आदि व्यवहार अध्यास जन्य नहीं है। कारण, देह से अतिरिक्त आत्मा

का ज्ञान उसमें सर्वथा आवश्यक हैं, इस शङ्का का उद्भावन कर इस शङ्का के हेतुको स्वीकार करते हैं —'शास्त्रीये तु' इति। यह उपाशङ्का हो सकती है है कि वैदिक कर्म अध्यासजन्य कैसे हो सकते हैं? वैदिक कर्मों में शरीर से भिन्न आत्मा है मात्र यह ज्ञान अपेक्षित है या आत्मा का तत्त्वज्ञान अर्थात् साक्षात्कार? यदि शरीर से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान ही अपेक्षित तब कोई आपत्ति नहीं है कारण यह अध्यास का बाधक नहीं है, अतः इसकी सिद्धि हो जायगी। इस विषय की अभिव्यक्ति "तथापि" पद से की गई है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है इस पक्ष को 'न वेदान्त' इस पदसे कहा गया है। मैं भूख, प्यास आदि से ग्रस्त हूँ, ब्राह्मण आदि जाति से विशिष्ट हूँ और संसारी हूँ,—इस तरह के ज्ञान की कर्म में अपेक्षा है। इसके विपरीत आत्म तत्त्वज्ञान की अपेक्षा नहीं है। कारण, ऐसा ज्ञान कर्म में अपेक्षित नहीं है। आत्मतत्त्व ज्ञान से सभी मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाते हैं और मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने पर यज्ञकर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। कारण, शास्त्रीय कर्म अध्यास से जन्य है, इसी का उपसंहार 'प्राक् च' इत्यादि किया है। 'तथाहि' अध्यास में शास्त्र का प्रमाण देते हैं जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति अध्यास में प्रमाण है। वैसे ही शास्त्र भी प्रमाण है। ब्राह्मण यज्ञ करें, यह विधिवाक्य आत्मा में वर्णका अध्यास है, ब्रह्मचारी समावर्तन के वाद गृहस्थाश्रम में आकर भिक्षाटनन करें, इस वाक्य से आत्मा में आश्रम का अध्यास सिद्ध होता है आठ वर्ष के ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करना चाहिए इस विधि से आत्मा में वर्ण और वय का अध्यास सिद्ध होता हैं पुत्र होने पर कृष्ण केशवाले को अग्नि का आधान करना चाहिए, इससें अवस्था विशेष का अध्यास सिद्ध होता है। ये विधियाँ ब्राह्मण आदि पद से वर्ण आदि के अभिमानी अधिकारी का अनुवाद करती हुई अध्यास की सूचना देती है।

भाष्य भामती का आशय

पूर्व व्याख्यान में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, पौरुषेय आप्तवाक्य रूप शब्द' अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन लौकिक प्रमाणों को अविद्यावद्विषयत

का प्रदर्शन विशेष रूप से किया है, इस प्रसङ्ग में अपौरुषेय वाक्य रूप शब्द अर्थात् शास्त्रप्रमाण भी अविद्यावद्विषय है- इसीका विशेष रूप में प्रदर्शन करना है। देह आदि में आत्मा का अध्यास मानकर सभी प्रमाणों को अविद्यावद्विषयत्व मानने पर भी शास्त्र को अविद्यावद्विषयत्व मानने में कोई कारण अवगत नहीं होता है। क्योंकि ज्योतिष्टोम याग करना चाहिए इत्यादि विधिवाक्य ही शास्त्र है और शास्त्र प्रमाण मानने वाले को यह ज्ञात ही है है कि आत्मा देह आदि से भिन्न है। देह का परित्याग कर आत्मा अन्य लोक में गमन करता है, जिस शरीर से याग आदि का अनुष्ठान करता है, उस देह के रहने पर स्वर्ग की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं है। अतः, जो शास्त्रप्रमाण के अनुसार अनुष्ठान करता है, उसको देह आदि आत्माका अध्यास नहीं रहता हैं अतः, उक्त शास्त्रप्रमाण अविद्यावद्विषय कैसे हो सकता है ? अर्थात् देह में अध्यास के कारण अन्य प्रमाण अविद्यावद्विषय हो सकते हैं, किन्तु शास्त्रप्रमाण एवं तन्मूलक व्यवहार अविद्यावद्विषय कैसे हो सकते हैं ?

इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है कि अपौरुषेय शब्द प्रमाण रूप शास्त्र भी अविद्यावद्विषय है, कारण, शास्त्रप्रमाणमूलक ज्योतिष्टोमादि यागानुष्ठान रूप व्यवहार के कर्ता के शरीर में आत्माका अध्यास न होने पर भी अर्थात् 'मैं यह शरीर हूँ' यह ज्ञान न रहने पर मैं प्रमाता हूँ" ज्ञाता हूं स्वर्गका भोक्ता हूँ इत्यादि अनात्म धर्म उसकी आत्मा में अध्यस्त ही रहते हैं। यज्ञ के अनुष्ठान के समय में स्थूल शरीर आदि में आत्माभिमान न रहने पर भी सूक्ष्म शरीर अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि में आत्माभिमान रहता ही है। अर्थात् सूक्ष्म शरीर आदि अनात्म धर्म का अध्यास आत्मा में रहता ही है। वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार आत्मा भूख-प्यास से रहित ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति के भेद से शून्य, अभोक्ता, असंसारी निष्पाप एवं निष्क्रिय है। स्वर्ग की कामना से ज्योतिष्टोम आदि याग का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को आत्मा के अभोक्तृत्व, असंसारित्व आदि का ज्ञान नहीं रहता है। आत्मा स्थूल शरीर आदि और

बाह्यवस्तु से भिन्न है यह जानकर भी शास्त्र सिद्ध कर्म का अनुष्ठान कर सकता है, किन्तु. आत्मा असंसारी अभोक्ता है यह ज्ञान होने पर शास्त्र सिद्ध कर्मों का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। अत. शास्त्र और तन्मूलक व्यवहार में स्थूल देह में आत्माका अध्यास न रहने पर भी संसारित्व, भोक्तृत्व आदि सूक्ष्म देह का अर्थात् बुद्धि रूप अनात्म वस्तु का सकल धर्मों का अध्यास आत्मा में होता है। यह अध्यास अविद्या का ही फल है, अतः, शास्त्र प्रमाण भी अविधा वद्विषय है। वेदान्तशास्त्र जब आत्माका असंसारित्व रूप यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करता हैं, तब वह अविधावद्विषय कैसे होगा ? अज्ञानी व्यक्ति किस प्रकार आत्मा को असंसारित्व वेदान्त की आलोचना के द्वारा अवगत कर सकता है। इसलिए यह मानना होगा कि वेदान्तशास्त्र कभी भी अज्ञानी के लिए नहीं है। इसके उत्तर में प्रवृत्त होने के समय संसार को यही ज्ञान रहता है कि "मैं दुःखी हूं", अपने दुःख का निवारण आवश्यक है" 'मै अपने दुःख के निवारण के लिए वेदान्तका अध्ययनकरूंगा' मैं ब्रह्मको जानूंगा' इत्यादि अतः, वेदान्ती के पक्ष में भी प्रमाण-प्रमेय प्रमातृव्यवहार उस समय रहता है, इसके लिए अन्तः करण का धर्म प्रमातृत्व का अध्यास या आरोप भी आत्मा में रहता है। मैं ज्ञाता हूं' 'मैं प्रमाता हूं' इत्यादि आत्मा में बुद्धि धर्म का अध्यास है बुद्धि या अन्तःकरण अनात्मतत्त्व हैं, अतः वेदान्त शास्त्र के अनुशीलन में प्रवृत होने के समय व्यक्ति अज्ञानी ही रहता है। फलतः, वेदान्त शास्त्र भी अविद्या-वद्विषय ही है। यह ज्ञातव्य है कि वेदान्त से अन्य शास्त्रों का क्या वैलक्षण्य है ? जिस प्रकार वेदान्त शास्त्र की आलोचना अज्ञानी करता है वैसे ही कर्मकाण्डशास्त्र भी अज्ञानी को ही प्रवृत्त करता है। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से जिस प्रकार अज्ञानी स्वर्ग में जाता है वैसे ही वेदान्त के अनुशीलन के फलस्वरूप अज्ञानी ब्रह्म को जानता है, किन्तु ब्रह्म को जानने पर उसको ज्ञातृत्व बुद्धि अवश्य ही रहेगी, ऐसी स्थिति में इसका क्या वैलक्षण्य है ? अतः, वेदान्तशास्त्र की आलोचना के फलस्वरूप नित्य मुक्त शुद्ध स्वभाव आत्मा का ज्ञान होता हैं, इसके द्वारा भी इस वेदान्त शास्त्र और कर्मकाण्ड में कोई भेद नहीं अवगत होता है।

अनुष्ठान के समय दोनों ही शास्त्र समान हैं। अज्ञानी के अवलम्बन योग्य दोनों शास्त्र हैं, किन्तु फल के समय दोनों समान नहीं रहते हैं—दोनों भिन्न हो जाते हैं। कर्मों के अनुष्ठान के समय में आत्मा का अज्ञानोचित भोक्तृत्व ज्ञान अनुष्ठान के फलभोग के समय में भी रहता है, कारण स्वर्ग में जाकर वह स्वर्ग का भोग करता है एवं अपने को भोक्ता ही समझता है। किन्तु वेदान्त स्वरूप ज्ञानकाण्ड के अनुशीलन के समय में आत्मा का अज्ञानोचित भोक्तृत्व-प्रमातृत्व-ज्ञातृत्व आदि का ज्ञान वेदान्त रूप ज्ञानकाण्ड के फल के समय में नहीं रहता है। वेदान्तशास्त्रज्ञ ब्रह्म को जानकर अपने को ज्ञाता नहीं समझता है—उसका ज्ञातृत्वज्ञान भी नहीं रहता है। अर्थात् अधिकार के समय में कर्तृत्व अंश में दोनों में समानता है किन्तु फल के अंश में दोनों शास्त्र भिन्न हैं। सभी शास्त्रों में विषय और अधिकारी आदि चार अनुबन्ध रहते हैं अधिकारी के अंश में दोनों शास्त्रों में पूर्वोक्त अंश में साम्य रहने पर भी विषय आदि के अंश में समानता नहीं रहती है। अर्थात् अधिकारी की ओर दृष्टि देने पर वेदान्त अविद्यावद्विषय होता है, किन्तु विषय की ओर दृष्टि देने पर यह अविद्यावद्विषय नहीं है। विषय की दृष्टि से वेदान्त परमार्थशास्त्र है। कारण इससे होने वाले ज्ञानका किसी समय भी बाध नहीं होता है। कर्मकाण्ड से होनेवाला स्वर्ग और सुख आदि का ज्ञान किसी समय बाधित ही होता है, कारण वह वेदान्तजन्य ज्ञान के उदय काल में निवृत्त हो जाता है। कर्मकांड जिस अध्यास का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह फल के समय में भी निवृत्त नहीं होता है, किन्तु, ज्ञानकाण्ड जिस अध्यास का अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह फल के समय में निवृत्त हो जाता है। फलतः, ज्ञानकाण्ड यथार्थ प्रमाणशास्त्र होने पर भी साधन की अवस्था में अज्ञानी का ही शास्त्र है। किन्तु, कर्मकाण्ड व्यावहारिक प्रमाणशास्त्र होने से सभी अवस्थाओं में अज्ञानी का ही शास्त्र रहता है। यही दोनों शास्त्रों में विलक्षणता है एवं इसी के द्वारा वेद के अप्रामाण्य शंका की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान पौरुषेय आप्तवाक्य रूप

शब्द एवं अपौरुषेय शास्त्ररूप शब्द प्रमाण, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि सभी अविद्यावद्विषय हैं।

"कथं पुनः से विशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते" ये संपूर्ण भाष्य तीन अंशों में विभक्त हैं। प्रथम अंश में प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र को अविद्यावद्विषय कहा गया है, द्वितीय अंश में प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों को एवं तृतीय अंश में शास्त्रीय प्रमाणों को विशद रूप से अविद्यावद्विषय कहा गया है। प्रथम अंश में सामान्य रूप से प्रतिपादन के लिए अर्थापत्ति प्रमाण का आचार्य शङ्कर ने आश्रयण किया और द्वितीय तथा तृतीय अंश का प्रतिपादन अनुमान प्रमाण की सहायता से किया है।

आचार्य ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को एवं शास्त्रों को अविद्यावद्विषय सिद्ध करने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण का आवलम्बन किया है, उस अर्थापत्ति प्रमाण का क्या आकार है? प्रमित अर्थ की अर्थान्तर के विना अनुपपत्ति की आलोचना कर उसकी उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना ही अर्थापत्ति है। अर्थात् दृष्ट या श्रुत अर्थ की अर्थान्तर के बिना अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना ही अर्थापत्ति है, अर्थात् उपपाद्य ज्ञान के द्वारा उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति है। प्रकृत में प्रमित अर्थ से तात्पर्य है प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र समूह की प्रवृत्ति अर्थात् प्रमाजनकता। अर्थान्तर अविद्यावद्विषयकत्व होता है। अनुपपत्ति उक्त प्रमाण समूहों की अविद्यावद्विषयकत्व के विना प्रवृत्ति की अनुपपत्ति इस प्रकार का ज्ञान। 'तदुपपत्ति' इस स्थल में उक्त प्रमाण समूह की प्रवृत्ति की उपपत्ति है। अर्थान्तर कल्पना-अविद्यावद्विषयकत्व रूप अर्थान्तर की कल्पना है, अतः, उपपाद्य उक्त प्रमाणों की प्रवृत्ति है एवं उपपादक अविद्यावद्विषयकत्व है। फलतः, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और शास्त्रावलियों की प्रवृत्ति के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावद्विषय अर्थात् अज्ञान का विषय है। यह आशङ्का हो सकती है कि प्रमाण और शास्त्रों के अविद्यावद्विषय न होने पर प्रमाण प्रवृत्ति कैसे अनुपपन्न होती है। इसके समाधान में आचार्य ने दो अन्य अर्थापत्तियों का प्रदर्शन

किया है, प्रथम यह है कि प्रमातृत्व के बिना प्रमाण प्रवृत्ति की अनुपपत्ति एवं द्वितीय देह इन्द्रिय आदि में अहं मम के अभिमान रूप अविद्या के न होने पर आत्मा के प्रमातृत्व की अनुपपत्ति है। अर्थात्, इसके द्वारा यही कहना है कि प्रमाण प्रवृत्ति अनुपपन्न होने से प्रमातृत्वकल्पना एवं प्रमातृत्व अनुपपन्न होता है, अतः अध्यास की कल्पना आवश्यक है। इसलिए प्रमाण प्रवृत्ति की उपपत्ति के लिए प्रमाण और शास्त्र आदि को अविद्यावद्विषय मानना पड़ता है। आचार्य शङ्कर ने "नहि इन्द्रियाणि से अस्ति" पर्यन्त पाँच वाक्यों से कथित हेतुभूत दो अर्थापत्तियों का विवरण दिया है। पश्वादिभिश्च अविशेषात् से निश्चीयते पर्यन्त तीन वाक्यों से आचार्य ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाण एवं शास्त्रों के अविद्यावद्विषयत्व के प्रति अनुमान प्रमाण प्रदर्शित किया है। कारण, अर्थापत्ति प्रमाण से अनुमान प्रमाण सबल होता है। क्योंकि अनुमान में हेतु की पक्षवृत्तिता निश्चित रहती है, किन्तु, अर्थापत्ति के स्थल में सम्भावना मात्र रहती है अनुमान का आकार इस प्रकार हो सकता है—प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि च अविद्यावद्विषयाणि (प्रतिज्ञा) पश्वादिभिः सह अविशेषात् हेतु) इसके द्वारा पशु आदि के साथ विद्वान् और अविद्वान् व्यक्तियों का व्यवहार क्षेत्र में समान भाव प्रदर्शन कर प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्रों को अविद्यावद्विषयत्व सिद्ध किया है, किन्तु, विद्वान् और अविद्वान् व्यक्ति के साथ पशु आदि का व्यवहार क्षेत्र में समानभाव है यह कैसे समझते हैं? अर्थात् पूर्वोक्त अनुमान में प्रदर्शित हेतु की पक्षवृत्तिता में सन्देह होने पर उसके समाधान के लिए आचार्य ने 'यथा' हि' से प्रमाण प्रमेय व्यवहार इस भाष्य को कहा है। मनुष्य अनुकूल विषय में प्रवृत्त एवं प्रतिकूल विषय में निवृत्त होता है वैसे ही पशु आदि भी दण्डोद्यतकर पुरुष को देखकर निवृत्त एवं तृणपूर्ण हाथ देखकर प्रवृत्त होता है आदि। यह भी एक अनुमान ही है। 'पश्वादिव्यवहारः मनुष्यादिव्यवहारसदृशः (प्रतिज्ञा), अनुकूले प्रतिकूले च विषये इष्टानिष्टसाधनत्वज्ञानपूर्वकत्वात् (हेतु) अस्मदादिव्यवहारवत् (उदाहरण)। इस सिद्धान्त को दृढ करने के लिए परवर्ती भाष्य की

अवतारणा की है, अर्थात् पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेक पुरःसर होता है—यह सभी लोग जानते हैं, इसीको आचार्य ने कहा है—'पश्वादीनां च प्रसिद्धः अविवेकपुरः सरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः।' इस प्रकार पशु आदि के व्यवहार से मनुष्य के व्यवहार का सादृश्य वर्णन से यह सिद्ध होता है कि जैसे पशु आदि का व्यवहार अविद्यापूर्वक होता है वैसे ही मनुष्य का व्यवहार भी अविद्यापूर्वक होता है, इसी को 'तस्मात्' से 'निश्चीयते' पर्यन्त वाक्यों से सिद्ध किया है। तृतीय प्रसङ्ग में आचार्य ने शास्त्र प्रमाण को पुनः भिन्न रूप में ग्रहण कर उसके अविद्यावद्विषयत्व के लिए अनुमान प्रदर्शन किया है, कारण, इसमें होनेवाली आपत्ति का निवारण न तो अर्थापत्ति प्रमाण से होगा और न अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है। पूर्वोक्त प्रथम प्रसंग में अर्थापत्ति-प्रमाण के प्रदर्शन के समय में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के समान शास्त्र प्रमाण को भी अविद्यावद्विषयत्व प्रमाण कहने के लिए देह आदि में आत्मा के अध्यास को मूल प्रयोजक कारण कहा गया है। अनन्तर द्वितीय प्रसङ्ग में अनुमान प्रमाण प्रदर्शित हुआ हैं, उसमें शास्त्र प्रमाणको अविद्यावद्विषयत्व सिद्ध नहीं किया गया है, केवल प्रत्यक्ष आदि प्रमाण को अन्त में अविद्यावद्विषयत्व सिद्धकिया गया है। प्रकृत में शास्त्र प्रमाण को अविद्यावद्विषयत्व सिद्ध करने के लिए प्रथम प्रसङ्ग में देह आदि में आत्मा के अध्यास को मूल प्रयोजक मानने में दोष होता है, कारण, शास्त्रप्रमाणमूलक व्यवहार में देहादि में आत्मा का अध्यास नहीं रहता है, क्योंकि, जो यज्ञआदि के द्वारा स्वर्ग के लाभ की कामना करता है, वह देह और आत्मा को बिभिन्न ही मानेगा, अन्यथा, देह को आत्मा मानने पर भस्मीभूत देह से स्वर्ग के लाभ की सम्भावना ही नहीं है। यह वाधरूप दोष की आपत्ति है। पक्ष में साम्य का न रहना ही वाध है—यह एक प्रकार का हेत्वाभास है। इसके उत्तर में कहा गया है कि देह में आत्मा का अध्यास न रहने पर भी बुद्धिरूप अन्तःकरण में आत्मा का अध्यास रहता ही है, अर्थात् बुद्धि के धर्म प्रमातृत्व आदि का आत्मा में आरोप कर

शास्त्रप्रमाण प्रवृत्त होता है, अतः, बाधदोष की सम्भावना नहीं है। त्वक् इन्द्रिय का निरपेक्ष आधार शिरःयुक्त अवयवी देह शब्द का अर्थ है। प्रत्यक्षादि प्रमाण को शास्त्र से पृथक् प्रदर्शन करने का उद्देश्य यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण लौकिक या पौरुषेय हैं, किन्तु, शास्त्र अपौरुषेय प्रमाण है, इसीलिए शास्त्र को भिन्न रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य ने शास्त्रादि प्रमाण को अवलम्बन करने के लिए कहा है, किन्तु, ज्ञान होने पर उसको परित्याज्य हो जाता है—यह भी कहा है। अतः, केवल शास्त्र लेकर चलने पर भी कार्य नहीं चल सकता है, यह स्मरण रखना होगा कि साधक की यह अवस्था आती है या नहीं जिस अवस्था में विधि-निषेध नहीं रहता है, ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान हुआ है या नहीं ? कारण, विधि-निषेध भी बन्धन ही है। विद्या दो प्रकार की उपनिषद् में कही गई है। एक परा और दूसरी अपरा। ऋग्वेद आदि शास्त्र अपरा विद्या हैं और जिससे ब्रह्म का ज्ञान होता है वह परा है। प्रथम में शास्त्रश्रवण, अनन्तर अर्थ विचार, अनन्तर उसका ध्यान ही ब्रह्मसाक्षात्कार का अन्तिम उपाय है—इसी पर आचार्य ने अधिक बल दिया है। अद्वैत सिद्धान्त का यही अतुलनीय प्रतिपाद्य है। शास्त्रीयव्यवहार देह और आत्मा के भेद से जन्म होने पर भी अध्यास मूलक ही हैं। अध्यास के प्रति अद्वितीय आत्मतत्त्वज्ञान ही विरोधी है, देह और आत्मा का भेदज्ञान विरोधी नहीं है। साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्तियों का मोक्षशास्त्रव्यवहार भी अध्यासपूर्वक ही है। क्योंकि, अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कार से ही अध्यास की निवृत्ति होती है। अतः मोक्षशास्त्र पर्यन्त सभी शास्त्र अविद्यावत्पुरुष के आश्रित हैं, अन्यथा, साधनचतुष्टयसम्पन्न होने से ही मुक्ति हो जायगी, मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायगा।

शङ्करभाष्य

अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः इति अवोचाम। तद् यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु वा अहम् एव विकलः सकलः वा इति बाह्यधर्मान् आत्मनि अध्यस्यति यथा—देहधर्मान् स्थूलः अहम्, कृशः अहम्, गौरः अहम्, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि च इति, तथा इन्द्रियधर्मान् मूकः

काणः क्लीवः वधिरः अन्धः अहम् इति, तथा अन्तःकरणधर्मान् काम-संकल्प विचिकित्साध्यवसायादीन्। एवम् अहं प्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचार-साक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति। एवमयम् अनादिः अनन्तः नैसर्गिकः अध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये वेदान्ताः आरभ्यन्ते। यथा च अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

पुष्पलता

जो जैसा नहीं है उसे वैसा समझने को ही अध्यास कहते हैं। जैसे कि पुत्र और पत्नी आदि के दुःखी या सुखी होने पर मैं ही दुःखी या सुखी हूँ इस प्रकार वाह्य धर्मों का आत्मा में आरोप करता है' और इसी प्रकार मोटा हूँ, मैं दुवला हूँ, मैं गोरा हूँ, मै खड़ा, हूँ' मैं जाता हूँ, मैं लांघता हूँ इत्यादि शरीर के धर्मों का इसी प्रकार गूंगा हूँ काना हूँ नपुंसक हूँ, वहरा हूँ, अन्धा हूँ, इत्यादि इन्द्रिय के धर्मों का इसी प्रकार काम, संकल्प संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का (आत्मा में आरोप, होता है। इस प्रकार अहं प्रत्यय के विषय का अपने समस्त व्यापारों अर्थात् अन्तःकरण वृत्तियों के साक्षी उस प्रत्यगात्मा में अर्थात् अन्तःकरण का जीवात्मा में आरोप कर और इसके विपरीत सभी अन्तःकरणवृत्तियों के साक्षीभूत उस प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करता है। इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान स्वरूप कर्तृत्व भोक्तृत्वं आदि धर्मों का प्रवर्तक अनादि और अनन्त यह स्वाभाविक अध्यास सभी लोगों को अनुभव होने वाला सभी लोगों का प्रत्यक्ष सिद्ध है। अनर्थ के हेतु भूत इसके नाश के लिए एकत्व ज्ञान के लिए ही सभी उपनिषदों की रचना हुई है, यह बात हम शारीरकमीमांसा में दिखायेंगे।

कुसुमलता

अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा और अनात्मा परस्पर अध्यास की

सिद्धि दृढ़मूल होने पर प्रत्यक्ष के द्वारा अन्यथा नहीं हो सकता है। लक्षण और प्रमाण से साधित अध्यास को सोदाहरण प्रदर्शन करने के लिए पूर्वोक्त अध्यास के स्वरूप को स्मरण करा रहे हैं। अध्यास ही सभी व्यवहार का मूल है। देह आदि में आत्मा का अध्यास न मानने पर कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं है। देह आदि में आत्मा का अध्यास कैसे वास्तविक है, वह किस प्रकार सभी व्यवहारों में प्रवृत्त करता है ? इत्यादि जिज्ञासा हमलोगों को हो सकती है, अतः, पुनः अध्यास का स्मरण कराना आवश्यक है, इसलिए, पुनः यह स्मरण करा रहे हैं कि अध्यास से जो, जो नहीं है उसको वह समझना अध्यास है। पुत्र, भार्या, बन्धु-बान्धव, आत्मीय स्वजन के दुःखों को अपना दुःख समझकर दुःखी होता है, इस अवस्था में बाह्य वस्तु के धर्म का आत्मा में अध्यास है अर्थात् आरोप है। अन्यथा स्त्री-पुत्रादि के दुःख में अपने को दुःखी कभी भी अवगत नहीं कर सकता है। इसी प्रकार शरीर में रहने वाले स्थूलत्व कृशत्व आदि धर्मों का आत्मा में अध्यास कर मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ इत्यादि व्यवहार उत्पन्न होता है। यह व्यवहार देह के धर्मों का आत्मा में आरोप किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार इन्द्रिय के धर्मों का आत्मा में अध्यास अर्थात् आरोप कर मैं काना हूँ, अन्धा हूँ, इत्यादि व्यवहार होता है। इसी तरह अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में आरोप कर मैं इच्छा करता हूँ, मैं सन्देह करता हूँ, इत्यादि व्यवहार उत्पन्न होता है। इच्छा, सन्देह आदि अन्तःकरण के धर्म हैं--यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। प्रकृत में इन्द्रिय के धर्मों से अतिरिक्त रूप में अन्तःकरण के धर्मों की सूचना देकर मन इन्द्रिय के अन्तर्गत नहीं है—यह स्पष्ट कर दिया है। इतना ही नहीं इन व्यवहारों में बुद्धि, मन इन्द्रिय, देह, पुत्र आदि अनात्म वस्तु में आत्म धर्म भी आरोपित होते हैं, आत्मा के धर्मों का अनात्मा में अध्यास न होने पर भी व्यवहार सम्भव नहीं है। मैं सुखी हूँ, मैं दुर्बल हूँ, इत्यादि व्यवहारों में 'मैं' यह अंश चिदात्मरूप धर्मी के आरोप अर्थात् अध्यास को अवलम्बन कर सिद्ध होता है, एवं मेरा सुख मेरा ज्ञान आदि व्यवहार में

'मेरा' यह अंश आत्मा के धर्म के अध्यास को अवलम्बन कर ही सिद्ध होता है। अहं यह ज्ञान है जिसमें वह अहं प्रत्यायी से कार्य कारण समूह का ग्रहण है अर्थात् अन्तःकरण से लेकर स्थूल देह पर्यन्त जडपदार्थों से विपरीत धर्म वाला होने के कारण प्रत्यगात्मा कहा जाता है। 'इदं पदार्थेभ्यः प्रातिलोम्येन प्रतिकूलतया विपरीतधर्मतया अञ्चति-गच्छति, पूजां प्राप्नोति इति प्रत्यक्, प्रत्यक् चासौ आत्मा च इति प्रत्यगात्मा। अर्थात् अन्तःकरण आदि जो अनात्मा है उसमें सर्वसाक्षिस्वरूप प्रत्यगात्मा का आरोप कर मैं दुर्बल हूँ इत्यादि सभी व्यवहार होते हैं। अहं प्रत्ययी का अर्थ अहंकार अन्तःकरण होता है। अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि का अर्थ स्वप्रकाश में तद्विपर्ययेण का अर्थ अन्तःकरण के विपर्यय से, जड़ रूप अन्तःकरण का चैतन्य ही विपर्यय है। फलतः अन्तःकरण में चैतन्य का संसर्गाध्यास है यह सिद्ध होता है।

यह अध्यास आदि है या अनादि है, आदि मानने पर प्रथम अध्यास की अनुपपत्ति होगी और अनादि मानने पर निवर्तक के अभाव से निवृत्ति की अनुपपत्ति होगी, अद्वितीय ब्रह्म की सिद्धि नहीं होगी और अध्यास के मिथ्यात्व की भी सिद्धि नहीं होगी, फलतः कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि जीव धर्मों का वाध न होने से जीव और ब्रह्म की एकता अनुपपन्न हो जायगी, इन्हीं पूर्वोक्त आशङ्काओं की निवृत्ति के लिए धर्मो और धर्म के अध्यासों को अनादि अविद्यात्मक होने से अनादि है, प्रवाहरूप से अनादि होने से यह स्वाभाविक है। इसलिए जबतक अध्यास की मूलभूत अविद्या रहती है, तबतक अध्यास का अन्त नहीं होता है, इसी आशय से अनन्त कहा है, अविद्या का कार्य स्वरूप अध्यास का नाश ही तत्व के साक्षात्कार से होता है, बाध नहीं होता है, अविद्या स्वरूप उपादान के नाश के साथ कार्य का नाश ही बाध है। अध्यास यानविद्या ब्रह्म के समान अनादि होने से निवृत्त नहीं होगी, इस आशंका को दूर करने के लिए अपादान भूत अविद्या के अधीन नाश उसका नाश होता है। अनादि होने पर भी उपादान के नाश होने से उसका नाश हो जाता है। इसका नाश आत्म साक्षात्कार

से होता है। अतः आत्मा का निर्विकल्पक साक्षात्कार की सिद्धि के लिए इस वेदान्त विचार का आरम्भ किया है। आत्मसाक्षात्कार के विना अविद्या या अज्ञान का नाश नहीं होता है। आशय यह है कि अनर्थ का कारण अविद्या है अर्थात् आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि एकत्व का ज्ञान ही वेदान्त में कहा गया है अर्थात् वेदान्त जीव और ब्रह्म के एकत्व के उपदेश के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। व्यासदेव ने इसी का प्रतिपादन सूत्र में किया है, अतः शारीरक मीमांसा भाष्य में भी इसी का प्रतिपादन किया जा रहा है—यह प्रतिज्ञा भाष्यकारने की है।

भामती

तत् अयम् आत्मानात्मनोः परस्पराध्यासम् आक्षेप-समाधानाभ्याम् उपपाद्य प्रमाण-प्रमेय व्यवहार प्रवर्तनेन च दृढीकृत्य तस्य अनर्थ हेतुताम् उदाहरणप्रपञ्चेन प्रतिपादयितुं तत्स्वरूपम् उक्तं स्मारयति—"अध्यासः नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः इति अवोचाम"। 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः" इत्यस्य संक्षेपाभिधानम् एतत्। तत्र अहम् इति धर्मितादात्म्याध्यासमात्रं "मम" इति अनुत्पादितधर्माध्यासं न अनर्थहेतुः इति धर्माध्यासम् एव ममकारं साक्षात् अशेषानर्थसंसारकारणम् उदाहरण प्रपञ्चेन आह— "तद् यथा पुत्रभार्यादिषु इति। देहतादात्म्यम् आत्मनि अध्यस्य देहधर्मपुत्रकलत्रादिस्वाम्यं च कृशत्वादिवत् आरोप्य आह—अहम् एव विकल सकलः इति। स्वस्य खलु साकल्येन स्वाम्यसाकल्यात् स्वामी ईश्वरः सकल सम्पूर्णः भवति। तथा स्वस्य वैकल्येन स्वाम्यवैकल्यात् स्वामी ईश्वरः विकल असम्पूर्णः भवति। बाह्यधर्माः ये वकल्यादयः स्वाम्यप्रणालिकया संचारिताः शरीरे तान् आत्मनि अध्यस्यति इत्यर्थः। यदा च परोपाध्यपेक्षे देहधर्मे स्वाम्ये इयं गतिः, तदा का एव कथा अनौपाधिकेषु देह धर्मेषु कृशत्वादिषु इति आशयवान् आह--तथा देहधर्मान्

इति। देहादेः अपि अन्तरङ्गाणाम् इन्द्रियाणाम् अध्यस्तात्मभावानां धर्मान् मूकत्वादीन् ततः अपि अन्तरङ्गस्य अन्तःकरणस्य अध्यस्तात्मभावस्य धर्मान् कामसंकल्पादीन् आत्मनि अध्यस्यति इति योजना। तत् अनेन प्रपञ्चेन धर्माध्यासम् उक्त्वा मूलं धर्म्यध्यासम् आह–"एवम् अहंप्रत्ययिनम्" अहंप्रत्ययः वृत्तिः यस्मिन् अन्तःकरणादौ सः अयम् अहंप्रत्ययी तम्। "स्वप्रचारसाक्षिणि" अन्तःकरण प्रचारसाक्षिणि, चैतन्योदासीनताभ्यां प्रत्यगात्मनि अध्यस्य। तत् अनेन कर्तृत्वभोक्तृत्वे उपपादिते। चैतन्यम् उपपादयति "तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण" अन्तःकरणादिविपर्ययेन, अन्तःकरणाद्यचेतनं तस्य विपर्ययः चैतन्यं तेन। इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। "अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति"। तत् अनेन अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्मा इदमनिदं रूपं चेतनः कर्ता भोक्ता कार्यकारणाविद्याद्वयाध्यासः अहंकारास्पदं संसारी सर्वानर्थसंभारभाजनं जीवात्मा इतरेतराध्यासोपादानः, तदुपादानश्च अध्यासः इति अनादित्वात् बीजाङ्कुरवत् न इतरेतराश्रयत्वम् इति उक्तं भवति। प्रमाणप्रमेयव्यवहारदृढीकृतम् अपि शिष्यहिताय स्वरूपाभिधानपूर्वकं सर्वलोकप्रत्यक्षतया अध्यासं सुदृढीकरोति – एवम् अयम् अनादिः अनन्तः। तत्त्वज्ञानम् अन्तरेण अशक्यसमुच्छेदः। अनाद्यनन्तत्वे हेतुः उक्तः अनिर्वचनीयत्वं तद् अस्य स तथा उक्तः, अनिर्वचनीयः इत्यर्थः।

प्रकृतम् उपसंहरति–अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय। विरोधिप्रत्ययं विना कुतः अस्य प्रहाणम् इति अतः उक्तम्–आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये। प्रतिपत्तिः प्राप्तिः तस्यै, न तु जपमात्राय, नापि कर्मसु प्रवृत्तये, "आत्मैकत्वम्" विगलितनिखिल प्रपञ्चत्वम् आनन्दरूपस्य सतः, तत्प्रतिपत्तिं निर्विचिकित्सां भावयन्तः "वेदान्ताः" समूलघातम् अध्यासम् उपघ्नन्ति एतद् उक्तं भवति–अस्मत्प्रत्ययस्य आत्मविषयस्य समीचीनत्वे सति ब्रह्मणः ज्ञातत्वात् निष्प्रयोजनत्वात् च न जिज्ञासा स्यात्। तदभावे च न ब्रह्मज्ञानाय वेदान्ताः पठ्येरन्। अपि तु अविवक्षितार्थाः जपमात्रे उपयुज्येरन्। न हि तदा

उपनिषदात्मप्रत्ययः प्रमाणताम् अश्नुते। न च असौ अप्रमाणाम् अभ्यस्तः अपि वास्तवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादि आत्मनः अपनेतुम् अर्हति। आरोपितं हि रूपं तत्त्वज्ञानेन अपोद्यते, न तु वास्तवम् अतत्त्वज्ञानेन। नहि रज्वाः रज्जुत्वं सहस्रम् अपि सर्पधाराप्रत्ययाः अपवदितुं समुत्सहन्ते मिथ्याज्ञानप्रसञ्जितं च स्वरूपं शक्यं तत्त्वज्ञानेन अपवदितुम्। मिथ्याज्ञानसंस्कारश्च सुदृढः अपि तत्त्वज्ञानसंस्कारेण आदरनैरन्तर्यदीर्घकालतत्त्वज्ञानाभ्यासजन्मना इति।

स्यात् एतत्। प्राणाद्युपासना अपि वेदान्तेषु बहुलम् उपलभ्यन्ते, तत्कथं सर्वेषां वेदान्तानाम् आत्मैकत्वप्रतिपादनम् अर्थः इति अतः आह–"यथा च अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः"। शरीरम् एव शरीरकम्, तत्र निवासी शारीरकः जीवात्मा, तस्य त्वंपदाभिधेयस्य तत्पदाभिधेयपरमात्मरूपतामीमांसा या सा तथोक्ता।

एतावान् अत्र अर्थसंक्षेपः—यद्यपि च स्वाध्यायाऽध्ययनविधिना स्वाध्यायपदवाच्यस्य वेदराशेः फलवदर्थावबोधपरताम् आपादयता कर्मविधि निषेधानाम् इव वेदान्तानाम् अपि स्वाध्यायशब्दवाच्यानां फलवदर्थावबोधपरत्वम् आपादितम्, यद्यपि च "अविशिष्टश्च वाक्यार्थः" इति न्यायात् मन्त्राणाम् इव वेदान्तानाम् अर्थपरत्वम् औत्सर्गिकम्, यद्यपि च वेदान्तेभ्यः चैतन्यानन्दघनः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितः निष्प्रपञ्चः एकः प्रत्यगात्मा अवगम्यते, तथापि कर्तृत्वभोक्तृत्वदुःखशोकमोहमयम् आत्मानम् अवगाहमानेन अहंप्रत्ययेन सन्देहबाधविरहिणा विरुध्यमानाः वेदान्ताः स्वार्थात्प्रच्युता उपचरितार्था वा जपमात्रोपयोगिनः वा इति अविवक्षितस्वार्थाः। तथा च तदर्थविचारात्मिका चतुर्लक्षणी शारीरकमीमांसा न आरब्धव्या। न च सर्वजनीनाऽहमनुभवसिद्धः आत्मा सन्दिग्धः वा सप्रयोजनः वा, येन जिज्ञास्यः सन् विचारं प्रयुञ्जीत इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु भवेत् एतदेवं यदि अहंप्रत्ययः, प्रमाणम्। तस्यतु उक्तेन क्रमेण श्रुत्यादिबाधकत्वानुपपत्तेः श्रुत्यादिभिश्च समस्ततीर्थकरैश्च प्रामाण्या-

नभ्युपगमात् अध्यासत्वम्। एवं वेदान्ताः न अविवक्षितार्थाः नापि उपचरितार्थाः, किन्तु उक्तलक्षणाः। प्रत्यगात्मा एव तेषां मुख्यः अर्थः। तस्य च वक्ष्यमाणेन क्रमेण सन्दिग्धत्वात् प्रयोजनत्वात् च युक्ता जिज्ञासा-इति आशयवान् सूत्रकारः तज्जिज्ञासाम् असूत्रयत्।

पुष्पलता

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का परस्पर का अध्यास आक्षेप और समाधानपूर्वक उपपादन कर और प्रमाण-प्रमेय व्यवहार के प्रवर्तन के द्वारा दृढ़ कर उसकी अनर्थ साधनता का उदाहरण के विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए पहले कहे गये अध्यास के स्वरूप का स्मरण करा रहे हैं "अध्यासः नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः इति अवोचाम"। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः. इस अध्यासलक्षण का यह संक्षेप में कहा है। उस स्थल में अहम् यह धर्मी का तादात्म्याध्यासमात्र मम (मेरा) इत्याकारक धर्म के अध्यास के उत्पादन के बिना अनर्थ का साधन नहीं होता है। इसलिए, 'मम' इत्याकारक धर्म का अध्यास ही सभी अनर्थस्वरूप संसार का कारण है इसी विषय को उदाहरणों के व्याख्यान से कहा है—"तद् यथा पुत्रभार्यादिषु इति। देह के तादात्म्य का (अभेद) आत्मा में अध्यास कर पुत्र स्त्री आदि का स्वामित्वरूप देह धर्म को कृशत्व आदि के समान आत्मा में आरोप कर कहते हैं—"अहम् एव विकलः सकलः" इति। स्वकीय जन की सम्पूर्णता रहने पर स्वामी की भी सम्पूर्णता रहने से स्वामी या ईश्वर सकल या पूर्ण रहता है। इसी प्रकार स्वकीय जन की विकलता रहने पर स्वामित्व की विकलता (अपूर्णता) स्वामी (प्रभु) विकल या असम्पूर्ण होता है। बाह्य पदार्थ का धर्म विकलता (अपूर्णता) आदि स्वामित्व की परम्परा क्रम में शरीर में संक्रान्त हो कर उनका आत्मा में अध्यास करता है यही भाष्य का अर्थ है और पुत्र भार्यादिरूप उपाधि सापेक्ष स्वामित्वरूप देह धर्म में यदि यह गति है, तब उपाधि-निरपेक्ष देह धर्म कृशत्व आदि का क्या कहना है? इस अभिप्राय से कहा है—"तथा देहधर्मान्" इति। देह

आदि से भी अन्तरङ्ग आत्मभाव का अध्यास (आरोप) किये गये इन्द्रियों के धर्म मूकता आदि का उससे भी अन्तरङ्ग अध्यस्त (आरोपित) आत्म स्वरूप अन्तःकरण के धर्म काम संकल्प आदि का आत्मा में अध्यास करते हैं--यह योजना है। उक्त इस प्रपन्च से धर्मों के अध्यास को कहकर उसके मूलभूत धर्मी के अध्यास को कह रहे हैं--"एवम् अहंप्रत्ययिनम्" अन्तःकरण आदि में जो अहं प्रत्यय रूप वृत्ति होती है, वही अंह प्रत्ययी (अन्तःकरणादि) उसको चेतन और उदासीन कहकर स्वप्रचारसाक्षी (अन्तःकरणों की वृतियों का साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्मा में अध्यास कर भाष्य के इस अंश में आत्मा में आरोपित कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का उपपादन किया गया है अन्त करण में चैतन्य के आरोप का उपपादन "तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण इस भाष्य से किया गया है : अन्तःकरण आदि के विपर्यय से, अर्थात् अन्तःकरण आदि जो अचेतन उसका विपर्यय (भेद) चैतन्य (चेतन का धर्म) उस चौतन्य चौतन्यरूप धर्म का अध्यासकर अर्थात् चौतन्यरूप विपर्यय का ही अन्तःकरण आदि में अध्यास किया जाता है। विपर्ययेण में तृतीया विभक्ति इत्थंभूतलक्षणे" से तृतीया विभक्ति हुई है। इससे अन्तःकरण आदि के द्वारा अवच्छिन्न प्रत्यग् आत्मा इदम् (वाह्य) अनिदम् (आन्तर) रूप चेतन कर्त्ता और भोक्ता होता है एवं कार्य और कारणरूप दोनों अविद्याओं का आश्रय अहंकारास्पद संसारी सभी प्रकार के अनर्थरूप ससार का अवलम्बन जीवात्मा परस्पर अध्यास जिसका उपादान होता है, और इसका उपादान अध्यास है। यह अध्यास बीज और अंकुर के समान अनादि होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है—यही इससे कहा गया है। प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार के द्वारा दृढीकृत होने पर भी शिष्य के हित के लिए (अध्यासकों) स्वरूप का अभिधान कर सभीलोगों के प्रत्यक्षरूप में निर्देशकर अध्यास को -"एवम् अयम् अनादिः अनन्तः" इस भाष्य से सुदृढ़ करते हैं। तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से उच्छेद सम्भव नहीं है-यही अनन्त शब्द का अर्थ है। अनादि और अनन्त का साधन 'नैसर्गिक' पद से कहा गया है। 'मिथ्याप्रत्यय रूप' पद

का मिथ्याप्रत्यय समूह का रूप अर्थात् अनिर्वचनीयत्व वह जिसका है वही मिथ्याप्रत्ययरूप अर्थात् अनिर्वचनीय है ।

"अस्य अनर्थ हेतो :प्रहाणाय इत्यादि भाष्य वाक्य के द्वारा आचार्य प्रस्तावित विषय का उपसंहार करते हैं। विरोधी प्रत्यय के बिना इस अज्ञान का विनाश कैसे हो सकता है–इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है– "आत्मैकत्वविद्या प्रतिपत्तये" इत्यादि। प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्राप्ति है उसके लिए परन्तु उसके मात्र जप के लिए नहीं या किसी कर्म में प्रवृत्ति के लिए भी नहीं (इस अर्थ को लक्ष्यकर) 'प्रतिपत्तये' पद व्यवहृत हुआ है)। "आत्मैकत्व' पद का अर्थ आनन्दरूप जो सद्वस्तु उसका निखिल प्रपञ्च शून्य भाव, उस आत्मैकत्वविषयक असन्दिग्ध ज्ञान को उत्पन्न कर वेदान्त शास्त्र मूल सहित अध्यास का नष्ट करता है। यही कहा गया है 'मैं' यह प्रतिति के प्रकृत आत्मा के आत्मा को विषय करने पर ब्रह्म का ज्ञात व एवं निष्प्रयोजनत्व प्रयुक्त जिज्ञासा नहीं हो सकती है। उसके अभाव में अर्थात् यह जिज्ञासा न होने पर ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त भी नहीं पढ़ा जाता, किन्तु, उसका अर्थ विवक्षित न होने पर जपमात्र में ही उपयोगी होता। यदि ऐसा होता तो वेदान्तवेद्य आत्मतत्त्व का ज्ञान कभी भी प्रमाण नहीं होता। और उसके अप्रमाण होने से उसके अभ्यस्त होने पर भी वस्तुतः आत्मा के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि को हटाने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि आरोपित रूप को ही तत्वज्ञान से हटाया जाता है, किन्तु वास्तव वस्तु अतत्त्व ज्ञान से निराकृत नहीं होती है। रज्जु के रज्जुत्व को हजारों धारावाहिक ज्ञान भी हटाने में समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान के द्वारा जो लाया जाता है, उसीका तत्वज्ञान के निवारण हो सकता है, मिथ्याज्ञानको संस्कार सुदृढ़ होने पर भी आदर पूर्वक निरन्तर और आदर पूर्वक बहुत दिनों तक तत्त्वज्ञान के अभ्यास से उत्पादित तत्त्वज्ञान संस्कार से निवारित हो सकता है।

अच्छा, ऐसा हो हो, प्राण आदि की उपासना भी वेदान्त शास्त्र में

बहुत देखी जाती है, तब कैसे सभी वेदान्त का आत्मा के एकत्वका प्रतिपादन ही अर्थ होगा ? इसलिए भाष्यकार ने कहा है–"यथा च अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः"। शरीरही शरीरक पद का अर्थ है, उसमें जो वास करता है वह शारीरक अर्थात् जीवात्मा है, इस त्वं पद के अभिधेय जीवात्मा का तत् पद के अभिधेय परमात्मस्वरूपतारूपमीमांसा, वही शारीरकमीमांसा है।

यही इस स्थल में अर्थ का संक्षेप है–यदि वेदाध्ययनविधि स्वाध्यायपदवाच्य वेदराशि के अध्ययन को फलवत् अर्थबोध परक अवगत कराने से कर्मविधिरूपनिषेधों के समान वेदान्त भी स्वाध्यायपदवाच्य है, अतः उसका भी अध्ययन फलवद अर्थ के बोध का जनक होता है—यह भी वेदाध्ययनविधि के द्वारा ही समझा जा सकता है, एवं यद्यपि वेद के सभी अंशों के ही अर्थ में कोई विशेष नहीं है, इस नियम के अनुसार मन्त्रसमूह के समान वेदान्त की भी अर्थबोधकता स्वाभाविक, एवं यद्यपि वेदान्त समूह से चैतन्य आनन्दरूप, कर्तृभोक्तृत्वरहित, प्रपञ्चरहित एक ही प्रत्यग् आत्मा की अवगति होने से कर्तृत्वभोक्तृत्व, दुःख, शोक और मोहमय रूप में आत्मा को विषय करनेवाले अहंप्रत्यय में सन्देह और बाध नहीं होने से उस अहंप्रत्यय से विरुद्ध वेदान्त समूह अपने अर्थ से हटकर अथवा उपचरितार्थ अर्थात् लाक्षणिक होता है अथवा वह जपमात्र का उपयोगी होकर अविवक्षितार्थक या निरर्थक होगा, और ऐसा होने पर, उस वेदान्त के अर्थ विचारात्मक अध्यायचतुष्टयात्मक शारीरकमीमांसा का आरम्भ करना भी निष्प्रयोजन होगा। और भी सभी लोगों का अहम् इत्याकारक अनुभव सिद्ध आत्मा सन्दिग्ध या सप्रयोजन नहीं है जिससे जिज्ञास्य होकर विचार का प्रयोजक होगा, यही परवर्ती ब्रह्मसूत्र के विचार्य-विषय का पूर्व पक्ष है। इसका यह सिद्धान्त है कि यह ऐसा होता यदि अहं प्रत्यय प्रमाण होता है, पूर्वोक्तक्रम में प्रदर्शित यह अहं प्रत्यय श्रुति का बाधक नहीं हो सकता है। श्रुति आदि प्रमाणों से और सभी शास्त्रकारों से अहं प्रत्यय का प्रामाण्य अस्वीकार करने से अहं प्रत्यय की अध्यासरूपता

सिद्ध होती है। ऐसा होने पर वेदान्त निरर्थक नहीं हो सकता है या वह लाक्षणिक भी नहीं हो सकता है, वरन् वह, अपने प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म का बोधक होकर प्रमाण ही होता है, प्रत्यग् आत्मा ही वेदान्तों का मुख्य अर्थ है। और वह वक्ष्यमाण क्रम में सन्दिग्ध एवं सप्रयोजन होने से उस विषय की जिज्ञासा उचित है, इसी आशय से सूत्रकार कृष्णद्वैपायनने ब्रह्मजिज्ञासासूचक सूत्र की रचना की है।

कुसुमलता

इस भामती के द्वारा अध्यास का उपसंहार किया जा रहा है। युष्मदस्मत् से युक्तम् पर्यन्त प्रथम प्रसङ्ग में भाष्यकार ने अध्यास का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है इसीको पूर्वपक्ष के रूप में प्रदर्शन किया है। तथापि से लोकव्यवहार पर्यन्त द्वितीय प्रसंग से प्रमाण के द्वारा अध्यास के स्वरूप को सिद्धकर पूर्वोक्त पूवपक्ष का खण्डन किया है। आह से पूर्वदृष्टावभासः पर्यन्त तृतीय प्रसंग में अध्यास के लक्षण का वर्णन कर तं केचित् से आचक्षते इति पर्यन्त चतुर्थ प्रसंग में अध्यास के लक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के मतों का प्रदर्शन किया है। सर्वथाऽपि से चद्वितीयवद् पर्यन्त पञ्चम प्रसंग में सभी मतों के साथ प्रकृत विषय में ऐकमत्य है—इसका प्रदर्शन किया है। कथं पुनः से ब्रवीषि पर्यन्त षष्ठ प्रसंग में प्रत्यगात्मा में अध्यास कैसे सिद्ध होता है, उस विषय में आपत्तियों का उद्भावन कर उच्यते से अनात्माध्यास पर्यन्त सप्तम प्रसंग में इसी का समाधान किया है। तमेतं से मोक्षपराणि पर्यन्त अष्टम प्रसंग में अध्यास का परिचय दिया है। कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि से प्रवर्तन्ते पर्यन्त नवम दशम और एकादश प्रसंग में प्रमाण-प्रमेयव्यवहार अध्यासमूलक है—इसी को सुदृढ किया है—यही भाष्य का मर्म है। प्रकृतस्थल में प्रमाण और व्यवहारसिद्ध अध्यास सभी प्रकार से अनर्थ का हेतु और सभी प्रकार के व्यवहार का मूल है—इसी उदाहरण प्रदर्शनपूर्वक विशेषरूप में प्रदर्शन किया है। भामतीकार ने भी इसी का भाष्य के गूढ़ आशयको विश्लेषण

करते हुए प्रदर्शित किया है। इसीलिए भाष्यकार ने अध्यास के लक्षण के स्वरूप को स्मरण करा दिया है। कारण, किसी विषय में अत्यधिक श्रवण के बाद विशेष रूप में परिचय पाने के समय साधारणतया लक्षण प्रति लक्ष्य नहीं रहता है, फलतः, अनेक प्रकार का सन्देह होने लगता है। 'स्मृतिरूपः 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इस अध्यास लक्षण में 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इतना अंश ही वास्तविक अध्यास का लक्षण है। प्रकृत में इसी को अन्य शब्दों में संक्षेप से कहने पर 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' अर्थात् जो, जो नहीं है–जो वस्तु जिस स्वरूप में नहीं है, उसको वह समझना, अर्थात् उसको उस स्वरूप में समझना ही अध्यास है। जैसे शुक्ति में चाँदी का ज्ञान या रस्सी में सर्प का ज्ञान। शुक्ति या रस्सी चाँदी या साँप नहीं है, किन्तु इसको चाँदी या साँप समझते हैं–यही भ्रम या अध्यास है। अतत् पद से शुक्ति या रस्सी ली जाती है एवं तद्बुद्धि से रजत या सर्पबुद्धि है। यही तदेवम् से संक्षेपाभिधानमेतत्' तक भामती का आशय है।

अध्यास दो प्रकार का है - एक धर्मी अध्यास और दूसरा धर्मों का अध्यास। धर्मी का अध्यास कहने से बाह्यवस्तु देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण आदि में 'मैं' (अहं) कह कर आत्मस्वरूप के अध्यास का ग्रहण होता है एवं धर्म का अध्यास कहने से सभी बाह्यवस्तु देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण धर्मों का "मेरा" (मम) कहकर जो अध्यास होता है, उनका बोध होता है। अर्थात् अनात्मवस्तु में 'मैं' कहकर जो अध्यास है, वह धर्मी का अध्यास एवं अनात्मवस्तु में 'मम' कहकर जो अध्यास होता है वह धर्म को अध्यास पद से कहा जाता है। जैसे मैं शरीर हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं दुबला हूँ इत्यादि अध्यास धर्मी का अध्यास है एवं मेरा शरीर, मेरा मोटापन, मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरी कुशलता आदि अध्यास धर्म का अध्यास है। धर्मी के अध्यास में आत्मा के ऊपर अनात्मा का एवं धर्म के अध्यास में प्रथम आत्मा एवं अनात्मा में परस्पर तादात्म्य बोध रूप धर्मी का अध्यास होकर बाद में उस अनात्मा या आत्मा के धर्म यथाक्रम में आत्मा या अनात्मा में आरोपित

होते हैं अर्थात् धर्म के अध्यास के मूल में धर्मी का अध्यास आवश्यक है, किन्तु धर्मी के अध्यास के मूल में धर्म का अध्यास आवश्यक नहीं है। फलतः धर्मी के अध्यास में एक अध्यास रहता ही है एवं धर्म के अध्यास में दो अध्यास रहते हैं। जब मैं मेरा शरीर कहता हूँ तब पूर्व में आत्मा के साथ सूक्ष्म देह या अन्तःकरण का अध्यास होता है इसके फलस्वरूप अन्तः करण अहमाकारवृत्ति चैतन्य या ज्ञान स्वरूप होती है अर्थात् जब "मैं" मैं इस प्रकार का एक ज्ञान रहता है जिससे ज्ञानमय वस्तु का ज्ञान होता है–यही धर्मी का अध्यास है। इस धर्मी का अध्यास होने के बाद वह अध्यस्त धर्मिरूप चेतन या ज्ञानभावापन्न वस्तु नियत इस जडदेह के सन्निहित होकर अज्ञान की विक्षेपशक्ति से उक्त धर्मी में स्वामित्व धर्म एवं उक्त शरीर में स्वत्वरूप और एक धर्म का उत्पादन करता है, ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। अर्थात् स्वत्व के द्वारा स्वामित्व निरूपित होता है एवं स्वामित्व के द्वारा स्वत्व निरूपित होता है। इसलिए इन दोनों का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध भी कह दिया गया है। इन दोनों धर्मों की उत्पत्ति या आरोप एक ही वस्तु है, इसलिए देह का धर्म या सम्बन्ध जो स्वत्व या निजत्व वह उक्त अन्तःकरणादिसंघातरूप अध्यस्त धर्मी में अर्थात् उक्त मैं पदवाच्य में आरोपित होता है एवं अध्यस्त मेरा धर्म स्वामित्व भी देह आदि के ऊपर आरोपित होता है। इस प्रकार परस्पर का आरोप होने पर ही मेरा देह इस रूप में धर्म का अध्यास होता है। सूक्ष्म शब्द में कहा जा सकता है कि अध्यस्त धर्मी का धर्म स्वामित्व निरूपकत्व सम्बन्ध से देह पर आरोपित होता है, एवं देह का धर्म स्वत्व या निजत्व वह भी निरूपकत्व सम्बन्ध से अध्यस्त धर्मी "मैं" पर आरोपित होता है, इस स्थल में निरूपकत्व सम्बन्ध को निरूपितत्व सम्बन्ध से भी कहा जाता है। कारण, स्वामित्व का निरूपण करने में स्वत्व विशिष्ट का ज्ञान आवश्यक है। इस कारण से स्वत्व का निरूपक स्वामी होता है एवं स्वामित्व का निरूपक स्व होता है, अथवा स्वामी स्वत्व निरूपित होता है एवं स्वामी स्वामित्व निरूपित होता है। इस निरूप्यनिरूपक भाव सम्बन्ध का अन्य शब्दों में

निरूपकत्व या निरूपितत्व सम्बन्ध के आरोप के कारण ही धर्माध्यास सिद्ध होता है। लोक में मेरा पुत्र, मेरा शरीर इस प्रकार मेरा, मेरा व्यवहार होता है। धर्माध्यास शब्द के द्वारा भामतीकार का यही लक्ष्य है—यही द्विविध अध्यास का परिचय है। आचार्य वाचस्पतिमिश्रने कहा है कि द्विविध अध्यासों में धर्माध्यास को ही सभी अनर्थों का साक्षात् कारण कहा है, इसी को समझाने के लिए "तद् भार्यादिषु से कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्" यह भाष्य कहा है। इस भाष्य में बाह्य धर्म, देह धर्म, इन्द्रियधर्म एवं अन्तःकरण धर्म के उदाहरण के द्वारा धर्माध्यास का ही उल्लेख प्रथम किया है। भाष्यकार के द्वारा इस प्रकार धर्माध्यास के उदाहरण प्रदर्शन की एक और भी गूढ़ अभिसन्धि है कि संसार में वैराग्य का उत्पादन। कारण, वैराग्य के विना तत्वज्ञान दृढ़ नहीं होता है। जैसे प्रवाह में तृणलता आदि बह जाता है वैसे ही भोगवासना तत्वज्ञान को बहा देता है। धर्माध्यास को सभी अनर्थों का हेतु कहने का यह अभिप्राय है कि अनर्थ हेतु शब्द का अर्थ दुःख का कारण होता है। यह दुःख भेदज्ञान के विना नहीं होता है। ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं होने पर दुःख का ज्ञान ही नहीं रहता है। श्रुति में कहा है द्वितीय रहने पर ही भय अर्थात् दुःख होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति) धर्मी का अध्यास होने के समय आत्मा और अनात्मा परस्पर विभिन्न रहने पर भी उनमें अभेद का ही स्मरण होने से अर्थात् उनमें ज्ञाता और ज्ञेय रूप के भेद का स्फुरण होने से यह अध्यास साक्षात् दुःख का कारण नहीं हो सकता है। कारण, वह व्यक्ति देह को "मैं" कह कर समझता है वह व्यक्ति देह आदि को अपने से भिन्न अर्थात् ज्ञेय रूप में नहीं समझता है, इसलिए देह आदि के धर्म नाश आदि का ज्ञान भी उसको भिन्नभाव में नहीं रह सकता है एवं इसके कारण उसका दुःखभोग भी सम्भव नहीं होता है। 'मेरा नाश आदि' का ज्ञान ही दुःख का कारण है, किन्तु, जब उसके धर्म का अध्यास होता है, अर्थात् 'मेरा देह आदि' यह ज्ञात हुआ तभी वह व्यक्ति देह आदि का ज्ञेयरूप में अपने से पृथक् ज्ञान करता है, तब इस भेदज्ञानमूलक

देह आदि के वृद्धि और नाश आदि उसको धर्म को भी अपना अवगत करता है इस रूप में भेदज्ञान ही दुःख का साधन है। जब दुःख होता है तब मेरा दुःख इत्याकारक ज्ञान ही होता है। इसलिए धर्मी के अध्यास के समय में आत्मा और अनात्मा में 'मैं' इस प्रकार अभेदज्ञाननिबन्धन अर्थात् उस समय केवल मैं का ही स्फुरण होने से दुःख नहीं होता है, किन्तु धर्म के अध्यास के समय आत्मा और अनात्मा में 'मेरा' इस प्रकार भेदज्ञाननिबन्धन ही दुःख होता है, अर्थात् भेदज्ञान ही दुःख का कारण होने से धर्म का अध्यास ही दुःख का कारण है, केवल धर्मी का अध्यास दुःख का कारण नहीं है।

प्रकृत में जिज्ञास्य है कि धर्मी के अध्यास में आत्मा और अनात्मा रूप विभिन्न वस्तु में अभेदज्ञाननिबन्धन दुःख नहीं होता है, किन्तु धर्म का अध्यास होने पर ही आत्मा और अनात्मरूप विभिन्न वस्तु में भेद-ज्ञाननिबन्धन ही दुःख होता है, तब धर्मी के अध्यास को अर्थात् "मैं शरीर" इत्यादिरूप अध्यास के निवारण करने की क्या आवश्यकता है, अद्वैतवेदान्ती इस धर्मी के अध्यास को भी समूल नाश करने के लिए इतने उत्सुक क्यों है ? इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि धर्मी का अध्यास धर्म के अध्यास में परिणत होकर ही कार्य में समर्थ होता है। धर्मी का अध्यास होने पर क्रमशः धर्म का अध्यास होगा ही। धर्मी के अध्यास में आत्मा और अनात्मा का अज्ञान विद्यमान रहता है, अर्थात् अज्ञान की आवरणशक्ति के द्वारा आत्मस्वरूप मात्र तिरोहित हो जाता है, किन्तु धर्माध्यास में अज्ञान की विक्षेपशक्ति का कार्य विशेषरूप में प्रकाशित होता है। आवरण और विक्षेप शक्ति अज्ञान का ही स्वरूप है अतः इनमें एक का उदय होने पर दूसरे का उदय अनिवार्य है। विक्षेप शक्ति रहने पर इसके पूर्व में आवरण अवश्य ही रहेगा, इसी प्रकार आवरण रहने पर विक्षेप का उदय होगा ही। इसलिए; धर्मी का अध्यास होने पर धर्म का अध्यास अवश्य-म्भावी है, एवं दुःख के निवारण के लिए केवल धर्म का निवारण करने से

ही काम नहीं चलेगा, वरन्, उसका मूलभूत धर्मी अध्यास का भी निवारण करना आवश्यक है, अतः, धर्मी का अध्यास ही सभी अनर्थों का प्रकृत मूल है। इस प्रकार भामतीकार ने धर्माध्यास को अनर्थ हेतुता का उल्लेख कर धर्माध्यास के दृष्टान्त का व्याख्यान किया है—इसी विषय का प्रतिपादन "तद्यथा पुत्रभार्यादिषु से लेकर अध्यस्यति" पर्यन्त भाष्य से कहा है।

यह ज्ञातव्य है कि पुत्र, भार्या आदि के धर्म सुस्थता या दुःस्थता आदि का आत्मा में कैसे आरोप होता है? पुत्र आदि में स्वत्व रूप एक धर्म एवं पिता आदि में स्वामित्वरूप एक धर्म है, यह स्वत्व और स्वामित्व का निरूप्यनिरूपक भाव सम्बन्ध है इसका पूर्व में ही प्रदर्शन किया है। पुत्र आदि के धर्म स्वत्व का आश्रय पुत्र आदि का यदि सकल अर्थात् सुखी एवं विकल अर्थात् दुःखी होता है, ऐसी स्थिति में स्वत्वनिरूपित स्वामित्व विशिष्ट पिता आदि का भी सुख या दुःख हो जाता है। स्वत्व या स्वामित्वरूप धर्म वस्तुतः आत्मा का धर्म नहीं है, वरन् वह पिता और पिता के देह का ही धर्म है। देह के साथ आत्मा का अभेदाध्यास निबन्धन देह के धर्म कृशत्व या स्थूलत्वरूप सम्बन्ध के कारण पुत्र के देह की सुस्थता या दुःस्थता भी पिता के देह में आरोपित होती है। पिता की देह में पिता की आत्मा का अध्यास पूर्व से ही है, अतः, पिता पुत्र की सुस्थता या दुःस्थता में दुःखी या सुखी होते हैं। इसी प्रकार पुत्र भी पिता की सुस्थता और दुःस्थता में सुस्थ या दुःस्थ हो जाता है। 'मैं कृश हूँ' यह कहने पर कृशत्व आदि धर्म वस्तुतः अपने देह में ही रहते हैं,वही आत्मा में आरोपित होते हैं किन्तु पुत्र भार्या आदि की सुस्थता और दुःस्थता के कारण अपने को जब सुखी और दुःखी समझकर ज्ञान करता है, तब पिता या स्वामी पुत्र भार्या आदि सुख और दुःख धर्म को स्वत्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध के द्वारा अपने शरीर में आरोप कर उसी को पुनः आत्मा में आरोप करता है। अर्थात् कृशत्व आदि धर्म अध्यास के समय में देह में अनारोपित धर्म का आरोप आत्मा में होता है, किन्तु, पुत्र भार्या आदि के सुख और

दुःख धर्म अपने देह में आरोपित होकर आत्मा में आरोपित होते हैं। यही साक्षात् कृशत्व आदि धर्म के साथ प्रदर्शित साकल्य और वैकल्य के साथ वैलक्षण्य है। "स्वाम्यप्रणन्तिकया सञ्चारिताः शरीरे' इत्यादि वाक्य के द्वारा भामतीकार ने यही बताया है। अत्यन्त व्यवहित बाह्य वस्तु का धर्म जिस रूप में आत्मा में आरोपित होकर अनर्थ का उत्पादन करता है, यह किया है। इस स्थल में भाष्यकार ने अपेक्षाकृत सन्निहित देह आदि और उसके धर्म आत्मा में आरोपित होकर किस प्रकार अनर्थ का उत्पादन करता है यही "तथा देह धर्मान्" इत्यादि भाष्य में कहा गया है। भामतीकार ने इसके तात्पर्य की व्याख्या के प्रसङ्ग में कहा है कि नितान्त असन्निहित देह आदि से व्यवहित बाह्यवस्तु का धर्म आत्मा में आरोपित होने पर भी जब अनर्थ का साधन होता है, तब उसकी अपेक्षा सन्निहित देह रूप बाह्यवस्तु का धर्म आत्मा में आरोपित होकर अनर्थ का साधन होता है इस विषय में अब क्या वक्तव्य शेष है? अर्थात् यह नितान्त सम्भव व्यापार है। इसी के फल स्वरूप संसार में कहा जाता है "मैं मोटा हूँ" :"मैं दुर्बल हूँ" मैं गोरा हूँ, मैं जाता हूँ, इत्यादि। वेदान्तोक्त पाँच कोषों में अन्नमयकोष के धर्म का आत्मा में यही आरोप है। अर्थात् अन्नमयकोष के धर्म का आत्मा में अध्यास का उदाहरण है। देह की अपेक्षा अन्तरङ्ग इन्द्रिय आदि अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं पाँच प्राणात्मक प्राणमयकोष का धर्म मूकत्व, काणत्व, क्लीवत्व, वधिरत्व अन्धत्व, श्वासप्रश्वास आदि भी जिस प्रकार आत्मा में आरोपित होकर अनर्थ हेतु होता है—इसीका उल्लेख करते हैं। किन्तु, भामतीकारने इसका सुगम व्याख्यान के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा है। अर्थात् "तथा इन्द्रिय-धर्मान् मूकः, काणः क्लीवः, वधिरः, अन्धः, अहम् इति से "आत्मनि अध्य-एवं विज्ञानमय कोष के धर्म आत्मा में आरोपित होकर जिस प्रकार अनर्थ के साधन होते हैं—इसीका उल्लेख किया है। इस अन्तःकरण में धर्मा-ध्यास के फलस्वरूप लोक में मैं संकल्प करता हूँ, मैं संशय करता हूँ, मैं निश्चय करता हूँ, मैं कर्त्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ, इत्यादि अनर्थ साधन का व्यव-

हार करता है यही कहता है। इस सम्बन्ध में भी भामतीकार ने अधिक न कहकर मात्र भाष्य की योजना कर दी है।

प्रकृतस्थल में भाष्यकार एवं भामतीकार ने प्रथम पुत्र आदि बाह्य वस्तु के धर्मों के अध्यास की अनर्थ मूलता दिखाई है, अनन्तर अपेक्षाकृत सन्निहित देह आदि रूप अन्नमय कोष की इसके बाद उससे अन्तरङ्ग इन्द्रियादिरूप प्राणमयकोष की इसके बाद उसकी अपेक्षा अन्तरङ्ग मनोरूप मनोमय कोष की एवं इसके बाद अन्तरङ्ग बुद्धिरूप विज्ञानमयकोष की धर्मों के अध्यास की अनर्थ मूलता दिखाई है, अनन्तर सबकी अपेक्षा अन्तरंग आनन्दमयकोष जहाँ जीव अहमज्ञ (मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ—यह अनुभव करता है, इस कोष के धर्म अज्ञता के अध्यास की अनर्थ हेतुता आचार्य या भामतीकार ने प्रदर्शित नहीं की है। इसका प्रधान कारण यह है कि यह अध्यास धर्मी का अध्यास है। यह अध्यास साक्षात् अनर्थ का साधन नहीं होता है एवं जीव उसमें ब्रह्मानन्द ही अनुभव करता है। इसका कारण भेदज्ञान नहीं है, केवल अज्ञान का ही स्फुरण रहता है। भेदज्ञान ही अनर्थ हेतु है यह पूर्व में ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त सुषुप्ति को वेदान्तशास्त्र सत्संपत्ति या ब्रह्मस्थान कहकर घोषणा की है। इसलिए आत्मा में आनन्दमयकोष के अध्यास में साक्षात् अनर्थ हेतुता नहीं रहती है। यही कारण है कि इसका प्रदर्शन वैराग्य का उपयोगी भी नहीं है। वस्तुतः, इसी के लिए इस स्थल में आनन्दमयकोष के धर्माध्यास का कोई उल्लेख नहीं है। आनन्दमयकोष में अध्यास धर्मी का अध्यास है। ब्रह्मतत्त्वज्ञान के अधिकारी होने के लिए वैराग्य आवश्यक है, यही कारण हैं कि भाष्यकार ने आनन्दमय कोष का वर्णन नहीं किया है। अनात्मा में आत्मा के अध्यास के परिचय प्रसङ्ग में आचार्य ने धर्माध्यास का परिचय दिया है, भामतीकार ने भी वर्णन किया है। इस स्थल में धर्माध्यास के मूलभूत धर्मी के अध्यास का स्वरूप आचार्य ने एवमहम् से अध्यस्यति से किया है, अर्थात् अहं प्रत्ययी के अशेष स्वप्रचार-साक्षी प्रत्यगात्मा में अध्यास कर एवं इसी प्रत्यगात्मा के विपरीत क्रम में

अन्तःकरण आदि में अध्यास करता है यही इस वाक्य के द्वारा वर्णन किया है। भामतीकार ने इसकी व्याख्या में कहा है कि धर्मी का अध्यास ही उक्त धर्माध्यास का मूल है। अहंप्रत्ययी शब्द का अर्थ- वह अन्तःकरण जिस अन्तःकरण में अहंप्रत्ययरूप एक वृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार अहंप्रत्ययविशिष्ट जो अन्तःकरण, वह साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है एवं उस साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्मा का पुनः इस प्रकार अहंप्रत्ययविशिष्ट अन्तःकरण में अध्यास होता हैं। यही धर्मी का अध्यास एवं सभी प्रकार के धर्मो के अध्यास का मूल है। यही अहं-प्रत्यय बुद्धिरूप अन्तःकरण की परिणतिरूप एक वृत्ति है। यह जड़ वस्तु हैं, अतः, इसके द्वारा विषय-प्रकाश नहीं होता है, यह यदि किसी प्रकाश-स्वरूप साक्षी के द्वारा उद्भासित अर्थात् प्रकाशित नहीं होता है, ऐसी स्थिति में यह विषय का प्रकाश नहीं कर सकता हैं। इस प्रकार अहंप्रत्ययविशिष्ट अन्तःकरण और साक्षिस्वरुपचैतन्य परस्पर अध्यस्त होने से जीव भाव का उदय होता हैं उसी जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्म उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि अन्तःकरण धर्म प्रत्यगात्मा में आरोपित होकर जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मा का चैतन्य धर्म अन्तःकरण में आरोपित होकर अन्तःकरण को चेतन के समान करता है। "तद्विपर्ययेण" इस तृतीया विभक्त्यन्तपद के द्वारा यही अवगत कराया है। अर्थात् 'तत्' पद से जड अन्तःकरण गृहीत होता है उसका विपर्यय अर्थात् वैलक्षण्य अर्थात् चैतन्य उसीका स्वरूप अन्तःकरण में आरोपित होता है, यही इस तृतीया विभक्ति के द्वारा कहा गया है।

आचार्य शङ्कर ने साक्षी शब्द से वेदान्त के रहस्य का उद्घाटन किया है। साक्षिचैतन्य निरुपाधि ब्रह्मचैतन्य की अवगति विक्षिप्त नहीं हैं। निरुपाधि ब्रह्मचैतन्य अवाङ्मनसगोचर पदार्थ है। उसका कोई भी विषय नहीं हो सकता है। उसका कुछ भी विषय नहीं हो सकता है इसीलिए वह निरुपाधि ब्रह्म चैतन्य है। यह निरुपाधि ब्रह्म चैतन्य ही संसार दशा में

उपाधि के वश से जीव और जीवसाक्षी एवं ईश्वर और ईश्वर साक्षी इस तरह चार प्रकार में विभक्त हैं। इन विभागों का मूल अज्ञान है। यह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि के भेद से दो प्रकार का है। व्यष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य को जीव कहा जाता है। एवं इस अज्ञानोपहित चैतन्य का मूल जीवसाक्षी है। इस साक्षी का स्वभाव है कि यह स्वयं प्रकाशशील होकर इसकी उपाधि अज्ञान और उससे उत्पन्न सूक्ष्म और स्थूल देह आदि को, अज्ञान और अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा के बिना ही प्रकाश करता है। अर्थात् जीव जिस प्रकार जीव जड अज्ञान और उससे उत्पन्न अन्तःकरण आदि जड बस्तु के साथ मिलकर अपने को एवं सभी जड पदार्थ के अज्ञान आदि अन्तःकरण आदि की वृत्ति की सहायता से प्रकाश करता है—यह वैसा नहीं करता है, अर्थात् यह वृत्ति निरपेक्ष होकर जड का प्रकाश करता है, किन्तु जड के साथ मिश्रित नहीं होता है, यही इसका वैशिष्टय है। इस जीवसाक्षी के स्वरूप को स्वीकार करना आवश्यक है। जीवभाव का मूल कारण अज्ञान है। इस अज्ञान रूप उपाधिवश से निरुपाधि ब्रह्म चैतन्य ही जीव और ईश्वरसाक्षी के नाम से अभिहित होता है। वस्तुतः साक्षी से ब्रह्म चैतन्य का अन्य कोई भी भेद नहीं है। अर्थात् सोपाधिकत्व ही इनमें भेद का साधन है। यह साक्षी स्वप्रकाश होने से अपनी उपाधि अज्ञान का भी प्रकाश करता है, अज्ञान प्रकाशित होने पर भी उस अज्ञान में बिम्बस्थानीय साक्षिरूप चैतन्य का एक प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। अज्ञान भी चेतन के समान है। प्रतिबिम्ब ही जीव है एवं अज्ञान ही जीव का आनन्दमय कोष है। सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण दशा में जीव आनन्दमय कोष में अवरुद्ध रहता है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण अपने स्वरूप में रहकर साक्षि स्वरूप प्रकाश वस्तु को अप्रकाशित के समान कर देता है और विक्षेप शक्ति से इसका परिणाम होता है। अर्थात् अज्ञान में वृत्ति उत्पन्न होती है। अज्ञान का प्रथम परिणाम अति सूक्ष्म 'अहम्' वस्तु है। यही ऊपर में कथित साक्षि चैतन्य के प्रतिबिम्ब का यथार्थ आश्रय है। अतिसूक्ष्म अज्ञान परिणाम 'अहम्' साक्षी

के द्वारा प्रकाशित होकर सुषुप्तिकाल में 'अहमज्ञ' 'मैं अज्ञ हूँ' इत्याकारक अस्फुट अनुभव का विषय होता है, अनन्तर अज्ञान की विक्षेप शक्ति से पुनः परिणाम होता है। अज्ञान का यह द्वितीय परिणाम अन्तःकरण है। अन्तःकरण जीव चैतन्य और साक्षि चैतन्य इन दोनों चैतन्यों से प्रकाशित होता है अर्थात् चेतन के समान होता है। इसमें प्रतिबिम्बित जीव चैतन्य स्फुटतर, अहमाकार धारण करता है और मैं ज्ञाता, मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता इत्याकारक अनुभव का विषय होता है। दूसरे शब्दों में पूर्वोक्त सूक्ष्म अहं-भाव विलक्षण बुद्धिरूप अन्तःकरण पुनः अहमाकार एक स्फुटतर वृत्ति होती या परिणाम होता है एवं इस स्फुटतर अहमाकार वृत्ति की सहायता से मैं ज्ञाता हूँ, इत्यादि अनुभव एवं बाह्य विषय का अनुभव करता है। यही विज्ञानमय और मनोमय कोष है। इसमें अवस्थित जीव जाग्रत् और और स्वप्न अवस्था में ज्ञाता होता है। सुषुप्ति के अन्त में जीव विज्ञान मय कोष में रहकर सुषुप्ति के संस्कार के आकार में अवस्थित अज्ञानानुभव का स्मरण करता है। इस विज्ञानमय कोषस्थ जीव का ज्ञातृभाव सदा नहीं रहता है। कारण, प्रत्येक सुषुप्ति मूर्च्छा और मृत्यु में यह आनन्दमय कोष में विलीन हो जाता है। अतः, विज्ञानमय कोष में ज्ञाता यह भाव एक विच्छिन्न ज्ञान धारा से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह ज्ञातव्य है कि जीव साक्षी के स्वीकार की क्या आवश्यकता है? विज्ञानमय कोष की अर्थात् बुद्धि रूप अन्तःकरण की विषय मिश्रित अहमाकार वृत्ति मध्य-मध्य में विच्छिन्न होने पर भी 'अहं' कहकर एक अविच्छिन्न वस्तु को प्रकाशित करती है - यह निश्चय एक स्वतन्त्र वस्तु होती है। यह स्वतन्त्र वस्तु ही जीव साक्षी पद से कहा जाती है। साधारणतः जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में हमलोगों को जो ज्ञान होता है उसमें, मिति (ज्ञान), माता (ज्ञाता), मेय (ज्ञेय) तीन वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, इन तीन से अतिरिक्त ज्ञान ही नहीं होता है। किन्तु विचार पूर्वक देखने पर यह अवगत होता है कि ये तीन प्रकाश विच्छिन्न प्रकाश हैं। अर्थात् घट-प्रकाश के साथ घट वस्तु, घट

ज्ञान एवं घट ज्ञाता का प्रकाश होता है एवं इस घट ज्ञान का नाश होकर जब पट ज्ञान होता है तब घट ज्ञाताघट और घट ज्ञान नहीं रहता है। वरन् उस समय पट, पट ज्ञान और पट ज्ञाता इन तीन का ही प्रकाश होता है, किन्तु इनके अन्दर घट-पटादि विषयों के साथ अमिश्रित वह एक मैं रूप ज्ञाता है। इस प्रकार ज्ञाता के रूप में आनन्दमय कोष में एक सभी ज्ञानों का अनुगत वस्तु का प्रकाश होता है; वह जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वही जीव साक्षी के द्वारा कहा जाता है। विज्ञानमयादिकोष में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीन नियत रूप में रहते हैं, किन्तु आनन्द कोष में केवल अज्ञान के ज्ञातृ रूप में जीव रहता है, इस समय ज्ञान अर्थात् वृत्ति ज्ञान या ज्ञेय किसी का भी प्रकाश नहीं रहता है। जीव साक्षी के द्वारा ही यह जीव भाव सभी अवस्था में प्रकाशित होता है। बाल्यावस्था से वृद्धावस्था पर्यन्त एक मैं की सर्वदा अविच्छिन्न अनुभूति हमलोगों में विराजमान रहती है। इसके घट पटादिगोचर वृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनुभव जिस चैतन्य के द्वारा होता है, वही साक्षि चैतन्य है। इतना सत्य है कि इस जीव साक्षी को वेदान्ती से अतिरिक्त दार्शनिक नहीं मानते हैं। किन्तु जीव और जीव साक्षी को लक्ष्य कर ही श्रुति में कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति श्वे० ४।६

दो पक्षी मित्र होकर एक वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें एक उस वृक्ष के स्वादु फल का भोग करता है, दूसरा केवल देखता हुआ बैठा है। शरीर वृक्ष है, फल का भोग करने वाला पक्षी जीव है और द्रष्टा पक्षी जीव साक्षी है।

व्यष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य जीव है और समष्टि अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर है। ऐसी स्थिति में जीव और जीवसाक्षी की जिस प्रकार उपपत्ति होती है समष्टि को आश्रयण कर उसी प्रकार ईश्वर और ईश्वर-

साक्षी के विभाग की भी उपपत्ति होती है। ईश्वर समष्टि उपाधि से उपहित होने से सर्वज्ञ एवं जीव व्यष्टि उपाधि से उपहित होने से अल्पज्ञ है। जिस प्रकार जीवसाक्षी का प्रतिबिम्ब जीव है वैसे ही ईश्वरसाक्षी का प्रतिबिम्ब ईश्वर है। अर्थात् जिस प्रकार जीवसाक्षी में एक भी अज्ञानोपाधि का सम्मिश्रण नही हैं,वैसे ही ईश्वरसाक्षी में भी समष्टि रूप अज्ञानोपाधिका कोई भी सम्मिश्रण नहीं है। जैसे जीवसाक्षी बिम्ब स्थानीय है। वैसे ही ईश्वर साक्षी भी बिम्ब स्थानीय है। साक्षी से अतीत अर्थात् परे निरुपाधि है और वही ब्रह्म है। वाचस्पति मिश्र, पञ्चदशी एवं वेदान्त परिभाषाकार आदि का यही साक्षी के सम्बन्ध में वक्तव्य है। इस विषय में अन्य आचार्यों के मत का विश्लेषण सिद्धान्तलेश में किया है। धर्मी के अध्यास में अन्तःकरण आदि का तादात्म्य साक्षि चैतन्य में आरोपित होता है। धर्मी का अध्यास ही धर्माध्यासको द्वार कर संसार के सभी अनर्थों का मूल होता है।

अचार्य वाचस्पति मिश्र ने एवम् अयम् अनादिरनन्तः से सर्वलोक प्रत्यक्षः इस भाष्य से धर्मी के अध्यास के स्वरूप वर्णन प्रसंग में जीवस्वरुप का परिचय दिया है। हमलोगों के सभी व्यवहारों का मूल अहं पदार्थ वस्तुतः अध्यस्त पदार्थ छोड़कर कुछ भी नहीं है। उस कल्पित वस्तु के ऊपर निर्भर कर हमलोग इस अनर्थमय संसार में आवद्ध हो गये हैं, श्रुति इस अहंपदार्थ के अध्यस्तत्व अवगत कराती है एवं इसके अधिष्ठान भूत सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में इसको प्रतिष्ठित कर देती है। इसलिए, श्रुति का आश्रय ग्रहण एकान्त आवश्यक है। यह जीव अन्तःकरणादि से अवच्छिन्न वह प्रत्यगात्मा ही है। स्वरूपतः वह उससे भिन्न नहीं है। कारण अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठानसत्ता से अतिरिक्त नहीं है। जैसे प्रतिबिम्बसत्ता बिम्बसत्ता से पृथक् नहीं हैं. यह जीव स्वरूपतः साक्षिस्वरूप चेतन वस्तु होने पर भी प्रतिबिम्ब रूप में इदं अर्थात् जड अनिदं अर्थात् चेतन इन दोनों भावों से मिश्रित ही है एवं इसी रूप में यह कर्त्ता और भोक्ता आदि ही है। यह जीव ही कारणभूत एवं कार्यभूत

द्विविध अज्ञानों का आश्रय है। ये दोनों जीव का ही आश्रयण करती है ब्रह्म का नहीं : यह भामतीकार का विशेष सिद्धान्त है। कतिपय वेदान्त के आचार्यों ने अज्ञान को ब्रह्माश्रित ही माना है। इनमें कारणभूत अविद्या को कारण शरीर या आनन्दमय कोष कहा है और कार्यभूत अविद्याको घट पट आदि बाह्य वस्तु विषयक अज्ञान कहा जाता है। जीव ही अहङ्कारास्पद है, इसीलिए, वह सभी अनर्थों का पात्र होता है। जीव अज्ञान आदि अन्तःकरण रूप उपाधि और साक्षिचैतन्य के परस्पर के अध्यास का फल है। अध्यास नहीं होता तो यह जीव भाव उदित नहीं होता। यह जीवात्मा ऊपर कहे गये परस्पर के अध्यास का कारण एवं यह अध्यास ही पुनः आत्मा के जीव भाव का कारण है, इसके फलस्वरूप अन्योऽन्याश्रय दोष से कार्य कारण भाव के व्याघात की अशंका की जा सकती है–इसीलिए भामती में अध्यासको अनादि कहा है, अर्थात् इसका आदि नहीं है। अर्थात् बीज और अंकुर के समान अनादि हैं। यह अनुत्पन्न पदार्थ के समान अनादि नहीं है। बीजाङ्कुर के समान अनादि कहने से प्रत्येक अध्यास पूर्व-पूर्व अध्यास का फल माना गया हैं। अतः अन्योऽन्याश्रय दोष को हटाने के लिए अज्ञान के आश्रय रुप में ब्रह्म को मानने की आवश्यकता नहीं हैं वरन् इसका आश्रय जीव ही होता है। यह अध्यास अनादि अनन्त है, कारण, यह स्वभाविक अर्थात् अनुत्पन्न पदार्थ है। अनन्त होने पर भी इसकी तत्त्व-ज्ञान से निवृत्ति होती है, यह मिथ्या प्रत्यय रूप अर्थात् अनिर्वचनीय है। यह कर्तृत्व का प्रवर्तक है एवं इसके भोक्तृत्व अस्तित्व में सर्वापेक्षा बलवत्प्रमाण कि यह सर्वलोक प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस अध्यास प्रसंग के उपसंहार वाक्य "एवम् अयम्......सर्वलोक प्रत्यक्षः" के सूचना हेतु निर्देश करने के लिए कहा है कि आचार्य के इस कथन का अभिप्राय शिष्य हित की कामना है। कारण प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार के द्वारा अध्यास के स्वरूप को इसी प्रकार से कहा है। इस स्थल में पुनः इस प्रकार कथन से अध्यास में शिष्य की बुद्धि दृढ़ की गई है। क्योंकि, आचार्य ने इस स्थल में यही कहा है कि अध्यास के स्वरूप की सिद्धि के विषय में

प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारादिरूप समुदाय युक्ति ही प्रदर्शित हुई है, उसी के द्वारा ही केवल अध्यास सिद्ध होगा यह बात नहीं है, वरन्, यह सभी लोगों का अनुभव सिद्ध है. अतः, अनुभव के द्वारा भी यह अवगत होता है।

उपसंहार वाक्य की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति ने कहा है कि आचार्य शङ्कर ने सभी अनर्थों के साधनभूत अध्यास को हटाने के लिए आत्मैकत्वविद्या की आवश्यकता प्रदर्शित की है। भामती में इसका व्याख्यान करते हुए कहा है कि आत्मैकत्वविद्या अध्यास का विरोधी ज्ञान के द्वारा अध्यास विनष्ट हो जाता है। इस विषय की भली-भाँति अवगति के लिए विरोधि ज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। न्यायमत में विरोधि प्रत्यय से यद्विषयक ज्ञान होता है उसका अभाव विषयक या उसके अभाव का व्याप्य विषयक ज्ञान समझा जाता है। जैसे पृथ्वी में घट विषयक यथार्थ ज्ञान होने पर अर्थात् 'घटवद्भूतलम्' यह ज्ञान होने पर उस भूतल में घट का अभाव विषयक ज्ञान यदि होता है अर्थात् 'घटाभाववद्भूतलम् ऐसा ज्ञान यदि होता है, तब प्रथम ज्ञान का विरोधी द्वितीय ज्ञान होता है। अथवा 'इदं रजतम्' इस भ्रम ज्ञान के बाद यदि 'नेदं रजतम्' यह ज्ञान होता है तब 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) यह ज्ञान 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान का विरोधी ज्ञान होता है। आशय यह है कि जिस सम्बन्ध से जिस धर्म रूप में जिसका जहाँ ज्ञान होता है उस सम्बन्ध से उस धर्म रूप से उसके अभाव का ज्ञान अथवा उसके अभाव के व्याप्य का ज्ञान उस स्थान में होता है, तब दूसरा ज्ञान पूर्व ज्ञान का बाधक या विरोधी ज्ञान होता है। जैसे पृथ्वी में संयोग सम्बन्ध से घटत्व धर्म विशिष्ट घट ज्ञान का विषय होता है, भूतल में संयोग सम्बन्ध से घटत्व धर्म विशिष्ट घट के अभाव का ज्ञान अथवा घटाभाव के व्याप्य का ज्ञान ही संयोग सम्बन्ध से घटत्व धर्म विशिष्ट घट ज्ञान का विरोधी होता है, किन्तु अन्य सम्बन्ध से अन्य धर्म रूप से घट के ज्ञान का विरोधी नहीं होता है।

वेदान्तमत में उक्त सिद्धान्त सम्मत होने पर भी प्रत्यक्ष भ्रम के स्थल में भ्रम के अधिष्ठान का साक्षात्कार भी उक्त प्रत्यक्ष भ्रम का विरोधी होता है। इदं रजतम् इस प्रत्यक्ष भ्रम के स्थल में नेदं रजतम् यह ज्ञान इदं रजतं का जिस रूप में विरोधी होता है उसी तरह इयं शुक्तिः इस प्रकार भ्रम के अधिष्ठान (आधार) स्वरूप शुक्ति का साक्षात्कार भी उसका विरोधी होता है। न्यायमत में भी इस रूप में स्वीकार किया है कि रजतत्व के अभाव का व्याप्य शुक्तित्व है इस प्रकार का ज्ञान रहने पर ही शुक्ति का ज्ञान इदं रजतम् इस ज्ञान का विरोधी होता है। किन्तु वेदान्ती यह नहीं मानते हैं, वे कहते हैं कि यदि अनुभव के ऊपर निर्भर किया जाय तो स्पष्ट अवगत हो रहा है कि अधिष्ठान का ज्ञान के स्वरूप का साक्षात्कार भ्रम का निवर्तक होता है। इस अधिष्ठान के साक्षात्कार में रजतत्वाभाव के व्याप्यत्व रूप में शुक्तित्व रूप धर्म का ज्ञान अनुभव सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है कि अज्ञान का यह स्वभाव है कि वह अधिष्ठान का आवरण कर विक्षेप शक्ति के द्वारा अनेक प्रकार के विपरीत धर्मों का आरोप करता है। शुक्ति रूप अधिष्ठान का आवरण होने से शुक्ति में रजत का आरोप होता है। 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार विपरीत ज्ञान रजत के आरोप का निवर्तक होने पर भी अन्य आरोप जैसे यह रंग (रांगा) इस प्रकार के भ्रम का निवर्तक नहीं हो सकता है। अतः, यह मानना होगा कि जब तक अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं होता है, तब तक उस अधिष्ठान के आवरण अज्ञान की विक्षेप शक्ति का नाश नहीं किया जा सकता है। रजतानुकूल विक्षेप शक्ति का 'यह रजत नहीं है इस प्रकार के ज्ञान से ही निवारण हो सकता है, किन्तु यह रंग इस विक्षेप शक्ति का निवर्तक वह नहीं हो सकता है। अतः, विक्षेप शक्ति की सर्वथा निवृत्ति करने के लिए अधिष्ठान के स्वरूप का साक्षात्कार ही एक मात्र उपाय है। यह अधिष्ठान ज्ञान आरोपित ज्ञान का विरोधी होता है—इसमें सन्देह नहीं है। अतः, विरोधि प्रत्यय के इस नियम के अनुसार ही आचार्य ने कहा है - आत्मा

का एकत्व ज्ञान सभी अनर्थों के साधनभूत अध्यास का विरोधी या बाधक होता है अतः, ब्रह्म स्वरूप आत्म पदार्थ इस अध्यास का एकमात्र अधिष्ठान है। जैसे शुक्ति में रजत के भ्रम में शुक्ति रजत के भ्रम का अधिष्ठान है, इसी तरह ब्रह्म ही इस अध्यास का अधिष्ठान है। फलतः अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार जगत् भ्रम रूप अध्यास की निवृत्ति के लिए एक मात्र साधन है। इसी लिए कहा गया है कि वेदान्त विचार के आरम्भ का मुख्य फल आत्मैकत्वविद्या का लाभ एवं उसका फल मुक्ति या अज्ञान की निवृत्ति है। आत्मैकत्वविद्या का लाभ ब्रह्म रूप अधिष्ठान का साक्षात्कार लाभ है। इसी के लिए वेदान्त का विचार आवश्यक है। वेदान्त विचार का उद्देश्य वेदान्त का जप या किसी प्रकार की सगुणोपासना या किसी प्रकार के विहित कर्म का अनुष्ठान नहीं है। कारण, ब्रह्म रूप अधिष्ठान का निश्चयात्मक ज्ञान ही समूल अविद्या का विनाश करता है। अविद्या का मूल पूर्व-पूर्व जन्म का अविद्या जनित संस्कार समूह है। संस्कार रूप मूल के साथ अविद्या की निवृत्ति न होने पर उस अविद्या का पुनः उदय हो सकता है। इसलिए समूल अविद्या की निवृत्ति ही आत्मैकत्वविद्या का फल है, और इसी लिए वेदान्तानुशीलन आवश्यक है। जप के लिए या कर्म में प्रवृत्त होने के लिए वेदान्त का अनुशीलन नहीं किया जाता है—इत्यादि वाक्यों से भामतीकार ने यही प्रदर्शित किया है कि ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् उपाय है, उपासना या यागयज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान मुक्ति का साक्षात् उपाय नहीं है, ये कर्म चित्त शुद्धि का सम्पादन कर मुक्ति के साक्षात् साधन ज्ञान के लाभ के उपाय हैं। 'मैं' यह आत्म विषयक ज्ञान यदि यथार्थ होता एवं वेदान्त 'मैं' को ही ब्रह्म कहकर उपदेश करता तो ब्रह्म ज्ञात वस्तु ही रहता, अतः ज्ञात वस्तु के जानने के लिए वेदान्तशास्त्र की आलोचना में कौन प्रवृत्त होता ? वेदान्तशास्त्र की आलोचना का फल मुक्ति है और वेदान्त की आलोचना से 'अहं' का ज्ञान होता है, किन्तु अहं का ज्ञान रहने पर भी जब मुक्ति नहीं होती है, तब वेदान्तशास्त्र की आलोचना से भी 'अहं' को उसी रूप में समझने पर कैसे मुक्ति हो सकती

है ? अतः मुक्ति के लिए वेदान्तशास्त्र का आलोचन निष्प्रयोजन है। इस प्रकार वेदान्त प्रतिपाद्य आत्म विषयक ज्ञान के लिए या मुक्ति के लाभ के लिए वेदान्तशास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म विषयक जिज्ञासा भी सम्भव नहीं है। ब्रह्म जिज्ञास्य न होने पर वेदान्त पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? इसलिए यही मानना होगा कि वेदान्त शास्त्र का आत्मस्वरूप के विषय में कोई तात्पर्य नहीं है, फलतः वेदान्तशास्त्र की आलोचना अन्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए है—यही मानना होगा। ऐसी स्थिति में जपादि रूप उपासना या यागादि का अनुष्ठान ही इसका प्रयोजन है। वेदान्त का प्रयोजन उपासना या कर्मानुष्ठान मानने पर उपनिषद् से सम्पन्न ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं होगा—अर्थात् यह ज्ञान भी भ्रमज्ञान या आहार्य्य ज्ञान विशेष ही होगा और उसके यथार्थ ज्ञान न होने पर पुनः-पुनः उस आत्म ज्ञान का अभ्यास करने पर भी आत्मा के वास्तविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निरास कैसे हो सकता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म आत्मा में आरोपित होने पर तत्त्व ज्ञान अर्थात् उक्त ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान से उसका निवारण हो सकता है। किन्तु, जो वास्तव अर्थात् यथार्थ है उसका यथार्थ ज्ञान कैसे अपनयन कर सकता है ? कल्पित वस्तु का ही यथार्थ ज्ञान अच्छेद करता है। हजारों बार सर्पज्ञान अभ्यस्त होने पर भी रस्सी के वास्तव धर्म रस्सीत्व का निवारण नहीं कर सकता है। रस्सी में सर्पज्ञान भ्रम रूप होने पर अर्थात् रस्सी में रस्सी का धर्म रस्सीत्व प्रकाशित न होने पर सर्प का धर्म सर्पत्व प्रकाश पाता है, और रस्सीत्व के ज्ञान के द्वारा रस्सी में सर्परूप ज्ञान का भ्रम का वारण हो सकता है। अतः कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म यदि आत्मा का वास्तव धर्म है, तब वेदान्त सम्मत आत्म तत्त्व ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और अयथार्थ आत्म तत्त्व ज्ञान से आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि को हटाया जा सकता है। आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का सभी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, अतः यह अनुभव सिद्ध है फलतः, ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ही अयथार्थ है। इस पूर्व पक्षी के कथन से प्रामाणिक मानने पर वेदान्त विचार निष्प्रयोजन हो जायगा,

फलतः, इस ग्रन्थ का आरम्भ भी आवश्यक हो जायेगा।

इस आशंका के उत्तर में आचार्य भामतीकार ने कहा है कि आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म मिथ्याज्ञान से उत्पन्न है— यह पूर्व में ही कहा गया है। वह बुद्धि आदि का धर्म होने पर भी आत्मा में अध्यस्त है—यह कहने से ही अधिष्ठानस्वरूप आत्मा के ज्ञान के द्वारा वे निवृत्त नहीं हो सकते हैं। रस्सी में सर्प का भ्रम होने के स्थल में रस्सी अधिष्ठान है एवं आरोप का विषय सर्प है। रस्सी के स्वरूप साक्षात्कार के द्वारा कल्पित सर्प और सर्पविषयक-ज्ञान दोनों ही तिरोहित हो जाते हैं, आत्मा में सर्पस्थानीय अनात्मधर्म उपस्थित होता है, वही आत्मा के यथार्थज्ञान के द्वारा ही अनात्मधर्म तिरोहित हो जाते हैं। रस्सी में सर्प का ज्ञान मिथ्याज्ञान न होने पर रज्जुतत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो सकता है, किन्तु, मैं को कर्ता और भोक्ता समझता हूँ, वह तो अन्धकार में सर्प के ज्ञान के समान सहसा उत्पन्नज्ञान नहीं है, वरन् यह मेरे सुदृढ-संस्कार से उत्पन्न है। आत्मा अकर्ता अभोक्ता कह कर हमलोगों को हजारों बार समझाने पर, अथवा मन्त्र के समान हजारों बार जप करने, अथवा विचार कर यह सिद्धान्त करने पर सुदृढ़ संस्कार है - यह हमलोगों के अस्तित्व के साथ अविच्छेद्यस्वरूप में स्थिर है, अतः, ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं, अर्थात् हमलोगों की आत्मा ब्रह्मस्वरूप है—यह जानने पर भी उक्त मिथ्याज्ञान कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता है। इसलिए उपासना या कर्मानुष्ठान आदि एकान्त आवश्यक है। इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि आदरपूर्वक अर्थात् अनुराग के साथ निरन्तर अर्थात् तेल की अविच्छिन्न धारा से दीर्घकाल अभ्यास किया जाना चाहिए अर्थात् मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है, अर्थात् ब्रह्म और मैं स्वरूपतः सम्पूर्ण भाव में अभिन्न हैं इत्याकारक ज्ञान की पुनः-पुनः प्रवृत्ति की जाती है। अर्थात् ध्यान या निदिध्यासन करना चाहिए उस तत्त्वज्ञान से सुदृढ संस्कार उत्पन्न होगा और वह संस्कार उक्त सुदृढ मिथ्याज्ञान के सुदृढ

संस्कार को भी विनष्ट कर देता है। वेदान्तविचार को श्रवण किया एवं उसी क्षण मुक्ति हो गई—यह नहीं कहा जा सकता है। मिथ्याज्ञानसंस्कार जितना सुदृढ़ है उससे अधिक तत्त्वज्ञान का अभ्यास आवश्यक है। मुक्ति में विलम्ब देख कर उपासना या कर्म के अनुष्ठा की आवश्यकता नहीं है। उपासना का फल एकाग्रता एवं कर्मनिष्ठान का फल चित्तशुद्धि है। एकाग्रता का अभाव रहने पर उपासना करें, चित्त यदि चञ्चल है, चित्त यदि ध्येयविषय में स्थिररूप संलग्न नहीं रह सकता है तो अपने अभीष्ट देवता का स्तव स्तुति, पूजा-जप आदि अनुष्ठान करना आवश्यक है। उपदिष्ट विषय की विस्मृति होने पर मन की प्रवृत्ति अधोगामिनी होने पर पाप के अनुष्ठान में रूचि रहने पर प्रायश्चित्त, याग और होम आदि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, इससे चित्त शुद्ध होगा। इसलिए, साक्षात्कारात्मक ज्ञान के अभाव में मुक्ति नहीं होती है। साक्षात्कारात्मक ज्ञान के लिए ध्यान ही एकान्त आवश्यक है। जिस कारण से कार्य होता है, उस कार्य के लिए उस कारण का संग्रह आवश्यक है। मुक्ति के लिए ज्ञान का अभ्यास ही श्रेष्ठ उपाय है। अतः वेदान्त विचार आवश्यक है, इसके लिए शास्त्रारम्भ भी एकान्त आवश्यक है। वेदान्तशास्त्र में देखा जाता है किसी किसी अंश में सगुण ब्रह्म की उपासना का भी उपदेश रहता है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि उपनिषद् के प्रथम अंश में यही वर्णित है। सम्पूर्ण वेदान्त आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करता है, किन्तु, यह कैसे सम्भव है? अतः, उपासना के लिए वेदान्त का जप क्यों नहीं आवश्यक होगा? और उसका फल मुक्ति क्यों नहीं होगा? वेदान्त का आत्मैकत्वपरत्व अंश में प्रामाण्य न रहने पर भी द्वैत अंश में ही प्रामाण्य रहने पर क्या हानि है? इसके उत्तर में कहा है- सभी वेदान्तों का यही अर्थ है यह मैं शारीरक मीमांसा ग्रन्थ में प्रदर्शित करूँगा- भाष्यकार ने यह कहा है। फलतः, आपत्तियों का कोई महत्व नहीं है। कारण, वेदान्तशास्त्र आत्मैकत्वविद्यापरकशास्त्र

है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए शास्त्रका प्रणयन किया है यही यहाँ प्रतिज्ञा की है। आचार्य का यह कहना है कि वेदान्त में उपासना है, किन्तु, इसका फल मुक्ति नहीं है। स्वर्ग आदि सुखलाभ ही इसका प्रयोजन है। निष्काम होकर यह उपासना करने पर एकाग्रता और चित्त शुद्धि इसका फल है। चित्तशुद्धि होने पर आत्मैक्यविद्या दृढ़ होने से वेदान्त में उपासना का वर्णन प्रथम अंश में ही देखा जाता है। दूसरे शब्दों में यह उपासना उक्त ज्ञान का अन्तरङ्ग साधन होने से वेदान्त के एक देश में स्थान रहता है। कर्म बहिरङ्ग साधन होने से इसका वेदान्त में स्थान ही है ये कर्मकाण्डात्मक ब्रह्म और आरण्यक में अन्तर्भूत है। इस विषय का विस्तृत वर्णन शास्त्र में ही उपलब्ध है। इस स्थल में 'शारीरक-मीमांसा' शब्द का अर्थ पूर्व में कह रहे हैं। इस शब्द के व्याख्यान से ही यह अवगत होता है कि वेदान्त का उद्देश्य—'आत्मैक्यज्ञान का उपदेश है। इसी लिए इसको 'शारीरकमीमांसा' नाम से कहा जाता है। शारीरक शब्द का अर्थ शरीर है। शरीरमेव शरीरकम्। उसमें निवास करने वाला शारीरक अर्थात् जीवात्मा हो जाता है 'तत्रनिवासी' इस अर्थ में शरीरक शब्द से 'अ' प्रत्यय होता है। इस जीवात्मा की मीमांसा अर्थात् "तत्त्वमसि" वाक्य के त्वं पद का अभिधेय जीवात्मा का तत् पद के अभिधेय परमात्मा से अभिन्नरूपता का ही विचार है। अतः, शारीर-कमीमांसा शब्द का अर्थ जिस शास्त्र में जीवात्मा को परमात्मरूपता कहा जाता है वही शास्त्र—यह अर्थ होता है। इस लिए भामती के इस शब्द की व्याख्या से अवगत होता है कि वेदान्त का मुख्य उद्देश्य आत्मैक्यज्ञान का उपदेश है, उपासना इसका मुख्य वक्तव्य-विषय नहीं। वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ करना आवश्यक है—यही उपसंहार वाक्यों के द्वारा संक्षेप में प्रदर्शन किया गया है। इस विषय की विस्तृत व्याख्या के उद्देश्य से वेदान्त-विचार आरम्भणीय नहीं इसका खण्डन करने के लिए तीन आपत्तियों का उद्भावन किया है। इसी पूर्वपक्ष के खण्डन के व्याज से इस ग्रन्थ का प्रयोजन, फल और प्रतिपाद्य विषय का भी उल्लेख कर

दिया है। शास्त्र के आरम्भ में विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध इन चार अनुबन्धों का निरूपण आवश्यक है, क्योंकि, इनके निरूपण के बिना बुद्धिमान् व्यक्तियों की इसके अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। पूर्वपक्ष के रूप में प्रदर्शित तीन आपत्तियों में प्रथम आपत्ति यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वेद का अध्ययन करना चाहिए इस वचन के द्वारा वेद पढ़ने में जो विधि है इससे सम्पूर्ण वेद का ज्ञान भी आवश्यक सिद्ध होता है, वेदार्थ का ज्ञान होने पर कर्मकाण्ड सम्भव होने से विधि-निषेधात्मक शास्त्र भी अवगत होता है। ऐसी स्थिति में कर्म का विधि-निषेध जिस प्रकार अर्थज्ञान उत्पन्न कर फलप्रद होता है, वैसे ही स्वाध्याय अर्थात् वेदपदवाच्य वेदान्त भी अर्थज्ञान के साथ आलोचित होकर फलप्रद है, अतः अर्थज्ञान निमित्तक वेदान्त का विचार आवश्यक है।

द्वितीय आपत्ति यह है कि लोक और वेद में वाक्यार्थ के बोध में कोई विशेष नियम नहीं है। वाक्य के अर्थ को अवगत करने के लिए लोक में जिस नियम का अवलम्बन किया जाता है, वेदवाक्यार्थ को समझने के लिए भी वही रीति अवलम्बन करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में वेद के मन्त्र या संहिताभाग के समान वेदान्तशास्त्र के अर्थ का ज्ञानलाभ भी अपेक्षित है—इसमें सन्देह नहीं है। अर्थज्ञान आवश्यक होने पर वेदान्तशास्त्र विचार भी आवश्यक होगा—यही द्वितीय आपत्ति है।

तृतीय आपत्ति यह है कि वेदान्त से यदि चैतन्यस्वरुप आनन्दस्वरूप, कर्तृत्वभोक्तृत्वादि धर्म से रहित, एक, निष्प्रपञ्च और प्रत्यगात्मस्वरूप विषय अवगत होता है तो उसमें विचार करने का और समझाने का यथेष्ट विषय है—यह सहज में ही अनुमेय है। कारण, जो चैतन्यस्वरूप है वही आनन्दस्वरूप है एवं कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि से रहित है—इसमें लोगों का सन्देह स्वाभाविक है। अतः, इस सन्देह को हटाने के लिए वेदान्त का विचार आवश्यक है। इन तीन कारणों से आपाततः वेदान्तविचार आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु, इसकी अपेक्षा गुरुतर कारण जो यह

आरम्भणीय नहीं है। कारण, मैं कहने से जिसकी अवगति होती है वह आत्मा कर्ता भोक्ता, दुःखी, सुखी शोकातुर एवं मोहग्रस्त है—इसमें सन्देह नहीं है, यह ज्ञान भ्रमात्मक है, यह भी मन में कभी नहीं होता है। मैं कर्ता हूँ, मैं दुःखभोगा करता हूँ, यह कभी भी भ्रम के रूप में अवगत कराया जा सकता है। अतः, सर्वानुभूत निःसन्दिग्ध आत्मतत्त्व के साथ वेदान्तप्रतिपाद्य आत्मतत्त्व विरुद्ध है, तो वेदान्त का ही अर्थ अन्यरूप में समझना होगा। प्रत्यक्षप्रमाण की अपेक्षा शब्द प्रमाण कभी भी बलवान् नहीं हो सकता है। अतः, वेदान्त के चिदानन्दघन अकर्ता, अभोक्ता आत्मतत्त्व का अन्य रूप में ही अर्थ अव धारण करना होगा। अर्थात् लक्षणावृत्ति की सहायता से अन्यरूप या जपादिरूप उपासना का अंग मानना होगा, अभिधेय अर्थ अभिप्रेत नहीं है यही मानना होगा। ऐसा मानने पर वेदान्त की आलोचना की क्या आवश्यकता है ? अतः, प्रत्यक्ष-विरोधी वेदान्तशास्त्र एवं उसके अनुयायी व्याख्यान भाष्य आदि के आरम्भ की क्या आवश्यकता है। यह प्रमाण के अनुसार वेदान्त की अनारम्भणीयता है। प्रमेय की ओर दृष्टि कर विचार करने पर भी वेदान्तविचार निष्प्रयोजन है। कारण, आत्मपदार्थ सार्वजनीन अहम् अनुभवसिद्ध पदार्थ है, इसमें किस सन्देह की गुञ्जाइस है, जिसके निवारण के लिए वेदान्त के विचार की आवश्यकता है। यही पूर्वपक्ष है। इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहा जा सकता है कि पूर्वपक्ष ठीक नहीं है, कारण, आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-दुःख शोकमय अहंप्रत्ययगम्य है—इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु, यह आत्मा वेदान्त के प्रतिपाद्य ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रतीत होने से ब्रह्मविचार अनारम्भणीय—यह कथा संगत नहीं है। अहंप्रत्यय प्रमाण के रूप में विवेचित होने पर ही यह संगत हो सकता है। आत्मा किसी एक वस्तु की अवगति नहीं कराता है। यह कभी शरीर, कभी इन्द्रिय, कभी अन्तःकरण को अवगत कराता है, प्रकृत आत्मा-वस्तु की अवगति नहीं कराता है। वेदान्त अपौरुषेय शास्त्र है इसमें भ्रम, प्रमाद आदि रह ही नहीं सकता है, अतः ऐसा अहंप्रत्यय कभी भी वेदान्त

जनित आत्मज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता है। श्रुति एवं सभी शास्त्रकार इस अहंप्रत्यय को प्रमाण नहीं मानते हैं। अतः वेदान्त में जैसा कहा गया है वही वेदान्त का अभिप्रेत है, वही वेदान्त का प्रतिपाद्य है। अनुभव के विरोध के भय से, वेदान्त के द्वारा जिस अर्थ की अवगति होती है, उस अर्थ का अपलाप करना कठिन हैं इसका लाक्षणिक अर्थ मानना होगा-यह भी सम्भव नहीं है वरन्, इसका मुख्य उद्देश्य प्रत्यगात्मा का स्वरूप प्रतिपादन ही हैं। इसलिए, ब्रह्मविचारशास्त्र के आरम्भणीय होने में कोई सन्देह नहीं है। सन्देह और प्रयोजन के ज्ञान के बिना कोई भी विचार कार्य या मीमांसा कार्य प्रवृत्त नहीं होता है। इसी सन्देह और प्रयोजन की सूचना के लिए महर्षि वेदव्यास ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्री की रचना की है यही सिद्धान्त है। पूर्वपक्ष और इस सिद्धान्तपक्ष को लेकर एक विचार या अधिकरण है, इसलिए इसका नाम जिज्ञासाधिकरण है। भामतीकार के मत में इस ग्रन्थ के अन्य अधिकरण के समान वेदान्तवाक्योत्पन्न संशयकी मीमांसा नहीं है, कारण, वे इसको अनुवादमात्र, अनुबन्धचतुष्टय के परिचय के लिए रचित है। प्रकृत शास्त्र का आरम्भ द्वितीय सूत्र से है, वहाँ संशय की मीमांसा के साथ ब्रह्मज्ञान के लाभ का मार्ग प्रदर्शित है।

रत्नप्रभा

एवम् अध्यासे प्रमाणसिद्धेऽपि कस्य कुत्र अध्यासः इति जिज्ञासायां तम् उदाहर्तुं लक्षणं स्मारयति-अध्यासो नाम इति। उदाहरति-तद् यथा इति। तल्लक्षणं यथा स्पष्टं भवति तथा उदाह्रियते इत्यर्थः। स्वदेहाद् भेदेन प्रत्यक्षाः पुत्रादयः बाह्याः, तद्धर्मान् साकल्यादीन् देहविशिष्टात्मनि अध्यस्यति, तद्धर्मज्ञानात् स्वस्मिन् तत्तुल्यधर्मान् अध्यस्यति इत्यर्थः। भेदापरोक्षज्ञाने तद्धर्माध्यासायोगात् अन्यथाख्यात्यनङ्गीकारात् च इति द्रष्टव्यम्। देहेन्द्रियधर्मान् मनोविशिष्टात्मनि अध्यस्यति इत्याह—'तथा' इति कृशत्वादिधर्मवतः देहादेः आत्मनि तादात्म्येन कल्पितत्वात् तद्धर्माः साक्षात्

आत्मनि अध्यस्ता इति मन्तव्यम्। अज्ञातप्रत्यग्रूपे साक्षिणि अभेदेन अध्यस्य तद्धर्मान् कामादीन् अध्यस्यति इति मन्तव्यम्। स्वप्रचारा मनोवृत्तयः। प्रति-प्रातिलोम्येन असज्जडदुःखात्मकाहंकारादिविलक्षणतया सच्चित्सुखात्मकत्वेन अञ्चति प्रकाशते इति प्रत्यक्। एवम् आत्मनि अनात्मतद्धर्माध्यासम् उदाहृत्य अनात्मनि आत्मनः अपि संसृष्टत्वेन अध्यासम् आह -तत् च इति। अहम् इति अध्यासे चिदात्मनः भानं वाच्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यापत्तेः। न च अनध्यस्तस्य अध्यासे भानम् अस्ति। तस्मात् रजतादौ इदम् इव आत्मनः संसर्गाध्यासः एष्टव्यः। तद्विपर्ययेण इति। तस्य अध्यस्तस्य जडस्य विपर्ययः अधिष्ठानत्वं चैतन्यं च तदात्मना स्थितम् इति यावत्। तत्र अज्ञाने केवलात्मनः संसर्गः, मनसि अज्ञानोपहितस्य, देहादौ मन उपहितस्य इति विशेषः। एवम् आत्मनि बुद्ध्याद्यध्यासात् कर्तृत्वादिलाभः, बुद्ध्यादौ च आत्माध्यासात् चैतन्यलाभः इति भावः। वर्णिताध्यासमुपसंहरति—एवम् अयम् इति। अनाद्यविद्यात्मकतया कार्याध्यासस्य अनादित्वम्, अध्यासम् संस्कारः, ततः अध्यासः इति प्रवाहतः नैसर्गिकत्वम्। एवम् उपादानं निमित्तं च उक्तं भवति। ज्ञानं विना ध्वंसाभावात् आनन्त्यम्। तदुक्तं भगवद्गीतासु—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।।(१५·३)

इति हेतुम् उक्त्वा स्वरूपम् आह—मिथ्या इति। मिथ्या-माया, तया प्रतीयते इति प्रत्ययः कार्यप्रपञ्चः, तत्प्रतीतिश्च इति एवं स्वरूपम् इत्यर्थः। तस्य कार्यम् आह—कर्तृत्व इति। प्रमाणं निगमयति—सर्व इति। साक्षिप्रत्यक्षम् एव अध्यास धर्मिग्राहकं मानम् अनुमानादिकं तु सम्भावनार्थम् इति अभिप्रेत्य प्रत्यक्षोपसंहारः कृतः।

एवम् अध्यासं वर्णयित्वा तत्साध्ये विषयप्रयोजने दर्शयति—अस्य इति। कर्तृत्वाद्यनर्थहेतोः अध्यासस्य समूलस्य आत्यन्तिकनाशः मोक्षः सः केन इति अतः आह—आत्म इति। ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारस्य प्रतिपत्तिः श्रवणादिभिः अप्रतिबद्धेन लाभः तस्य इत्यर्थः। विद्यायां कारणम्

आह—सर्वे इति। आरभ्यन्ते—अधीत्य विचार्यन्ते इत्यर्थः। विचारित-वेदान्तानां ब्रह्मात्मैक्यं विषयः मोक्षः फलम् इति उक्तं भवति। अर्थात् तद्विचारात्मकशास्त्रस्यापि ते एव विषयप्रयोजने इति ज्ञेयम्। ननु वेदान्तेषु प्राणाद्युपास्तीनां भानात् आत्मैक्यम् एव तेषाम् अर्थो इति कथम् इति अतः आह—यथा च इति। शरीरम् एव शरीरकम्, कुत्सितत्वात्, तन्निवासी शरीरकः जीवः, तस्य ब्रह्मत्वविचारः मीमांसाम् इत्यर्थः। उपास्तीनां चित्तै-काग्र्यद्वारा आत्मैक्यज्ञानार्थत्वात् तद्वाक्यानाम् अपि महातात्पर्यम् ऐक्ये इति वक्ष्यते। एवम् अध्यासोक्त्या विरोधाभावेन विषयप्रयोजन वत्त्वात् शास्त्रम् आरम्भणीयम् इति दर्शितम्। इति प्रथमवर्णकम्।

रत्नप्रभा का सारांश

इस प्रकार अध्यास प्रमाण-सिद्ध होने पर भी किसका किसमें अध्यास है यह जिज्ञासा होने पर उसका उदाहरण देने के लिए लक्षण का स्मरण कराते हैं—अध्यासो नाम। तद्यथा से इसका उदाहरण दे रहे हैं। उसका लक्षण जिससे स्पष्ट हो जाय ऐसा उदाहरण दिया जाता है। अपने शरीर से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष पत्नी पुत्र आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनके धर्म साकल्य (सभी अंशों से पूर्णता), वैकल्प (किसी अंश में अपूर्णता आदि का देह विशिष्ट आत्मा में अध्यास करता है, उन धर्मों का ज्ञान होने पर उनके धर्म सदृश धर्मों का अपने में अध्यास करता है यह आशय है। पुत्र, भार्या आदि स्वदेह से भिन्न है यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, अतः, उनके धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता है और वेदान्तमत में अन्यथाख्याति नहीं मानी गई है, अतः, सदृश धर्मों का अध्यास करता है, यह कहना समीचीन है। देह और इन्द्रियों के धर्मों का मन से विशिष्ट आत्मा में अध्यास करता है, इस विषय को 'तथा' इत्यादि से सूचित किया है। आत्मा में कृशत्व आदि धर्म वाले देह आदि की तादात्म्य से कल्पना की है अतः उनके धर्म आत्मा में साक्षात् ही अध्यस्त हैं—ऐसी अवगति करनी चाहिए। अज्ञात प्रत्यक्स्वरूप साक्षीभूत आत्मा में अन्तःकरण के

अर्थात् अन्तरिन्द्रिय मन धर्मों का अध्यास करते हैं। इस विषय को 'तथाऽन्तःकरण" इत्यादि भाष्य से कहा है। धर्म का अध्यास कहकर इसी प्रकार धर्मी का भी अध्यास होता है, इस विषय को 'एवं" इत्यादि भाष्य से कहते हैं। मैं उस ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अन्तरिन्द्रिय मन का साक्षीभूत आत्मा में तादात्म्याध्यास कर मन के धर्म काम आदि का अध्यास करते हैं यह समझना चाहिए। स्व—मनकी, प्रचार-वृत्ति। प्रतिलोम्येन —विपरीत रीति से असत्, जड, दुःखात्मक अहङ्कार आदि से से विलक्षण स्वरूप सत्, चित् सुखात्मक स्वरूप से अञ्चति जो प्रकाशित होता है, वह प्रत्यक् है। इस प्रकार आत्मा में अनात्मा और उसके धर्मों के अध्यास का उदाहरण देकर अनात्मा में आत्मा का भी संसर्गाध्यास कहा है। अहम् इस अध्यास में चिदात्मा का भान कहना आवश्यक है, अन्यथा जगत् भावशून्य हो जायगा। जिसका अध्यास नहीं होता है उसका अध्यास में भान नहीं होता है। आरोपित रजत आदि का जैसे इदम् अंश में भान होता है, उसी तरह आत्मा का अहंकार आदि में संसर्गाध्यास में कहना चाहिए। "तद्विपर्ययेण' उस अध्यस्त जड का विपर्यय—अधिष्ठानत्व, चैतन्य उस रूप से स्थित है ऐसा तात्पर्य है। यहाँ अज्ञान रूप उपाधि से उपलक्षित आत्मा का और देह आदि में मनरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा का संसर्ग है। इस प्रकार बुद्धि आदि के अध्यास से, आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का भान होता है। वर्णित अध्यास का उपसंहार कहते हैं एवमयम् इत्यादि से। अविद्या अनादि है और अविद्या का कार्य होने से अध्यास अविद्यात्मक है, इसलिए अध्यास को 'अनादि' कहा है। अध्यास से संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से अध्यास उत्पन्न होता है—इस प्रकार अविच्छिन्न धारा चलती रहती है, इसलिए अध्यास को नैसर्गिक कहा है। नैसर्गिक का अर्थ अविच्छिन्न है। इस प्रकार अध्यास के उपादान और निमित्त दोनों कारण कहे गये हैं। ज्ञान के बिना अध्यास का नाश नहीं होता, यह जानने के लिए अध्यास को अनन्त कहा है। यही भगवद्गीता में भी कहा है—"इस

संसार रूप माया-वृक्ष का यहाँ पर वैसा रूप उपलब्ध नहीं होता, जैसा कि वर्णित है, न इसका अन्त है, न आदि है और न स्थिति है।" अध्यास के हेतु को कहकर "मिथ्या प्रत्यय रूपः" इस विशेषण से उसका स्वरूप कहते हैं। मिथ्या से जो प्रतीत होता है, वह मिथ्या प्रत्यय अर्थात् कार्य प्रपञ्च और उसकी प्रतीति तत्स्वरूप है- यह भावार्थ है। 'कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तकः' इस विशेषण से अध्यास के कार्यों को कहते हैं। 'सर्वलोक प्रत्यक्षः' इससे प्रमाण का उपसंहार करते हैं। साक्षिप्रत्यक्ष ही अध्यास को ग्रहण करने वाला प्रमाण है। अनुमान आदि प्रमाण तो अध्यास की संभावना दिखाने के लिए है-- यह सोचकर प्रत्यक्ष प्रमाण से उपसंहार किया है।

इस प्रकार अध्यास का वर्णन कर उस अध्यास से साध्य विषय और प्रयोजन को 'अस्य' इत्यादि से प्रदर्शित किया है। कर्तृत्व आदि अनर्थों को उत्पन्न करने वाले अध्यास का समूल आत्यन्तिक नाश मोक्ष है, वह मोक्ष है, वह मोक्ष किस प्रकार होता है, इस प्रसंग में कहा है— 'आत्मा' इत्यादि से। श्रवण आदि से "ब्रह्म आत्मा एक ही है" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होने के लिए। ज्ञान का कारण कहते हैं—"सर्वे" इत्यादि से। 'आरभ्यन्ते' अध्ययनपूर्वक विचारे जाते हैं- यह अभिप्राय है। विचार किये हुए वेदान्त का विषय ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य है और मोक्ष फल है। इसलिए वेदान्त विचारात्मक शास्त्र के भी वे ही विषय और प्रयोजन हैं—यह अवगत करना चाहिए। यदि कहा जाय कि वेदान्त में प्राण आदि की उपासना भी है, अतः, उनसे ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य कैसे जाना जाता है? इसका उत्तर 'यथा च' इत्यादि से कहा है। कुत्सित—निन्दित होने से शरीर ही शरीरक है। कुत्सिते ५-३-७४ इस सूत्र के अनुसार शरीर के आगे निन्दा के अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। शरीरक में निवास करने वाला शारीरक अर्थात् जीव है। सोऽस्य निवासः ४-३-८९ सूत्र से जिसका वह निवास है, इस अर्थ में 'शरीरक शब्द से 'अण्' प्रत्यय होने पर एवं शरीरक के श के अकार की वृद्धि होने से शारीरक होता है। शरीरक की

मीमांसा अर्थात् जीव ब्रह्म है ऐसे ब्रह्मत्व के विचार का नाम शारीरक मीमांसा है। चित्त की एकाग्रता के द्वारा ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का ज्ञान उत्पन्न करने का साधन उपासना है, इसलिए उपासना वाक्यों का भी महा तात्पर्य ऐक्य में ही है, ऐसा आगे कहा जायगा, इस प्रकार अध्यास की उक्ति से ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य में विरोध नहीं है, यह प्रदर्शन कर विषय और प्रयोजन के होने से शास्त्र आरम्भणीय है—यह प्रदर्शित किया गया है।

भाष्य--भामती का तात्पर्य

प्रत्यक् शब्द का अर्थ रत्नप्रभा की दृष्टि से अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्दात्मक चिदात्मा अर्थात् परब्रह्म होता है। इस चिदात्मा उपाधि सम्बन्ध प्रयुक्त इस चितात्मा का अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्दात्मक भाव अप्रकाशित रहता है जीव भाव परिस्फुट नहीं रहता है, इस स्थिति में पर ब्रह्म को ही साक्षी कहा जाता है। भामतीकार ने प्रत्यक् शब्द का अर्थ व्यक्त करते हुए कहा है कि अनिर्वचनीय देह इन्द्रिय आदि से प्रतिकूल भाव में आत्मस्वरूप का जो आत्मा प्रकाश करता है, या अवगत करता है- वही प्रत्यक् है। इस प्रकार प्रत्यक् और साक्षी को अभिन्न कहा है, किन्तु रत्नप्रभा के विश्लेषण के आधार पर इन दोनों में कुछ भेद है। आनन्दगिरि ने कहा है कि जो देह आदि वस्तु को विवेक से बाहर रखकर उसके प्रतिकूल भाव में केवल अन्दर में ही विद्यमान रहते हैं—वे ही प्रत्यगात्मा है। वस्तुतः यह उभय साधारण मत है।

इस प्रसङ्ग में अध्यास का लक्षण 'अतस्मिन् 'तद्बुद्धिः' कहा है। इससे यह भाव मन में हो सकता है कि नैयायिक के 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान' रूप भ्रम के लक्षण के साथ आचार्य के द्वारा प्रदर्शित भ्रम के लक्षण का कोई भेद नहीं है ? कारण, अतस्मिन् पद का अर्थ तत्प्रकारक ज्ञान हो सकता है, अतः, आचार्याभिमत पूर्वोक्त "परत्र पूर्वदृष्टावभास"

रूप भ्रम लक्षण के साथ इस समय कहे गये भ्रमलक्षण का अनैक्य होता है। किन्तु, यह ठीक नहीं है। इस आशंका के भय से ही रत्नप्रभाकार ने "तद्धर्मज्ञानात् स्वस्मिन् तत्तुल्य धर्मान् अध्यस्यति" इस प्रकार वाक्य का प्रयोग किया है, अर्थात् 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' इसका 'अतस्मिन् तत्तुल्य ज्ञानम्'। तद्बुद्धि पद का अर्थ उसका ज्ञान नहीं, परन्तु, उसके तुल्य का ज्ञान। अतः रस्सी में सर्प के भ्रम के समय में रस्सी में जो सर्प या सर्पत्व दृष्ट होता है, वह पूर्वदृष्ट सर्प या उसका धर्म सर्पत्व नहीं है, वरन् पूर्वदृष्ट सर्प के समान सर्प या पूर्वदृष्ट सर्पत्व के समान सर्पत्व है। अतः, 'परत्र पूर्वदृष्टावभास' इस पूर्वोक्त भ्रमलक्षण के साथ कोई विरोध नहीं होता है, एवं नैयायिक का अन्यथाख्यातिसम्मत भ्रमलक्षण भी स्वीकृत नहीं हुआ। नैयायिक की अन्यथाख्याति के साथ वेदान्ती की अनिर्वचनीय ख्याति का विरोध, वह रस्सी में सर्प भ्रम में सर्प की सत्यता लेकर, शुक्ति में रजत भ्रम में रजत की सत्यता लेकर अवश्य, भामतीकार भ्रम स्थल मात्र में ही अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं, एवं रत्न प्रभाकार भी परोक्ष भ्रम स्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार करते हैं—यह पूर्व में ही कहा गया है। आचार्य का इस स्थल का अध्यास लक्षण नैयायिक का अन्यथाख्याति का लक्षण नहीं है। इस अध्यास के उपसंहार के प्रसंग में उसका रहस्य--यह है कि पुत्रादि के धर्म का आत्मा में अध्यास होने के फलस्वरूप आत्मा सुखी या दुःखी होता है। देह के धर्म का आत्मा में अध्यास के फलस्वरूप आत्मा स्थूल, कृश, गौर, स्थितिशील गमनशील आदि होता है। इन्द्रिय के धर्म का आत्मा में अध्यास के फलस्वरूप आत्मा गूंगा, काना, क्लीव, बहरा, अन्धा आदि होता है। मन के धर्म का आत्मा में अध्यास के फलस्वरूप आत्मा सन्देहयुक्त, संकल्पवान् और कामनायुक्त होता है। बुद्धि के धर्म आत्मा में अध्यास के फलस्वरूप आत्मा निश्चययुक्त, कर्तृत्व और भोक्तृत्वयुक्त होता है। अज्ञान का आत्मा में अध्यास के फलस्वरूप आत्मा अहमाकार वृत्ति सम्पन्न होता है। आत्मा के धर्म का बुद्धि, मन, इन्द्रिय और देह में अध्यास के फलस्वरूप

वे चैतन्ययुक्त के समान होते हैं। आत्मा के धर्म का पुत्र, धन और मान के ऊपर अध्यास के फलस्वरूप यह मेरा है—यह ज्ञान होता है। ऐसी स्थिति में आत्मा विशुद्ध चैतन्यरूप एवं कर्तृत्व आदि सभी अनात्म धर्म विहीन इस प्रकार का नियत अभ्यास ही सब की अपेक्षा उत्तम साधन है एवं अन्य साधन की अपेक्षा साक्षात् मुक्तिप्रद है। यही इंगित किया है। इस प्रकार के साधन में सिद्धि के लाभ करने पर साधक गुणातीत अवस्था लाभ करता है।

वस्तुतः इस भाष्य के ऊपर ही भगवान् शंकराचार्य का प्रचारित अद्वैतमत निर्भर करता है। यहाँ पर सूक्ष्म रूप में कथित विषय ही सूत्र की व्याख्या में शाखा पत्र फल में परिणत होकर अपूर्व शोभा को धारण करता है साथ ही भाष्य की टीका पञ्चपादिका, भामती, रत्नप्रभा, आनन्द गिरीकृत टीका में सुगन्धी का विस्तार करता है। शारीरक शब्द के अर्थ में रत्नप्रभाकार ने एक विभिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है—शरीर ही शरीरक है क्योंकि शरीर कुत्सित है। कुत्सित अर्थ में शरीर शब्द से इस स्थल में 'क' प्रत्यय होता है। उसमें निवासी शारीरक है। शरीरक शब्द से 'अ' प्रत्यय होने से यह निष्पन्न होता है। शारीरक शब्द का अर्थ जीव होता है उसकी मीमांसा अर्थात विचार—इस अर्थ में शारीरक मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य वाचस्पति ने शरीर शब्द से कुत्सित अर्थ में क प्रत्यय न कर स्वार्थ में क प्रत्यय किया है। इसके रत्न प्रभाकार ने इस स्थल की व्याख्या कर 'इति प्रथमवर्णकम्' यह वाक्य कहा है। वर्णक शब्द का अर्थ विभिन्न तात्पर्य का प्रतिपादक वाक्य समुदाय होता है। व्यासदेव ने प्रथम सूत्र में ब्रह्म जिज्ञासा पद का व्यवहार किया है। प्रचलित रीति के अनुसार उसमें विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध का भी निरूपण किया है। अनुबन्धों में विषय और प्रयोजन इन दो अनुबन्धों का उल्लेख ग्रन्थ रचना की आवश्यकता का प्रदर्शन है। कारण, ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त बुद्धिमान् व्यक्ति प्रथम इन्हीं दोनों को

जानना चाहते हैं। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है और इसका क्यों अध्ययन करना चाहिए, यह नहीं जानकर कोई भी विवेचक उस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त नहीं होता है। अतः सूत्र के व्याख्याकार को सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के विषय और प्रयोजन का प्रदर्शन करना आवश्यक है। इसीलिए भाष्यकार ने अध्यास भाष्य की अवतारणा की है एवं रत्न प्रभाकार और भासतीकार ने भी इस अध्यासभाष्य का उद्देश्य-प्रदर्शन करते हुए सूचित किया है "विषय" और "प्रयोजन" का प्रदर्शन किया है। कारण, इस अध्यास की निवृत्ति का एकमात्र उपाय अधिष्ठानभूत ब्रह्म का ज्ञान है। उक्त ब्रह्मज्ञान के लिए एवं समूल अविद्या अर्थात् उक्त अध्यास की निवृत्ति के लिए इस वेदान्त शास्त्र का आरम्भ करना एकान्त आवश्यक है—इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रकार इस शास्त्र का विषय और प्रयोजन प्रदर्शन कर इस शास्त्र के आरम्भ की प्रयोजनीयता का प्रदर्शन करने वाले वाक्यों को ही रत्न प्रभाकार ने 'प्रथम वर्णक' नाम से कहा है। कारण, आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रथम सूत्र के व्याख्यान में इस ग्रन्थ की प्रयोजनीयता के लिए चार प्रकार की युक्तियों का प्रदर्शन किया है। चार प्रकार की युक्तियों में प्रथम का कथन इस अध्यास भाष्य के द्वारा हुआ है, अतः, अध्यास भाष्य के अन्त में प्रथम युक्ति समूहों को 'प्रथम वर्णक' के नाम से उल्लेख किया है। प्रथम वर्णक में जो इन्होंने कहा है, उसका आशय यह है कि आत्मा और अनात्मा का अध्यास ही सभी अनर्थों का मूल है एवं यह अध्यास जीवाभिन्न ब्रह्मरूप अध्यास के ज्ञान से ही समूल नाश हो सकता है एवं इस प्रकार के ब्रह्म के विषय में अनेक प्रकार का सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है, अतः, ब्रह्म विचार शास्त्र का आरम्भ उचित ही है। इस शास्त्र के आरम्भ के पक्ष में यही प्रथम कारण है, अतः, यही 'प्रथम वर्णक' है। इन विषयों का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। (१) अज्ञान ही हम लोगों के सभी अनर्थों का साधन है। (२) उस अज्ञान की निवृत्ति ही मुक्ति है। (३) अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान ही एकमात्र साधन है एवं इस ब्रह्मज्ञान के लिए वेद व्यास-प्रदर्शित ब्रह्मसूत्रोपदिष्ट-मार्ग में

वेदान्तविचार ही एकमात्र मुख्य कारण है। (४) जब तक जीव को अज्ञान रहता है, तबतक ही जीव कर्म फल का भोक्ता है और तभी तक शास्त्र और तभी तक प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार है, अज्ञान के नष्ट होने पर ये सब कुछ भी नहीं रहते हैं। (५) यह अज्ञान अनादि, भावरूप पदार्थ है, किन्तु सान्त अर्थात् तत्त्वज्ञान के द्वारा ही इसका विलयन होता है। (६) अज्ञान का समूल नाश होने पर पर पुनः इसका उदय सम्भव नहीं है। (७) इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। ये बीज और अंकुर के समान प्रवाहित होती हैं एवं विक्षेप के फलस्वरूप 'मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि ज्ञान एवं चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है। इसी रूप में आचार्य शंकर ने अध्यास भाष्य में अद्वैतवेदान्त की मूलभित्ति की स्थापना की है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" इस मूल मन्त्र को लेकर ही सूत्र की व्याख्या में आचार्य शङ्कर प्रवृत्त होते हैं।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। १ अ०, १ पा०, १ सू० $\frac{\text{१ अधि०}}{\text{१/१ सू०}}$

शंकरभाष्यम्

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमं सूत्रम्। तत्र 'अथ' शब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, न अधिकारार्थः, ब्रह्मजिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्।

पुष्पलता

'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर है, 'अतः' यह हेतु है, 'ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्म की जिज्ञासा (षष्ठी तत्पुरुष समास) है अर्थात् ब्रह्म को जानने की इच्छा, जिज्ञासा शब्द का अर्थ जानने की इच्छा। नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक और पारलौकिक फल भोग के प्रति विराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान ये छ एवं मुमुक्षुत्व इन साधनों के अनन्तर

कर्मानुष्ठान का फल अनित्य है एवं तत्त्वज्ञान का फल अनन्त है इस हेतु से ब्रह्म की जिज्ञासा होती है। जिसकी व्याख्या हमलोगों को अभिप्रेत है इस वेदान्तमीमांसा का यह प्रथम सूत्र है। इसमें 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ परिगृहीत होता है, अधिकार रूप अर्थ परिगृहीत नहीं होता है, कारण ब्रह्मजिज्ञासा अनधिकार्य है।

कुसुमलता

आचार्य शंकर ने विवेकचूडामणि में कहा है मेधावी ऊहापोहविशारद विद्वान् एवं नित्यानित्य वस्तुविवेक आदि चार वक्ष्यमाण लक्षण से लक्षित व्यक्ति ही आत्मविद्या का अधिकारी होता है। अतः जो स्वभावतः भावप्रधान विद्यार्जन में निःस्पृह का यह शास्त्र आलोच्य नहीं है।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः।
अधिकार्यात्म विद्यायामुक्त लक्षण लक्षितः॥ वि० चू० १६

अध्यास या उपोद्घातभाष्य से ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन है यह प्रतिपादन कर आचार्य शंकर व्याससूत्र की व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं। आचार्य के कथन से यह सिद्ध है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह ब्रह्मसूत्र या व्यास सूत्र का प्रथम सूत्र है। इस सूत्र में 'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर अर्थात् इसके बाद। अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ छोड़ कर अधिकार या आरम्भ अर्थ इस स्थल में ग्रहण नहीं किया जा सकता है, कारण, ऐसी स्थिति में अर्थ होगा कि इस कारण से ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ की जाती है, किन्तु, यह अर्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि, ब्रह्मजिज्ञासा आरम्भ करने योग्य विषय नहीं है। कारण, जिज्ञासा शब्द का अर्थ जानने की इच्छा, उस इच्छा की चर्चा आगे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं की गई हो। यह इच्छा कभी भी कृतिसाध्य पदार्थ नहीं है, अर्थात् इच्छा का कारण उपस्थित होने पर वह स्वयं ही होती है, वह आरम्भरूप प्रयत्न साध्य नहीं है, इसलिए, इसका अर्थ आनन्तर्य अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पादन के बाद अवगत होता है। साधन चतुष्टय का अर्थ—१. नित्यानित्यवस्तुविवेक, २. इहामुत्र फलयोग-

विरागः, ३. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान, ४. मुमुक्षुत्व है।

आचार्य रामानुज ने कहा है - भगवान् बोधायन के द्वारा निर्मित विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्ति के अनुसार सूत्राक्षर का व्याख्यान कर रहा हूँ। इनके अनुसार भी अथ शब्द आनन्तर्य अर्थ का बोधक है। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन के बाद कर्म से अल्पकालव्यापी अस्थिर फल होता है यह अवगत कर मोक्ष की अभिलाषा वाले व्यक्ति को अनन्तकाल तक स्थिर फलक ब्रह्म की जिज्ञासा होती है। आचार्य रामानुज के मत में अथातो धर्म जिज्ञासा से लेकर बीस अध्याय का यह शास्त्र है; किन्तु शंकराचार्य के मत में अथातो ब्रह्म जिज्ञासा से आरम्भ कर 'अनावृत्तिः शब्दात्' यहां तक चार अध्याय तक ही ब्रह्ममीमांसा शास्त्र है। रामानुजाचार्य के मत में ज्ञान और कर्म का विरोध न होने पर भी दोनों का समप्राधान्य नहीं है। ब्रह्म की उपासना को मुक्ति का साधन शास्त्र सूचित करता है कर्म को नहीं। कर्म चित्त की शुद्धि के द्वारा दूर से उपकारक होने से मात्र उसका अंग ही हो सकता है, मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है।

भामती

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति। जिज्ञासया सन्देहप्रयोजने सूचयति। तत्र साक्षात् इच्छाव्याप्यत्वात् ब्रह्मज्ञानं कण्ठोक्तं प्रयोजनम्। न च कर्मज्ञानात् पराचीनम् अनुष्ठानम् इव ब्रह्मज्ञानात् पराचीनं किञ्चित् अस्ति, येन एतद् अवान्तर प्रयोजनं भवेत्, किन्तु ब्रह्ममीमांसाख्यतर्केतिकर्तव्यतानुज्ञातविषयैः वेदान्तैः आहितं निर्विचिकित्सं ब्रह्मज्ञानम् एव समस्तदुःखोपशमरूपम् आनन्दैकरसं परमं प्रयोजनम्। तम् अर्थम् अधिकृत्य हि प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्तेतराम्। तं च प्राप्तम् अपि अनाद्यविद्यावशात् अप्राप्तम् इव इति प्रेप्सितं भवति। यथा स्वग्रीवागतम् अपि ग्रैवेयकं कुतश्चित् भ्रमात् नास्ति इति मन्यमानः परेण प्रतिपादितम् अप्राप्तम् इव प्राप्नोति। जिज्ञासा तु संशयस्य कार्यम् इति स्वकारणं संशयं सूचयति। संशयश्च मीमांसारम्भं प्रयो-

जयति। तथाच शास्त्रे प्रेक्षावत्प्रवृत्ति हेतु संशय-प्रयोजनसूचनात् युक्तम् अस्य सूत्रस्य शास्त्रादित्वम् इति आह भगवान् भाष्यकारः—"वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य" अस्माभिः "इदम् आदिमं सूत्रम्।" पूजितविचारवचनः मीमांसाशब्दः। परम पुरुषार्थ हेतु भूत सूक्ष्मतमार्थ निर्णयफलता विचारस्य पूजितता, तस्या मीमांसायाः शास्त्रम्, सा हि अनेन शिष्यते शिष्येभ्यः यथावत् प्रतिपाद्यते इति। सूत्रं च बह्वर्थसूचनात् भवति। यथा आहुः—

लघूनि सूचितार्थानि स्वाल्पाक्षर पदानि च॥
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ इति

तत् एवं सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय तस्य प्रथमपदम् "अथ" इति व्याचष्टे "तत्र अथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते" तेषु सूत्रपदेषु मध्ये यः अयम् "अथ" शब्दः स आनन्तर्यार्थः इति योजना।

ननु अधिकारार्थः अपि "अथ" शब्दः दृश्यते, यथा "अथैष ज्योतिः" इति वेदे, यथा वा लोके "अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" इति, तत्किम् अत्र अधिकारार्थः न गृह्यते इति, अतः आह "न अधिकारार्थः कुतः ब्रह्म जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्।" जिज्ञासा तावत् इह सूत्रे ब्रह्मणश्च तत्प्रज्ञानात् च शब्दतः प्रधानं प्रतीयते न च यथा "दण्डी प्रैषान् अन्वाह" इति अत्र अप्रधानम् अपि दण्डशब्दार्थः विवक्ष्यते, एवम् इह अपि ब्रह्मतज्ज्ञाने इति युक्तम्, ब्रह्ममीमांसाशास्त्र प्रवृत्त्यगंसंशय प्रयोजन सूचनार्थत्वेन जिज्ञासायाः एवं विवक्षितत्वात्। तदविवक्षायां तदसूचनेन काकदन्त परीक्षायाम् इव ब्रह्ममीमांसायां न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तेरन्। न हि तदानीं ब्रह्म वा तज्ज्ञानं वा अभिधेय प्रयोजने भवितुम् अर्हतः अनभ्यस्ताऽहं प्रत्यय विरोधेन वेदान्तानाम् एवंविधे प्रामाण्यानुपपत्तेः कर्मप्रवृत्त्युपयोगितया उपचारितार्थानां वा जपोपयोगिनां वा "हुम" इत्येवमादीनाम् अविवक्षितार्थानाम् अपि स्वाध्यायाध्ययन विध्यधीन ग्रहणत्वस्य सम्भवात्। तस्मात् सन्देह प्रयोजन सूचनी जिज्ञासा इह पदतः वाक्यतश्च प्रधानं विवक्षितव्या। न च तस्या अधिकार्यत्वम्, अप्रस्तूयमानत्वात्, येन

तत्समभिव्याहृतः अथ शब्दः अधिकारार्थः स्यात्, जिज्ञासा विशेषणं तु ब्रह्म तज्ज्ञानम् अधिकार्यं भवेत्। न च तत् अपि अथ शब्देन सम्बध्यते, प्राधान्याभावात्। न च जिज्ञासा मीमांसा, येन योगानुशासनवद् अधिक्रियते, नान्तत्वं निपात्य माङ् माने इत्यस्मात् वा मान् पूजायाम् इत्यस्मात् वा धातोः 'मान्बध" इत्यादिना अनिच्छार्थे सनि व्युत्पादितस्य मीमांसा-शब्दस्य पूजितविचारवचनत्वात्। ज्ञानेच्छावाचकत्वात् जिज्ञासापदस्य प्रवर्तिका हि मीमांसायां जिज्ञासा स्यात्। न च प्रवर्त्यप्रवर्तकयोरैक्यम् एकत्वे तद्भावानुपपत्तेः। न च स्वार्थपरत्वस्य उपपत्तौ सत्याम् अन्यार्थ-परत्व कल्पना युक्ता, अतिप्रसंगात्। तस्मात् सुष्ठूक्तं "जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्" इति।

पुष्पलता

जिज्ञासा शब्द से (सूत्रकार ने) सन्देह और प्रयोजन सूचित किया है। [सन्दिग्ध ही जिज्ञास्य होता है, अतः जिज्ञासा से सन्देह सूत्रित होता है, और सन्देह सूत्रित होने से विषय सूत्रित होता है, सन्दिग्ध जिज्ञास्य होने से शास्त्रीय विचार का विषय वही होता है। ब्रह्म जिज्ञासा पद से सन्देह के सूत्रण से विषय का सूत्र के द्वारा निर्देश होने पर भी प्रयोजन की सूचना सूत्र के द्वारा कैसे की गई है? ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मज्ञान की इच्छा स्वरूप होने से ब्रह्मज्ञान इच्छा का व्याप्य होने से ब्रह्मज्ञान रूप प्रयोजन भी कण्ठ के द्वारा ही सूचित है] इनमें इच्छा का साक्षात् व्याप्य होने से ब्रह्मज्ञान रूप प्रयोजन अपने मुख से उच्चारण कर कहा है। [यह शंका हो सकती है कि कर्मज्ञान के समान ब्रह्मज्ञान भी अवान्तर प्रयोजन (गौन प्रयोजन) है, परम प्रयोजन नहीं है] और कर्मज्ञान के बाद आगे अनुष्ठान के समान ब्रह्मज्ञान के बाद कोई अनुष्ठान नहीं है, जिससे यह अवान्तर प्रयोजन हो सकता है। वरन् ब्रह्ममीमांसा नामक तर्करूप इतिकर्तव्यता के (अवान्तर व्यापार के) द्वारा जिसका विषय सूचित होता है, उस वेदान्त शास्त्र से [अर्थात् ब्रह्मज्ञान हेतुभूतविचारशास्त्र से]

उत्पादित असन्दिग्ध समस्त दुःखनिवृत्तिस्वरूप एकमात्र आनन्दात्मक ब्रह्मज्ञान ही परम प्रयोजन है। [यद्यपि ब्रह्मज्ञान न तो सुख स्वरूप है और न दुःखाभावस्वरूप है, तथापि परम प्रयोजन स्वरूप समस्त दुःखों का उपशमनस्वरूप आनन्द एक रस ब्रह्म से अभिव्यञ्जक होने से वह भी निखिल दुःखोपशमन रूप आनन्द एक रस है, अतः, ब्रह्मज्ञान परम प्रयोजन है।] इस प्रयोजन को लक्ष्य कर ही विवेचक वेदान्तशास्त्र की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। यह ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मस्वरूप होने पर) नित्य प्राप्त होने पर भी अनादि अविद्या के कारण अप्राप्त के समान होने से इच्छा का विषय होता है। जैसे अपने गले में पड़ा हुआ हार किसी कारण से भ्रान्तिवश होकर नहीं है यह समझता है एवं इसके बाद अन्य व्यक्ति प्रदर्शित कर देता है तो भ्रान्त व्यक्ति अप्राप्त हार को ही पाया है-यह समझता है। जिज्ञासा संशय का फल है, अतः, अपने कारण संशय को सूचित करता है और वह संशय ही मीमांसा के आरम्भ का प्रयोजक होता है। इसलिए शास्त्रों में विवेकवान् पुरुष की प्रवृत्ति के हेतुभूत संशय और प्रयोजन की सूचना होने से इस सूत्र में शास्त्रादित्व है—यही भगवान भाष्यकार ने कहा है—"वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य [जिसकी व्याख्या करने की इच्छा मैं कर रहा हूँ] इदम् आदिमं सूत्रम्।" मीमांसा शब्द का अर्थ पूजित विचार है। परम पुरुषार्थ के हेतुभूत सूक्ष्मतम अर्थ का निर्णय विचार के द्वारा सिद्ध होता है-यही पूजित विचार है। उस मीमांसा का शास्त्र मीमांसाशास्त्र है। क्योंकि, इसके द्वारा मीमांसा ही शिष्ट होती है, अर्थात् शिष्यों को अच्छी तरह अवगत करा दिया जाता है। (जो) बहुत अर्थ को सूचित करता है (वह) सूत्र होता है। जैसा आचार्यों ने कहा है लघु अर्थ का सूचक एवं स्वल्प अक्षर पद वाला सर्वतो भाव से सारभूत को ही मनीषियों ने सूत्र कहा है इस प्रकार सूत्र के तात्पर्य का व्याख्यान कर उसके प्रथम पद अर्थ का व्याख्यान कर रहे हैं। "तत्र अथशब्दः आनन्तार्यार्थः परिगृह्यते।" सूत्रस्य पदों में जो यह अथ शब्द है उसका अर्थ आनन्तर्य है—यही इसका अन्वय है। यदि

यह कहा जाय कि अथ शब्द अधिकार अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे—वेद में "अथैष ज्योतिः" ज्योतिष्टोमे नामक यज्ञ की कथा आरम्भ की जाती है, अथवा जैसे लोक में "अथ शब्दानुशासनम्" शब्दशास्त्र का आरम्भ किया जाता है, "अथ योगानुशासनम्" योगशास्त्र का आरम्भ किया जाता है। तब इस स्थल में अधिकार अर्थात् आरम्भ अर्थ क्यों नहीं गृहित होगा ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कह है "न अधिकारार्थः" इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ अधिकार या आरम्भ नहीं है। क्यों अधिकार अर्थ नहीं है ? [इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है) "ब्रह्म-जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्" ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकार या आरम्भ नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म एवं उसके प्रकृष्ट ज्ञान से जिज्ञासा ही इस सूत्र में प्रधान है—यह इस सूत्र के शब्द से प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि जैसे 'दण्डी प्रैषानन्वाह' [दण्डीप्रैष मन्त्र का अनूच्चारण करें] इस प्रकार के विधि वाक्य में दण्डशब्दार्थ अप्रधान रहने पर भी (अर्थात् वाक्य रचना प्रणाली के अनुसार मुख्य रूप में वक्तव्य न होने पर भी) प्रधान अर्थात् विधेय होता है, इसी प्रकार इस स्थल में ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म सूत्र के मध्य में अप्रधान रूप में प्रतीत होने पर भी फलतः अप्रधान क्यों होगा ? [यह कथन ठीक नहीं है, कारण] ब्रह्ममीमांसा शास्त्र की प्रवृत्तिका संशय और प्रयोजन की सूचना के लिए सूत्र में जिज्ञासा की ही विवक्षा है। [जिज्ञासा को ही प्रधान रूप में कहा है] यदि उसकी विवक्षा न होती तो संशय और प्रयोजन की सूचना न होने से काकदन्त परीक्षा के समान ब्रह्म मीमांसा में विवेकियों की प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान अभिधेय और प्रयोजन नहीं होता। कारण, अनभ्यस्त अहं ज्ञान के साथ [अभ्रान्त अहं इत्याकारक ज्ञान के साथ] विरोध होने से इस प्रकार के अर्थ में वेदान्त का प्रामाण्य भी अनुपपन्न होगा। क्योंकि, कर्म प्रवृत्ति के उपयोगी के रूप में लाक्षणिक होने पर भी या हुम् इत्यादि मन्त्र के समान जपका उपयोगी होने से अविवक्षितार्थ होने पर भी वेदाध्ययन विधि के द्वारा ही वेदान्त का अध्यन सम्भव होता। इसलिए, इस सूत्र में

सन्देह और प्रयोजन की सूचना देनेवाली जिज्ञासा ही पद एवं वाक्य इन दोनों के द्वारा प्रधान रूप से विवक्षित होनी चाहिए। और इस जिज्ञासा का अधिकार्यत्व भी नहीं है, कारण, वह आरम्भ का विषय भी नही है, यदि ऐसा होता तो जिज्ञासा शब्द के साथ अन्वित अथ शब्द अधिकारार्थक होता। जिज्ञासा का विशेषण स्वरूप ब्रह्म एवं उसका ज्ञान अधिकार्य्य हो सकता है, किन्तु, प्राधान्य न रहने के कारण वह अथ शब्द के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता है, जिज्ञासा कुछ मीमांसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो 'अथ योगानुशासनम्" के समान वह अधिकृत हो सकता। ज्ञानार्थक माङ् धातु के अन्त में वर्तमान ङ का को निपातवश न कार कर अथवा पूजार्थक 'मान्' धातु से 'मान्वध इत्यादि सूत्र के द्वारा स्वार्थ में या अनिच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय कर मीमांसा शब्द निष्पन्न होने से मीमांसा शब्द का अर्थ पूजित विचार होता है। जिज्ञासा पद ज्ञान हो इत्याकारक इच्छा का ही बोध कराती है, अतः जिज्ञासा मीमांसा की प्रवर्तक होती है। प्रवर्तक और प्रवर्तनीय में दोनों एक नहीं हो सकती है। इन दोनों को अभिन्न होने पर प्रवर्तक और प्रवर्तनीय भाव ही अनुपपन्न हो जाता। शब्द की स्वार्थ परता उपपन्न होने पर परार्थ परता की कल्पना कभी भी उचित नहीं है, ऐसी स्थिति में अतिप्रसंग होने लगेगा, इसलिए ठीक ही कहा है-"जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्" जिज्ञासा अधिकार्य नहीं हो सकती है।

कुसुमलता

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र के द्वारा ही इस शास्त्र के आरम्भ के प्रयोजन सन्देह और प्रयोजन की शास्त्रकार ने सूचना दी है। ब्रह्मज्ञान ही प्रयोजन है और ब्रह्मज्ञानरूप प्रयोजन इस सूत्र में स्पष्ट भाव से सूत्र द्वारा ही कहा गया है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र के ब्रह्म जिज्ञासा पद में तीन अंश हैं—ब्रह्म शब्द, ज्ञा धातु और सन् प्रत्यय। इनमें सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा, ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान, एवं ब्रह्म पदार्थ ज्ञान

का विषय है, अतः, ब्रह्म विषयक ज्ञान की इच्छा ही ब्रह्म जिज्ञासा पद का यौगिक अर्थ है। अर्थात् इच्छा का विषय ज्ञान है और उस ज्ञान का विषय ही ब्रह्म है, इसलिए, इच्छा का विषय अर्थात् कर्मभूत ब्रह्म ज्ञान ही इस सूत्र में स्पष्टतः शब्द के द्वारा ही सूत्र में निर्दिष्ट है। फलतः सूत्र से ही अवगत हुआ है कि ब्रह्म ज्ञान ही इस शास्त्र का प्रयोजन है। इस ब्रह्म ज्ञान का फल अज्ञान निवृत्ति है एवं अज्ञान निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है, अतः, मुख्य प्रयोजन मोक्ष है और उसका साधन ब्रह्म ज्ञान गौण प्रयोजन है। इस प्रकार लोक में प्रयोजन विषय में विभाग रहने पर भी गौण प्रयोजन ही इस स्थल में शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन है। कारण, ब्रह्म ज्ञान को द्वार बनाकर ही यह शास्त्र मोक्ष का अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति का जनक होता है। अतः, इस शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन ब्रह्मज्ञान है। यदि यह कहा जाय कि इस स्थल में ब्रह्मज्ञान इस शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन कैसे होगा? यह गौण-प्रयोजन क्यों नहीं होगा? कर्मकाण्ड में देखा जाता है कि वेदाध्ययनविधि के द्वारा लोक में वेदाध्ययन कर कर्मानुष्ठान के लिए कर्मकाण्ड का विचार किया जाता है। इस विचार के द्वारा कर्म ज्ञान का लाभ होने के बाद कर्मानुष्ठान करने पर स्वर्ग का लाभ होता है, अतः जैसे कर्मकाण्ड विचार का मुख्य फल कर्मानुष्ठान है एवं विचार-जनित-कर्म ज्ञान कर्म काण्ड-विचार का गौण फल है, वैसे ही इस स्थल में भी क्यों नहीं होगा? इस स्थल में वेदाध्ययन विधि के द्वारा लोक में वेदाध्ययन कर किसी प्रकार के अनुष्ठान के लिए ही वेदान्त अर्थात् ज्ञान काण्ड का विचार कर जिस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करेगा वह ब्रह्मज्ञान ही वेदान्त विचार का गौण फल एवं उक्त अनुष्ठान विशेष ही मुख्य फल क्यों नहीं होगा? यह कथन ठीक नहीं है, कारण, इस स्थल में ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त किसी कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं अवगत होती है। कारण, कर्मकाण्ड के विचार के फल कर्म ज्ञान के द्वारा ही उस स्थल में स्वर्गलाभ सम्भव नहीं है, किन्तु, कर्मानुष्ठान की अपेक्षा करनी पड़ती है,

प्रकृत स्थल में ऐसी बात नहीं है, इस स्थल में अविद्या निवृत्ति ही फल है और उसका लाभ करने के लिए ब्रह्मज्ञान मात्र की आवश्यकता होती है। ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के लिए मध्यवर्ती किसी क्रिया विशेष का प्रयोजन नहीं होता है, अतः, प्रकृत में ब्रह्मज्ञान वेदान्त विचार का गौण फल नहीं हो सकता है, फलतः, ब्रह्मज्ञान को ही इसका मुख्य फल मानना होगा। यह वेदान्त विचार स्वतन्त्र रूप में केवल उपनिषद् का अर्थ विचार नहीं है, वरन्, महर्षि वेदव्यास ने इस ब्रह्म मीमांसा नामक ग्रन्थ में जिन उपायों से उपनिषद् के तात्पर्य का निर्णय किया है, उनका अनुसरण कर उपनिषद् के अर्थ का विचार करना होगा। इस प्रकार के विचार से समस्त दुःखो-पशमसाधन आनन्दैकरस ब्रह्म का निःसन्दिग्ध ज्ञान होता है, वही इस प्रकार के वेदान्त विचार का मुख्य फल या प्रयोजन है। उपनिषद् के अर्थ विचार में या वेदान्त विचार में महर्षि वेदव्यास प्रदर्शित मार्ग पर चलने से ही अभीष्ट फल का लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता है, अतः, ब्रह्म मीमांसा शास्त्र का आरम्भ अवश्य कर्तव्य है। विवेकशील व्यक्ति इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान रूप प्रयोजन को लक्ष्य कर ही इस वेदान्तविचारशास्त्र में प्रवृत्त होते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मज्ञान रूप प्रयोजन अर्थात् फल उत्पाद्य होने से अनित्य होगा और ब्रह्म भी ज्ञान स्वरूप होने से उस ब्रह्म ज्ञान की अनित्यता से ब्रह्म की अनित्यता भी प्रसक्त होगी। इसके उत्तर में यही मानना होगा कि ब्रह्मज्ञान या ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हमलोगों के लिए नित्य प्राप्त होने पर भी अनादि अविद्या के कारण अप्राप्त के समान हो जाता है ब्रह्मज्ञान की यह अप्राप्ति भ्रान्तिनिवारण स्वरूप प्राप्ति ही वेदान्त विचार का फल है, अतः यह उत्पाद्य फल के समान अनित्य नहीं हो सकता है। जैसे लोक में अपने कण्ठ में स्थित मुक्तामाला को विस्मृत होकर उस मुक्तामाला के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त होता है, एवं बाद में किसी व्यक्ति के द्वारा 'मुक्तामाला तुम्हारे कण्ठ में है' यह कहकर दिखा देने पर उस प्राप्त मुक्तामाला को ही वह व्यक्ति 'पा लिया' यह कहकर विवेचना करता है, प्रकृत में भी आत्मस्वरूप ब्रह्म हमलोगों के द्वारा नित्य प्राप्त होने पर

भी अज्ञानवश उसको विस्मृत होकर अप्राप्त के समान हो जाता है। वेदान्त विचार के द्वारा ब्रह्म विषयक वह अज्ञान निवृत्त होता है अर्थात् ब्रह्म मात्र प्राप्त के समान होता है। इस प्रकार इस अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा उपलक्षित ब्रह्मात्मसाक्षात्कार ही वेदान्त विचार का मुख्य प्रयोजन होता है।

पूर्वोक्त विवेचन से वेदान्त विचार के कारणभूत प्रयोजन का सूत्र में स्वतः निर्देश होने पर भी वेदान्त विचार के अन्य का संशय के निर्देश तो सूत्र में नहीं किया गया है, अतः, इस अंश में सूत्र की न्यूनता ही लक्षित होती है। इसका उत्तर यह है कि कारण के विना कार्य नहीं होता है। कार्य का उल्लेख करने से ही यह मानना पड़ता है कि इस कार्य के कारण का भी उस व्यक्ति ने प्रकारांतर से ज्ञान अवश्य ही किया है। इस स्थल में सूत्रकार ने जिज्ञासा का उल्लेख किया है और यह जिज्ञासा रूप कार्य संशय रूप कारण से उत्पन्न होता है, अतः, कार्यभूत जिज्ञासा के कथन से सूत्रकार ने इस जिज्ञासा के कारण संशय का भी उल्लेख अर्थतः किया है—इसमें सन्देह नहीं है। फलतः, यह संशय ही शास्त्रारम्भ के पक्ष में प्रयोजक है इसमें भी सूत्रकार की सम्मति है—यह अवगति हुई। ऐसी स्थिति में विवेकी व्यक्ति की शास्त्र में प्रवृत्ति के पक्ष के अनुकूल संशय और प्रयोजन की इस सूत्र में सूचना होने से यह वेदान्त विचार का आदिम सूत्र है यह सुसंगत होता है -इसी को भगवान् भाष्यकार ने—"वेदान्त मीमांसा शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमं सूत्रम्" इस वाक्य से कहा है। आचार्य ने व्याचिख्यासित शब्द का व्यवहार कर यह सूचना दी है · आचार्य इसके व्याख्यान की इच्छा करते हैं। भामतीकार ने "अस्माभिः" पद का उल्लेख कर यही अवगत कराया है। इस सूत्र के भाष्य में जिज्ञासा शब्द के लिए मीमांसा शब्द का व्यवहार किया है। मीमांसा शब्द का अर्थ पूजित विचार या प्रशस्त विचार होता है। विचार को पूजित विचार कहने का आशय यह है कि इसके द्वारा निर्णीत अर्थ अतिशय सूक्ष्म है एवं इस निर्णय से परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति

होती है, फलतः, इस विचार से अतिरिक्त कोई भी विचार मोक्ष का साधन नहीं है साथ ही कोई भी विचार इतने सूक्ष्मतम विषय के निर्णय में समर्थ नहीं है। जिसके द्वारा कुछ उपदिष्ट होता है- शिष्यों को वास्तविक रूप में प्रतिपादित किया जाता है वह शास्त्र है। इस शास्त्र के द्वारा जो प्रतिपादित होता है वही पूर्वोक्त मीमांसा या पूजित विचार है, फलतः, मीमांसा शास्त्र इस पद का अर्थ पूजित विचार प्रतिपादक शास्त्र विशेष होता है। सूत्र शब्द का अर्थ- जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित होते हैं— यह होता है। जैसे

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

इस श्लोक में लघु शब्द का अर्थ असंदिग्ध है। जिसके अर्थ में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता है—वही लघु है। संक्षिप्त रूप में अनेक अर्थ को सूचित करनेवाला सूचितार्थ है, अत्यन्त छोटे-छोटे पदों का विन्यास स्वल्पाक्षर है। जिसके मध्य में स्थित किसी अक्षर या पद का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है वह सर्वतः सारभूत है- ऐसे ही वाक्य को सूत्र कहा जाता है। सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य है। अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ के समान ही अधिकार के अर्थ में भी प्रयोग होता है। जैसे—वेद में तैत्तिरीय संहिता में 'अथैष ज्योतिः' ज्योतिष्टोमनामक याग का वर्णन आरब्ध होता है। लोक में देखा जाता है कि पाणिनि व्याकरण में "अथ शब्दानुशासनम्", पातंजलयोगदर्शन में "अथ योगानुशासनम्" इत्यादि प्रयोग में भी अथ शब्द का अर्थ अधिकार होता है। अधिकार का अर्थ आरम्भ होता है। जिस विषय में आगे विस्तार से कहना है उस विषय के आरम्भ का नाम ही अधिकार है। अतः जिस प्रकार प्रदर्शित स्थल में 'अथ शब्द का अर्थ अधिकार होता है वैसे ही प्रकृत में 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार मानने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि 'न अधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासायाः अनधि-

कार्यत्वात् ''। 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार नहीं है, कारण, ब्रह्मजिज्ञासा अधिकार का विषय नहीं है। परस्पर अन्वययुक्त अर्थों का प्रतिपादक पद-समूह वाक्य कहा जाता है। इनमें विशेष्य पद प्रधान होता है एवं अन्य पद उसके विशेषण के रूप में अन्वित होते हैं। जैसे--''देवदत्तः ग्रामं गच्छति'' इस वाक्य में देवदत्त पद विशेष्य है, गमन क्रिया का कर्तृत्व उसका विशेषण है, 'ग्रामं' इस पद का अर्थ गमन क्रिया का कर्मरूप में विशेषण होता है। अर्थात्--ग्रामकर्मक गमन क्रिया का कर्ता देवदत्त है। इस स्थल में देवदत्त मुख्य विशेष्य है उसका विशेषण कर्तृत्व है, इस कर्तृत्वरूप गौण विशेष्य का विशेषण गमन क्रिया रूप गौण विशेष्य का विशेषण ग्राम है। फलतः ग्राम विशेषित जो गमन क्रिया, उस गमन क्रिया विशेषित जो कर्तृत्व, उस कर्तृत्व में विशेषित देवदत्त है। इसी प्रकार अन्य वाक्य भी है जिसमें मुख्य विशेष्य के साथ साक्षात् रूप में कतिपय विशेषणों का अन्वय होता है। 'छत्री कुण्डली दण्डी देवदत्तः'। इस स्थल में देवदत्त रूप मुख्य विशेष्य का छत्र, दण्ड और कुण्डल का साक्षात् रूप में अन्वय होता है। पूर्ववाक्य में एक विशेष्य के साथ विशेषण का अन्वय एवं उस विशेषण स्वरूप विशेष्य के साथ अन्य विशेषण का अन्वय और इस विशेषण रूप विशेष्य के साथ अन्य विशेषण का अन्वय है, किन्तु द्वितीय वाक्य में एक विशेष्य है और उसके साथ सभी विशेषणों का साक्षात् सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार के नियम के स्वीकार करने से कोई यदि यह ''चैत्रपुत्रं पश्यामि'' (चैत्र के पुत्र को देखता हूँ) इस वाक्य में 'पश्यामि' शब्द के द्वारा दर्शन क्रिया की अवगति होती है. इस दर्शन क्रिया के कर्म के रूप में चैत्र के पुत्र का ही बोध होता है चैत्र का बोध नहीं होता है। इस स्थल में चैत्र उसके पुत्र रूप विशेष्य के विशेषण रूप में ही निर्दिष्ट होता है, इसलिए पद के द्वारा दूसरे के विशेषण रूप में प्रतिपादित होता है, उसके साथ अन्य पदार्थ का अन्वय नहीं होता है—यह नियम शाब्दिकों ने स्वीकार किया है। इस नियम के अनुसार यदि सूत्रवाक्य के अर्थ का विचार किया जाय तो यह सूत्र द्वितीय श्रेणी के वाक्य में परिगणित होगा। सूत्र में तीन

पद है अथ, अतः और ब्रह्मजिज्ञासा। इनमें 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद मुख्य विशेष्य है। अथ और अतः इन दो पदों का अर्थ विशेषण है। 'अथ' इस विशेषण के साथ उक्त शब्द शास्त्र के अनुसार ब्रह्मजिज्ञासा रूप विशेष्य का अन्वय किया जाय तो 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार ही ग्रहण कर अन्वय नहीं किया जा सकता है, वरन् अनन्तर रूप अर्थ को ग्रहण कर ही अन्वय किया जा सकता है, क्योंकि, ग्रन्थ में कथित विषय ब्रह्मजिज्ञासा अर्थात् ब्रह्म को जानने की इच्छा नहीं है, अपितु ब्रह्म और उसका ज्ञान नहीं है, अतः, यह इच्छा आरब्ध या अधिकृत नहीं हो सकती है, इसलिए 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मजिज्ञासा शब्द से ब्रह्म, ज्ञान और इच्छा ये तीन अर्थ प्रतिपादित हो रहे हैं। अधिकार अर्थ को कहनेवाले 'अथ' शब्द के साथ इच्छा का अन्वय न कर ब्रह्म या ज्ञान इन दो अर्थों का ही अन्वय होगा, कारण, ब्रह्म एवं उसके ज्ञानविषय में ही इस शास्त्र में कहा गया है। अतः, आरम्भ रूप अधिकार के साथ अन्वय होने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्मजिज्ञासा इस शब्द से ब्रह्म और ज्ञान प्रतिपादित होने पर भी उनके मुख्य विशेष्य इच्छा के साथ विशेषण रूप में अर्थात् अप्रधान रूप में ही अन्वित होता है। यदि वे इच्छा के समान प्रधान रूप में अर्थात् विशेष्य रूप में कहे जाते तो 'अथ' शब्द का अधिकार रूप अर्थ के साथ ब्रह्म या उसके ज्ञान का अन्वय हो सकता। किन्तु, ऐसी स्थिति न रहने से यहाँ इस प्रकार का अन्वय सम्भव नहीं है। कारण, इस स्थल में ब्रह्मणः ज्ञानस्य इच्छा इस रूप में असमस्त भाव में ब्रह्म और उसके ज्ञान का निर्देश न कर 'ब्रह्मजिज्ञासा' इस रूप में एक समस्त पद के द्वारा निर्देश किया गया है। यदि 'अथ' शब्द का अधिकार अर्थ एवं उस अधिकार के साथ ब्रह्म और उसके ज्ञान का अन्वय सूत्रकार को अभिप्रेत रहता तो असमस्त पद के रूप में ही सूत्र में ब्रह्म और उसके ज्ञान का निर्देश किया जाता। समास का व्यवहार करने पर ब्रह्म ज्ञान का विशेषण एवं ज्ञान इच्छा का विशेषण होता है। अतः, समस्त पदों में जो प्रधान रहता है उसी के साथ अन्य पदार्थों का

अन्वय होता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मज्ञान विषयक इच्छा प्रतिपाद्य विषय न होने से अथ शब्द के अधिकार रूप अर्थ इच्छा के साथ अन्वित नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि विशेषण होने से ही प्रधान एवं वह प्रधान ही वाक्य का विवक्षित या विधेय होता है यह नियम सर्वत्र संगत नहीं होता है। कारण वेद में ही देखा जाता है कि "दण्डी प्रैषानन्वाह" [दण्डधारी पुरुष प्रैष मन्त्र उच्चारण करें] इस वाक्य में दण्ड पदार्थ का पुरुष के विशेषण के रूप में उपस्थित होने पर वे ही इस स्थल में प्रधान या विधेय के रूप में विवेचित होते हैं। अतः इस सूत्र में ब्रह्म और उसका ज्ञान जिज्ञासापदप्रतिपाद्य इच्छा का विशेषण होने पर भी उक्त दण्ड के समान प्रधान स्वरूप में विवेचना कर अर्थ शब्द का अधिकार या आरम्भ रूप अर्थ के साथ उसका अन्वय करना होगा–यह मानने में क्या हानि है। प्रकृत स्थल में यह नहीं कहा जा सकता है। कारण, "दण्डी प्रैषान् अन्वाह" इस स्थल में दण्ड का प्रधान भाव में निर्देश न होने पर भी वाध्य होकर प्रधान रूप में ग्रहण किया गया है। कारण, इस प्रकार प्रधानरूप में दण्ड को ग्रहण नहीं किया जाता तो इस वाक्य में अन्य पदों में कोई भी पद प्रधान रूप में गृहीत नहीं हो सकता है। क्योंकि, अन्य प्रमाणों से अप्राप्त ही वाक्य में प्रधान या विधेय होता है। इस स्थल में 'प्रैषान्' 'अन्वाह' इन दो पदों से प्रैषमन्त्र एवं उसका उच्चारण रूप दो अर्थ प्रकाशित होते हैं, ये दोनों ही अर्थ अन्य प्रमाणों से पूर्व से ही प्राप्त हैं, कारण, इस वाक्य से पूर्व इस प्रकरण में कहा है "मैत्रावरुणः प्रैष्यति चान्वाह" [मैत्रावरुण नामक पुरोहित को प्रैषमन्त्र का उच्चारण करना होगा। प्रकृत में प्रैषमन्त्र का अनूच्चारण इस वाक्य के पूर्व से अवगत हो रहा है। इसलिए प्रैषमन्त्र या अनूच्चारण इन दोनों में एक भी "दण्डी प्रैषान् अन्वाह" इस वाक्य का विधेय नहीं हो सकता है, अतः, उक्त वाक्य में दण्डी ही अवशिष्ट रहता है। इनमें दण्डधारी पुरुष विशेष्य है और

दण्ड विशेषण है किन्तु पुरुष भी विधेय नहीं हो सकता है, कारण पूर्व वाक्य के 'मैत्रावरुण' शब्द के द्वारा प्राप्त होने से प्रमाणान्तर से अप्राप्त होने से प्रकृत में विधेय या प्रधान भाव में परिगृहीत होता है, फलतः, उसी के साथ वाक्यस्थ विधि प्रत्यय का अन्वय करना होगा। अतः, इस वचन का यह अर्थ हुआ—पूर्व वचनावगत प्रैष अनूच्चारणकारी मैत्रावरुण को दण्ड विशिष्ट होना होगा, अर्थात् मैत्रावरुण नामक पुरोहित के लिए दण्ड विधेय है। फलतः, अन्य उपाय न रहने के कारण इस उदाहरण में वाक्य में विशेषण रूप से निर्दिष्ट वस्तु को भी प्रधान या विधेय स्वीकार किया गया और पूर्व नियम का उल्लङ्घन हुआ। किन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा के स्थल में यह करने की आवश्यकता नहीं है। कारण, इस स्थल में इच्छा का प्रधान रूप में निर्देश किया गया है, वह प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं है. अतः, उसके विधेय रूप में कोई वाधा नहीं है। इसलिए, इस स्थल में विधेय के रूप में स्वीकार करने में किसी प्रकार की वाधा न होने से नियम के भंग की कोई आवश्यकता नहीं है। फलतः, ब्रह्म या उसके ज्ञान को ब्रह्म जिज्ञासा पद में प्रधान या विशेष्य कर उसके साथ अर्थ शब्द के अधिकार रूप अर्थ के अन्वय करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए, भामतीकार ने कहा है—'ब्रह्मजिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्' यह भाष्यकार का कथन ठीक ही है। ब्रह्म जिज्ञासा के प्रधान रूप से निर्देश का यह भी कारण है कि जानने की इच्छा के द्वारा ही शास्त्र के आरम्भ के अनुकूल संशय और प्रयोजन की सूचना होती है, ब्रह्म या उसके ज्ञान को विधेय रूप में निर्देश करने पर शास्त्र के आरम्भ के अनुकूल संशय और प्रयोजन की सूचना नहीं हो सकती है और शास्त्रारम्भ के अनुकूल संशय और प्रयोजन की सूचना न होने पर 'कौए के कितने दांत हैं' इसके परीक्षण में जिस प्रकार विचारशील व्यक्तियों की प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे ब्रह्म मीमांसा शास्त्र में भी प्रवृत्ति नहीं होगी शास्त्र में अप्रवृत्ति होने पर ब्रह्म और उसका ज्ञान इस शास्त्र का अभिधेय और प्रयोजन नहीं हो सकता है। विवेकी व्यक्ति की प्रवृत्ति न होने पर उपनिषद् रूप वेदान्त में तत्त्वमसि, अहं

ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि से जिस प्रकार का ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित हुआ वह सभी लोगों के अनुभव सिद्ध अहं प्रत्यय से विरुद्ध होने से अग्राह्य होगा अथवा वेदान्त वेद के अन्तर्गत होने से उसकी सर्वथा सम्मान की रक्षा की इच्छा होने पर उसका किसी प्रकार लाक्षणिक अर्थ स्वीकार कर इसको उपासना के विधायक रूप में ग्रहण करना होगा अथवा इसको वेदोक्त हुम्, स्वाहा, फट् आदि मन्त्र के समान ज्ञान कर उसका जप करने पर किसी कार्य की सिद्धि होगी यह स्थिर कर लोक में इसका व्यवहार करता और इसके फलस्वरूप वेदान्त का तापत्रय मग्न जीव की आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति रूप मोक्ष आरम्भ से ही वेदान्त का लक्ष्य कहकर शिष्टसमाज में प्रसिद्ध है - वह भी असम्भव हो जायेगा, अर्थात् ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्तशास्त्र का प्रामाण्य भी सर्वथा उच्छिन्न हो जायेगा। इसलिए, उपनिषद् के प्रकृत फल के लाभ करने के लिए ब्रह्म मीमांसा रूप विचारशास्त्र की एकान्त आवश्यकता है। इस शास्त्र में प्रदर्शित रीति के अनुसार उपनिषद् के अर्थ का विचार न करने पर उपनिषद् का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होगा ब्रह्म मीमांसा शास्त्र का आरम्भ संशय एवं प्रयोजन के बिना हो ही नहीं सकता है। इसलिए, ब्रह्मजिज्ञासा शास्त्र के आरम्भ के साधनभूत संशय और प्रयोजन की सूचना कर देता है, अतः, ब्रह्म को जानने की इच्छा ही इस स्थल में प्रधान रूप में विवक्षित है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म को जानने की इच्छा ही इस सूत्र-वाक्य का प्रधान या विशेष्य या विधेय होने पर उसी को अधिकार्य या आरम्भणीय समझ कर ज्ञान करेंगे किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है, कारण, ग्रन्थ में जितने विषय या अधिकरण हैं उनमें किसी में भी जानने की इच्छा विचार्य-विषय के रूप में प्रतिपादित नहीं है, ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार है। जिज्ञासा के विशेषण रूप में निर्दिष्ट ब्रह्म एवं उसका ज्ञान वह अधिकार्य हो सकता है, किन्तु, उसके साथ 'अथ' शब्द का अन्वय नहीं हो सकता है, कारण, वह विशेषण होने से अप्रधान है, उस अप्रधान स्वरूप विशेषण के साथ

वाक्यसम्बन्धस्थ अन्य पदार्थ का अन्वय नहीं होता है यह पूर्व में ही कहा गया है।

यदि यह कहा जाय कि इस स्थल में ब्रह्मजिज्ञासा शब्द का अर्थ ब्रह्ममीमांसा ही क्यों नहीं मानते हैं ? ब्रह्ममीमांसारूप विचार ही उसका अर्थ रहे तो वह अधिकृत या आरब्ध हो सकता है "अथ शब्दानुशासनम्" 'अथ योगानुशासनम्' आदि स्थलों में अनुशासन-पदवाच्य विचारशास्त्र वह अधिकृत होता है, इस स्थल में भी उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा शब्दवाच्य ब्रह्ममीमांसारूपशास्त्र भी अधिकृत होगा अतः, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ? इसके उत्तर में यह कहना है कि मीमांसा एवं जिज्ञासा एक पदार्थ नहीं हो सकता है, कारण, मीमांसा कार्य है, एवं जिज्ञासा कारण है। मीमांसा पद की व्युत्पत्ति से अवगत होता है कि मीमांसा पद में सन् प्रत्यय का इच्छारूप अर्थ नहीं है, वरन् पूजित विचाररूप अर्थ का ही बोध कराता है, कारण, ज्ञानार्थक माङ् धातु अथवा मान् धातु से इच्छा से भिन्न अर्थ में सन् प्रत्यय कर मीमांसा पद निष्पन्न होता है। इस स्थल में ज्ञानार्थक माङ् धातु का ग्रहण करने पर सन् प्रत्यय का अर्थ पूजा एवं यदि मान् धातु ग्रहण करने पर सन् प्रत्यय का अर्थ धातु का जो अर्थ है वही अर्थ होता है दोनों ही स्थलों में इच्छा से भिन्न अर्थ ही सन् प्रत्यय के द्वारा अवगत होता है। जिज्ञासा पद में ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय होता है। इस सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा होता है, अतः मीमांसा एवं जिज्ञासा कभी भी एकार्थक नहीं हो सकता है। जिज्ञासा और मीमांसा दोनों में इच्छा अर्थ में ही सन् प्रत्यय होता है तब माङ् या मान् धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय नहीं होता है—इसमें क्या प्रमाण है ? महर्षि पाणिनि ने प्रथम "मान्वधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य" इस सूत्र में कहा है मान् वध दान् और शान् धातु से सन् प्रत्यय होता है और अभ्यास के स्वर को दीर्घ होता है। यह कहा है अनन्तर कहा है कि धातु मात्र से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय होता है, इससे यह अवगत होता है कि मान् वध् इत्यादि धातु से

जो सन् प्रत्यय होता है -वह इच्छा से भिन्न अर्थ में ही होता है अन्यथा धातु मात्र से इच्छा के अर्थ में सन् प्रत्यय के विधान के बाद पुनः सन् प्रत्यय का विधान निष्प्रयोजन होगा, अतः. यह मानना होगा कि जिज्ञासा और मीमांसा दोनों ही समानार्थक हैं। जिज्ञासा शब्द ज्ञान की इच्छा का बोधक है; ज्ञानकी इच्छा ही विचार का प्रवर्तक या प्रयोजक है, प्रयोजक या प्रवर्तक कभी भी प्रयोज्य या प्रवर्त्य नहीं हो सकता है, कारण जहाँ एकत्व या अभेद रहता है वहाँ उक्त भेद नियत प्रयोज्य—प्रयोजक भाव या प्रवर्त्य-प्रवर्तक भाव अर्थात् कार्यकारण भाव नहीं हो सकता है। जिज्ञासा शब्दका मुख्यार्थ मीमांसारूप विचारार्थक न हो, किन्तु लक्षण के द्वारा जिज्ञासा शब्द का इस प्रकार का अर्थ भी हो सकता है ऐसी स्थिति वह अधिकार्य या आरम्भणीय हो सकता है तब अथ शब्द अधिकारार्थक क्यों नहीं हो सकता है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिज्ञासा शब्द का मुख्य अर्थ ग्रहण करने पर यदि कोई अनुपपत्ति नहीं होती है तो लक्ष्यार्थ कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? मुख्यार्थ सम्भव होने पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर अनभीप्सित अर्थ के भी ग्रहण की भी अतिप्रसक्ति होगी, मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा स्वीकार की जाती है। अतः, मुख्यार्थ का बाध न होने पर प्रकृत स्थल में लक्ष्यार्थ की सम्भावना नहीं है। अतएव अथ शब्द के अधिकार अर्थ की रक्षा करने के लिए जिज्ञासा शब्द का लक्ष्य अर्थ ग्रहण करना कभी भी संगत नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है—'जिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्'। फलतः यही सिद्ध होता है कि अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ होगा अधिकार नहीं, अधिकार अर्थ ग्रहण करने पर सूत्रपद में लक्षणा स्वीकार करना पड़ेगा, सूत्रार्थ में लक्षणा का स्वीकार करना निष्प्रयोजन है।

रत्नप्रभा

विचारस्य साक्षाद् विषयाः वेदान्ताः, तेषां गतार्थत्वागतार्थत्वाभ्याम्

आरम्भसन्देहे कृत्स्नस्य वेदस्य विधिपरत्वात्, विधिश्च "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (पू० मी० १/१/१) इत्यादिना पूर्वतन्त्रेण विचारितत्वात्, अवगतार्थाः एव वेदान्ताः इति अव्यवहितविषयाभावात् न आरम्भः इति प्राप्ते ब्रूते—वेदान्तेति। वेदान्तविषयकपूजितविचारात्मक शास्त्रस्य व्याख्यातुम् इष्टस्य सूत्रसन्दर्भस्य इदं प्रथमसूत्रम् इत्यर्थः। यदि विधिः एव वेदार्थः स्यात्, तदा सर्वज्ञः बादरायणः ब्रह्मजिज्ञासां न ब्रूयात्, ब्रह्मणि मानाभावात्। अतो ब्रह्मणो जिज्ञास्योत्योक्त्या केनापि तन्त्रेण अनवगतब्रह्मपरवेदान्तविचारः आरम्भणीयः इति सूत्रकृत् दर्शयति—तच्च व्याचिख्यासितस्य इति पदेन भाष्यकारः बभाषे। इति द्वितीयवर्णकम्।

एवं वर्णकद्वयेन वेदान्तविचारस्य कर्तव्यतायां विषयप्रयोजनवत्त्वम् अगतार्थत्वं च इति हेतुद्वयं सूत्रस्य आर्थिकार्थं व्याख्याय अक्षरव्याख्याम् आरभमाणः पुनरपि अधिकारि भावाभावाभ्यां शास्त्रारम्भसन्देहे सति अथ शब्दस्य आनन्तर्यार्थकत्वोक्त्या अधिकारिणं साधयति—तत्राथशब्दः इतिः। सूत्रे इत्यर्थः। 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इति अथ शब्दस्य बहवः अर्थाः सन्ति। तत्र "अथ योगानुशासनम्" इत्यत्र सूत्रे यथा अथ शब्दः आरम्भार्थकः योगशास्त्रम् आरभ्यते इति, तद्वत् अत्र किं न स्यात् इति अतः आह न अधिकारार्थः इति। अयम् आशयः—किं जिज्ञासापदं ज्ञानेच्छापरम् उत विचारलक्षकम्? आद्ये अथ शब्दस्य आरम्भार्थत्वे ब्रह्मज्ञानेच्छा आरभ्यते इति सूत्रार्थः स्यात्। स च असङ्गतः, तस्याः अनारभ्यत्वात्। न हि प्रत्यधिकरणम् इच्छा क्रियते किन्तु तया विचारः। न द्वितीयः कर्तव्यपदाध्याहारं विना विचारलक्षकत्वायोगात्, अध्याहृते च तेन एव आरम्भोक्तेः अथशब्दवैयर्थ्यात्। किन्तु अधिकारिसिद्ध्यर्थम् आनन्तर्यार्थता एव युक्ता इति।

पुष्पलता

विचार का साक्षात् विषय वेदान्त (पूर्वमीमांसा से) गतार्थ हो तो शास्त्र अनारम्भणीय है और यदि अगतार्थ हो तो आरम्भणीय है—ऐसा

सन्देह होता है। सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य विधि में है और विधि का विचार 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १/१/१) इत्यादि पूर्वतन्त्र से किया गया है, अतः, गतार्थ होने से वेदान्त अनारम्भणीय है। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं वेदान्त इत्यादि। वेदान्तविषयक पूजितविचारात्मक शास्त्र जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं उन सूत्रों में यह प्रथम सूत्र है। यदि विधि को ही वेद का अर्थ माना जाता तो ब्रह्म में प्रमाण न होने के कारण सर्वज्ञ बादरायण जिज्ञासा नहीं करते। ब्रह्म जिज्ञास्य (विचार करने योग्य) है इस कथन से ब्रह्मज्ञान जिसमें प्रतिपादित किया गया है, ऐसा वेदान्त-विचार किसी तन्त्र से गतार्थ नहीं है इसलिए, आरम्भणीय है–यह सूत्रकार कहते हैं। भाष्यकार जिसकी हम व्याख्या करना चाहते हैं इस पद से अगतार्थ होने से शास्त्र आरम्भणीय है—यह सूचित किया है। द्वितीय वर्णक समाप्त।

इस प्रकार दो वर्णकों से कहा है कि वेदान्त विचार करने के लिए दो साधन है, प्रथम तो यह कि वेदान्त वाक्यों के विषय और प्रयोजन हैं अर्थात् ब्रह्म और जीवात्मा का ऐक्य रूप विषय है और मोक्ष प्रयोजन है। दूसरा यह कि अन्य तन्त्र से यह विषय गतार्थ नहीं है। सूत्र के अर्थ से सिद्ध अर्थ का व्याख्यान कर भाष्यकार सूत्र का अक्षरार्थ कह रहे हैं। शास्त्र के आरम्भ करने में फिर भी यह सन्देह उत्पन्न होता है कि अधिकारी के न होने पर शास्त्र का आरम्भ होगा और अधिकारी के न रहने पर शास्त्र का आरम्भ नहीं होगा। अधिकारी के भाव और अभाव के आधार पर शास्त्र के आरम्भ करने में सन्देह उत्पन्न होने से 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ मानकर 'अत्राथ' से अधिकारी की सिद्धि करते हैं। अत्र अर्थात् सूत्र में 'अथ' शब्द का अनेक अर्थ है। मंगल अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य (पूर्णता) इनमें जैसे–'अथ योगानुशासनम्' योगशास्त्र का आरम्भ किया जाता है। इस सूत्र में अथ आरम्भ का वाचक है वैसे ही यहाँ पर भी अथ शब्द आरम्भ का वाचक क्यों नहीं है? इसके उत्तर में

कहते हैं 'नाधिकारार्थः' आरम्भवाचक नहीं है। जिज्ञासा शब्द का

× × × ×

१. नास्ति अन्तरं यस्य सः अनन्तरः अनन्तरस्य भावः आनन्तर्यम्। एक के बाद आनेवाला अनन्तर कहा जाता है, अनन्तर का भाव आनन्तर्य है। अथ धर्मं व्याख्याख्यास्यामः यहां अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है।

२. अथ भगवान् कुशली काश्यपः भगवान् काश्यप कुशल से तो हैं? यहां पर अथ शब्द प्रश्नार्थक है।

अर्थ 'ज्ञान की इच्छा' अथवा लक्षणा से विचार है? प्रथम पक्ष में 'अथ' शब्द के आरम्भवाचक होने से ब्रह्मज्ञान की इच्छा आरम्भ की जाती है—ऐसा सूत्र का अर्थ होगा, किन्तु यह अर्थ असंगत है। कारण, इच्छा आरम्भ करने योग्य नहीं है, प्रत्येक अधिकरण में इच्छा का आरम्भ नहीं होता, अपितु इच्छा से विचार किया जाता है। दूसरे पक्ष में कर्त्तव्य पद का अध्याहार किए बिना यह अर्थ सिद्ध नहीं होता। सूत्र में कर्त्तव्य पद का अध्याहार करने पर उससे ही आरम्भ रूप अर्थ हो जाता है, 'ब्रह्मविचार करना चाहिए' इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म-विचार आरम्भ करना चाहिए, इस प्रकार कर्त्तव्य पद के अध्याहार से ही 'अथ' शब्द का अर्थ व्यक्त हो जाने से अथ शब्द व्यर्थ हो जायगा, अतः, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है. फलतः, अधिकारी की सिद्धि के लिए आन-न्तर्यरूप अर्थ ही समीचीन है।

भाष्य-भामती आदि का तात्पर्य

भाष्यकार ने 'तत्राथ शब्दः इत्यादि के द्वारा सूत्रपदों का व्याख्यान किया है—पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्य योजना। आक्षेपस्य समा-धानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्॥ इस व्याख्यालक्षण के अनुसार भगवान् भाष्यकार ने सूत्र का व्याख्यान करते हुए पदार्थ कथनपूर्वक ही वाक्यार्थ का कथन हो सकता है, अतः प्रथम "तत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते"

इत्यादि से पदच्छेदपूर्वक पदार्थ को कहते हैं, अनन्तर 'तस्माद्यथोक्त साधन-संपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या' यह वाक्ययोजना' ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा यह विग्रह है, ''तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धम् अप्रसिद्धं वा'' इत्यादि से आक्षेपपूर्वक समाधान है। व्यवहार में अथ शब्द का चार अर्थों में प्रयोग देखा जाता है- आनन्तर्य अधिकार, मंगल और पूर्वप्रकृतापेक्ष अन्य अर्थ में। कहा भी है—अभिधत्तेऽथशब्दो हि चतुरोऽर्थान् प्रयोगतः। आनन्तर्य-मधिकारं पूर्वापेक्षं च मङ्गलम्॥ आनन्तर्य अर्थ में अथ शब्द का प्रयोग है, जैसे—अथ अनुमानं निरूप्यते, प्रत्यक्षनिरूपण के बाद अनुमान का निरूपण कर रहे हैं। अधिकार में अथ शब्द का प्रयोग है, जैसे—अथ योगानुशासनम्, मंगल के अर्थ में भी लोक और वेद में अनेक प्रयोग देखे जाते हैं, जैसे—ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ। पूर्वप्रकृतापेक्ष अर्थान्तर में भी अथ शब्द का प्रयोग होता है, जैसे किमयमथशब्दः आनन्तर्यार्थः? अथ अधिकाराद्यर्थः? क्या यह अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है? या अधि-कारादि अर्थ को कहनेवाला है यह इसी सूत्र में अथ शब्द के विषय में कहा गया है।

प्रकृत भाष्य में आचार्य शंकर ने तीन बातें कही हैं, प्रथम—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह ब्रह्मसूत्रों में प्रथम सूत्र है, द्वितीय अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य है, तृतीय अथ शब्द का अर्थ आरम्भ या अधिकार नहीं हो सकता है, कारण, ब्रह्मजिज्ञासा शब्द से ब्रह्मज्ञान की इच्छा अर्थ की अव-गति होती है, यह इच्छा आरम्भ का विषय नहीं हो सकती है, कारण, इस इच्छा का अवलम्बन कर किसी भी विषय का विचार किसी भी अधिकरण में नहीं किया गया है। इस प्रसंग में भामतीकार का कथन है कि अथ शब्द का अर्थ आरम्भ स्वीकार करने पर वेदान्त अर्थात् उपनिषद के मुख्य उद्देश्य मुक्ति की ब्रह्मसूत्र के द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए, उपनि-षत् पढ़ने से प्रकृत फल के लाभ के लिए यह वेदान्त-दर्शन या ब्रह्मसूत्र

अवश्य आलोचनीय है. इस वेदान्त से जिस रूप में उपनिषद् के अर्थ का विचार किया है, उस रूप में उपनिषद् की आलोचना करने पर उपनिषद् के अध्ययन का प्रकृत फल होगा, अन्यथा नहीं। ब्रह्मसूत्र या वेदान्त का प्रदर्शित मार्ग के अनुसार आलोचना करने पर जिस रूप में वेदान्तदर्शन की आलोचना या अर्थ का ज्ञान करना होगा, वह मार्ग जीव के साथ ब्रह्म का ऐक्य या अभेदज्ञान की प्राप्ति से अतिरिक्त नहीं है। अर्थात् अद्वैतवाद का अनुसरण कर वेदान्तदर्शन का अर्थबोध करना होगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार भामतीकार के द्वारा इंगित होने से उपनिषद् का अर्थ अद्वैत-वेदान्त के अनुसार न करने पर उपनिषद् और वेदान्त दोनों ही निरर्थक हो जायेंगे। इस प्रसंग में रत्नप्रभाकार ने कहा है कि 'वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमंसूत्रम्' यह भाष्यवाक्य आशंका का उत्तर है। आशंका का स्वरूप यह है कि विचारशास्त्र का साक्षात् विषय वेदान्त या उपनिषद् है एवं यह वेदान्त वेद के अन्तर्गत है, और वेद विधि-रूप शास्त्र है अर्थात् कतिपय कर्मों का ही बोधक है, तो 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' इत्यादि पूर्वमीमांसा ग्रन्थ में ही विधि का विचार हो जाने से वेदान्त का विचार भी उक्त मीमांसा ग्रन्थ में ही हो गया, अतः, जिसका विचार हो गया है, उसके आरम्भ करने की क्या आवश्यकता है? इसी आशंका का उत्तर पूर्वोक्त वाक्य से भाष्यकार ने दिया है। आशय यह है कि वेदान्त के विचार के लिए ही वेदान्तदर्शनग्रन्थ की आवश्यकता है, सम्पूर्ण वेद ही यदि विधिरूप शास्त्र होता तो वेदान्त भी कर्म का ही बोधक होता, और ऐसी स्थिति में वह ब्रह्म में प्रमाण नहीं होता तो सर्वज्ञ बादरायण वेदव्यास "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र के द्वारा ब्रह्मजिज्ञासास्वरूप पृथक् विचार शास्त्र का उत्थापन ही नहीं करते, कारण वेदान्त विषयरूप में प्रमाण ही है, उसको विधिपरक शास्त्र मानने पर ब्रह्मविषय में प्रमाणा-भाव प्रयुक्त महर्षि वेदव्यास के द्वारा इन वेदान्तसूत्रों की रचना ही व्यर्थ हो जाती। अर्थात् वेदव्यास के सिद्धान्तानुसारही यह सिद्ध है. यह मानने पर पूर्वमीमांसा से इस ब्रह्ममीमांसा के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती

है—यह मानना पड़ेगा, इसलिए, यह मानना होगा कि ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का आरम्भ सप्रयोजन है। 'व्याचिख्यासितस्य' इस पद का यही अभिप्राय आचार्य ने व्यक्त किया है यही रत्नप्रभाकार ने कहा है यही विभिन्न दृष्टि से शास्त्रारम्भ की प्रयोजनीयता है। इसी को द्वितीय वर्णक के नाम से कहा जाता है।

तृतीय वर्णक में सूत्रस्थ पदों की व्याख्या के रूप में अधिकारी के स्वरूप का निरूपण कर प्रकारान्तर से इस शास्त्र का आरम्भ समर्थित किया है। प्रकृत में 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार नहीं हो सकता है, इसके समर्थन में रत्नप्रभा में कहा गया है कि 'अथ' शब्द का अर्थ अधिकार मानने पर उसका अन्वय इस स्थल में 'जिज्ञासा' पद के द्वारा ही करना होगा। जिज्ञासा पद का दो प्रकार का अर्थ हो सकता है, एक शक्यार्थ अर्थात् ज्ञानविषयक इच्छा, और द्वितीय अर्थ लक्ष्यार्थ हो सकता है अर्थात् ज्ञानविषयक इच्छा से साध्य विचार। शक्यार्थ के साथ अधिकार का अन्वय नहीं हो सकता है, इस विषय में दोनों टीकाकार एक मत हैं। इसका विवेचन उनके व्याख्यानों में ही कर दिया है। जिज्ञासा शब्द का पूर्वकथित लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर वह अधिकार के साथ अन्वित नहीं हो सकता है, कारण, जिज्ञासा शब्द का लक्ष्य अर्थ ग्रहण करने पर विचार अर्थ ही गृहीत होता है। किन्तु, उसको ग्रहण करने पर 'कर्त्तव्या' पद का अध्याहार आवश्यक है, और ऐसा स्वीकार करने पर विचार अधिकृत है, यह कर्तव्य पद के साथ उसका अन्वय होने से ही —यह सहज में ही अवगत होता है, अतः, अथ शब्द का अधिकार रूप अर्थ ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है फलतः, आनन्तर्य रूप अर्थ का ग्रहण करना ही पड़ेगा। जिज्ञासा शब्द का लक्ष्यार्थ ग्रहण करने पर भी इस स्थल में अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ ग्रहण करना ही होगा—यही रत्नप्रभाकार का आशय है। भामती में इस विषय का उल्लेख नहीं है। इसमें कर्तव्या पद का अध्याहार अनिवार्य है-इसमें "तस्मात् यथोक्तसाधन सम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या" यह आचार्य का अग्रिम कथन ही प्रमाण है। इस मत में 'अथातो ब्रह्म-

जिज्ञासा" इस सूत्र से शास्त्र का आरम्भ होता है अर्थात् इस सूत्र के द्वारा भी वेदान्त के "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि श्रुतिबोधित ब्रह्म का विचार्यत्वविषयक संशय निराकृत होता है। किन्तु, भामती मत में इस सूत्र से शास्त्र आरम्भ नहीं होता है इससे वेदान्त के अध्ययन के लिए संशय का निराकरण नहीं होता है, वरन् ग्रन्थ के अनुबन्धचतुष्टय का ही कथन है।

शांकरभाष्य

मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तरप्रयुक्त एव हि अथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनः भवति।

पुष्पलता

और वाक्यार्थ में मंगल का अन्वय नहीं हो सकता है (इसीलिए अथ शब्द का अर्थ मंगल नहीं हो सकता है) क्योंकि अन्य अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द श्रवण मात्र से ही मंगलजनक होता है।

कुसुमलता

अथ शब्द का अर्थ अधिकार न होने पर भी इसका अर्थ मंगल तो हो सकता है, ऐसी स्थिति में अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? मंगल अथ शब्द का शक्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं है, वरन् यह 'अथ' शब्द के उच्चारण का ही फल है। शक्यार्थ या लक्ष्यार्थ होने पर ही वह वाक्यार्थ में प्रविष्ट हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस शब्द का फल या कार्य शब्दघटित वाक्यार्थ में कैसे प्रविष्ट हो सकता है? अर्थात् 'अथ' शब्द का उच्चारण करने पर वक्ता और श्रोता का मंगल होता है, किन्तु उसका शक्यार्थ या लक्ष्यार्थ मंगल नहीं हो सकता है। इसलिए, अथ शब्द का मंगल अर्थ ग्रहण कर पूर्वोक्त आनन्तर्य रूप अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

भामती

अथ मङ्गलार्थः अथशब्दः कस्मात् न भवति ? तथा च मङ्गलहेतुत्वात् प्रत्यहं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या इति सूत्रार्थः सम्पद्यते इति अतः आह—मङ्गलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। पदार्थ एव हि वाक्यार्थे समन्वीयते स च वाच्यः वा लक्ष्यः वा। न चेह मङ्गलम् अथ शब्दस्य वाच्यं वा लक्ष्यं वा, किन्तु, मृदङ्गशङ्खध्वनिवत् अथशब्दश्रवणमात्र कार्यम्। न च कार्यज्ञाप्ययोः वाक्यार्थे समन्वयः शब्दव्यवहारे दृष्टः इत्यर्थः तत् किम् इदानीं मङ्गलार्थः अथशब्दः तेषु तेषु न प्रयोक्तव्यः तथा च

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ" इति स्मृति व्याकोपः इति अतः आह—"अर्थान्तरप्रयुक्त एव हि अथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनः भवति।" अर्थान्तरेषु आनन्तर्यादिषु प्रयुक्तः अथशब्दः श्रुत्या श्रवणमात्रेण वेणुवीणाध्वनिवत् मंगलं कुर्वन् मंगलप्रयोजनः भवति अन्यार्थम् आनीयमानोदकुम्भदर्शनवत्, तेन न स्मृतिव्याकोपः। न च इह आनन्तर्यार्थस्य सतः न श्रवणमात्रेण मंगलार्थता इत्यर्थः।

पुष्पलता

अथशब्दका अर्थ मगंल क्यों नहीं होता है ? और ऐसी स्थिति में मगंलजनकता प्रयुक्त प्रतिदिन ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए—यही सूत्रार्थ होगा, इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है "मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वया भावात्" अर्थात् "और वाक्यार्थ में मङ्गलका अन्वय नहीं हो सकता है' इत्यादि। क्योंकि, पदार्थ ही वाक्यर्थ में अन्वित होता है, और वह वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ होता है। प्रकृत में मगंल अथ शब्दका वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता है, किन्तु, मृदङ्ग औ शङ्ख की ध्वनि के समान अथशब्द के श्रवण में भी मगंल फल होता है। शब्द के कार्य और ज्ञाप्य इन दोनों का वाक्यार्थ में अन्वय होना शब्द के व्यवहार में नहीं देखा जाता है—यही अर्थ है। तब क्या मंगलार्थक अथ शब्द का उन-उन कार्यों में

प्रयोग नहीं करना चाहिए और ऐसी स्थिति में ॐकार और अथ शब्द ये दोनों पूर्व समय में कण्ठ का भेदनकर निर्गत हुआ है—इसलिए,ये मांगलिक हैं—इस स्मृतिवाक्य का अप्रामाण्य होगा? इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है अर्थान्तरप्रयुक्त एव हि अथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनः भवति। अर्थान्तरेषु अर्थात् मंगलसे भिन्न आनन्तर्य और अधिकार आदि अर्थ में प्रयुक्त अर्थात् व्यवहृत अथशब्द श्रुत्या अर्थात् श्रवणमात्र से ही वेणु-वीणा ध्वनि के समान मंगल करता हुआ मंगल फल का जनक होता है। जैसे अन्य कार्य के लिए लाये गये जल से पूर्ण घट को देखने से मंगल होता है वैसे ही। ऐसी स्थिति में स्मृति का भी अप्रामाण्य नहीं होता है। इस स्थलमें आनन्तर्य प्रयुक्त मंगलार्थता नहीं है-ऐसा नहीं है—यही भाष्य का आशय है।

कुसुमलता

अथ शब्द का अधिकाररूप अर्थ नहीं हो सकता है इस कथन के बाद ही कहा है—"मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्"। वस्तुतः, इसमें एक आशङ्का बनी रहती है, भामतीकार ने इसी को व्यक्त करते हुए कहा है कि अथ शब्द मंगलार्थक क्यों नहीं होगा? वस्तुतः, आचार्य ने इस प्रकार की शंका के उत्तर में ही कहा है-मंगलका वाक्यार्थमें अन्वय नहीं है-इत्यादि। अथ शब्द के मंगलार्थक होने पर आशङ्का करनेवाले किस प्रकार उस मंगलका वाक्यार्थ में अन्वय करेंगे-इसीको समझाने के लिए भामतीकारने कहा है-मंगलका साधन होनेसे प्रतिदिन ब्रह्मजिज्ञासा करें इत्यादि-यही सूत्रार्थ होगा। किन्तु, इस प्रकार सूत्रार्थ करना संगत नहीं है, कारण, मंगल अथशब्दका वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं है, वरन् इसके उच्चारण से ही मंगल होता है। वाक्यार्थ में जो पदार्थ प्रविष्ट होता है-वह पदका वाच्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ होता है, किन्तु, मंगल अथ शब्द का वाच्य या लक्ष्य न होने से पूर्वोक्त सूत्रार्थ नहीं हो सकता है यदि अथ शब्द का अर्थ मंगल हो तो इस अव्यय अथ शब्द से लुप्त चतुर्थी विभक्ति थी-

यह मानना होगा। इसका अर्थ होगा मंगल के लिए [मंगलार्थ]। इस प्रकार के अभिप्राय से भामतीकार ने मंगलहेतुत्वात्" इस पद का व्यवहार किया है। पूर्वोक्त दृष्टि से अन्वय न होने का कारण यह है कि शब्दव्यवहारकाल में शब्द का कार्य एवं ज्ञाप्य वाक्यार्थ में कभी भी अन्वित नहीं होता है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस वाक्यमें अथशब्दका मंगलरूप कार्य अर्थ करने पर ब्रह्मजिज्ञासा पदका वाच्यार्थ इच्छा के साथ इस मंगल रूप कार्यार्थ का अन्वय होगा अर्थात् कार्यार्थ के साथ ज्ञाप्यार्थ का अन्वय होना-उक्त नियम के विरुद्ध है। वाक्यार्थ में अन्वय ज्ञाप्यार्थ के साथ ज्ञाप्यार्थ का ही होता है, ज्ञाप्य एवं कार्यार्थ का अन्वय नहीं होता है।

रत्नप्रभा

अधुना सम्भावितम् अर्थान्तरं दूषयति—मंगलस्येति। वाक्यार्थः विचारकर्तव्यता। न हि तत्र मंगलस्य कर्तृत्वादिना अन्वयः अस्ति इत्यर्थः। ननु सूत्रकृता शास्त्रादौ मंगलं कार्यम् इति अथ शब्दः प्रयुक्तः इति चेत्? सत्यम्। न तस्य अर्थो मंगलम्, किन्तु तच्छ्रवणम् उच्चारणं च मंगलकृत्यं करोति। तदर्थः तु आनन्तर्यम् एवम् इति आह—अर्थान्तरेति। अर्थान्तरम् आनन्तर्यम् श्रुत्या श्रवणेन शंखवीणादिनादश्रवणवत् ओंकाराथशब्दयोः श्रवणं मंगलफलकम्। ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।

कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ ॥ इति स्मरणादिति भावः।

पुष्पलता

प्रकृत में सम्भावित अन्य अर्थ को दूषित कर रहे हैं- मंगलस्येति। वाक्य का अर्थ विचारकर्तव्यता है। यहां मंगल का कर्तृत्व आदि के साथ अन्वय नहीं है यह अर्थ है। यदि यह कहा जाय कि सूत्रकार ने शास्त्र के आरम्भ में मंगल कार्य है--अतः अथ शब्द का प्रयोग किया है? ठीक है। मंगल उसका अर्थ नहीं है, किन्तु उसका उच्चारण और श्रवण मंगल

कृत्य का सम्पादन करता है। अथ शब्द का अर्थ तो आनन्तर्य ही है— इसी बात को कहने के लिए कहा है - अर्थान्तरेति। अर्थान्तर अर्थात् आनन्तर्य। श्रुत्या—सुनने से शंखवीणा आदि के सुनने के समान ओंकार और अथ शब्द का श्रवण मंगलफल है। ओंकार और अथ शब्द ये दोनों आरंभ में ब्रह्मा के कण्ठ से निकले हैं, अतः ये दोनों मांगलिक हैं। अतः, स्मरण से यह आशय है।

भाष्य-भामती का तात्पर्य

रत्नप्रभाकार के कथन से यह अवगत हो रहा है कि इस स्थल में अथ शब्द के द्वारा सूत्रकार ने, जिस प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में शिष्टाचारानुमोदित मंगलाचरण किया जाता है, उसी प्रकार उच्चारण किया है, अतः, इसका अर्थ आनन्तर्य भी हो सकता है। अथ शब्द के उच्चारण और श्रवण से ही मंगल हो जायेगा। इसलिए, मंगलार्थक होने पर भी आनन्तर्यरूप अर्थ का व्याघात नहीं हो सकता है। अथ शब्द के चार प्रकार के अर्थ होते हैं, मंगल, आनन्तर्य, आरम्भ या अधिकार एवं प्रश्न। पूर्वप्रकृतापेक्षरूप अर्थ भी होता है—वह अप्रसिद्ध है। इन अर्थों में प्रथम अर्थ कार्य अर्थ है, शेष चार अर्थ ज्ञाप्य हैं।

भाष्य

पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात्।

पुष्पलता

पूर्वप्रकृत की अपेक्षा कहने से फलतः आनन्तर्य से कुछ विशेष नहीं होता है। (आनन्तर्य से अतिरिक्त यह अर्थ नहीं हो सकता है।)

कुसुमलता

'अथ" शब्द का मंगल अर्थ नहीं हो सकता है—यह प्रदर्शित किया गया है। प्रकृत भाष्य से पूर्वप्रकृतापेक्ष अर्थ अथ शब्द का नहीं हो सकता है—यह प्रदर्शित कर रहे हैं। पूर्वप्रकृतापेक्ष शब्द का अर्थ पूर्व में जो कहा गया है, उसके साथ कोई सम्बन्ध। कोई कहता है वसन्तो गतः, अथ ग्रीष्मः

आगतः अर्थात् वसन्त व्यतीत हुआ, अब ग्रीष्म आ गया है। इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्ष होता है। वसन्त का जाना ग्रीष्म के आने का प्रकृत हेतु होता है और पूर्वप्रकृत के अपेक्षा का बोधक होता है। अर्थात्, पूर्व में जो कहा गया है, उसके साथ पूर्वापरीभावरूप एक सम्बन्ध का बोध होता है। यदि कोई कहता है कि भोजनं कृतम् अथ क्षुन्निवृत्तिः, अर्थात् भोजन किया अब भूख की निवृत्ति हो गई। इस स्थल में भी अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्ष ही है, किन्तु इस स्थल में भोजन के साथ भूख निवृत्ति का हेतुहेतुमद्भाव अर्थात् कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। यहां भी पूर्व में जो हो गया है उसके साथ एक सम्बन्ध की अवगति करा देता है। फलतः—पूर्वप्रकृतापेक्षा शब्द का अर्थ जो पूर्व में जो हुआ है उसके साथ कोई सम्बन्ध हो कर कार्यकारणभाव इसके अन्तर्गत या अंशविशेष हो जाता है। कार्यकारणभाव एक प्रकार का पूर्वापरीभाव है। कार्य कारण का नियत परभावी ही होगा और कारण कार्य का नियत पूर्वभावी होता है। इसलिए पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने से कार्यकारणरूप पूर्वापरीभाव एवं अन्य प्रकार का पूर्वापरीभाव ये दोनों अवगत होते हैं। अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा हो एवं वह कार्यकारण गत पूर्वापरीभाव की अवगति कराता है तो आचार्य को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु कार्यकारणभाव से भिन्न पूर्वापरीभाव होने पर वह ग्राह्य नहीं होगा।

भामती

स्यात् एतत्। पूर्वप्रकृतापेक्षः अथशब्दः भविष्यति। विना एव आनन्तर्यार्थत्वम्। तद् यथा इमम् एव अथ शब्दं प्रकृत्य विमृश्यते, "किम् अयम् अथशब्दः आनन्तर्ये अथ अधिकारे" इति। अत्र विमर्शवाक्ये अथशब्दः पूर्वप्रकृतम् अथ शब्दम् अपेक्ष्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकं पक्षान्तरोपन्यासे। न च अस्य आनन्तर्यम् अर्थः। पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवायात्। न च प्रकृतानपेक्षा, तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेन असमानविषयतया विकल्पानुपपत्तेः न हि जातु भवति 'किं नित्य आत्मा, अथ

अनित्या बुद्धिः" इति, तस्मात् आनन्तर्यं विना पूर्वप्रकृतापेक्षः इह अथ-शब्दः कस्मात् न भवति इति अतः आह—"पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात् ।" अस्य अर्थः न वयम् आनन्तार्यार्थतां व्यसनितया रोचयामहे, किन्तु ब्रह्मजिज्ञासाहेतुभूतपूर्वप्रकृतसिद्धये । सा च पूर्वप्रकृतार्थापेक्षत्वे अपि अथशब्दस्य सिद्ध्यति इतिरर्थः आनन्तर्यार्थत्वावधारणाग्रहः अस्माकम् इति । तदिदम उक्तं "फलतः" इति । परमार्थतः तु कल्पान्तरोपन्यासे पूर्वप्रकृतापेक्षा, न च इह कल्पान्तरोपन्यासः इति पारिशेष्यात् आनन्तर्यार्थ एव इति युक्तम् ।

पुष्पलता

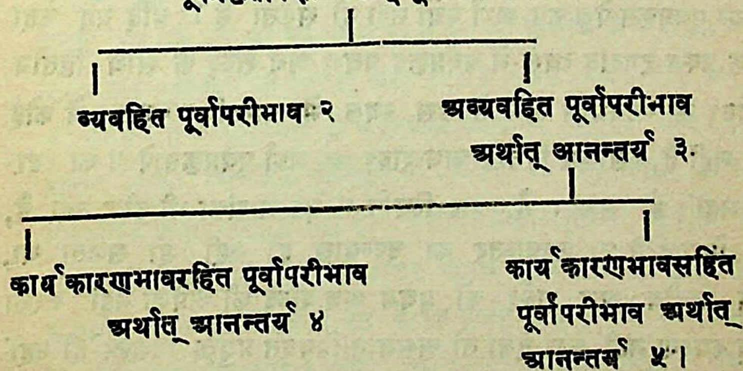
अच्छा, ऐसा ही हो । (मंगलार्थक नहीं हो) अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ न होकर पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ हो सकता है ? जैसे--इस सूत्र में प्रयुक्त अथ शब्द को अवलम्बन कर यदि ऐसा विचार किया जाय कि—क्या यह अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है अथ अर्थात् क्या अधिकार अर्थ में है ? इस स्थल में विमर्शक वाक्य में अथ पूर्वप्रकृत अथ शब्द का अवलम्बन कर प्रथम पक्ष का उपन्यास कर पक्षान्तर के उपन्यास के लिए प्रयुक्त होता है । अतः, इस अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ नहीं हो सकता है, कारण पूर्वप्रकृत अथशब्द प्रथमपक्ष के उपन्यास से अर्थात् आनन्तर्य रूप एक शब्द से व्यवहृत होता है । इस स्थल में प्रकृत का अर्थात् पूर्वप्रकृत की अपेक्षा नहीं है, ऐसी भी बात नहीं है, कारण, यदि उसकी अपेक्षा यह न करता तो तद्विषयता नहीं रहने से परस्पर का विषय समान नहीं होने से विकल्प ही उपपन्न नहीं होता । कारण, आत्मा नित्य है अथ (या) बुद्धि अनित्य है यह प्रयोग कभी भी नहीं देखा जाता है, अतः, आनन्तर्य अर्थ परित्यागपूर्वक पूर्वप्रकृत की अपेक्षा कर अर्थात् समझाने के लिए इस स्थल में (इस सूत्र में) क्यों नहीं प्रयुक्त होता है इस आशंका के उत्तर में कहा गया है—"पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात्" । इसका अर्थ है--हमलोग आनन्तर्यार्थता को किसी प्रकार के

दुराग्रह से ग्रहण करना नहीं चाहते हैं, किन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा का हेतुभूत पूर्वप्रकृत की सिद्धि के लिए ही इसको ग्रहण करना चाहते हैं, और यह अथशब्द का प्रकृतार्थापेक्षत्व रूप अर्थ होने पर भी सिद्ध हो सकता है इसलिए उसका आनन्तर्यार्थत्व के अवधारण के लिए हमलोगों का आग्रह व्यर्थ है। इसलिए कहा गया है "फलत:" इत्यादि। वास्तविक बात यह है कि कल्पान्तर के उपन्यास में पूर्वप्रकृतापेक्षा रहती है, किन्तु, इस स्थल में कल्पान्तर का उपान्यास ही होने से परिशेष में अर्थात् अगत्या आनन्तर्य अर्थ ही युक्त-युक्त होता है।

कुसुमलता

पूर्व व्याख्यान से यह व्यक्त है कि अथ शब्द का अर्थ मंगल नहीं हो सकता है, इस स्थल में पूर्वप्रकृतापेक्षा अथशब्द का अर्थ नहीं हो सकता है -यह प्रदर्शित किया गया है। पूर्व में प्रकृत अर्थात् पूर्व में कथित या प्रस्तावित किसी की अपेक्षा अर्थात् सम्बन्ध विशेष पूर्वप्रकृतापेक्षा शब्द का अर्थ है। इस अपेक्षा या सम्बन्ध का स्वरूप कार्यकारण भावयुक्त या कार्य-कारणभाव से रहित पूर्वापरीभाव भी हो सकता है। कार्यकारणभाव के मध्य में भी पूर्वापरीभाव रहता है, किन्तु उससे रहित पूर्वापरीभाव ही उक्त कार्यकारणभाव रहित पूर्वापरीभाव है। जैसे— रात्रि के बाद दिन और दिन के बाद रात इस स्थल में पूर्वापरीभाव है, किन्तु, कार्यकारणभाव नहीं है। बीज के बाद अंकुर इस स्थल में बीज और अंकुर में पूर्वापरी-भाव और कार्यकारणभाव दोनों ही है। अत:, पूर्वापरीभाव और कार्य-कारणभाव दोनों एक नहीं है। पूर्वापरीभाव के अन्तर्गत सभी कार्यकारण भाव है. किन्तु, कार्यकारणभाव के अन्तर्गत सभी पूर्वापरीभाव नहीं है। इस प्रकार पूर्वापरीभाव और कार्यकारणभाव दोनों ही पूर्वप्रकृतापेक्षा पद का वाच्य हो सकता है। अत:, आनन्तर्य कहने से पूर्वप्रकृतापेक्षा ठीक से अवगत नहीं होता है। कारण, अनन्तर का भाव आनन्तर्य है। न अन्तर अनन्तर है, अर्थात् जिसके बीच में कोई व्यवधान नहीं अर्थात् अव्यवहित।

इसलिए आनन्तर्य कहने पर कार्यकारणभाव का अपेक्षित अव्यहित पूर्वापरीभाव अवगत हो सकता है, एवं उससे भिन्न दूसरे तरह के अव्यवहित पूर्वापरीभाव को भी अवगत करा सकता है, किन्तु, सभी पूर्वापरीभाव की अवगति नहीं करा सकता है, कारण, व्यवहित पूर्वापरिभाव आनन्तर्य पद का वाच्य नहीं हो सकता है। जैसे—बीज के बाद अंकुर और उसके बाद वृक्ष होने से बीज के साथ अंकुर का पूर्वापरीभाव रहता है, किन्तु, अव्यवहित पूर्वापरीभाव रूप आनन्तर्य नहीं है। कार्यकारणभाव में आनन्तर्य है, किन्तु आनन्तर्य में नियमतः कार्यकारणभाव नहीं है। जैसे—किसी घट के निर्माणकाल में उससे अव्यवहित गदहा के आने से गदहा के साथ घट का अव्यवहित पूर्वापरीभाव अर्थात् आनन्तर्य रहने पर भी कार्यकारणभाव गदहा और घट में नहीं है। कार्यकारणभाव में आनन्तर्य या अव्यवहित पूर्वापरीभाव नियत आनन्तर्य या पूर्वापरीभाव है, अतः, पूर्वप्रकृतापेक्षा में सभी प्रकार के पूर्वापरीभाव हैं।



यही पूर्वप्रकृतापेक्षा शब्द का साधारण और उसका विभाग है, किंतु, भामती में पूर्वप्रकृतापेक्षा का इससे भिन्न ही अर्थ प्रदर्शित किया है। पूर्व में किसी एक विषय का अवलम्बन कर कुछ कहा गया, किन्तु, उसके बाद इस विषय से संक्रांत एक विरुद्ध विषय की अवतारणा भी अथ शब्द के द्वारा की गई, ऐसे स्थल में भी अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा होगा।

जैसे—कोई कहता है कि यह अथ शब्द आनन्तर्य अर्थ में है अथ (या) अधिकार अर्थ में प्रयुक्त होता है—इस प्रयोग में द्वितीय अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा होता है। चित्र में २ व्यवहित पूर्वापरीभाव के अन्तर्गत है। पूर्वप्रकृतापेक्षा का इस प्रकार अर्थ-स्मरण कर अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ न होने पर भी पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ हो सकता है। अव्यहित पूर्वापरीभावरुप अनन्तर्य को अथ शब्द के अर्थ रुप में ग्रहण न कर व्यवहित पूर्वापरीभाव रुप पूर्वप्रकृतापेक्षा तो हो सकता है। जैसे "किमयमथ शब्दः आनन्तर्यार्थे अथ अधिकारे" यह कहने से अवगत हो रहा है। इस स्थल में द्वितीय अथ शब्द के द्वारा पक्षान्तर का प्रदर्शन किया गया है और पूर्वप्रकृत प्रथम अथ शब्द के द्वारा गृहीत ही है। किन्तु, इन दोनों अथ शब्दों में आनन्तर्य रुप एक पदार्थ व्यवधान कर रहा है, अतः, दोनों अथ शब्दों का अव्यवहित पूर्वापरीभावरुप आनन्तर्य नहीं है। भामतीकार ने कहा है कि प्रकृत स्थल में भी इस प्रकार अथ शब्द का पक्षान्तर का उपन्यास या पूर्वप्रकृतापेक्ष रुप अर्थ क्यों नही हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि उक्त दृष्टांत स्थल में पूर्वप्रकृत प्रथम अथ शब्द के साथ द्वितीय अथ शब्द का व्यवधान रहने से इस स्थल में वास्तविक परस्पर में कोई अपेक्षा नहीं है, इसलिए द्वितीय अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा का उदाहरण नहीं हो सकता है, इस स्थिति में यह आशंका भी ठीक नहीं है, कारण, ऐसा होने पर कल्पान्तर का उपन्यास ही नहीं हो सकता था, अर्थात् द्वितीय अथ शब्द को प्रथम अथ शब्द की अपेक्षा नहीं करता अर्थात् स्मरण नहीं करा देता तो असमान-विषयताप्रयुक्त विकल्प ही नहीं होता। जहां एक विशेष्य को अर्थात् उद्देश्य को अवलम्बन कर क्रमशः दो विरुद्ध विषयों का प्रस्ताव या निर्देश किया जाता है, उसी स्थल में तो विकल्प या कल्पान्तर का उपन्यास होता है। यदि उद्देश्य एक अर्थात समान नहीं रहता है तब जिन दो विषयों का निर्देश किया जाता है, वे परस्पर विरुद्ध ही नहीं हो सकते हैं। इसलिए उक्त उदाहरण में आनन्तर्य पद के द्वारा दो अथ शब्दों में व्यवधान रहने पर भी द्वितीय अथ शब्द की पूर्व-

प्रकृतापेक्षता में कोई क्षति नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि उद्देश्य के एक न होने पर कल्पान्तर का उपन्यास नहीं हो सकता है। इसके समाधान में यह आत्मा नित्य है अथ बुद्धि अनित्य है--इस प्रकार वाक्य का प्रयोग करने पर कल्पान्तर का उपन्यास होता है--यह किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है, कारण, इस स्थल में धर्म्मी या उद्देश्य दो है आत्मा और बुद्धि एवं 'विधेय भी दो है नित्यत्व और अनित्यत्व। इस स्थल में नित्यत्व और अनित्यत्वरूप दो विधेय परस्पर विरुद्ध होने पर भी उद्देश्य दो हैं। आत्मा और बुद्धि को अवलम्बन कर प्रयुक्त होने से परस्पर विरुद्ध स्कन्ध ही नहीं है, अतः, कल्पान्तर का उपन्यास भी नहीं है। यदि केवल आत्मा को या केवल बुद्धि को अवलम्बन कर नित्यत्व एवं अनित्यत्व इन दो विधेयों का क्रमशः प्रयोग होता तो दो विधेयों का परस्पर विरोध के कारण कल्पान्तर का उपन्यास हो सकता। इसलिए यह मानना होगा कि उक्त उदाहरण में अथ शब्द दो में आनन्तर्य रूप एक पद का व्यवधान रहने पर भी द्वितीय अथ शब्द प्रथम अथ शब्द रूप पूर्वप्रकृत का स्मरण करा देता है फलतः, कल्पान्तर का उपन्यास भी सम्भव है। कल्पान्तर के उपन्यास स्थल में द्वितीय अथ शब्द जिस प्रकार किसी व्यवहित पूर्वप्रकृत की अपेक्षा कर प्रयुक्त होने से उसको पूर्वप्रकृतापेक्ष कहा जाता है वैसे ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र के अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य (३) न होकर केवल पूर्वप्रकृतापेक्षा (२) नहीं होगा। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि इसी के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है - "पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनन्तर्याव्यतिरेकात्"। पूर्वप्रकृतापेक्ष फलतः कार्य और कारण के आनन्तर्य से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस सम्प्रदायानुसार तात्पर्य यह है कि ब्रह्मजिज्ञासा के कारण स्वरूप में जो पूर्व में था, उसी के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा इस प्रकार के भाव में यदि इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा किया जाय तो इस अर्थ में कोई आपत्ति नहीं है। यदि ब्रह्मजिज्ञासा के पूर्ववर्ती किसी अनियत या आक-

सिमक घटना को लक्ष्य कर पूर्वप्रकृतापेक्षा ही अथ शब्द का अर्थ होगा, ऐसी स्थिति में वह निष्प्रयोजनीय है, इसलिए उस प्रकार पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ में आपत्ति हो सकती है कार्यकारणभावघटित आनन्तर्य या पूर्वप्रकृतापेक्षा वही इस स्थल में अभिप्रेत है, इसी को अवगत कराने के लिए 'फलतः' इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भाष्यकार ने इस भाष्यांश का साम्प्रदायिक अर्थ कह कर अपने मन से इसका तात्पर्य कह रहे हैं। आचार्य के मत में इस स्थल में अथशब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा नहीं है। कारण, पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने पर व्यवहित पूर्वापरीभाव ही अवगत होता है, किन्तु इस स्थल में अथ शब्द का यह अर्थ संगत नहीं होता है, शास्त्रान्तर के पूर्व उपनिषत् से प्रतिपाद्य विषय में वेदव्यास ने कुछ भी नहीं कहा है, अतः ब्रह्मजिज्ञासा कल्पान्तर नहीं हो सकती है। इसलिए, अथशब्द का अर्थ पूर्वप्रकृतापेक्षा नहीं हो सकता है। यदि पूर्वप्रकृतापेक्षा का अर्थ कल्पान्तरोपन्यासरूप व्यवहित पूर्वापरीभाव अर्थ का परित्याग कर कार्यकारण गत अव्यवहित पूर्वापरीभाव अर्थ ग्रहण किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं है, इस प्रकार अथशब्द का अर्थ आनन्तर्य ही होता है। इस स्थल में अथशब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ ग्रहण कर आचार्य ने इस भाष्यांश की रचना की है यह स्पष्ट नहीं है। कुमारिल भट्ट आदि ने प्रयोगानुसार अथशब्द का यह अर्थ ग्रहण किया है। यथा—"अथैष ज्योतिः इत्यादिषु अथ शब्दैष शब्दप्रयोग पूर्वप्रकृतापेक्षत्वात्" इत्यादि। तन्त्रवार्तिक अ० २ पा० २ सू० २२।

इस स्थल में पद्मपाद आदि के व्याख्यान में ऐकमत्य नहीं है। उनके मत में पूर्वप्रकृतापेक्षा शब्द का मात्र आनन्तर्यरूप अर्थ ग्रहण न कर कारणगत आनन्तर्य अर्थ स्वीकार कर अथ शब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षा रूप अर्थ के ग्रहण में आचार्य की सम्मति कही है। भामतीकार ने कहा है कि पूर्वप्रकृतापेक्षा और आनन्तर्य कहीं भी अभिन्न नहीं है। पूर्वप्रकृतापेक्षा कल्पान्तर के उपन्यास स्थल में ही होता है, अतः अथ शब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ आचार्य को अभिमत नहीं है। अथ शब्द का आनन्तर्य

अर्थ स्वीकार करने पर जो फल की प्राप्ति पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ स्वीकार करने पर भी उस फल की प्राप्ति होती है किन्तु, फलगत कोई भेद न रहने से दोनों पक्षों में तारतम्य नहीं है वरन् कल्पान्तरोपन्यास अर्थात् एक धर्मी में एक पक्ष का उपन्यासपूर्वक विरुद्ध पक्ष का उपन्यास जहां किया जाता है, उस स्थल में ही अथ शब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ होता है किन्तु, इस सूत्र में उस प्रकार कल्पान्तरोपन्यास न होने से इस स्थल में आनन्तर्य ही अर्थ है। अर्थात् आनन्तर्य-बोधन द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा के कारण की सिद्धि करना ही इस स्थल में अभिप्रेत है। इस स्थल में अथशब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ करने पर भी वह सिद्ध होता है, किन्तु, इस स्थल में विकल्प न होने से पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ नहीं हो सकता है—यही भामतीकार का कथन है।

रत्नप्रभा

ननु 'प्रपंचः मिथ्या' इति प्रकृते सति अथ मतम् प्रपंचः सत्यः इत्यत्र पूर्वप्रकृतार्थात् उत्तरार्थस्य अर्थान्तरत्वार्थः अथशब्द दृष्टः, तथा अत्र किं न स्यात्, इत्यत आह—पूर्वेति। "फलतः" फलस्य इत्यर्थः। ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्वम् अर्थ विशेषः प्रकृतः नास्ति यस्मात् तस्या अर्थान्तरत्वम् अथशब्देन उच्यते। यतः कुतश्चित् अर्थान्तरत्वं सूत्रकृता न वक्तव्यं फलाभावात्। यदि फलस्य जिज्ञासापदोक्तकर्तव्यविचारस्य हेतुत्वेन यत्पूर्वं प्रकृतं तदपेक्षा अस्ति इति अपेक्षाबलात् प्रकृतहेतुम् आक्षिप्य ततः अर्थान्तरत्वम् उच्यते, तदा अर्थान्तरत्वम् आनन्तर्ये अन्तर्भवति, हेतुफलभावज्ञानाय आनन्तर्यस्य अवश्यं वाच्यत्वात्। तस्मात् इदम् अर्थान्तरम् इत्युक्तेः तस्य हेतुत्वाप्रतीतेः। तस्मात् इदम् अनन्तरम् इत्युक्ते भवति एव हेतुत्वप्रतीतिः। न च अश्वात् अनन्तरः गौः—इत्यत्र हेतुत्वमानापत्तिः इति वाच्यम्। तयोः देशतः कालतः वा व्यवधानेन आनन्तर्यस्य अमुख्यत्वात्। अतः सामग्रीफलयोः एव मुख्यम् आनन्तर्यम् अव्यवधानात्। तस्मिन् उक्ते सति अर्थान्तरत्वं न वाच्यं ज्ञानत्वात् वैकल्पात् च इति भावः। फलस्य विचारस्य पूर्वप्रकृतहेत्व-

पेक्षायाः बलात् यदर्थान्तरत्वं तस्य आनन्तर्याभेदात् न पृथग् अथशब्दार्थ-त्वम् इति अध्याहृत्य भाष्यं योजनीयम्। यद्वा पूर्वप्रकृते अर्थे अपेक्षा यस्या अर्थान्तरतायाः तस्या फलं ज्ञानं तद्द्वारा आनन्तर्याव्यतिरेकात् तज्ज्ञानेतस्याः ज्ञानतः अन्तर्भावात् न अथशब्दार्थता इत्यर्थः।

पुष्पलता

प्रपञ्च सत्य है इस प्रकार के विचार के प्रसंग में कोई कहता है प्रपञ्च सत्य है तो पूर्वोक्त मत से भिन्न एक मत का कथनरूप अर्थान्तरत्व अवगत होता है, इस स्थान में भी यह क्यों नहीं होता है इसलिए कहा है—पूर्वेत्तिः। (अथ शब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षा अर्थ ग्रहण करने पर अर्थान्तर-त्व ही इसका अर्थ होता है, यह अर्थ क्यों नहीं होगा इसी आशंका से यहाँ भाष्य की अवतारणा की है और भामती के मत में कल्पान्तरोपन्यास ही अर्थान्तरत्व शब्द का अर्थ है।) फलतः का अर्थ फलस्य है। ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व में कोई अर्थ विशेष प्रकृत नहीं है अर्थात् इस शास्त्र में उल्लिखित नहीं है, जिससे ऐसे अर्थान्तरत्व को अथ शब्द से कहा जाय। जिस किसी अर्थ से ब्रह्मजिज्ञासा एक भिन्न वस्तु है—अथ शब्द का इस प्रकार के अर्थ ग्रहण करने का भी कोई फल नहीं है। इस प्रसंग में फलतः शब्द से जिस फल की अवगति होती है वह जिज्ञासा पद से सूचित कर्तव्य रूप विचार है। इस फल के हेतु के रूप में पूर्व में प्रकृत होता है उसकी अपेक्षा ब्रह्मजिज्ञासा में है। इस प्रकार अपेक्षा के वश से प्रकृत हेतु को स्मरण कराकर उससे ब्रह्मजिज्ञासा अर्थान्तर है—यह अर्थ यदि अथ शब्द अवगत करा दे तो अर्थान्तरत्व आनन्तर्य में अन्तर्गत हो जायेगा। कार्य-कारणभाव के ज्ञान कराने के लिए आनन्तर्य को ही इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ मानना होगा। केवल अर्थान्तर कहने से कार्यकारणभाव अवगत नहीं होता है। किन्तु, इसके अनन्तर यह कहने पर वह अवगत होता है। (यदि यही अथ शब्द के द्वारा कहा जाय तो अथ शब्द का अर्थान्तरत्व रूप अर्थ के ग्रहण करने का कोई फल नहीं है, क्योंकि, उसको पृथक् कर न

कहने पर भी अनायास में ही समझा जा सकता है। कारण, कहीं भी कार्यकारणभाव रहने पर उसमें अर्थान्तरत्व ही रहेगा। अतः आनन्तर्य रूप अर्थ ग्रहण करने पर जब अर्थान्तरत्व एवं कार्यकारणभाव अवगत होता है तब अलग कर अर्थान्तरत्वरूप पूर्वप्रकृतापेक्षा को अथ शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अतः, अथ शब्द का प्रकृत में अर्थ आनन्तर्य ही है) यदि यह कहा जाय कि अश्व के अनन्तर गौ है यह कहने पर कारणत्व की प्रतीति नहीं होती है। इन दोनों में देशकृत और कालकृत व्यवधान होने से आनन्तर्य मुख्य नहीं है। अतः, सामग्री और फल में ही अव्यवधान होने से मुख्य आनन्तर्य है। उसके कहने पर ज्ञान और विफल होने से अर्थान्तरत्व कहने की आवश्यकता नहीं है। (रत्नप्रभाकार ने भाष्य की योजना दिखाई है, फलतः का अर्थ फलस्य किया है) फल के अर्थात् विचार की पूर्वप्रकृतापेक्षा के बल से जो अर्थान्तरत्व है, उसके आनन्तर्य से भिन्न न होने से पृथक् अथ शब्दार्थ नहीं है—यह अध्याहार भाष्य की योजना करनी चाहिए। अथवा पूर्वप्रकृत में अपेक्षा है जिसकी अर्थान्तरता की है उसके फल अर्थात् ज्ञान के द्वारा आनन्तर्य से अलग न होने से उस ज्ञान में उसका ज्ञान से अन्तर्भाव होने से अथ शब्दार्थता है यह अर्थ है। आशय यह है कि इस भाष्य की दो प्रकार से योजना प्रदर्शित की है—प्रथम—फलतः अर्थात् फलस्य। इसके साथ आनन्तर्य का अन्वय होता है। फलगत आनन्तर्य से पूर्वप्रकृतापेक्षा का अव्यतिरेक अर्थात् भेदाभाव होने से अथशब्द का अर्थ पृथक् भिन्न रूप में पूर्वप्रकृतापेक्षा नहीं है, अतः, वह आनन्तर्य ही है। द्वितीय योजना—पूर्वप्रकृते अर्थे अपेक्षा यस्यासा, तस्या- पूर्वप्रकृतापेक्षायाः। यह पूर्वप्रकृतापेक्षा हुई अर्थान्तरतायाः इस प्रकार एक उद्यपद का विशेषण, उस अपेक्षा का फल है, अर्थात् तद्विषयक जो ज्ञान उससे आनन्तर्य का अभेद होने से पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने पर आनन्तर्य रूप अर्थ ही अवगत होता है। अर्थात् पूर्वप्रकृतापेक्षा शब्द का समास कर जो अर्थ अवगत होता है, उसमें आनन्तर्य प्रतिष्ठित ही रहता है। इसके द्वारा मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत अथ

शब्द का पूर्वप्रकृतापेक्ष अर्थ इस स्थल में अथशब्द का अभीष्ट अर्थ नहीं हो सकता है। पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने से आनन्तर्य की अवगति होने पर भी उसमें व्यवहित आनन्तर्य और अनियत एवं अव्यवहित आनन्तर्य भी अवगत होता है। अर्थात् पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने पर आनन्तरत्व अथवा कल्पान्तरोपन्यास रूप आनन्तर्य अर्थ भी अवगत हो सकता है, कार्यकारणभाव घटित नियत आनन्तर्य नहीं भी अवगत हो सकता है। ऐसी स्थिति में जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा अवश्यम्भाविनी, जो ब्रह्मजिज्ञासा का नियत पूर्वभावी है, पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ ग्रहण करने पर उसका ठीक से निर्देश नहीं किया जा सकता है, अतः, अथशब्द का पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्वप्रकृतापेक्षा कहने से उक्त कार्यकारणभावघटित नियत और अव्यवहित आनन्तर्य अवगत होता है तो उस स्थान में अथशब्द का उस प्रकार का पूर्वप्रकृतापेक्षारूप अर्थ ग्रहण करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

शांकरभाष्य

सति च आनन्तर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेन अपेक्षते एवं ब्रह्मजिज्ञासा अपि यत्पूर्ववृत्तं नियमेन अपेक्षते तद् वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्। ननु इह कर्मावबोधानन्तर्यं विषयः। न।

पुष्पलता

और आनन्तर्य अर्थ होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा से पूर्व में रहने वाला वेदाध्ययन नियत रूप में अपेक्षित रहता है वैसे ही कहना होगा। स्वाध्याय के आनन्तर्य समान है। इस स्थल में कर्मज्ञान के आनन्तर्य ही विशेष क्यों नहीं होता है? न (यह नहीं हो सकता है।)

कुसुमलता

अथ शब्द का जो अर्थ नहीं हो सकता है—वह पूर्व में ही कहा है। अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य माना जाय तो किसके अनन्तर यह निर्णय

आवश्यक है—वही प्रकृत में कहा जा रहा है। यदि यह कहा जाय कि वेद-प्रतिपाद्य धर्म की जिज्ञासा जैसे वेदाध्ययन के अनन्तर होती है अर्थात् नियमानुसार वेद का अध्ययन न होने पर यह धर्मजिज्ञासा नहीं हो सकती है, वैसे ही वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म की जिज्ञासा भी नियमपूर्वक वेद के अध्ययन के बिना नहीं हो सकती है, अतः, वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा हो ? ऐसी स्थिति में यही कहूँगा, नहीं, यह नहीं हो सकता है। कारण, नियमानुसार वेद का अध्ययन दोनों स्थान में समान है। धर्म वेद-प्रतिपाद्य होने से जैसे वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है, अतः, वेदाध्ययन के आनन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासा दोनों स्थानों में समान रूप से होता है। इसलिए, अथशब्द का आनन्तर्य अर्थ गृहीत होने पर वह आनन्तर्य वेदाध्ययन के आनन्तर्य कहने पर नहीं चलेगा, कारण, धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा भिन्न जिज्ञासा है, इसलिए, जिसके अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा ही हो अन्य कोई जिज्ञासा न हो उसी का उल्लेख करना आवश्यक है। वेदाध्ययन दोनों में साधन होने से यह ब्रह्म-जिज्ञासा का असाधारण कारण नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि इस स्थल में कर्मज्ञान ही ब्रह्मजिज्ञासा का असाधारण कारण है अर्थात् कर्मज्ञान के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा होती है, कारण, वेदाध्ययन के अन-न्तर कर्मज्ञान एवं उस कर्मज्ञान के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है—यह मानने पर ब्रह्मजिज्ञासा में जिस कारण का निर्देश किया गया है वह धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनों का कारण नहीं होता है, वरन्, ब्रह्म-जिज्ञासा का ही असाधारण कारण होता है। किन्तु, यह भी नहीं हो सकता है। अध्ययन शब्द का अर्थ गुरुमुख से उच्चारित वेद की शब्द राशि का श्रवण कर कण्ठस्थ करना है। उस समय वेद के लिखने का प्रचलन नहीं था, अतः, शिष्य को बाध्य होकर पहले कण्ठस्थ करना पड़ता था और बाद में अर्थज्ञान के लिए यत्न करना पड़ता था, अतएव अवगत होता है कि वेदार्थ-विचार में इस प्रकार वेदाध्ययन के अतिरिक्त उपाय नहीं था। इस स्थल में इस प्रकार वेदाध्ययन ब्रह्मजिज्ञासा का असाधारण

कारण नहीं हो सकता है—यही भाष्यकार ने कहा है।

भामती

भवतु आनन्तर्यार्थः, किम् एवं सति, इति अत आह सति चानन्तर्यत्वे इति। न तावद् यस्य कस्यचित् अत्र आनन्तर्यम् इति वक्तव्यम्, तस्य अभिधानम् अपि अन्तरेण अपि प्राप्नुयात्। अवश्यं हि पुरुषः किञ्चित् कृत्वा किञ्चित करोति। न च आनन्तर्यमात्रस्य दृष्टम् अदृष्टं वा प्रयोजनं पश्यामः। तस्मात् तस्य अत्र आनन्तर्यं वक्तव्यम् यद् बिना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, एव तद् इदम् उक्तम्—यत्पूर्ववृत्तं नियमेन अपेक्षते इति।

स्यात् एतत्। धर्मजिज्ञासायाः इव ब्रह्मजिज्ञासायाः अपि योग्यत्वात् स्वाध्यायानन्तर्यम्, धर्मवद्ब्रह्मणः अपि आम्नायैकप्रमाणगम्यत्वात्, तस्य च अगृहीतस्य स्वविषये विज्ञाना जननात्, ग्रहणस्य च "स्वाध्यायः अध्येतव्यः" इति अध्ययनेन एव नियतत्वात्। तस्मात् वेदाध्ययनार्थम् एव ब्रह्मजिज्ञासायः अपि अथ शब्दार्थ इति, अत आह—"स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्" धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः। अत्र च स्वाध्यायेण विषयेण तद्विषयम् अध्ययनं लक्षयति। तथा च "अथातो धर्मजिज्ञासा" (पू० मी० १ सू०) इति ज्ञानेन एव गतम्, इति न इदं सूत्रम् आरब्धव्यम्। धर्मशब्दस्य वेदार्थमात्रोपलक्षणतया धर्मवद् ब्रह्मणः अपि वेदार्थत्वाविशेषेण वेदाध्ययनानन्तर्योपदेशसाम्यात् इति अर्थः। चोदयति—"ननु इह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः" धर्मजिज्ञासात ब्रह्मजिज्ञासायाः। अस्य अर्थः 'विविदिषन्ति यज्ञेन" इति तृतीयाश्रुत्य यज्ञादीनाम् अङ्गत्वेन ब्रह्मज्ञाने विनियोगात्, ज्ञानस्य एव कर्मतया इच्छां प्रति प्राधान्यात्, प्रधान सम्बन्धात् च अप्रधानानां पदार्थान्तराणाम्। तत्रापि च न वाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ अङ्गभावः यज्ञादीनाम्, वाक्यार्थज्ञानस्य वाक्यात् एव उत्पत्तेः। न च वाक्यं सहकारितया कर्माणि अपेक्षते इति उक्तम्, प्रकृतकर्मणाम् अपि विदितपदतदर्थसङ्गतीनां समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वानां गुण प्रधानभूतपूर्वापर-पदार्थाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतानुसन्धानवताम् अप्रत्यूहं वाक्यार्थप्रत्ययोत्पत्ते। अनुत्पत्तौ वा विधिनिषेध वाक्यार्थ प्रत्यया-

भावेन तदर्थानुष्ठान-परिवर्जना भाव प्रसङ्ग। तद्बोधतः तु तदर्थानुष्ठान-परिवर्जनं ततश्च तद्बोधः इति। न च वेदान्तवेक्यानाम् एव स्वार्थे प्रत्यायने कर्मापेक्षा न वाक्यान्तराणाम् इति साम्प्रतम्, विशेषहेतोः अभावात्। ननु "तत्त्वमसि" इति वाक्यात् त्वंपदार्थस्य कर्तृभोक्तृरूपस्य जीवात्मनः नित्य शुद्ध बुद्धोदासीनस्वभावेन तत्पदार्थेन परमात्मना ऐक्यम् द्राक् इति एव प्रतिपत्तुम्, आपाततः योग्यताविरहनिश्चयात्। यज्ञतपोदान-तनूकृतान्त-र्मलाः तु विशुद्धसत्त्वाः श्रद्दधाना योग्यतावगमपुरः सरं तादात्म्यम् अवग मिष्यन्ति इति चेत्, तत् किम् इदानी प्रमाणकारणं योग्यतावधानम् अप्रमाणात् कर्मणः त्वम् अध्यवसितः असि, प्रत्यक्षाद्यतिरिक्तं वा कर्मापि प्रमाणम्। वेदान्ताविरुद्धंतन्मूलन्यायबलेन तु योग्यतावधारणे कृतं कर्मभिः। तस्मात् "तत्त्वमसि" इत्यादिः श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा तन्मूलया च उपपत्त्या व्यवस्थाप्य तदुपासनायां भावनापराभिधानायां दीर्घकालनैरन्तर्यवत्यां ब्रह्मसाक्षात्कारफलायां यज्ञा-दीनाम् उपयोगः। यथा आहुः 'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य-सत्कारासेवितः दृढभूमिः 'इति' ब्रह्मचर्यरूपः श्रद्धायज्ञादयश्च सत्कारः'' इति। "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति। विज्ञाय तर्कोपकरणेन शब्देन प्रज्ञां भावनां कुर्वीत इत्यर्थः। अत्र च यज्ञादीनां श्रेयः परिपन्थिकल्मष-निवर्हणद्वारेण उपयोग इति केचित्। पुरुषसंस्कारद्वारेण इति अन्ये। यज्ञादिसंस्कृतः हि पुरुषः आदरनैरन्तर्य दीर्घकालैः आसेवमानः ब्रह्मभावनाम् अनाद्यविद्यावासना समूलकाषं कषति, ततः अस्य प्रत्यगात्मा सुप्रसन्नः केवलः विशदीभवति। अत एव स्मृतिः महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयंक्रियते तनुः", 'यस्यैतेऽष्टाविंशत्संस्काराः" इति च।

अपरे तु ऋणत्रयापकरणे ब्रह्मज्ञानोपयोगं कर्मणाम् आहुः। अस्ति हि स्मृतिः–'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' इति। अन्ये तु तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुतिभ्यः तत्तत्फलाय चोदितानाम् अपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन ब्रह्मभावनां प्रत्यङ्ग—

भावम् आचष्टे, क्रत्वर्थस्य इव खादिरत्वस्य वीर्यार्थतायाम्, "एकस्य तु उभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" इति न्यायात्। अत एव पारमर्षं सूत्रम्— "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्" [ब्र० सू० ३।४।२६] इति। यज्ञ-तपोदानादि सर्वं तदपेक्षा ब्रह्म भावना इत्यर्थः। तस्मात् यदि श्रुत्यादयः प्रमाणम्, यदि वा पारमर्षं सूत्रम्, सर्वथा यज्ञादिकर्म समुचिता ब्रह्मोपासना विशेषणत्रयवती अनाद्यविद्यातद्वासना समुच्छेदक्रमेण ब्रह्मसाक्षात्काराय मोक्षापरनाम्ने कल्पते इति तदर्थं कर्माणि अनुष्ठेयानि। न च एतानि दृष्टादृष्ट सामवायिकादुपकार-हेतु भूतौपदेशिक क्रमपर्यन्ताङ्ग ग्राम सहित परस्पर विभिन्न-कर्मस्वरूप तदधिकारि-भेदपरिज्ञानं बिनाशक्यानि अनुष्ठा-तुम्। न च धर्म मीमांसापरिशीलनं विना तत्परिज्ञानम्। तस्मात् साधु उक्तम्— 'कर्मावबोधानन्तर्य्यं विशेषः" इति। कर्मावबोधेन हि कर्मानुष्ठान-साहित्यं भवति ब्रह्मोपासना या इत्यर्थः। तत् एतत् निराकरोति—'न'।

पुष्पलता

अच्छा, आनन्तर्य अर्थ ही हो। ऐसा होने से क्या हुआ? इसलिए भाष्यकार ने कहा है—'सति आनन्तर्यार्थत्वे' इत्यादि। अर्थात् आनन्त-र्यार्थत्व होने पर इत्यादि। जिस किसी वस्तु का आनन्तर्य - यह नहीं कहा जा सकता है, कारण, क्योंकि, उसके न कहने पर भी वह प्राप्त ही रहता है, कारण संसार में नियमतः कुछ करके ही कुछ करता है। आनन्तर्यमात्र का कोई दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन भी नहीं देखता हूँ। इसलिए, उसीको यहाँ आनन्तर्य कहना चाहिए जिसके बिना ब्रह्मजिज्ञासा नहीं होती है और जिसके रहने पर वह उत्पद्यमान होकर होती ही है। इसीलिए यह कहा है—यत्पूर्ववृत्तं नियमेनापेक्षत इति। अच्छा, ऐसा ही हो। धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा भी योग्य होने से उसमें भी स्वाध्याय का आनन्तर्य रहे। कारण, धर्म के समान ब्रह्म भी वेदरूप मात्र एक प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है, उस वेद का अध्ययन न होने पर अपने विषय का (धर्म और ब्रह्म को) ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है, एवं उस वेद का ज्ञान तो 'स्वा-

ध्यायोऽध्येतव्यः" अर्थात् वेदाध्ययन करना चाहिए, इस प्रकार की अध्ययन विधि से नियत ही है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा में भी वेदाध्ययन का आनन्तर्य ही अथ शब्द का अर्थ होना उचित है। इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है—"स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्" अर्थात् धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनों ही पक्षों में वेदाध्ययन का आनन्तर्य समान है। इस स्थल में स्वाध्यायरूप विषय के निर्देश के द्वारा उस स्वाध्यायविषयक अध्ययन को ही लक्ष्य किया है। और ऐसी स्थिति में "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस पूर्वमीमांसा के प्रथमसूत्र के द्वारा ही उसके अवगत हो जाने से इस सूत्र को आरम्भ नहीं करना चाहिए। इस सूत्र में वेदार्थमात्र का बोधक होने से धर्म के समान ब्रह्म के भी वेदार्थत्व होने में कोई विशेष न होने से वेदाध्ययन के आनन्तर्यविषयक उपदेश में समानता ही है। [अर्थात् कर्म और ब्रह्ममीमांसा दोनों में ही समान है, अर्थात् धर्ममीमांसा में भी वेदाध्ययन अपेक्षित है और ब्रह्ममीमांसा में भी अपेक्षित है। इसलिए, आनन्तर्य अथ शब्द का अर्थ नहीं है, अतः, कर्मविचार के समान ब्रह्मविचार अध्ययनमूलक नहीं है, अन्यथा, "अथातो धर्मजिज्ञासा" (मी० सू० १. १. १) इसी से ब्रह्मजिज्ञासा की भी प्रतिज्ञा हो जाने से 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यह सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए, सूत्र की अन्यथा अनुपपत्ति होने से यह अवगत होता है कि ब्रह्ममीमांसा अन्य शास्त्र है और अन्य विधिमूलक है, अध्ययन विधिमूलक नहीं है, वरन्, "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः" इत्यादि श्रवण-विधिमूलक है—यह विवरणकार का मत है। भामतीकार के अनुसार अध्ययन विधि ही ब्रह्मविचार को भी प्रयुक्त करती है, कारण, ब्रह्ममीमांसा वेदान्तार्थ विशेष का ही विचार है।)

पुनः भाष्यकार ने शंका की है कि—"ननु इह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः" अर्थात् इस स्थल में धर्मजिज्ञासा से ब्रह्मजिज्ञासा में कर्मबोध का आनन्तर्य ही विशेष है। (धर्मजिज्ञासा से ब्रह्मजिज्ञासा का यह भेद है कि ब्रह्मजिज्ञासा कर्मबोध के अनन्तर ही होती है इत्यादि।) इसका तात्पर्य यह है कि "विविदिषन्ति यज्ञेन" [यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करें]

इस तृतीया के श्रवण से अर्थात् यज्ञेन में तृतीया विभक्ति होने से यज्ञादि के अंग रूप में ब्रह्मज्ञान का विनियोग हैं [ब्रह्मज्ञान में नहीं] ज्ञानकर्मक इच्छा के प्रति ज्ञान का ही कर्मताप्रयुक्त प्राधान्य होने से और अप्रधान अन्य पदार्थों का प्रधान के साथ ही सम्बन्ध होने से, उस स्थल में भी यज्ञ आदि का अंगभाव वाक्यार्थ-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति के पक्ष में नहीं है। कारण वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। वाक्य सहकारी के रूप में यज्ञादि कर्म की अपेक्षा करता है—यह भी युक्तियुक्त नहीं है, कारण, जो अकृतकर्मा है एवं पद, पदार्थ और उनकी संगति को जानते हैं और शब्दन्याय के तत्त्व को समझते हैं एवं विशेष्य-विशेषण और अपर पदार्थों की आकांक्षा, सन्निधि, और योग्यता का अनुसंधान कर ली है, उनलोगों को बिना किसी बाधा के वाक्यार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यदि इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न न हो तो विधि और निषेध वाक्यों का अर्थज्ञान न होने से उस विधेय अर्थ का अनुष्ठान और निषिद्ध अर्थ का परिवर्जन भी सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि विधि और निषेध वाक्यों का अर्थज्ञान होने पर ही उनका अनुष्ठान या परित्याग होता है, ऐसी स्थिति में परस्पराश्रयदोष होता है, अर्थात् विधि और निषेध वाक्यों का अर्थज्ञान होने पर उस अर्थ का अनुष्ठान या परिवर्जन होता है एवं अनुष्ठान और परिवर्जन होने पर उस विधि और निषेध वाक्य का अर्थ बोध होता है- इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। यदि कहा जाय कि वेदान्तवाक्यों को अपने अर्थ की अवगति कराने के लिए कर्म की अपेक्षा है, किन्तु, अन्य वाक्यों को इस प्रकार कर्म की अपेक्षा नहीं है—यह कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, उस स्थल में इस प्रकार विशेष के स्वीकार करने में कोई कारण नहीं है। यदि कहा जाय कि कर्त्ता भोक्ता रूप त्वं पदार्थ जीवात्माकार नित्य-शुद्ध-बुद्ध-उदासीन स्वभाव तत्पदार्थ परमात्मा के साथ ऐक्य "तत्त्वमसि" अर्थात् वही तुम हो, इस वाक्य श्रवण करने से ही अवगत नहीं होता है, कारण, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है उनकी तत्त्वमसि इस वाक्यार्थ के विषय में योग्यता नहीं है–इसमें कोई सन्देह नहीं

है। यज्ञ, तपस्या, दान के द्वारा जिनका अन्दर का मल नष्ट हो गया है, जिनका चित्त शुद्ध है एवं श्रद्धावान् ही पूर्वोक्त वाक्यों का योग्यताज्ञानपूर्वक उक्त तादात्म्य समझ सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञास्य है कि क्या आप यह करना चाहते हैं कि प्रमाण का कारण जो योग्यतावधारण है वह अप्रमाणरूप कर्म से होता है यह कहना चाहते हैं अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अतिरिक्त जो कर्म वह भी प्रमाण है? (किन्तु) वेदान्त से अविरुद्ध एवं वेदान्तमूलक युक्ति के बल से ही योग्यता का अवधारण हो जाने पर योग्यता के अवधारण के लिए कर्म की क्या आवश्यकता अर्थात् पुनः कर्म व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य के श्रवण से जन्य ज्ञान के द्वारा जीवात्मा का परमात्मभाव समझ कर एवं तन्मूलक युक्ति के द्वारा उसको दृढ़ कर दीर्घकाल और नैरन्तर्ययुक्त भावना रूप अन्य नाम से प्रसिद्ध, ब्रह्मसाक्षात्कारजनक उपासना होती है, उसी में यज्ञादि कर्म की उपयोगिता होती है। जैसा (आचार्यों ने) कहा है—उस उपासनात्मक समाधि का दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार सहित अनुष्ठान करने पर दृढ़भूमि होती है। (पा० १/१४ सू०)

उसी को विशेष रूप में जानकर धीर ब्राह्मण प्रज्ञा करें। (बृ० उ० ४।४।२१) विज्ञाय—तर्क सङ्कृत वेदरूप शब्दप्रमाण के द्वारा जानकर। प्रज्ञा भावना। उस भावना को करें यही आशय है। इस स्थल में कुछ लोगों का कथन है कि श्रेयोलाभ के प्रतिकूल पापसमूह का ध्वंस करने में ही यज्ञादि कर्मसमूह उपयोगी होते हैं। अन्य लोगों का कहना है कि पुरुष संस्कार को द्वार कर यज्ञादि कर्म उपयोगी होता है। क्योंकि यज्ञादि के द्वारा संस्कृत पुरुष बहुत दिनों तक आदर और निरन्तर सहारपूर्वक ब्रह्म भावना की सेवा कर अविद्या वासना मूल के साथ विनाश करता है अनन्तर उसका प्रत्यगात्मा सुप्रसन्न, केवल और विशद होता है। इसीलिए स्मृति में भी कहा है—पञ्चमहायज्ञ और अन्यान्य यज्ञसमूहों के अनुष्ठानों के यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के उपयोगी होता है, एवं जिसके ये ४८ संस्कार होते हैं [वही व्यक्ति ब्रह्मोपासना के योग्य होता है।]" किन्तु अन्य लोगों

का कहना है कि तीन ऋणों के परिशोध के द्वारा कर्मसमूह ब्रह्मज्ञान का उपयोगी होता है। क्योंकि, स्मृति में कहा है देव, पितृ और मनुष्य ऋण को हटाकर मन को मोक्ष में निवेश करे, इत्यादि अन्य लोगों ने कहा है— उस इस आत्मा को ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन के द्वारा एवं यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं' इत्यादि श्रुतियों से उस स्वर्ग आदि फलों के लिए कर्म विहित होने पर भी संयोगपृथक्त्व न्याय (अन्वय की विभिन्नता-प्रयुक्त) के अनुसार ब्रह्मभावना के प्रति भी इन कर्मों का अंगभाव रहता है। जैसे—यज्ञ का अंग जो खदिरता उसमें वीर्यार्थता भी रहती है। कारण, इस विषय में एक न्याय भी है, जैसे—एक वस्तु यदि दो के अंग के रूप में विहित हो तो संयोगपृथक्त्व अर्थात् वाक्यभेद होता है। इसीलिए परम ऋषि व्यास प्रणीत इस ग्रन्थ में एक सूत्र भी है—"सर्वापेक्षा च यज्ञादि-श्रुतेरश्ववत्" ब्र० सू० ३।४।२६) उस ब्रह्मविद्या में अश्व के समान सभी कर्मों की अपेक्षा है कारण, यज्ञादिश्रुति (बृ० उ० ४।४।२२) है। इस स्थल में "सर्व" शब्द का अर्थ यज्ञ, तप, दानादि, इनकी अपेक्षा करती है, अतः ब्रह्मभावना सर्वापेक्षा शब्द के द्वारा प्रतिपादित होती है। इसीलिए, श्रुति-स्मृति आदि अथवा परम ऋषिप्रणीत ब्रह्मसूत्रादि सूत्रग्रन्थ प्रमाण है, सर्वथा ऐसा होने पर यज्ञादिकर्मसहकृत ब्रह्मोपासना, उक्त दीर्घकालत्व, नैरन्तर्य एवं सत्कारसेवितत्वरूप विशेषणत्रययुक्त होकर अनादि, अविद्या एवं उसके संस्कारों का भलीभांति उच्छेदसाधन के द्वारा मोक्ष रूप ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन होता है। इसलिए उसके लिए अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिए उक्त कर्मों का अनुष्ठान होता है। दृष्ट, अदृष्ट, यज्ञ-समवेत और आरादुपकार आदि के हेतुभूत औपदेशिक, आतिदेशिक और क्रमिक जो कर्मसमूह उनके साथ परस्पर विभिन्न जातीय अनेक कर्मों का स्वरूप एवं उसके अधिकारी के भेदज्ञान के बिना इन सभी कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है। धर्ममीमांसा के परिशीलन के बिना इन सभी कर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए "कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः" यह जो वाक्य कहा गया है, वह ठीक ही कहा गया है। कर्म का

स्वरूप समझ कर जो कर्म का अनुष्ठान होता है, उसके साथ ब्रह्मोपासना का साहित्य है इत्यादि। भाष्यकार ने इस पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए 'न' अर्थात् ऐसा नहीं है—'कहा है

कुसुमलता

सूत्रस्थ अथशब्द का अर्थ आनन्तर्य है, अधिकार, अर्थात् आरम्भ, मंगल एवं पूर्वप्रकृतापेक्षा आदि नहीं हो सकता है, यह पूर्व में प्रदर्शित किया है। इस प्रसंग में भाष्यकार किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है इसका निर्णय कर रहे हैं। भामतीकार भी इस भाष्य की व्याख्या के प्रसंग में इसी विषय का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं। पूर्वप्रकृतापेक्षरूप अर्थ 'अथ' शब्द का मानने पर पूर्वप्रकृतापेक्ष अर्थ फलतः आनन्तर्य से अन्य नहीं है, अतः, आनन्तर्य अर्थ ही 'अथ' शब्द का होता है, इसीलिए भाष्यकार ने कहा है - "सति चानन्तर्यार्थत्वे"। आनन्तर्य प्रतियोगी के बिना कहीं भी अवगत नहीं होता है, इसलिए, पूर्व में रहने वाले आनन्तर्य के प्रतियोगी के निरूपण के बिना 'अथ' शब्द का आनन्तर्य रूप अर्थस्वीकार-पक्ष संभव नहीं है। यह दूसरी बात है कि पूर्व में होने वाला शब्द से या अर्थ से निर्णीत हो। शब्द से पूर्ववर्तिता हेतु हेतुमद्भाव के बिना भी होती है। जैसे—"हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः" इत्यादि, अर्थात् हृदय का अग्रभाग इसके बाद जिह्वा का खण्डन करता है यहां पर हेतुहेतुमद्भाव नहीं है, किन्तु, शब्द प्रयोग से ही आनन्तर्य अर्थ प्रतीत होता है और अर्थ से पूर्ववृत्त हेतुहेतुमद्भाव से ही निर्णीत होता है - जैसे—";अथातो धर्म-जिज्ञासा (जै० सू० १.१।१) इत्यादि में वेद के अध्ययन के बाद धर्म-जिज्ञासा होती है प्रकृत में भी यदि अध्ययन विधि के बाद ही ब्रह्मविचार भी माना जाय तो वेदाध्ययन के बाद यह विवक्षा हो सकती है। यदि "तद्विजिज्ञासस्व" अर्थात् उसके जानने की इच्छा करो, यह विधि ही ब्रह्म-विचार का मूलाधार है, तब इस वाक्य के अन्त से अवगत शम, दम आदि ही आनन्तर्य का प्रतियोगी होगा, अर्थात् शम, दम आदि के बाद ब्रह्मजिज्ञासा यह प्रतीत होगा। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को भिन्न

शास्त्र मानकर यह आलोचना की है। यदि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा इन दोनों की अभिन्न शास्त्र के रूप में विवक्षा की जाय, तब शब्द से ही पूर्वमीमांसा पूर्व में प्राप्त है. अतः, कर्मविचार में ही आनन्तर्य की प्रतियोगिता प्राप्त है। अर्थ से कर्मविद्या और ब्रह्म में पूर्व प्राप्ति होने से हेतुहेतुमद्भाव भी इन दो विद्याओं में होने से उन दोनों के विचारों में भी हेतुहेतुमद्भाव होने से कर्मविचार भी आनन्तर्य का प्रतियोगी हो सकता है। आनन्तर्य के प्रतियोगी के निर्णय के बिना 'अथ' शब्द का अर्थ निश्चित नहीं हो सकता है, इसलिए, शम, दम आदि का आनन्तर्य रूप अर्थ निर्णीत करते हुए प्रथम वेदाध्ययन के अनन्तर 'अथ' शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है—इस विषय का प्रदिपादन कर निराकरण किया जा रहा है।

'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य है, इससे क्या हुआ? आनन्तर्य कहने पर किसी से आनन्तर्य अवगत होता है। यह आनन्तर्य यदि सामान्यतः माना जाय अर्थात् किसी एक के अनन्तर तब अथ शब्द के द्वारा उसका उल्लेख कर सूत्रकार ने कौन सी नवीन उद्भावना कर दी। कारण, कोई भी कार्य किसी न किसी क्रिया के बाद ही होता है, संसार में जब कोई किसी कार्य का सम्पादन करता है तो वह किसी क्रिया के बाद ही करता है क्योंकि पूर्व में क्रियावान् होकर ही कार्य करता है। कारण, कारण व्यापारवान् हुए बिना कभी भी किसी कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है। ब्रह्म को जानने की इच्छा भी एक कार्य है, अतः, जो व्यक्ति यह इच्छा करेगा वह भी अगत्या उससे पूर्व में उस इच्छा के अनुकूल व्यापारवान् होगा। फलतः, किसी के बाद ब्रह्म को जाने की इच्छा होती है—ब्रह्मजिज्ञासा होती है—इस कथन में कोई नवीनता नहीं है। अर्थात् ऐसी स्थिति में अथ शब्द का प्रयोग निरर्थक मानना पड़ेगा। किसी एक के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है—इस प्रकार के कथन में दृष्ट या अदृष्ट (पुण्य) होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता है। सूत्र में निरर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिए इत्यादि सूत्र के विषय में कथन व्यर्थ हो जायेगा। अतः,

अथ शब्द के द्वारा इस स्थल में आनन्तर्य की अवगति होती है, वह किसके अनन्तर यह विशेष कथन उचित है, मात्र किसी के अनन्तर इस कथन से काम नहीं चलेगा। एक अन्य बात भी समझने के लायक है कि आनन्तर्य यदि किसी एक विशेष वस्तु का आनन्तर्य ही है तो वह ऐसी एक विशेष वस्तु होनी चाहिए जिसके बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है एवं जिसके न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा नहीं होती है। ऐसी स्थिति में वही यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ हुआ। ब्रह्मजिज्ञासा से ठीक पूर्वभावी वस्तु यदि नियत रूप में पूर्वभावी है, अर्थात् कारण रूप नहीं होता है तब उस वस्तु के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा होती है इस प्रकार सूत्र का अर्थ मानने पर पुनः अथ शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। इस लिए प्रकृत में अथ शब्द के द्वारा जिसके अनन्तर कहा जायेगा, उसको ब्रह्मजिज्ञासा से नियत पूर्वभावी होना आवश्यक है, वह इस स्थल में कौन वस्तु है, उसी का इस क्षण में निर्णय करना उचित है। भामतीकार ने कहा है—अच्छा, ब्रह्मजिज्ञासा रूप कार्य किसी कारण विशेष के अनन्तर यही अथ शब्द के द्वारा सूचित होता है, यह मानता हूँ, किन्तु ऐसी स्थिति में वेदाध्ययन के अनन्तर ही ब्रह्म की जिज्ञासा हो। वेदाध्ययन रूप कारण के बाद ब्रह्मजिज्ञासा रूप कार्य्य हो यही अथ शब्द के द्वारा सूचित होता है, यह मानने पर जिस प्रकार पूर्व मीमांसा ग्रन्थ का "अथातो धर्म जिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र के अथ शब्द से आनन्तर्य अर्थ को समझा जाता है, फलतः वेदाध्ययन का आनन्तर्य ही हुआ, वैसे ही इस स्थल में भी अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ वेदाध्ययन का आनन्तर्य क्यों नहीं होता है? वेदाध्ययन ही धर्म जिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा का कारण होने के योग्य है। कारण, धर्म जिस प्रकार मात्र वेद (शब्द) रूप प्रमाण से ग्राह्य है, उसी प्रकार ब्रह्म भी एक मात्र वेदान्तरूप प्रमाण के द्वारा प्रतिपादित होता है। वेदान्त वेद के अन्तर्गत है, वेद का ही अन्तिम भाग है। अतः वेद प्रतिपाद्य धर्म जिज्ञासा के पक्ष में यदि वेदाध्ययन कारण के रूप में अपेक्षित है तो वेद-प्रतिपाद्य ब्रह्मजिज्ञासा के कारण रूप में भी वही वेदाध्ययन अपेक्षित क्यों

नहीं होगा ? फलतः अथ शब्द के द्वारा वेदाध्ययन का आनन्तर्य ही सूचित होता है। वेद का अध्ययन न होने पर अपने प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वेदविधि के द्वारा ही वेदाध्ययन प्राप्त है। गुरुमुख से यथाविधि वेदाध्ययन के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा की सूचना अथ शब्द के द्वारा हुई है—इसी पूर्वपक्ष का उत्तर देने की इच्छा से भाष्यकार ने कहा है - धर्म जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा इन दोनों में वेदाध्ययन का आनन्तर्य समान रूप में विद्यमान है - अर्थात् वेदाध्ययन उभयत्र साधारण कारण है। साधारण कारण का निर्देश करने पर ब्रह्मजिज्ञासा के असाधारण कारण का निर्देश नहीं होता है, किन्तु असाधारण कारण का निर्देश करना उचित है।

अथ शब्द का अर्थ वेदाध्ययन का आनन्तर्य मानने पर शबरस्वामी ने "अथातो धर्म जिज्ञासा" इस मीमांसा के प्रथम सूत्र के भाष्य में धर्म शब्द का अर्थ सकलवेदार्थ किया है - वह असङ्गत हो जायगा। क्योंकि सम्पूर्ण वेदार्थ धर्म शब्द का अभिप्रेत अर्थ होगा, मात्र कर्म नहीं, ऐसी स्थिति में पूर्व मीमांसा ग्रन्थ के द्वारा ही व्यास के वेदान्त सूत्र का उद्देश्य भी सिद्ध हो जायगा। फलतः, उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त का आरम्भ ही नहीं होगा, अतः अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ युक्ति संगत नहीं है। समस्त वेदार्थ विचार की प्रतिज्ञा कर द्वादशाध्यायात्मक पूर्व मीमांसा में यदि मात्र कर्म का ही विचार करें ब्रह्म का विचार न करें तो यह मानना पड़ेगा कि महर्षि जैमिनि यह कहना भूल गये अथवा ज्ञान पूर्वक उपेक्षा की है यह जैमिनि के लिए शोभा जनक नहीं है। साथ ही अन्य दर्शन ग्रन्थों में जिस प्रकार "अथ" शब्द प्रथम में है वैसे ही इस स्थल में भी है। अतः, उत्तर मीमांसा पूर्व मीमांसा के साथ एक शास्त्र कैसे हो सकता है ? जैमिनि ने सङ्कर्षणकाण्ड के चार अध्यायों में एक भिन्न मीमांसा शास्त्र की रचना की है। इनमें उन्होंने अवशिष्ट वेदार्थ का विचार किया है, किन्तु, ब्रह्म विचार के लिए किसी शास्त्र की रचना नहीं की है। अनन्तर व्यासदेव ने ही इसकी रचना की है। यदि ब्रह्म भी वेदार्थ में परिगणित

होता तो सङ्कर्षण काण्ड के समान ब्रह्मविचारात्मक किसी शास्त्र की रचना अवश्य ही होती। अतः, धर्म शब्द का अर्थ सकल वेदार्थ नहीं होता है। धर्म शब्द का सकल वेदार्थ ग्रहण कर प्रथम सूत्र के अथ शब्द का अर्थ "वेदाध्ययनानन्तर्य" ठीक नहीं है।

इसके उत्तर में पूर्व पक्षियों का कहना है कि पूर्व मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्रस्थ धर्म शब्द से यदि सकल वेदार्थ का ग्रहण किया जाय तो उत्तर मीमांसात्मक ब्रह्म विचार शास्त्र उसी के अन्तर्गत रहेगा एवं उसका पृथक् आरम्भ आवश्यक नहीं होगा—यह कहना ठीक नहीं है। कारण, अनेक व्यक्ति एकत्र होकर जब एक विषय की स्थापना या खण्डन के लिए प्रवृत्त होते हैं तब ऐसा देखा जाता है कि बहुधा प्रतिपाद्य विषय का विभाग कर लेते हैं एवं एक व्यक्ति के द्वारा अनेक विषयों के प्रतिपादन के बाद अन्य व्यक्ति अवशिष्ट विषय का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के द्वारा एक पक्ष की स्थापना होती है। वैसे स्थलों में जिस प्रकार एक व्यक्ति से नहीं कहा गया विषय दूसरा व्यक्ति कहता है एवं उन लोगों के प्रतिपाद्य विषय में मतभेद नहीं रहता है. वैसे ही जैमिनि ने "अथातो धर्म जिज्ञासा" इस सूत्र के द्वारा सकल वेदार्थ के विचार की प्रतिज्ञा कर कर्म एवं उससे संक्रान्त वेदार्थ विषयक विचार पूर्व मीमांसा एवं सङ्कर्षण काण्ड नामक मीमांसा ग्रन्थों में किया है एवं व्यासदेव ने अवशिष्ट ब्रह्मरूप वेदार्थ विषयक विचार उत्तर मीमांसा ग्रन्थ में किया है। अतः, जैमिनि के धर्म शब्द में ''सकलवेदार्थ' गृहीत होने पर साथ ही उनके द्वारा वेदार्थ विचार न होने पर मात्र धर्म और उससे संक्रान्त वेदार्थ विचार होने पर भी ब्रह्म मीमांसा शास्त्र का आरम्भ अनावश्यक नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में अथ शब्द का अर्थ "वेदाध्ययनानन्तर्य" स्वीकार करने में कोई आपत्ति अवगत नहीं होती है। साथ ही पूर्व मीमांसाशास्त्र के प्रथम सूत्र से सकल वेदार्थ विचार के आरम्भ की सूचना होने पर ब्रह्म मीमांसाशास्त्र का पुनः अथ शब्द के द्वारा आरम्भ करना उचित नहीं है। इसके समाधान में यह कहना है कि

कर्ममीमांसा और सङ्कर्षणकाण्ड ये दोनों जैमिनि के द्वारा रचित होने पर भी सङ्कर्षणकाण्ड के प्रथम सूत्र में अथ शब्द का प्रयोग देखा जाता है एवं कर्ममीमांसा में ही अन्य प्रकरण के आरम्भ में अथ शब्द का उल्लेख है। जैसे—"अथातः शेषलक्षणम्"। जै० सू० ३।१।१।, "अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'। जै० सू० ४।१।१ इत्यादि। अतः, मात्र अथशब्द के प्रयोग से कोई पृथक् शास्त्र नहीं हो सकता है।

पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है। कारण, जैमिनि के ग्रन्थ में एवं व्यासदेव के ग्रन्थ में जो परस्पर मतभेद है—इसमें तो सन्देह नहीं है। जैसे—"शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः"। ३।४।२ "परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि। ३।४।१८, इन दोनों सूत्रों में स्पष्टरूप में ब्रह्मज्ञानार्थ कर्मसन्यास का जैमिनिकृत अपलाप का खण्डन किया गया है। अतः, ये दोनों एक मत नहीं हैं। फलतः दोनों ने मिलकर एक शास्त्र की रचना की है—यह कभी भी संगत नहीं है।

इस आपत्ति के समाधान में पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्मसन्यास वस्तुतः जैमिनि को अनभिमत नहीं है। व्यासदेव ने ही 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्"। ४।३।१२, "तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः"। ३।४।४०, इन सूत्रों में कहा है। अतः, व्यासदेव के साथ मतभेद नहीं है, व्यासदेव ने ब्रह्ममीमांसा के पूर्व दो सूत्रों में जो जैमिनि के साथ मतभेद दिखाया है, वह जैमिनि का अभ्युपगमवाद है। अर्थात् जैमिनि ने उसको उस समय मानकर कुछ विशेष कहने के लिए कहा है। अतः, जैमिनि की कर्ममीमांसा और व्यास की ब्रह्ममीमांसा इन दोनों को वेदार्थ विचार रूप एक महाशास्त्र मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहना उचित होगा कि 'विप्रतिषेधाच्चासमंजसम्"। २।२।१०, इस सूत्र में व्यासदेव ने कहा है कि सांख्यशास्त्र में परस्पर विरुद्धार्थक अनेक विषय होने से यह शास्त्र अप्रमाण है, अतः, इसके द्वारा यही अवगत करना होगा कि जिस शास्त्र में परस्पर विरुद्धार्थक

वचनों को देखा जाता है, वे अप्रमाण हैं—व्यास ने ऐसा नियम स्वीकार किया है। इस स्थल में भी इस नियम के अनुसार व्यासदेव ने ३।४।२ एवं ३।४।१८ इन दो सूत्रों की सहायता से जैमिनि ब्रह्म सन्न्यास नहीं मानते हैं यह स्वीकार नहीं करते हैं यह प्रदर्शन कर बाद में ४।३।१२ एवं ३।४।४० सूत्रों में उन्होंने ब्रह्म सन्न्यास स्वीकार किया है—यह प्रदर्शन कर जैमिनि के ग्रन्थ में विरुद्धार्थ कथन है यही प्रदर्शित किया है। इस प्रकार विरोध प्रदर्शन करने के उद्देश्य से सांख्यशास्त्र के समान जैमिनि के शास्त्र में भी परस्पर विरुद्ध वचन रहने से जैमिनि का शास्त्र भी आध्यात्मिक विषय में अप्रमाण है। अतः, ३।४।२ एवं ३।४।१८ सूत्रों में जैमिनि ने जो ब्रह्मसन्न्यास नहीं माना है, यह उनका अभ्युपगमवाद नहीं है। इसलिए जैमिनि और व्यासदेव के विषय में ऐक्य की सम्भावना नहीं है। किसी प्रकार इस स्थल में जैमिनि का अभ्युपगमवाद मानकर इन दोनों के मत में अभेद प्रदर्शन करने पर भी अनेक स्थलों में व्यासदेव ने स्पष्ट शब्दों में जैमिनि के मत का खण्डन किया है। जैसे देवताधिकरण में तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् १।३।२६।, विरोधः कर्मणीति चेत्, न, अनेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् १।३।२७, शब्द इति चेत्, न, अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् १।३।२८, अतएव च नित्यत्वम्, १।३।२९, समाननामरूपत्वरूपत्वात् चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च १।३।३०, मध्वादिष्वसंभवात् अनधिकारं जैमिनिः १।३।३१, ज्योतिषि भावात् च, १।३।३२, भावं तु बादरायणोऽस्तिहि १।३।३३। इन सभी सूत्रों में जैमिनि के अभि मन्त्रात्मक देवतावाद का खण्डन कर सशरीर देवतावाद की व्यासदेव ने स्थापना की है। अतः, इन दोनों में मतभेद है, इसमें मतभेद नहीं है। इसके अतिरिक्त भी जैमिनि ने "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते"। १।२।१, विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः। १।२।१, इन सभी सूत्रों में कहा गया है कि वेद का सिद्ध अर्थ में प्रामाण्य नहीं है, किन्तु क्रिया या क्रियान्वित अर्थबोधक वेदवाक्य का ही प्रामाण्य है, यही जैमिनि

के मत का प्रधान वैलक्षण्य है। किन्तु व्यासदेव ने "तत्तु समन्वयात्" १।१।४ सूत्र में इसका स्पष्ट शब्दों में प्रतिवाद कर सिद्ध किया है कि उपनिषत् क्रिया या क्रियान्वित अर्थ का प्रतिपादक नहीं है, वरन् वह ब्रह्म का ही प्रतिपादक है एवं वह भी प्रमाण है। फलतः, यह स्पष्ट है कि जैमिनि के प्रधान सिद्धांत के साथ व्यास का विरोध है, अतः दोनों ने मिलकर वेदार्थ के निर्णय के लिए महाशास्त्र की रचना की है यह नहीं कहा जा सकता है। पूर्वमीमांसा में ही अथ शब्द के पुनः प्रयोग के द्वारा जो दोनों ग्रन्थों को एक शास्त्र के रूप में समर्थन किया है, वह भी संगत नहीं है इसको भाष्यकार ने ही स्पष्ट किया है।

इसके उत्तर में पूर्वपक्ष की यह युक्ति है कि ब्रह्म सन्यास एवं देवता के शरीर संक्रान्त की चर्चा जैमिनि के सूत्रों में नहीं है। सूत्र का भिन्न प्रकार से अर्थ करने पर इसका परिहार भी हो सकता है। ब्रह्मसन्यास के विरोध के सम्बन्ध में यदि कहा जाय कि जैमिनि ने व्यास के ब्रह्मसन्यास को ही स्वीकार किया है तो किस प्रकार का विरोध ही नहीं रह जाता है। यह विरोध जैमिनि के सूत्र में लक्षित नहीं होता है—यह व्यास के सूत्र को देखकर ही अनुमान किया जाता है। अतः, यह विरोध नहीं। इसीलिए कहा है—व्यास के सूत्र में जैमिनि के ब्रह्मसन्यास का अपवाद है। इसमें यही जिज्ञास्य है कि वह मीमांसाकार जैमिनि हैं इसमें क्या प्रमाण है? अतः, यह विरोध एक शास्त्रत्व का व्याघातक नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैमिनि ने विग्रहवान् देवता को नहीं माना है मात्र मन्त्र शरीर ही देवता को माना है— यह भी ठीक नहीं है। कारण, भाष्यकार शबरस्वामी ने तिर्थगधिकरण में प्रदर्शित किया है कि देवताओं का यज्ञ में अधिकार नहीं है—"न देवानां देवतान्तराभावात्"। ६।१।५ देवता अपने उद्देश्य से यागकर्ता नहीं हो सकते हैं, कारण, लोकव्यवहार में अपने को उद्देश कर स्वयं याग नहीं कर सकते है। इन्द्र यदि यागकर्ता हैं तो उसके देवता भी तो इन्द्र ही होंगे, किन्तु यह असम्भव है। किन्तु, इस युक्ति को देखने से

यह कहना होगा कि जैमिनि ने देवताओं का शरीर माना है। यह नहीं मानने पर देवताओं के याग में अधिकार का प्रसंग ही नहीं आता और प्रसंग के बिना उसका निषेध कैसे होता, इसलिए मानना होगा कि देवता का शरीर होता है यह जैमिनि के सूत्र से ही सिद्ध है। अतः, यह मतभेद एक शास्त्रत्व का व्याघातक नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि आहवनीय अग्नि में आहुति देनी पड़ती है—यही शास्त्र विधि है। इस आहवनीय शब्द रूप अग्नि में कितने संस्कारों की सूचना है। इन संस्कारों का अग्नि में रहना सम्भव नहीं है, कारण, अग्न्याधान के समय में जो अग्नि आहवनीय नाम से वर्तमान है, उस अग्नि की पावमान नामक इष्टि अर्थात् याग के बाद परित्याग करने की भी विधि है, अनन्तर नवीन अग्नि को लाकर उस आहवनीय अग्नि में होम का विधान है, इसके बाद उस अग्नि में आहवनीय अग्नि के लिए जो संस्कार आवश्यक है, वह नहीं करना होता है। इस स्थल में आहवनीय अग्नि शब्द में उस अग्नि के अभिमानी देवता को नहीं माना जाय अर्थात् देवताधिष्ठित अग्नि का ग्रहण नहीं किया जाय, तो उस पावमान इष्टि के बाद नवीन रूप से लायी गई उस अग्नि में पूर्व संस्कार नहीं रहने से आहवनीयता नहीं रहेगी, फलतः, आहवनीय अग्नि में परवर्ती क्रिया का विधान असम्भव हो जायगा। इसलिए, मानना होगा कि पावमान इष्टि के बाद अग्नि का परित्याग होने पर भी पूर्व अग्नि का संस्कृत देवता परवर्ती अग्नि में विद्यमान रहता है। इसीलिए, वह पूर्व संस्कृत देवताधिष्ठित परवर्ती अग्नि भी आहवनीय होती है और उसमें आहुति का प्रदान करना भी सम्भव होता है। अतः, यह मानना होगा कि अग्नि में शरीरविशिष्ट देवता रहते हैं—यह जैमिनि ने माना है। फलतः, देवता के विग्रह को लेकर जैमिनि का व्यासदेव के साथ मतभेद न होने से एक शास्त्रत्व का व्याघात नहीं है।

इस जैमिनि के साथ व्यासदेव का विरोध न होने से दोनों को एक महाशास्त्र के अन्तर्गत मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः, दोनों सूत्रों

में अथ शब्द का अर्थ वेदाध्ययनानन्तर्य है। इसी आपत्ति के समाधान के लिए आचार्य शंकर ने कहा है -"स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्"। अथ शब्द का अर्थ यदि वेदाध्ययन के अनन्तर हो तो जैमिनि के प्रथम सूत्रस्थ अथ शब्द के द्वारा ही कह दिया गया, पुनः उसको कहने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् इस सूत्र में "अथ" शब्द का ग्रहण निष्प्रयोजन हो जायगा।

इस प्रसंग में इस भाष्य के आशय विवरण में भामती और विवरण का मतभेद है। अथ शब्द का अर्थ यदि आनन्तर्य माना जाय एवं वह आनन्तर्य यदि वेदाध्ययनानन्तर्य नहीं है—इसमें अनुकूल युक्ति 'अथ' शब्द का आनर्थक्य होगा, यही भाष्यकार का कथन है। भामतीकार ने इस भाष्य के तात्पर्य वर्णन के उपलक्ष में कहा है कि स्वाध्यायानन्तर्य वाक्य में जो स्वाध्याय शब्द है इसका यथाश्रुत अर्थ वेद होता है। वह वेद नित्य है, अतः उसका आनन्तर्य कहने पर असंगति होगी, इसलिए, स्वाध्याय शब्द से वेदाध्ययन अवगत होता है, अर्थात् स्वाध्याय शब्द का यह अर्थ लाक्षणिक अर्थ है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय का आनन्तर्य इस वाक्य का अर्थ वेदाध्ययन का आनन्तर्य होता है। पूर्वपक्षियों के मतानुसार अथ शब्द का अर्थ यदि वेदाध्ययन का आनन्तर्य होता है और ऐसी स्थिति में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र की पृथक् रचना में कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता है। कारण, यह पूर्वमीमांसा के "अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र से ही चरितार्थ हो जाता है। क्योंकि इस सूत्र में धर्म शब्द का अर्थ वेदार्थ होता है। ब्रह्म भी धर्म के समान वेदार्थ होने से उसका भी विचार सूत्र के द्वारा सूचित हो जाता है। यही भामतीकार का इस भाष्य का आशय है। इस भामती के वाक्य को देखकर एक सम्प्रदाय कहता है कि (१) ब्रह्मविचार वेदाध्ययन विधिमूलक है। (२) धर्मजिज्ञासा सूत्र के द्वारा ब्रह्मविचार भी प्रतिज्ञात होता है। (३) पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा ये दोनों मिलकर एक शास्त्र होते हैं। पूर्वपक्षियों के इन तीन मतों को लेकर

आचार्य ने इस स्थल में यह उत्तर दिया है, यह उनका अभ्युपगमवाद है। अर्थात् इसको मानकर भी पूर्वपक्ष का निराकरण किया जा सकता है। यही उन्होंने यहां प्रदर्शित किया है, किन्तु यह वस्तुतः अभीष्ट नहीं है। (१) वेदाध्ययन मूलक जो ब्रह्मविचार यह उन्होंने नहीं कहा है। (२) धर्मजिज्ञासा सूत्र के द्वारा ब्रह्मविचार प्रतिज्ञात होता है, यह भी वे नहीं मानते हैं। (३) पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा ये दोनों मिलकर एक शास्त्र होते हैं--यह भी नहीं कहा है। ऐसी स्थिति में भामतीकार के "नेदं सूत्रमारब्धव्यम्" इस कथन का आशय यह होगा कि सम्पूर्ण सूत्र अनर्थक नहीं होगा, वरन् सूत्रस्थ अथ शब्द का आनर्थक्य होगा--यही भामती का आशय है।

अन्य सम्प्रदाय ने भामती की व्याख्या करते हुए कहा है धर्मजिज्ञासा सूत्र के द्वारा ब्रह्मविचार प्रतिज्ञा आदि कथित तीन अभ्युपगम हैं. उन्हें शास्त्रकार ने किसी रूप में नहीं कहा है। यह भाष्य और भामती से अवगत नहीं होता है। ऐसी स्थिति में भामतीकार के "नेद सूत्रमारब्धव्यम्" यह कहने का यह आशय है कि धर्मजिज्ञासा सूत्र में उक्त धर्मशब्द सम्पूर्ण को लक्ष्य नहीं करता है, अतः, दोनों शास्त्रों को एक मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है धर्म शब्द का अवलम्बन कर इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ वेदाध्ययन का आनन्तर्य मानने का कोई कारण नहीं है, यदि इस स्थल में अथ शब्द का अर्थ वेदाध्ययन का आनन्तर्य माना जाय तो अथ शब्द ही निरर्थक हो जायगा। कारण, "अथातो धर्मजिज्ञासा" में जो अतः शब्द है उसका अर्थ वेदाध्ययन की अर्थज्ञान फलकता है। अर्थात् वेद का अर्थ अवगत करने के लिए वेदाध्ययन करना होगा वेदाध्ययन के बाद वेदार्थ का एक देश जो धर्म उसी की जिज्ञासा करनी होगी। अतः, 'अतः' शब्द के इस प्रकार के अर्थ के अनुरोध से यह अवगत हुआ कि वेदार्थ विचार करने से ही वेदाध्ययन के बाद वह करना होगा। ऐसी स्थिति में धर्म शब्द का अर्थ ब्रह्म न होने पर भी वह वेदार्थ होने से उसके विचार से पूर्व वेदाध्ययन की आवश्यकता है यह अवश्य ही मानना पड़ेगा। जैमिनि के इस प्रथम सूत्र में व्यक्त "अतः" शब्दार्थ के

अनुरोध से यदि उसके अथ शब्द का अर्थ "वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म-विचार करना चाहिए" यह होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मविचार भी वेदाध्ययन के अनन्तर है--यह इस सूत्र के अथ शब्द के द्वारा सूचित हो गया। कारण, ब्रह्म भी वेदार्थ एवं इसके फलस्वरूप वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है, यह "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस सूत्र के द्वारा ही सूचित हो गया है, इसका यह फल हुआ कि आचार्य ने पूर्वोक्त तीन अभ्युपगम किये बिना ही पूर्वपक्षियों के उक्त मत का खण्डन कर दिया। इस खण्डन की युक्ति होती है कि वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मविचार्य है-- इस प्रकार अथ शब्द का अर्थ होने पर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में अथ शब्द निरर्थक हो जायगा। वादी की बात स्वीकार कर प्रतिवाद करने पर प्रतिवादी को भी वह जिस किसी तरह स्वीकार्य होता है, इस सम्प्रदाय की व्याख्या में वैसी सम्भावना भी नहीं रहती है। वस्तुतः भामती मत में आचार्य उभयशास्त्र के एकत्ववादी नहीं है, यथार्थ में दोनों शास्त्रों में मत-विरोध स्वीकार करते एवं 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वेदाध्ययन विधिमूलक ब्रह्म विचार हो सकता है और ब्रह्मविचार श्रवणविधिमूलक नहीं है--यही मानते। ऐसी स्थिति में "नेदं सूत्रमारब्धव्यम्" इस वाक्य का अर्थ पूर्व-मत के समान अथशब्द का आनर्थक्य सूचक नहीं है, वरन् सूत्र के ही आनर्थक्य का सूचक है। यही भामती का द्वितीय सम्प्रदाय है।

यह ज्ञातव्य है वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र एवं सुरेश्वराचार्य का अनुभावन किया है तथा विवरणकार ने शंकराचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य के मत का अवलम्बन किया है। इस मत में भी वेद का अध्ययन और धर्मविचार दोनों ही "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वेदविधिमूलक हैं। धर्मजिज्ञासा सूत्र में जो अथशब्द है, उसका अर्थ वेदाध्ययन के ही अनन्तर होना उचित है। किन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में जो ब्रह्मविचार कहा गया है, वह उक्त वेदाध्ययन विधिमूलक नहीं है। अर्थात् ब्रह्मविचार "श्रोतव्यः" इस विधिमूलक है, "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" विधिमूलक नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वाध्यायविधिमूलक जो धर्मविचार, उस विधि से सिद्ध

अध्ययन जिस प्रकार अधिकारी का विशेषण होता है अर्थात् अधीतवेद व्यक्ति ही जिस प्रकार धर्मजिज्ञासा का अधिकारी होता है वैसे ही 'श्रोतव्यः' इस विधिमूलक जो ब्रह्मविचार इस विधि के साथ एकवाक्यतापन्न जो "शान्तः दान्तः" आदि अधिकारी का बोधक वाक्य, इसके द्वारा सिद्ध जो साधनचतुष्टय, वही अधिकारी का विशेषण होता है। अर्थात् साधनचतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्मविचार का अधिकारी होता है। "वेदाध्ययन के अनन्तर्य" अथ शब्द का अर्थ नहीं होता है। इसीलिए 'वेदाध्ययन के आनन्तर ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है' यह कहने पर ब्रह्मविचार का प्रकृत या असाधारण कारण, उसका निर्देश नहीं किया जाता है। इस मत में भाष्य के "समान" शब्द का अर्थ अत्यन्त अनपेक्षित, एवं भामती के मत में इस "समान" शब्द का अर्थ "एकरूप" होता है। यही इन दो मतों का पार्थक्य है। इसके बाद सत्यदर्शी ऋषियों में मतभेद असम्भव है, अतः व्यास के साथ जैमिनि का विरोध नहीं है, यह मानने पर भी पूर्वमीमांसा और ब्रह्मसूत्र एक नहीं हो सकता है। कारण, इस स्थिति में व्यासदेव "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस रूप में प्रतिज्ञात कर "अथातो परिशिष्ट धर्मजिज्ञासा"। इसी रूप में प्रतिज्ञा करते। क्योंकि, जैमिनि के ग्रन्थ में ही देखा जाता है कि क्रतुविचार समाप्त कर क्रतु के अंगों की मीमांसा के अभिप्राय से "अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" ४।१।१। इस प्रकार प्रतिज्ञा की जाती है। अतः, "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र को "अथातो धर्मजिज्ञासा" के समान ही निर्देश होने से दोनों शास्त्र भिन्न ही हैं।

यह जिज्ञास्य है कि "स्वाध्यायाध्ययनान्तर ब्रह्मजिज्ञासा" यह अर्थ न होने पर भी "कर्मबोध के अनन्तर" यह अर्थ अथशब्द का क्यों नहीं होता है- इसी पूर्वपक्ष को लेकर भाष्य में कहा गया है कि 'ननु इह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः', यही ज्ञानकर्म का समुच्चयवाद है। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन चेति" [बृ० उ० ४।४।२२] इस ब्रह्म को ब्राह्मणगण स्वाध्यायाध्ययन, यज्ञ, दान, तपस्या और अनाशक के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। 'यज्ञेन' यह करण में

तृतीया विभक्ति है। ब्रह्मज्ञान के लाभ करने में यज्ञादि रूप साधन की आवश्यकता है यज्ञादि ब्रह्मज्ञान का करण है। ब्रह्मज्ञान के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान आवश्यक होने से यज्ञादि रूप कर्म का ज्ञान ब्रह्मविचार से आवश्यक है—इस विषय में कुछ कहना ही नहीं है। यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करें—इस प्रकार की श्रुति रहने से ब्रह्मज्ञान की इच्छा उत्पादन के लिए यज्ञादि अनुष्ठेय है। ब्रह्मज्ञान के लिए यज्ञादि अनुष्ठेय है वह इसके द्वारा अवगत नहीं होता है। फलतः ब्रह्मज्ञान के लिए यज्ञादि की उपयोगिता नहीं है। किन्तु, ब्रह्मज्ञान इच्छा का विषय होने से उसी को यहां प्रधान मानना होगा, इच्छा यहां प्रधान नहीं है, वह प्रकृत में गुणभूत या अप्रधान है। वाक्यस्थ पदार्थों के परस्पर अन्वय का यह नियम है कि प्रधान पदार्थों के साथ अप्रधान पदार्थों का अन्वय होता है। इस स्थल में "विविदिषन्ति" यह क्रियापद है, इसमें तीन अंश है—'विद्'धातु, 'सन्' प्रत्यय एवं 'अन्ति' आख्यात। इनमें 'अन्ति' आख्यात विशेष्य होने से प्रधान होने पर भी उसके अर्थ के साथ वाक्यस्थ 'यज्ञेन' इत्यादि अन्य पदार्थों का अन्वय बाधित होने से अप्रधानस्वरूप विद् धातु अथवा सन् प्रत्यय के अर्थ के साथ करना होगा। विद् धातु का अर्थ ज्ञान; सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा। अप्रधान इस ज्ञान और इच्छा में आपेक्षिक प्राधान्य का विचार करने पर इच्छा का विषय ज्ञान ही प्रधान होगा। कारण, इच्छा एवं इच्छा के विषयीभूत वस्तुओं में लोक में इच्छा के विषय को ही प्रधान कहा है। इन दो अप्रधान में किसके साथ यज्ञादि पदार्थों का अन्वय होगा तो अप्रधान में जिसका आपेक्षिक प्राधान्य उसी के साथ यज्ञादि का अन्वय करना ही संगत है। अतः यही अर्थ होगा कि यज्ञादि साध्य जो ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मण उस ब्रह्मज्ञानविषयक इच्छावान् होता है। ऐसी स्थिति में यह अवगत होता है कि ब्रह्मज्ञान के लिए यज्ञादि रूप साधन अपेक्षित होना है। यह यज्ञादि रूप कर्म यदि ब्रह्मज्ञान का साधन है तब कर्मज्ञान के बिना कर्मानुष्ठान सम्भव न होने से कर्मावबोध के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होना ही उचित है एवं इस प्रकार का आनन्तर्य ही ऐसी स्थिति

में अथशब्द का अर्थ होगा। यह विचार्य है कि यज्ञादि ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति का कारण होता है, ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में यह साक्षात् कारण है या परम्परा कारण अर्थात् प्रयोजक है। इसके उत्तर में यह कहना है कि इसको साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है, कारण, ज्ञान का साक्षात् कारण प्रमाण ही होता है, यह ब्रह्म जब वेदान्तवाक्य का अर्थ अर्थात् प्रतिपाद्य है तब उसका ज्ञान उसके प्रति साक्षात् कारण वेदान्तवाक्य रूप शब्द प्रमाण ही होता है। अतएव यज्ञादि को ब्रह्मज्ञान के प्रति साक्षात् कारण नहीं कहा जा सकता है यह भी मैं स्वीकार करता हूँ। यदि यह कहा जाय कि साक्षात् कारण जो वेदान्त रूप शब्द प्रमाण वह सहकारी के रूप में साक्षात् कारण हो सकता है।

× × ×

१. सहकारिकारण का अर्थ—कार्य के अधिकरण में अव्यवहित पूर्व क्षण में नियत रूप से रहता है, उसको कारण कहा जाता है। जैसे—घट कार्य का दण्ड आदि। यह दण्ड आदि घट कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में घट का अधिकरण जो भूतल आदि देश वहाँ नियत रूप से विद्यमान रहता है, इसलिए इसको घट का कारण कहा जाता है। कारण मुख्य और सहकारी के भेद से दो प्रकार का है। निमित्त कारण में जिन अचेतन कारणों के बिना पूर्ण रूप में कार्य निष्पन्न नहीं होता है—उसीको सहकारी कारण कहा जाता है। जैसे—घट रूप कार्य के प्रति कुम्भकार मुख्य कारण है एवं दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारण हैं इसी प्रकार प्रकृत में यज्ञ आदि को सहकारी कारण कहा जाता है।

इसके उत्तर में यही कहना है कि पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है। कारण जो व्यक्ति यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता है, उसको भी वेदान्त वाक्य सुनने के बाद ब्रह्मज्ञान हो सकता है। क्योंकि, उस व्यक्ति को, पद और पदार्थ का सम्बन्धज्ञान, शाब्दबोध के प्रकार का ज्ञान, पद के पौर्वापर्य, विशेषण और विशेष्य का ज्ञान एवं वाक्य में स्थित पदों के परस्पर

आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता का ज्ञान रहने पर वेदान्तवाक्य से ब्रह्मज्ञान स्वयं ही हो जायगा। इन स्थलों में यज्ञादि कर्मों की वास्तविक कोई अपेक्षा नहीं रहती है। अतः, वेदान्तवाक्य में सहकारिरूप में यज्ञादि ब्रह्मज्ञान का साक्षात् कारण है--यह ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि शाब्दबोध के उक्त कारण समूहों के रहने पर भी वेदवाक्यार्थज्ञान नहीं होता है, तब उस वेद के द्वारा विहित या निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान या परित्याग सम्भव नहीं होगा, अर्थात् कर्म का अनुष्ठान ही सम्भव नहीं होगा। फलतः, अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि यज्ञादि कर्मों के करने पर

× × ×

१. शाब्दबोधप्रक्रिया—प्रथम वाक्यात्मक शब्दश्रवण, इसके बाद वाक्य मध्यस्थ पदों की शक्ति का ज्ञान, अनन्तर पदार्थों की उपस्थिति, आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य का ज्ञान होता है, अनन्तर पदार्थ समूहों में परस्पर अन्वय अर्थात सम्बन्धबोध रूप शाब्दबोध होता है। [पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। शाब्दबोधः फलन्तत्र शक्तिधीः सहकारिणी]

वेदवाक्यार्थज्ञान होगा, वेदवाक्यार्थज्ञान होने पर ही यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान सम्भव होगा, इस प्रकार परस्परापेक्षता माननी पड़ेगी। फलस्वरूप कर्मानुष्ठान अथवा वेदवाक्यार्थबोध कुछ भी सम्भव नहीं होगा, इसलिए, यह भी नहीं कहना चाहता हूँ। यदि यह कहा जाय कि वेदान्तवाक्यार्थबोध के लिए ही कर्मानुष्ठान आवश्यक है, अतः कर्म के ज्ञान की आवश्यकता है, किन्तु, कर्मकाण्डरूप वेदभाग के अर्थ को जानने के लिए कर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है। फलतः पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना नहीं है। यह भी हमलोगों को अभिमत नहीं है, कारण ऐसा कोई विशेष कारण नहीं है कि जिसके लिए वेदार्थ के अन्तर्गत वेदान्तवाक्यार्थ के ज्ञान के लिए कर्म का अनुष्ठान अपेक्षित रहे। वेदार्थ के अन्तर्गत कर्मकाण्ड के ज्ञान के लिए कर्म का अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है।

अतः, वेदान्तवाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही कर्म का अनुष्ठान आवश्यक है—यह मैं नहीं मानता हूं, इसलिए अन्योऽन्याश्रय दोष रह ही जाता है। यदि यह कहा जाय कि वाक्यार्थबोध के विषय में कर्मकाण्ड के साथ ज्ञानकाण्ड का वैषम्य अवश्य ही मानना होगा। कारण, व्युत्पन्न व्यक्ति को कर्मकाण्ड के वाक्यार्थ का ज्ञान अनायास ही हो सकता है, किन्तु, ज्ञानकाण्ड का वाक्यार्थ ज्ञान इस प्रकार सम्भव नहीं है, वह मात्र व्युत्पत्ति सापेक्ष नहीं हो सकता है उसके लिए विशेष आयोजन आवश्यक है। कारण, तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्यों का अर्थ अतिशय दुरुह है। 'त्वं' पद का अर्थ कर्ता और भोक्तृस्वरूप जीवात्मा होता है, वही जीवात्मा 'तत्' पद के अर्थ नित्य, शुद्ध-बुद्ध स्वभाव परमात्मा से अभिन्न है। संसार में "तत्त्वमसि" वाक्य का इस प्रकार अर्थबोध कभी भी सहज में नहीं हो सकता है। कारण, व्युत्पन्न व्यक्ति रहने पर भी चित्त शुद्ध नहीं रहने पर उसके मन में यह विचार हो सकता है कि तत्त्वमसि का यह अर्थ वाधित है। वाध रहने पर दो पदार्थों का परस्पर योग्यता ज्ञान नहीं रहेगा और योग्यता ज्ञान के अभाव में शाब्दबोध भी नहीं होगा। इसलिए, यह मानना होगा कि यज्ञ, तपस्या और दान आदि विहित कर्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि मल दूर होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरण में श्रद्धा का आविर्भाव होता है और श्रद्धालु व्यक्ति ही इस वाक्य का इस प्रकार योग्यता का अवधारण करने में समर्थ होता है। ऐसे ही व्यक्ति का वाध ज्ञान निवृत्त होता है एवं 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से जीव और ब्रह्म का अभेदरूप वाक्यार्थ ज्ञान हो सकता है। अतः, मात्र वेदान्तवाक्यार्थज्ञान के लिए कर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है, वरन् ब्रह्मज्ञान के लिए भी कर्म ज्ञान आवश्यक है। इस प्रसंग में यही कहना उचित होगा कि यह कथन भी ठीक नहीं है, कारण योग्यतावधारण ज्ञान-विशेष है, वह प्रमाण से ही उत्पन्न होता है—यह सभी लोग मानते हैं। किन्तु, आपके कथन को मानने पर यह कहना होगा कि योग्यता ज्ञान के लिए कर्म ही कारण है। यह कर्म तो प्रमाण नहीं अप्रमाण ही है। अतः, अप्रमाणस्वरूप

कर्म के किस प्रकार प्रमा ज्ञान उत्पन्न होगा ? इसलिए, मानना होगा कि योग्यतावधारण के लिए न्याय तर्क आदि अनुकूल युक्ति का ही अवलम्बन करना होगा। यदि उसी से योग्यताज्ञान होता है तो कर्म की क्या अपेक्षा है फलतः, कर्मानुष्ठान और उसके लिए कर्मज्ञान वेदान्तवाक्यार्थबोध का कारण है--यह सिद्ध नहीं होता है। पूर्वपक्षियों ने अपना सिद्धान्त प्रदर्शन करते हुए कहा है—इन कारणों से 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों के श्रवण से जीव और ब्रह्म का अभेदज्ञान परोक्षरूप में ही होता है, इस शाब्दबोध रूप परोक्षज्ञान को अनुमानरूप मनन के द्वारा दृढ़ करना पड़ता है, अनन्तर निदिध्यासन—दीर्घकाल तक निरन्तर भावना करनी पड़ती है और इस भावना के फलस्वरूप ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस भावना रूप उपासना के लिए ही यज्ञादि की आवश्यकता होती है, फलतः, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए यज्ञादि की इसी रूप में उपयोगिता है। यदि यह कहा जाय कि निदिध्यासन रूप उपासना या निरवच्छिन्न भावना काल में यज्ञादि का किस प्रकार उपयोग हो सकता है ? वेद विहित रीति से यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को श्रवण आदि के द्वारा ब्रह्मविषयक परोक्षज्ञान होने पर मनन और निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। मनन और निदिध्यासन के समय में यज्ञादि का अनुष्ठान अवरुद्ध नहीं होता है। विहित काल का विभाग कर यथासमय यज्ञ आदि एवं निदिध्यासन आदि अनुष्ठित हो सकता है। काल विभाग होने पर दोनों में कोई विरोध नहीं है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसी विषय को कहा है--यज्ञादि के अनुष्ठान कारी के द्वारा ही निदिध्यासन अनुष्ठित होने पर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।—"स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारसेवितः दृढभूमिः।" १।१४ वही चित्तवृत्तिरोध, दीर्घकाल तक निरन्तर भाव में सत्कार के साथ अनुष्ठित होने पर तत्त्वलाभ के प्रति दृढ़ उपायस्वरूप होता है। सत्कार शब्द का अर्थ ब्रह्मचर्य, तपस्या, श्रद्धा एवं यज्ञ आदि। अतः निदिध्यासन स्वरूप उपासना या भावना के प्रति यज्ञ आदि का उपयोग है। भावना ही ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण है, यह श्रुति में भी कहा गया है। "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां

कुर्वीत ब्राह्मणः" धीर ब्राह्मण उसी को जानकर प्रज्ञा करें। इस स्थल में "विज्ञाय:" तर्क या मननसहकृत शब्दस्वरूप प्रमाण के द्वारा अवगत कर 'प्रज्ञां कुर्वीत' ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात्कारण जो प्रज्ञा रूप उपासना उसको करना चाहिए। पतंजलि के सूत्र और इस श्रुतिवाक्य से यह सिद्ध होता है कि यज्ञादिसहकृत निदिध्यासनरूप उपासना या भावना ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है। मात्र निदिध्यासन या केवल यज्ञादि ही ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं है यही ज्ञानकर्म का समुच्चयवाद है। यज्ञ की उपयोगिता के विषय में अनेक प्रकार का मतभेद है। (१) मोक्ष के प्रतिबन्धक पापको ध्वंस को द्वार कर यज्ञ आदि भावनासहकृत होकर मोक्ष का जनक होता है। (२) पुरुष के संसकार अर्थात् पुण्यविशेष को द्वार कर यज्ञादि मोक्ष का उपयोगी होता है। पुरुष यज्ञ आदि द्वारा संस्कृत होकर अर्थात् पुण्यलाभ कर आदर, निरन्तर दीर्घकाल तक ब्रह्मभावना करने पर उसकी अविद्या और तज्जन्य संस्कार मूल के साथ विनष्ट हो जाता है एवं उसका प्रत्यगात्मा सुप्रसन्न और केवल होकर विशदता का लाभ करता है। स्मृति में भी इसी प्रकार कहा गया है- "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" मनुः२।२८। "यस्यैतेऽष्टचत्वारिंशत् संस्काराः गौ० सं. ८ अ० महायज्ञ और यज्ञ के द्वारा यह देह ब्रह्मसाक्षात्कार के उपयोगी होती है। एवं जिसके अड़तालीस संस्कार हुआ हैं उसी को ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। पूर्वमतमें पापक्षय को द्वार कर भावना अर्थात उपासना मोक्षजनक होती है किन्तु इस मत में पुण्यको द्वार का भावना अर्थात् उपासना मोक्ष जनक होती है—यही विशेष है। पाँच महायज्ञः- ब्रह्मयज्ञ = वेदाध्ययन, नृयज्ञ = अतिथिसेवा। देवयज्ञ = होम भूतयज्ञ = सभी प्राणियों के लिए अन्नदान। पितृयज्ञ = तर्पण। ये पाँच नित्यकर्म हैं। आचार्यमत में सन्न्यासियों से अतिरिक्त सभी त्रैवर्णिको का कर्तव्य है। अड़तालीस संस्कारः—१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चौल, ८ उपनयन, ९ प्राजापत्यकाण्डव्रत, १० सौम्यकाण्डव्रत, ११ आग्नेयकाण्ड व्रत, १२ समावर्तन १३ विवाह, १४ देवयज्ञ, १५ पितृयज्ञ,

१६ नृयज्ञ, १७ भूतयज्ञ १८ ब्रह्मयज्ञ, १६ अष्टकाश्राद्ध, २० पार्वणश्राद्ध, २१ मासिक श्राद्ध, २२ श्रावणी, २३ आग्रहायणी, २४ चैत्री, २५ अश्वयुजी, २६ अगन्याधेय, २७ अग्निहोत्र, २८ दर्शपूर्णमास, २६ चातुर्मास्य, ३० आग्रयणेष्टि, ३१ निरूढपशुबन्ध, ३२ सौत्रामण्य, ३३ अग्निष्टोम, ३४ अत्यग्निष्टोम, ३५ उकथ्य, ३६ षोडशी, ३७ वाजपेय, ३८ अतिरात्र, ३६ आप्तोर्याम, ४० सर्वभूतेदया, ४१ क्षमा, ४२ अनसूया, ४३ शौच, ४४ अनायास, ४५ मांगल्य, ४६ अकार्पण्य, ४७ अस्पृहा, (३) अन्य सम्प्रदाय का कहना है कि तीन ऋणों का अपाकरण कर यज्ञादि कर्म मोक्ष का उपयोगी होता है। १. देवऋण, २. पितृऋण और ३ ऋषिऋण। देवऋण का परिशोध के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान, पितृऋण के परिशोध के लिए पुत्र उत्पादन और ऋषिऋण के परिशोध के लिए वेद का अध्यापन। इस मत में प्रथम मत के समान पापनाश और द्वितीय मत के समान पुण्य उपार्जन अर्थात् संस्कारविशेष उत्पादन द्वार नहीं है वरन् तीन ऋणों का अपाकरण द्वार होता है, इन ऋणों के रहने पर मुक्ति असम्भव है। (४) अन्य सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार जनक उपासना में यज्ञादि की उपयोगिता पूर्वमत के अनुसार ही है अन्तर इतना ही है कि इस मत में काम्यकर्म को भी उपासना का सहकारी माना है। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" बृ. उ. ४।४।२२ एवं सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् ब्या. सू. ३।४।२६ इन्हीं के आधार पर यज्ञ का ब्रह्मज्ञान भी फल है यह सिद्ध होता है। यज्ञादि का स्वर्ग आदि फल निर्दिष्ट होने पर भी वाक्य भेद के कारण ब्रह्मज्ञान भी फल होता है। एक वाक्य का दो अर्थ मानने पर वाक्य भेद दोष होता है, किन्तु यहाँ दर्शपूर्णमास वाक्य का अर्थ—स्वर्ग के लिए यह अनुष्ठेय है एवं "यज्ञेन विविदिषन्ति" इत्यादि वाक्यों का अर्थ दर्शपूर्णमास आदि का फल ब्रह्मज्ञान है, अतः दो भिन्न भिन्न वाक्यों का दो अर्थ होने से वाक्य भेद दोषावह नहीं है। जैमिनि ने भी इसका समर्थन

किया है—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् " ४।३।५ एक वस्तु की उभयरूपता होने संयोगपृथक्त्व अर्थात् दो पृथक वाक्य रहते हैं। इस सूत्र का आशय यह है कि 'खादिरंवीर्यकामस्य यूपं कुर्वीति" वीर्य की कामना वाले याजमान का यूप (पशुबन्धन काष्ठ) खैर काठ के द्वारा निर्मित करना चाहिए। दूसरी श्रुति है कि 'खादिरे पशुं बध्नाति' खादिरयूप में पशु का बन्धन करता है। यहाँ संशय हो सकता है कि इस स्थल में युद्धकाष्ठ की खादिरता अर्थात् जिस प्रकार खैर काठ के द्वारा यूपनिर्माण शक्तिलाभ के लिए करना चाहिए वैसे ही पशुयाग के अंग यूप में पशु-बन्धन के लिए भी करना चाहिए या नहीं? इस प्रकार के संशय में पूर्वपक्षियों ने कहा यूप की खादिरता वीर्यलाभ के लिए ही विधेय है, जिसको वीर्य की कामना नहीं है वह अन्य काठ के द्वारा यूपनिर्माणपूर्वक उसमें पशुबन्धन करने पर भी याग सिद्ध होगा। यदि यहा कहा जाय कि "खादिरे पशुं बध्नाति" इस वाक्य का क्या प्रयोजन है? कारण यज्ञ में पशुबन्ध के लिए खादिरयूप का ही विधान है, अतः, आपका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, ऐसी स्थिति में यही कहना है कि यह ठीक नहीं है। कारण शक्ति की कामना करने वाला व्यक्ति खादिरयूप क निर्माण करता है एवं अब पशुबन्धन के लिए विशेष काष्ठ का उल्लेख अनावश्यक है, तब वीर्य्य की कामना के लिए निर्मित जो यूप, वही प्रसंगतः पशु के बन्धन का आश्रय हो सकता है—यही ज्ञापित होता है। यह पशुबन्धन के लिए यूप के खदिरत्व का विधान नहीं करता है—यह कहा जा सकता है। इसलिए, इसको पृथक् कहना उचित नहीं है, क्योंकि, वाक्य भेदरूप दोष होगा, अतः, प्रथम वाक्य ही विधिवाक्य है; द्वितीय वाक्य उसका वाचिक अनुवाद मात्र है।

इस प्रकार पूर्वपक्षका निराकरण कर सिद्धान्त की स्थापना के लिए जैमिनि ने इस सूत्र के द्वारा कहा है कि पशुयाग के अंग पशुबन्धन के लिए खादिर काष्ठ ही आवश्यक है, अर्थात् यूप की खादिरता जिस प्रकार वीर्य-

रूप फल के आवश्यक वैसे ही पशु बन्धन के लिए भी आवश्यक है। अर्थात् जिसको बल की कामना रहेगी उसको बल का लाभ होगा एवं यज्ञ भी सिद्ध होगा एवं जिसको बल की कामना नहीं है उसको केवल यज्ञ की सिद्धि ही होगी। ऐसी स्थिति में वाक्य भेदरूप दोष भी नहीं होगा। कारण, इस स्थल में दो वाक्य है, दो वाक्यों का दो प्रकार का अर्थ होने पर एक वाक्य का दो प्रकार अर्थ नहीं होता है। एक वाक्य का दो प्रकार का अर्थ होने पर ही वाक्य भेद दोष होगा। दो वाक्यों के रहने पर एवं उनका दो प्रकार का अर्थ करने पर वाक्य भेद दोषावह नहीं होता है, वरन् दो वाक्य न रहने पर एक वाक्य का अवलम्बन कर दो प्रकार के अर्थ की कल्पना करने पर ही वाक्य भेद दोषावह है, यह जो कहा है कि "खादिरे पशुं बध्नाति" इस वाक्य में पक्षप्राप्त खदिरता की सूचना की गई है, यह भी ठीक नहीं है। कारण, यह सूचना अनावश्यक है। क्योंकि, यूप में जो पशुबन्धन का आश्रयत्व है वह सन्निधान के कारण ही प्राप्त होता है, अतः, उसके स्मरण कराने के लिए पृथक् वाक्य का उल्लेख निष्प्रयोजन है। इस दृष्टान्त के अनुसार दर्शपूर्णमास आदि सभी यागों के वे फल और ब्रह्मज्ञानार्थता ये दोनों ही सिद्ध हो सकते हैं—इसमें कोई भी दोष नहीं है। यही ज्ञानकर्म समुच्चयवादियों में चतुर्थ सम्प्रदाय का मत है। इन युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि श्रुतिस्मृति आदि प्रमाण के बल से एवं परमर्षि प्रणीत सूत्रों के अनुसार निदिध्यासनरूप ब्रह्मोपासना यदि यज्ञादि कर्म के साथ समुच्चित एवं दीर्घकाल आदर एवं नैरन्तर्ययुक्त हो तब वह ब्रह्मोपासना ही अर्थात् निदिध्यासनाख्य भावना ही अनादि अविद्या है, उससे जनित संस्कार को विनाश कर ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक मोक्ष का कारण होता है। अतः, मोक्ष के लिए कर्म का अनुष्ठान एकान्त आवश्यक है। यही यज्ञादि के ब्रह्मोपासना में उपयोगी होने का उत्तर है। ब्रह्मोपासना के लिए अवश्यकर्तव्य यागादि कर्म का ज्ञान भी एकान्त आवश्यक है। इसलिए कर्मज्ञान के बाद ब्रह्मसंक्रान्त जिज्ञासा होना ही नितान्त स्वाभाविक है, इसी की सूचना सूत्रकार ने अथ शब्द के द्वारा अर्थात्

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र के अथ शब्द का अर्थ कर्मज्ञान के आनन्तर्य ही मानना होगा। इस प्रकार के पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए ही भाष्यकार ने कहा--'न' इत्यादि।

रत्नप्रभा

ननु आनन्तर्यार्थकत्वे अपि आनन्तर्यस्य अवधिः कः इत्याशंक्य आह -"सति च इति" यत् नियमेन पूर्ववृत्तं पूर्वभावि असाधारणकारणम्, पुष्कलकारणम् इति यावत्, तत् एव अवधिः इति वक्तव्यम् इत्यर्थः। ननु अस्तु धर्मविचारे इव ब्रह्मविचारे अपि--वेदाध्ययनं पुष्कलकारणम् इति, अतः आह-स्वाध्याय इति। "समानम्"--ब्रह्मविचारे साधारणकारणं न पुष्कलकारणम् इत्यर्थः। ननु संयोगपृथक्त्वन्यायेन "यज्ञेन दानेन" इत्यादि श्रुत्या यज्ञादिकर्माणि ज्ञानाय विधीयन्ते "इति शंकते "ननु" इति। इह— ब्रह्मजिज्ञासायां "विशेषः" असाधारणकारणम्। "एकस्य तूभयार्थत्वे संयोगपृथक्त्वम्" इति जैमिनि सूत्रम्, तदर्थन्तु--एकस्य कर्मणः उभयार्थत्वे अनेक फलसम्बन्धे संयोगः उभयसम्बन्धबोधकं वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेदः स हेतुः। ततश्च अत्रापि ज्योतिष्टोमादिकर्मणां स्वर्गादिफलकानाम् अपि "यज्ञेन दानेन" इत्यादिवचनात् ज्ञानार्थत्वं च इति। परिहरति "न" इत्यादिना।

पुष्पलता

अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ मानने पर भी आनन्तर्य की अवधि कौन है [अर्थात् किसके अनन्तर] इस आशंका से भाष्यकार ने कहा है— "सति च" इति। जो नियमतः पूर्व में अपेक्षित है, पूर्वभावी असाधारण कारण अर्थात् पुष्कलकारण है, वही आनन्तर्य की अवधि के रूप में कहा जा सकता है। धर्मविचार के समान ब्रह्मविचार में भी वेदाध्ययन ही पुष्कलकारण है--इसलिए कहा है—"स्वाध्यायः" इति। "समानम्" ब्रह्म-विचार में साधारण कारण है, पुष्कलकारण नहीं है। संयोगपृथक्त्व न्याय से "यज्ञेन दानेन" इत्यादि श्रुति के अनुसार यज्ञ आदि कर्म ज्ञान के लिए

विहित है यह ब्रह्मसूत्र में सर्वापेक्षाधिकरण में कहा गया है, अतः मीमांसा शास्त्र के अनुसार स्वाध्याय अर्थात् वेद का ज्ञान पुष्कलकारण है यह आशंका करते हैं -"ननु" इति। इह अर्थात् ब्रह्मज्ञान की इच्छा में विशेष अर्थात् असाधारण है। एक के उभयार्थकत्व होने पर संयोगपृथक्त्व रहता है—यह जैमिनिसूत्र है। इसका यह अर्थ है—एक ही कर्म का दो प्रयोजन होने पर अनेक प्रयोजन का सम्बन्ध होने पर संयोग अर्थात् दोनों के सम्बन्ध का बोधक वाक्य उसका पृथक्त्व अर्थात् भेद वह कारण है। इसलिए यहां पर ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का जिनका स्वर्ग आदि फल हैं वे भी 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि वचनों के अनुसार ज्ञानरूप प्रयोजन के साधक भी हैं। इसी का परिहार कर रहे हैं—"न" इत्यादि भाष्य से।

कुसुमलता

अथ शब्द के अर्थ निर्णय के प्रसंग में मात्र यही पूर्वपक्ष शेष है। इससे पूर्व अथ शब्द का अधिकार मंगल एवं पूर्वप्रकृतापेक्ष रूप तीनों अर्थों की असंगति का प्रदर्शन कर आनन्तर्य अर्थ को ही संगत माना है। वह आनन्तर्य किसके आनन्तर्य इसके निर्णय के लिए प्रवृत हुआ है। आचार्य ने सर्वप्रथम यह कहा है कि वेदाध्ययन का आनन्तर्य यह अर्थ नहीं हो सकता है। अनन्तर आचार्य ने, कर्म के ज्ञान के आनन्तर्य, जिन लोगों ने माना है, उनके मत का, उल्लेख किया है आगे के भाष्य में इसका भी खण्डन किया है। आचार्य शंकर के मत में साधन-चतुष्टय का आनन्तर्य-यही आनन्तर्य कहा है।

शांकरभाष्य

धर्मजिज्ञासायाः प्राक् अपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानाम् आनन्तर्यनियमः, क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथा इह क्रमः विवक्षितः, शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात् धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदात् च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तत् च अनुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानम्, न च अनुष्ठानान्तरापेक्षम्।

भव्यश्च धर्मः जिज्ञास्यः, न ज्ञानकाले अस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यम्, नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्, चोदना-प्रवृत्तिभेदात् च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये नियुञ्जाना एव पुरुषम् अवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषम् अवबोधयति एव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषः अवबोधे नियुज्यते। यथा अक्षार्थसन्निकर्षेण अर्थावबोधे तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यते इति।

पुष्पलता

धर्मजिज्ञासा से पूर्व में भी जो व्यक्ति वेदान्त का अध्ययन करता है उसकी ब्रह्मजिज्ञासा उपपन्न होती है। जैसे हृदय आदि का काटने में आन-न्तर्यक्रम की विवक्षा के अनुसार नियम है, वैसे ही यहाँ पर क्रम विवक्षित नहीं है। क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव, या जिसका अधिकार पूर्व में सिद्ध है उसके अधिकार में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में फल का एवं जिज्ञास्य का भेद है। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय है और वह अनुष्ठान-सापेक्ष है अर्थात् वह अनुष्ठान की अपेक्षा करता है, किन्तु ब्रह्मविज्ञान निःश्रेयस है और वह अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं करता है। साथ ही जिज्ञास्य धर्म उत्पाद्य है अर्थात् बाद में होगा, वह ज्ञान के समय में नहीं रहता है, कारण, वह पुरुष के व्यापार के अधीन है, किन्तु यहाँ जिज्ञास्य ब्रह्म भूत वस्तु है, वह नित्य होने से पुरुष व्यापार के अधीन नहीं है, वैदिक शब्द रूप प्रमाण की प्रवृत्ति के भेद के कारण [धर्म एव ब्रह्मरूप जिज्ञास्य का भी वैलक्षण्य है] जो वेद वाक्य रूप प्रमाण धर्म का लक्षण है, वह अपने विषय में पुरुष को नियुक्त करके ही अवबोधित करता है। ब्रह्म में प्रमाणस्वरूप वेदवाक्य वेदवाक्य मात्र पुरुषको ज्ञान कराता है। कारण, ज्ञान वेदवाक्य से उत्पन्न होता है वह वेद पुरुष को ज्ञान में नियुक्त नहीं कराता है। जैसे इन्द्रिय एवं विषयके सन्निकर्ष के द्वारा अर्थ के ज्ञान के स्थल में होता है [यहाँ भी] वैसा ही है [अवगत करना

होगा]। अतः ऐसा कुछ कहना होगा, जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा उपदिष्ट होती है।

कुसुमलता

वेदाध्ययनरूप नियत कारण की ही अपेक्षा धर्मजिज्ञासा में है, किन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा उससे अतिरिक्त कर्मकाण्डके ज्ञान की भी अपने नियत पूर्ववर्ती कारण के रूप में अपेक्षा करती है--यही धर्मजिज्ञासा से ब्रह्मजिज्ञासा का वैलक्षण्य है। पूर्वमीमांसा पढ़कर समुदय वेदविहित कर्मसमूह के स्वरूप को जानने के बाद लोगों को वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्मके तत्त्व को जानने की इच्छा होती है--यही "अथ" शब्द के द्वारा सूचित होता है, यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है। कारण, उपनिषद् का अध्ययन करने वाले व्यक्तिको धर्मजिज्ञासा के बिना भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है अतः, कर्मकाण्ड द्वारा प्रतिपाद्य धर्मों के तत्त्व को जानने के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है इसीकी सूचना देने के लिए इस सूत्रमें 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है---यह मत किसी भी तरह युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता है। यह विधान किया गया है-"हृदयस्य अग्रे अवद्यति अथ जिह्वाय. अथ वक्षस." यज्ञमें निहत पशु के हृदय का प्रथम छेदन करें, आनन्तर जिह्वा का छेदन करें, अनन्तर वक्षःस्थल का छेदन करें इस प्रकार के वेदवाक्य में हृदय आदि के अवदान अर्थात् छेदनरूप क्रियाओं में आगे यह छेदन कर बाद में इसका छेदन करे इस प्रकार विवक्षित है, इसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य याग होम आदि कर्मों के स्वरूप को पहले जानकर ब्रह्म की जिज्ञासा करें---इस प्रकार का क्रम किसी प्रकार भी वेदवाक्य के द्वारा प्रतिपादित नहीं होता है। अर्थात् धर्मज्ञान होने के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए इस प्रकार का कोई वेदवाक्य उपलब्ध नहीं होता है। इस प्रकार का यदि वेदवाक्य रहता, तब उस वेदवाक्य रूप प्रमाण के अनुरोध से हमलोग यह मान लेतें कि धर्मज्ञान न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती है। कर्मज्ञान के साथ ब्रह्मजिज्ञासा का शेषशेषिभाव अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव या गुण-

प्रधानभाव है, अथवा धर्मज्ञान में जिसका अधिकार है उसीका ब्रह्मजिज्ञासा में अधिकार है अन्य का नहीं—ऐसी कल्पना भी प्रमाण शून्य है, अतः धर्मज्ञान के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिए-इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा का फल एवं उनके जिज्ञास्य में अतिशय विलक्षणता से। फल की एकता कर्म और ब्रह्म-विचार में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद से ही हो सकती है, किन्तु, विरोध होने से ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता है। कर्म को भेद-ज्ञान की अपेक्षा है और ज्ञान इसका विरोधी है। धर्मज्ञान का फल आगे होता है और वह कर्म के अनुष्ठान के अधीन है। ब्रह्मज्ञान फल नित्य है, अतः, स्वरूपतः दोनों फलों में भेद है, मात्र स्वरूप से ही दोनों में भेद नहीं है, वरन् उत्पादन प्रकार के भेद से भी दोनों में भेद है, क्योंकि, धर्मज्ञानफल अनुष्ठानसापेक्ष होने से अनुष्ठान की अपेक्षा न करने वाले ब्रह्मज्ञानफल से विलक्षण है फलतः, धर्मजिज्ञासा : फल और उसके जिज्ञास्य विषय से ब्रह्मजिज्ञासा का फल और उसका जिज्ञास्य विषय इतना भिन्न है कि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता है, अर्थात् एक ही समय में एक ही व्यक्ति धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी नहीं हो सकता है। धर्मज्ञान का फल अभ्युदय (स्वर्ग आदि) है और उस अभ्युदय की प्राप्ति के लिए कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा और ब्रह्मज्ञान का फल मुक्ति है और इस मुक्ति के लाभ के लिए ज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। कर्मकाण्डरूप वेदभाग का प्रतिपाद्य धर्म भावी है अर्थात् जिस समय वेदरूप प्रमाण की सहायता से हमलोग धर्म का तत्त्व हृदयङ्गम करते हैं उसी समय हमलोग धर्म का लाभ करते हैं— ऐसी बात नहीं है, अपितु धर्म का क्या तत्त्व है यह समझकर, यदि इसके उपाय स्वरूप जो कर्म विहित हैं, उनका अनुष्ठान करें तब वे कर्म के अनुष्ठान के बाद धर्मलाभ करने में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु ब्रह्मजिज्ञासा का विषयय ब्रह्म नित्य और स्वतः सिद्ध है, हमलोग उपनिषद् की सहायता

से जिस समय उसको ठीक रूप से साक्षात्कार करते हैं, उसी समय हमलोगों को मोक्षप्राप्त हो जाता है। मोक्ष आत्मा स्वतःसिद्ध अवस्था से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और वह मोक्ष स्वतःसिद्ध होने पर भी केवल भ्रम के कारण ही हमलोग अपने को बद्ध समझते हैं और इसके फलस्वरूप संसारी हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञान जिस क्षण इस भ्रान्ति या अविद्या को दूर कर देता है, उसी क्षण मुक्ति हो जाती है, अर्थात् हमलोग सर्वदा मुक्त थे यह समझने में समर्थ होते हैं, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा का फल जो मुक्तिलाभ है उसके लिए किसी प्रकार के कर्म का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता है। यही ब्रह्म-जिज्ञासा और धर्मजिज्ञासा की परस्पर फलगत और विषयगत विलक्षणता है। धर्मरूप जिज्ञासा का भावी फल है, वह ज्ञान के समय में नहीं रहता है, बाद में अनुष्ठान के द्वारा उसकी उत्पत्ति होती है, कारण, धर्म पुरुष के व्यापार का फल है, किन्तु इस शास्त्र का जिज्ञास्य ब्रह्म सदा ही विद्यमान रहता है, कारण, ब्रह्म नित्यसिद्ध है। अतः ब्रह्म किसी भी तरह पुरुष-व्यापार के अधीन नहीं है। धर्म के प्रमाण वेदभाग की प्रवृत्ति अर्थात् व्यापार से ब्रह्म के प्रमाण उपनिषद् रूप वेद भाग की प्रवृत्ति अर्थात् व्यापार भी भिन्न रूप है। इसलिए भी धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी एक नहीं हो सकता है। धर्मजिज्ञा धर्म के लाभ करने के लिए पुरुष को उसमें प्रवृत्त होने के लिए धर्म का स्वरूप उसको अवगत करा देती है, किन्तु, उपनिषद् रूप वेदभाग अपने प्रतिपाद्य ब्रह्म के स्वरूप को अवगत करा देती है, उस विषय के लाभ करने के लिए पुरुष को प्रवृत्त करा देती है। फलतः ब्रह्म का तत्त्वज्ञान उपनिषद्रूप प्रमाण का फल है। उपनिषद् का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को ही तत्त्वज्ञान होगा। यही प्रमाण वस्तु का स्वभाव है, ब्रह्मज्ञान के लिए कर्मकाण्ड के समान उपनिषद् किसी को भी किसी प्रकार के कार्य करने में प्रवर्तित नहीं करती है। जैसे चक्षु के साथ किसी घट, पट आदि विषयों का सन्निकर्ष होता है तो हमलोगों को घट, पट आदि विषयों का ज्ञान होता है। चक्षु, घट आदि विषयों के लाभ के लिए किसी कार्य में प्रवर्तित करती है। प्रवृत में

भी वेदान्तवाक्य रूप शब्द प्रमाण हमलोगों को ब्रह्मविषयक ज्ञान का उत्पादन करता है, अन्य कार्य में प्रवृत्त नहीं करता है। अतः, ऐसा कोई विषय होगा जिसके बाद ब्रह्म की जिज्ञासा होती है। इसी का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

भामती

कुतः, कर्मावबोधात् "प्राक् अपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।" इदमत्र आकूतम्-ब्रह्मोपासनया भावनापराभिधानया कर्माणि अपेक्ष्यन्ते इति उक्तम्, तत्र ब्रूमः—क्व पुनः अस्याः कर्मापेक्षा? किं कार्ये, यथा आग्नेयादीनां परमापूर्वे चरमभाविफलानुकूले जनयितव्ये समिदाद्यपेक्षा, स्वरूपे वा, यथा तेषाम् एव द्रवत्तपुरोडाशादिद्रव्याग्निदेशताद्यपेक्षा। न तावत् कार्ये, तस्य विकल्पासहत्वात्। तथा हि ब्रह्मोपासनायाः ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारः कार्यम् अभ्युपेयः। न च उत्पाद्यः वा स्यात्? यथा संयवनस्य पिण्डः। विकार्यः वा? यथा अवघातस्य व्रीहयः, संस्कार्यः वा? यथा प्रोक्षणस्य उलूखलादयः, प्राप्यः वा, ? यथा दोहनस्य पयः। न तावत् उत्पाद्यः, न खलु घटादिसाक्षात्कार इव जडस्वभावेभ्यः भिन्न इन्द्रियाद्याधेयः ब्रह्मसाक्षात्कारः भावनाधेयः सम्भवति। ब्रह्मणः अपराधीनप्रकाशतया तत्साक्षात्कारस्य तत्स्वाभाव्येन नित्यतया उत्पाद्यत्वानुपपत्तेः, ततः भिन्नस्य वा भावनाधेयस्य साक्षात्कारस्य प्रतिभासप्रत्ययवत्संशयाक्रान्ततया प्रामाण्यायोगात्, तद्विषयस्य तत्सामग्रीकस्य एव बहुलं व्यभिचारोपलब्धेः। न खलु अनुमानविरुद्धं[1] वह्निं भावयतः शीतातुरस्य शिशिरभरमन्थरतरकायकाण्डस्य स्फुरज्ज्वालाजटिलानलसाक्षात्कारः प्रमाणान्तरेण संवाद्यते, विसंवादस्य बहुलम् उपलम्भात्। तस्मात् प्रामाणिकसाक्षात्कारलक्षणकार्याभावात् न उपासना या उत्पाद्यकर्मापेक्षा। न च कूटस्थनित्यस्य सर्वव्यापिनः ब्रह्मण उपासनातः विकारसंस्कारप्राप्तयः सम्भवन्ति।

---

१ अनुमानावगतं सिद्धं वह्निम् अनुमान विबुद्धं वह्निमिति इवा पाठान्तरम्।

स्यात् एतत् , माभूत् ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पाद्यादिरूपोपासनायाः, संस्कार्य्यः तु अनिर्वचनीयानाद्यविद्याद्वयपिधानापनयनेन भविष्यति, प्रतिसीरापिहिता नर्तकी इव प्रतिसीरापनयद्वारा रङ्गव्यापृतेन । यत्र च कर्मणाम् उपयोगः । एतावान् तु विशेषः—प्रतिसीरापनये पारिषदानां नर्तकीविषयसाक्षात्कारः भवति, इह तु अविद्यापिधानापनयमात्रम् एव न अपरम् उत्पाद्यम् अस्ति । ब्रह्मसाक्षात्कारस्य ब्रह्मस्वभावस्य नित्यत्वेन अनुत्पाद्यत्वात्, अत्र उच्यते—का पुनः इयं ब्रह्मोपासना ? किं शाब्दज्ञानमात्रसंततिः ? आहो निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिः ? यदि शाब्दज्ञानमात्रसंततिः, किम् इयम् अभ्यस्यमानम् अपि अविद्यां समुच्छेत्तुम् अर्हति ? तत्त्वज्ञान-विनिश्चयः तदभ्यासः वा सवासनं विपर्यासम् उन्मूलयेत् ; न संशयाभ्यासः, सामान्यमात्रदर्शनाभ्यासः वा । न हि स्थाणुर्वा पुरुषः वा इति वा, आरोहपरिणाहवद् द्रव्यम् इति वा शतशः अपि ज्ञानम् अभ्यस्यमानं पुरुष एव इति निश्चयाय पर्याप्तम् , ऋते विशेषदर्शनात् ।

ननु उक्तं श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते इति । तस्मात् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसन्ततिरूपोपासना कर्मसहकारिणी अविद्याद्वयोच्छेदहेतुः । न च असौ अनुत्पादितब्रह्मानुभवा तदुच्छेदाय पर्य्याप्ता । साक्षात्काररूपः हि विपर्यासः साक्षात्काररूपेण एव तत्त्वज्ञानेन उच्छिद्यते, न तु परोक्षावभासेन, दिङ्मोहालातचक्र-चलद्वृक्ष-मरुमरीचिसलिलादिविभ्रमेषु अपरोक्षावभासिषु अपरोक्षावभासिभिः एव दिगादितत्त्वप्रत्ययैर्निवृत्तिदर्शनात् । नो खलु आप्तवचनलिंगादिनिश्चितदिगादितत्त्वानां दिङ्मोहादयः निवर्त्तन्ते । तस्मात् त्वंपदार्थस्य[१] तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः । एतावता एव त्वंपदार्थस्य दुःखिशोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्तिः न अन्यथा । न च एषः साक्षात्कारः मीमांसासहितस्य अपि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् , अपि तु प्रत्यक्षस्य, तस्य एव तत्फलत्वनियमात् , अन्यथा कुटजबीजादपि

१ हि इति पाठान्तरम् ।

वटांकुरोत्पत्तिप्रसंगात् । तस्मात् निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितम् अन्तःकरणम् त्वंपदार्थस्य अपरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थताम् अनुभावयति इति युक्तम् । न च अयम् अनुभवः ब्रह्मस्वभावः, येन न जन्यते, अपि तु अन्तःकरणस्य एव वृत्तिभेदः ब्रह्मविषयः । न च एतावता ब्रह्मणः अपि पराधीनप्रकाशता । न हि शाब्दज्ञानप्रकाश्यं ब्रह्म स्वयं प्रकाशं न भवति, सर्वोपाधिरहितं हि स्वयंज्योतिः इति गीयते, न तु उपहितम् अपि । यथा आह स्म भगवान् भाष्यकारः—'न तावत् अयम् एकान्तेन अविषयः' इति । न च अन्तःकरणवृत्तौ अपि अस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः, तस्य एव तदुपाधेः विनश्यदवस्थस्य स्वपरोपाधिविरोधिनः विद्यमानत्वात् । अन्यथा चैतन्यच्छायापत्तिं विना अन्तःकरणवृत्तेः स्वयम् अचेतनायाः स्वप्रकाशत्वानुपपत्तौ साक्षात्कारत्वायोगात् । न च अनुमितभावितवह्निसाक्षात्कारवत् प्रतिभात्वेन अस्य अप्रामाण्यं तत्र वह्निस्व[3]-लक्षणस्य परोक्षत्वात्, इह तु ब्रह्मरूपस्य उपाधिकलुषितस्य जीवस्य प्रागप्यापारोक्ष्यात् । न हि शुद्धत्वबुद्धत्वादयो वस्तुतोऽतिरिच्यन्ते । जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धबुद्धादिस्वभावः ब्रह्मेति गीयते । न च तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततः अतिरिच्यते । तस्माद् यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनाऽभेदम् अध्यक्षम् अनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारः जीवः स्वस्य ब्रह्मभावम् अन्तःकरणेन इति, अन्तःकरणवृत्तौ ब्रह्मसाक्षात्कारे जनयितव्ये अस्ति तदुपासनायाः कर्मापेक्षा इति चेत्? न, तस्याः कर्मानुष्ठानेन सहभावाभावेन तत्सहकारित्वानुपपत्तेः । न खलु "तत्त्वमसि" (६।११।६।७) इत्यादेः वाक्यात् निर्विचिकित्संशुद्धबुद्धोदासीनस्वभावम् अकर्तृत्वाद्युपेतम् अपेतब्राह्मणत्वादिजातिं देहाद्यतिरिक्तम् एकम् आत्मानं प्रतिपद्यमानः कर्मसु अधिकारम् अवबोद्धुम् अर्हति । अनर्हश्च कथं कर्ता वा अधिकृतः वा । यदि उच्येत—निश्चिते अपि तत्त्वे विपर्यासनिबन्धनः व्यवहारः अनुवर्तमानः दृश्यते,

---

१. स्याद्रूपनिषे । २. आविर्भावयति । ३. वह्नित्वलक्षणस्य ।

यथा गुडस्य माधुर्यविनिश्चये अपि पित्तोपहतेन्द्रियाणां तिक्तावभासानुवृत्तिः, आस्वाद्य थूत्कृत्य त्यागात्, तस्मात् अविद्यासंस्कारानुवृत्त्या कर्मानुष्ठानं तेन च विद्यासहकारिणा तत्समुच्छेदः च उपपत्स्यते। न च कर्म अविद्यात्मकं कथम् अविद्याम् उच्छिनत्ति कर्मणः वा तदुच्छेदकस्य कुतः उच्छेद[1]: इति वाच्यम्, सजातीयानां स्वपरविरोधिनां भावानां बहुलम् उपलब्धेः। यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति, स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति, एवं कर्माविद्यात्मकमप्यविद्यान्तराण्युपशमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति, अत्र उच्यते—सत्यम्, "सदेव सोम्येदम्" इति उपक्रमात् "तत्त्वमसि" इत्यन्तात् शब्दात् ब्रह्ममीमांसोपकरणात्, असकृत् अभ्यस्तात् निर्विचिकित्से अनाद्यविद्योपादानदेहाद्यतिरिक्तप्रत्यगात्मतत्त्वावबोधे जाते अपि अविद्यासंस्कारानुवृत्त्या अनुवर्तन्ते सांसारिकाः प्रत्ययाः तद्व्यवहाराश्च, तथापि तान् अपि अयं व्यवहारप्रत्ययात् मिथ्या इति मन्यमानः विद्वान् न श्रद्धत्ते पित्तोपहतेन्द्रियः इव गुडं थूत्कृत्य त्यजन् अपि तस्य तिक्तताम्। तथा च अयं क्रियाकर्तृकरणेति कर्तव्यताफलप्रपञ्चम् अतात्त्विकं विनिश्चिन्वन् कथम् अधिकृतः नाम, विदुषः हि अधिकारः, अन्यथा पशुशूद्रादीनाम् अपि अधिकारः दुर्वारः स्यात्। क्रियाकर्त्रादिस्वरूपविभागं च विद्वस्यभ्रान्तः इह विद्वान् अभिमतः कर्मकाण्डे। अत एव भगवान् अविद्वद्विषयत्वं शास्त्रस्य वर्णयान्बभूव भाष्यकारः। तस्मात्, यथा राजजातीयाभिमानकर्तृके राजसूये न विप्रवैश्यजातीयाभिमानिनः अधिकारः एवं द्विजातिकर्तृक्रियाकरणादिविभागाभिमानिकर्तृके कर्मणि न तदनभिमानिनः अधिकारः। न च अनधिकृतेन समर्थेन अपि कृतं वैदिकं कर्म फलाय कल्पते, वैश्यस्तोम इव ब्राह्मणराजन्याभ्याम्। तेन दृष्टार्थेषु कर्मसु शक्तः प्रवर्तमानः प्राप्नोतु फलम्, दृष्टत्वात्, अदृष्टार्थेषु तु शास्त्रैकसमधिगम्यं फलम् अनधिकारिणि न युज्यते इति न उपासनाकार्ये कर्मापेक्षा।

१. उच्छेदकम्।

स्यात् एतत्, मनुष्याभिमानवदाधिकारिके कर्मणि विहिते यथा तदभिमान-रहितस्य अनधिकारः' एवं निषेधविधयः अपि मनुष्याधिकाराः इति तद्-भिमानरहितः तेषु अपि न अधिक्रियते, पश्वादिवत। तथा च अयं निषि-द्धम् अनुतिष्ठन् न प्रत्यवैयात् तिर्यगादिवत् इति भिन्नकर्मतापातः। नैवम्, न खलु अयं सर्वथा मनुष्याभिमानरहितः, किन्तु अविद्यासंस्कारानुवृत्त्या अस्य मात्रया तदभिमानः अनुवर्तते। अनुवर्त्तमानं च मिथ्या इति मन्य-मानः न श्रद्धत्ते इति उक्तम्। किम् अतः यदि एवम्? एतद् अतः भवति विधिषु श्राद्धः अधिकारी न अश्राद्धः। ततश्च मनुष्याद्यभिमाने न श्रद्ध-धानः न विधिशास्त्रेषु अधिक्रियते। तथा च स्मृतिः-'अश्रद्धया हुतं दत्तम्'' इत्यादिका। निषेधशास्त्रं तु न श्राद्धमपेक्षते अपि तु निषिध्यमा-नक्रियोन्मुखः नर इति एव प्रवर्त्तते। तथा च सांसारिकः इव श्रद्धावगत-ब्रह्मतत्त्वः अपि निषेधम् अतिक्रम्य प्रवर्तमानः प्रत्यवैति इति न कर्मदर्शना-भ्युपगमः। तस्मात् न उपासनायाः कार्य्ये कर्मापेक्षा। अत एव न उपासनो-त्पत्तौ अपि, निर्व्विचिकित्सशाब्दज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालम अनधिकारः कर्मणि इति उक्तम्। तथा च श्रुतिः-"न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वमानशुः" इति [महाना० उ० १०।५ कैवल्योप० २] तत् किम् इदानीम् अनुपयोगः एव सर्वथा इह कर्म्मणाम्? तथा च "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्याद्याः श्रुतयः विरुध्येरन्। न। आरादुपकारकत्वात् कर्म्मणां यज्ञादीनाम्। तथा हि "तम् एतम्' आत्मानं "वेदानुवचनेन"-नित्यस्वाध्यायेन 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति' -वेदितुम् इच्छन्ति, नतु विदन्ति। वस्तुतः प्रधानस्य अपि वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतः गुणत्वात्, इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात् प्रधानेन च कार्यसंप्रत्ययात्। न हि "राजपुरुषमानय" इति उक्ते वस्तुतः प्रधानः अपि राजा पुरुषविशेषणतया शब्दतः उपसर्जनः आनीयते, अपि तु पुरुषः एव शब्दतः तस्य प्राधान्यात्, एव वेदानुवचन-स्य एव यज्ञस्य अपि इच्छासाधनतया विधानम्। एवं तपसः अनाशकस्य। कामानशनम् एव तपः हितमितमेध्याशिनः हि ब्रह्मणि विविदिषा भवति, न तु सर्वथा अनश्नतः मरणात्। नापि चान्द्रायणादितपःशीलस्य धातुवैष-

स्यापत्तेः। एतानि च क्रियानि उपात्तदुरितनिर्वहणेन पुरुषं संस्कुर्वन्ति। तथा च श्रुतिः—"स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मे अनेन अङ्गं संस्क्रियते इदं मे अनेन अङ्गम् उपधीयते" इति। 'अनेन' इति इति प्रकृतं यज्ञादि परामृशति। स्मृतिश्च—"यस्य एते अष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः" इति [गौ० सं०] नित्यनैमित्तिकानुष्ठानप्रक्षीणकल्मषस्य च विशुद्धसत्त्वस्य अविदुष एव उत्पन्नविविदिषस्य ज्ञानोत्पत्तिं दर्शयति आथर्वणी श्रुतिः "विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति [मु०डोप० ३.१] स्मृतिश्च "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" [महा भा० शा० २०४८] इत्यादिका। क्लृप्तेन एव च नित्यानां कर्मणां नित्येहितेन उपात्तदुरितनिवर्हणेन पुरुषसंस्कारेण ज्ञानोत्पत्तौ अङ्गभावोपपत्तौ न संयोगपृथक्त्वेन साक्षात् अंगभावः युक्तः, कल्पनागौरवापत्तेः। तथा हि नित्यकर्मानुष्ठानात् धर्मोत्पादः, ततः पाप्मा निवर्तते, स हि अनित्याशुचिदुःखरूपे संसारे नित्यशुचिसुखख्यातिलक्षणेन विपर्यासेन चित्तसत्त्वं मलिनयति, अतः 'पापनिवृत्तौ प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापवरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्य अनित्याशुचिदुःखरूपताम् अप्रत्यूहम् अवबुध्यते, ततः अस्य अस्मिन् अनभिरतिसंज्ञं वैराग्यम् उपजायते ततः तज्जिज्ञासा उपावर्तते ततः हानोपायं पर्य्येषते, पर्य्येषमाणश्च आत्मतत्त्वज्ञानम् अस्य उपाय इति उपश्रुत्य तत् जिज्ञासते, ततः श्रवणादिक्रमेण तत् जानाति इति आरादुपकारकत्वं तत्त्वज्ञानोत्पादं प्रति चित्तसत्त्वशुद्ध्या कर्मणां युक्तम्। इमम् एव अर्थम् अनुवदति भगवद्गीता—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते"॥ गीता ६।३

एवं च अनुष्ठितकर्मा अपि प्राग्भवीयकर्मवशात् यः विशुद्धसत्त्वः संसारासारतादर्शनेन निष्पन्नवैराग्यः कृतं तस्य कर्मानुष्ठानेन वैराग्योत्पादोपयोगिना प्राग्भवीय कर्मानुष्ठानात् एव तत्सिद्धेः इमम् एव च पुरुषधौरेयभेदम् अधिकृत्य प्रववृते श्रुतिः—"यदि वा इतर था

ब्रह्मचर्याद् एव प्रव्रजेत्' तत् इदम् उक्तम्—कर्मावबोधात् "प्राक् अपि अधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः" इति। अत एव न ब्रह्मचारिणः ऋणानि सन्ति, येन तदपाकरणार्थं कर्मानुतिष्ठेत्। एतदनुरोधात् च 'जायमानो वै ब्राह्मण-स्त्रिभिर्ऋणवान् जायते" इति। गृहस्थः सम्पद्यमान इति व्याख्यम्। अन्यथा "यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यात् एव" इति श्रुतिः विरुद्ध्यते। गृहस्थस्यपि च ऋणापाकरणं सत्त्वशुद्ध्यर्थम् एवं जरा मर्य्यवादः भस्मान्ततावादः अन्त्येष्टयश्च कर्मजडान् अविदुषः प्रति, न तु आत्मतत्वविदः पण्डितान् तस्मात् यस्य आनन्तर्य्यम् अथशब्दार्थः, यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा न भवति, यस्मिन् तु सति भवन्ती भवति एव। न च इत्थं कर्मावबोधः। तस्मात् न कर्मावबोधानन्तर्य्यम् अथशब्दार्थः इति सर्वमवदातम्।

स्यात् एतत् माभूत् अग्निहोत्रयवागुपाकवत् आर्थः क्रमः, श्रौतस्तु भविष्यति, 'गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'' [जा० उ० ४] इति जाबालश्रुतिः गार्हस्थ्येन हि यज्ञाधनुष्ठानं सूचयति। स्मरन्ति च—

"अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्म्मतः।
इष्टवा च शक्तितः यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्"। मनु० ६।३६ इति

निन्दन्ति च "अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥ मनु०६।३७

इत्यत आह "यथा च हृदयाद्यवदानानाम् आनन्तर्यनियमः" कुतः, 'हृदयस्याग्रे अवधति अथ जिह्वायाः अथ वक्षसः" इति अथाग्रशब्दाभ्यां क्रमस्य विवक्षितत्वात् न तथेह क्रमः विवक्षितः; श्रुत्या तया एव अनियमप्रदर्शनात्[1], "यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनात् वा इति। एतावता हि वैराग्यम् उपलक्षयति. अत एव "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" [जा० उ० ४] इति श्रुतिः। निन्दावचनं च अविशुद्धसत्त्वपुरुषाभिप्रायम्। अविशुद्धसत्वः हि मोक्षम् इच्छन् आलस्यात् तदुपाये अप्रवर्त्तमानः गृहस्थधर्मम् अपि नित्यनैमित्तिकम् अनाचरन् प्रतिक्षणम् उपक्षीय-

१. अनन्तर नियमस्य दर्शितत्वात् इति वा पाठः।

माण पाप्मा अधोगति गच्छति इत्यर्थः।

स्यात् एतत्, माभूत् श्रौतः आर्थो वा क्रमः, पाठस्थानमुख्यप्रवृत्तिप्रमाणकस्तु कस्मात् न भवति इति, अतः आह—"शेषशेषित्वे प्रमाणाभावात्।" शेषाणां=समिदादीनां शेषिणां च=आग्नेयादीनाम् एक फल वदुपकारोपनिबद्धानाम एक फलावच्छिन्नानाम् एक प्रयोगवचनोपगृहीतानाम् एकाधिकारिकर्तृकाणाम् एक पौर्णमास्यभावस्याकालसम्बद्धानां युगपत् अनुष्ठानाशक्तेः सामर्थ्यात् क्रमप्राप्तौ तद्विशेषापेक्षायां पाठदयः तद्भेदनियमाय प्रभवन्ति। यत्र तु न शेषशेषिभावः, नापि एकाधिकारावच्छेद, यथा सौर्य्यार्य्यमणप्राजापात्यदीनाम्, तत्र क्रमभेदापेक्षाभावात् न पाठादिः क्रमविशेषनियमे प्रमाणम् अवर्जनीयतया तस्य तत्र आगतत्वात्[1]। न च इह धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः शेषशेषिभावे श्रुत्यादीनाम् अन्यतमं प्रमाणम् अस्ति इति। ननु शेषशेषिभावाभावेऽपि क्रमनियमः दृष्टः, यथा गोदोहनस्य पुरुषार्थस्य दर्शपौर्णमासिकैः अंगैः सह, यथा वा "दर्शपूर्णमासाभ्याम् दृष्टवा सोमेन यजेत" इति दर्शपौर्णमाससोमयोः अशेषशेषिणोः इति अतः आह- "अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्"। इति योजना। स्वर्गकामस्य हि दर्शपौर्णमासादिकृतस्य पशुकामस्य सतः दर्शपौर्णमासक्रत्वर्थापूप्रणयनाश्रिते गोदोहने अधिकारः। नो खलु गोदोहनद्रव्यम् अन्याप्रियमाणं साक्षात् पशून् भावयितुमर्हति। न च व्यापारान्तराविष्टं श्रूयते, यतः तदङ्गक्रमम् अतिपतेत्, अप्प्रणयनाश्रितं तु प्रतीयते, "चमसेनापः प्रणयेद् गोदोहनेन पशुकामस्य" इति समभिव्याहारात् योग्यत्वात् च अस्य अपां प्रणयनं प्रति, तस्मात् क्रत्वर्थाप्प्रणयनाश्रितत्वात् गोदोहनस्य तत्क्रमेण पुरुषार्थमपि गोदोहनं—क्रमवत् इति सिद्धम्। श्रुतिनिराकरणेन एव इष्टिसोमक्रमवत् अपि क्रमोऽपि अपास्तः वेदितव्यः। शेषशेषित्वाधिकृताधिकाराभावेऽपि क्रमः विवक्ष्यते, यदि एकफलावच्छेदः भवेत्। यथा आग्नेयादीनां षण्णाम् एकस्वर्गफलावच्छिन्नानां यदि वा जिज्ञास्यब्रह्मणः अंशः धर्मःस्यात् यथा चतुर्लक्षणीव्युत्पाद्यं ब्रह्म

---

१. अवगतत्वात् इतिवापाठः।

केनचित् अंशेन एकेन लक्षणेन व्युत्पाद्यते, तत्र चतुर्णां लक्षणानां जिज्ञास्याभेदेन परस्परसम्बन्धे सति क्रमः विवक्षितः, तथा इहापि एकजिज्ञास्यतया धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः क्रमः विवक्ष्यते, न च एतदुभयम् अपि अस्ति इति आह—"फलजिज्ञास्यभेदात् च"। फलभेदं विभजते—"अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम् इति।" जिज्ञासायाः वस्तुतः ज्ञानतन्त्रत्वात् ज्ञानफलं जिज्ञासाफलम् इति भावः। न केवलं स्वरूपतः फलभेदः, तदुत्पादप्रकारभेदादपि तद्भेदः इति आह—'तत् च अनुष्ठानापेक्षं ब्रह्मज्ञानं च न अनुष्ठानान्तरापेक्षम्"। शाब्दज्ञानाभ्यासात् न अनुष्ठानान्तरम् अपेक्षते नित्यनैमित्तिक कर्मानुष्ठान सहभावस्य अपास्तत्वात् इति भावः। जिज्ञास्यभेदमात्यन्तिकमाह—"भव्यश्च धर्मः" इति। भविता भव्यः कर्तरि कृत्यः। भविता च भावक व्यापारनिर्वर्त्यतया तत्तन्त्रः इति, ततः प्राग्ज्ञान काले नास्ति इत्यर्थः। भूतं सत्यम्। सद् एकान्तत न कदाचिद सदित्यर्थः। न केवलं स्वरूपतः जिज्ञासयोः भेदः, ज्ञापक प्रमाण प्रवृत्ति भेदादपि भेदः इत्याह—"चोदनाप्रवृत्तिभेदात् च"। चोदना इति वैदिकं शब्दमाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात्। प्रवृत्तिभेदं विभजते—"या हि चोदना धर्मस्य" इति। आज्ञादीनां पुरुषाभिप्राय भेदानाम सम्भवादपौरुषेये वेदे चोदनोपदेशः अत एवोक्तम्। "तस्य ज्ञानमुपदेशः" [जै० सू० १।१।५] इति। सा च स्वसाध्ये पुरुषव्यापारे भावनायां तद्विषये च यागादौ, स हि भावनाविषयः, तदधीन निरूपणत्वात् प्रयत्नस्य भावनायाः, "षिञ्बन्धने" इत्यस्मात् धातोः विषयपदव्युत्पत्तेः। भावनायाः तद्द्वारेण च यागादेः अपेक्षितोपायतामवगमयन्ती तत्र इच्छापहारमुखेन "पुरुषं नियुञ्जाना एव" यागादिधर्मम् 'अवबोधयति', न अन्यथा "ब्रह्मचोदना तु पुरुषम् अवबोधयति एव केवलं" न तु प्रवर्त्तयन्ती अवबोधयति, कुतः ? अवबोधस्य प्रवृत्तिरहितस्य चोदना जन्यत्वात्।

ननु "आत्मा ज्ञातव्यः" इति एतद्विधिपरैः वेदान्तैः तदेकवाक्यतया अवबोधे प्रवर्त्तयद्भिः एव पुरुषः ब्रह्म अवबोध्यते इति समानत्वं धर्मचोदनाभिः ब्रह्मचोदनानामिति अतः आह—पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते।" अयम-

भिसन्धिः—"न तावद् ब्रह्मसाक्षात्कारे" पुरुषः नियोक्तव्यः, तस्य ब्रह्म स्वाभाव्येन नित्यत्वात्, अकार्यत्वात्। 'नापि उपासनायाम्" तस्या अपि ज्ञानप्रकर्षे हेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेन अविधेयत्वात्। "नापि शाब्दबोधे", तस्यापि अधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपदतदर्थस्य समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्याप्रत्यूहम् उत्पत्तेः अत एव दृष्टान्तमाह 'यथा अक्षार्थो" इति। दार्ष्टान्तिके योजयति "तद्वत्" इति। अपि च आत्मज्ञानविधिपरेषु वेदान्तेषु न आत्मतत्त्वविनिश्चयः शाब्दः स्यात् न हि तदा आत्मतत्त्वपराः ते, किन्तु तज्ज्ञानविधिपराः यत्पराश्च ते ते एव तेषामर्थाः। न च बोधस्य बोध्य निष्ठत्वादपेक्षितत्वात्, अन्य परेभ्योऽपि बोध्यतत्त्वविनिश्चयः, समारोपेणापि तदुपपत्तेः। तस्मात् न बोधविधिपरा वेदान्ता इति सिद्धम्। प्रकृतमुपसंहरति 'तस्मात् किम् अपि वक्तव्यम्" इति यस्मिन् असति ब्रह्मजिज्ञासा न भवति सति तु भवन्ती भवति एव इत्यर्थः।

पुष्पलता

कैसे? क्योंकि कर्म के ज्ञान से पूर्व भी जिस व्यक्ति ने वेदान्त का अध्ययन किया है, उनको ब्रह्म की जिज्ञासा उपपन्न हो सकती है। अभिप्राय यह है कि भावना नामक ब्रह्मोपासना कर्म की अपेक्षा करती है, इस सम्बन्ध में यह जिज्ञास्य है कि कर्म किस अंश में कर्म की अपेक्षा करता है? क्या वह कार्य के उत्पादन के लिए अपेक्षा करता है, जैसे—आग्नेय आदि याग अन्तिम फल के अनुकूल परम अपूर्व को उत्पादन करने के लिए समिदादि याग की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार? अथवा वह अपने स्वरूप में ही कर्म की अपेक्षा करता है, जैसे—आग्नेयादि याग दो बार पिसा गया पुरोडास आदि द्रव्य एवं अग्नि आदि देवता की अपेक्षा करता है? [द्रव्य और देवता ही याग का स्वरूप है।] किन्तु उपासना अपने कार्य के उत्पादन के लिए कर्म की अपेक्षा नहीं करती है। कारण, यह सिद्धान्त विकल्पपूर्वक विचार करने पर संगत नहीं होता है। कारण, ब्रह्म

का साक्षात्कार ही ब्रह्म की उपासना के कार्य के रूप में स्वीकार करना होगा, यह ब्रह्म का साक्षात्कार क्या उपासना का उत्पाद्य कार्य है जैसे--संयवन का [मिश्रण का] पिण्ड, [अर्थात् "पिष्टं संयौति' इससे विहित संयवन का पिण्ड उत्पाद्य है वैसे ही उपासना का उत्पाद्य ब्रह्म का साक्षात्कार है] अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार उपासन का विकार्य कार्य है जैसे-- अवघात के द्वारा व्रीहि [अर्थात् 'व्रीहीन् अवहन्ति' इसके द्वारा विहित अवघात का जिस प्रकार व्रीहि विकार्य है, उसी तरह।] अथवा वह संस्कार्यरूप कार्य है, जैसे-प्रोक्षण का ऊखल आदि। [प्रोक्षति इससे विहित प्रोक्षण का उलूखल आदि संस्कार्य कार्य है; वैसे ही] अथवा प्राप्यरूप कार्य है जैसे--दोहन का दुग्ध। [गां दोग्धि इससे विहित गोदोहन का दूध प्राप्य है] किन्तु उत्पाद्य नहीं हो सकता है कारण, जडस्वभाव घट आदि से भिन्न घटादि का साक्षात्कार जिस प्रकार इन्द्रिय आदि के द्वारा जनित होता है, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार भावना से उत्पन्न होगा- यह सम्भव नहीं है। [अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कर्मयुक्तभावना से आधेय नहीं हो सकता है] क्योंकि ब्रह्म का जो प्रकाश या साक्षात्कार वह दूसरे के अधीन है, अत. ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्म का ही स्वभाव होने से वह नित्य है और नित्य होने से वह उत्पाद्य नहीं हो सकता है, ब्रह्मसाक्षात्कार यदि भावना के द्वारा उत्पन्न ब्रह्म से भिन्न किसी तरह का साक्षात्कार हो तब वह अनभ्यासदशा से प्राप्त ज्ञान के समान सन्दिग्ध होने से प्रामाण्यहीन होगा। 'प्रतिभाप्रत्ययवत्' यह पाठ मानने पर ध्यानजनित असन्निकृष्ट विषय के साक्षात्कार के समान। क्योंकि, प्रतिभाससदृशज्ञानसमूह प्रतिभास सामग्री से उत्पन्न ज्ञान के समान व्यभिचारयुक्त होगा- यह बहुधा देखा गया है। [प्रतिभासज्ञान का प्रामाण्यसंशय से युक्त होना सभी वादियों के सिद्ध है, उसी तरह इस साक्षात्कार के भी प्रामाण्यसंशय से युक्त होने से अप्रमाणिकता है अतः, यह अविद्या निवर्तन की योग्यता अकिञ्चित्कर है, ब्रह्म भिन्न ब्रह्मसाक्षात्कार चक्षुः आदि इन्द्रियों से जन्य नहीं है, इसलिए, कर्तृत्व आदि से विशिष्ट आत्मसाक्षात्कार अन्तः इन्द्रिय मन से जन्म होने पर भी शुद्ध

ब्रह्मसाक्षात्कार उससे अजन्य है, कारण "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इस श्रुति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का मन और वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है, भावना और कर्म से अप्रामाणिक ज्ञान होते हैं, शब्द परोक्षज्ञान का जनक होता है, अतः ,उत्पाद्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमा नहीं हो सकता है] शीत से आतुर अतिशय ठण्ड के कारण कम्पित शरीर-वाला अनुमान की सहायता से वह्नि का ज्ञान करके भी यदि वह्नि की भावना में निमग्न रहता है और वह्निविषयक भावना से देदीप्यमानशिखा से समन्वित वह्नि का साक्षात्कार होने पर भी वह प्रमाणान्तर के द्वारा समर्थित नहीं होता है, वरन् उसको वह्नि का साक्षात्कार नहीं हुआ है–यही सबलोग अवगत करते हैं। इसलिए, प्रामाणिक साक्षात्कार रूप कार्य उत्पन्न न होने से उपासना से उत्पाद्य कार्य के विषय में किसी प्रकार भी कर्म की अपेक्षा नहीं है। कूटस्थ, नित्य सर्वव्यापी ब्रह्म में उपासना निबन्धन विकार, संस्कार या प्राप्ति रूप फल उत्पन्न नहीं हो सकता है। (कूटस्थाव निर्विकारता है, यह विकार न होने में साधन है, नित्यत्व संस्कार के असंभव में हेतु है। क्योंकि ब्रह्माभिन्न साक्षात्काररूप अनुभव नित्य होने से संस्कार का आधार संभव नहीं है। संस्कार अनुभवध्वंसपूर्वक उत्पन्न होता है। सर्वत्र व्यापक होना प्रप्ति के असंभव का साधन है, क्योंकि, जो सदा प्राप्त है वह प्राप्त करने के योग्य नही है, अतः विकारादि कार्यों में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है।)

(संस्कार्यत्वपक्ष की आशंका कर पुनः कर रहे हैं) अच्छा ऐसा ही हो। ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार उपासना का उत्पाद्य विकार्य और प्राप्य कर्म न हो, किन्तु वह अनिर्वचनीय अविद्याद्वयरूप आवरण को हटाने से उपासना का संस्कार्यरूप फल हो सकता है? यवनिका के द्वारा आवृत नर्तकी जिस तरह यवनिका के अपनयन के द्वारा (नाट्यशाला की यवनिका आदि के उठाने के द्वारा) रंगशाला में व्याप्त नट का संस्कार्य फल होती है, वैसे ही उस संस्कारांश में ही कर्मसमूह उपासना का सहकारी हो सकता है।

इन दोनों में विशेष यह है कि यवनिका के हटने पर दर्शकों को नर्तकी का साक्षात्कार उत्पन्न होता है, किन्तु प्रकृत में अविद्यारूप आवरण का मात्र अपनयन ही होता है, इससे अतिरिक्त कोई उत्पाद्य फल नहीं होता है, कारण, ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्म का ही स्वभाव होने से नित्य है, अतः, वह उत्पाद्य नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में यह जिज्ञास्य है कि ब्रह्मोपासना (ब्रह्मभावना) किसको कहा जाता है ? क्या यह मात्र शब्दज्ञान का प्रवाह है ? अथवा निःसन्दिग्ध शब्दज्ञान की धारा है ? यदि मात्र शब्द ज्ञान की धारा ही माना जाय तो यह जिज्ञास्य है कि क्या इसका अभ्यास करने से अनादि अविद्या का उच्छेद किया जा सकता है ? अथवा तत्त्वनिश्चय या उसका अभ्यास ही संस्कारसहित अविद्या का उच्छेद कर सकता है ? संशय की धारा या सामान्य ज्ञान की धारा कभी भी संस्कारसहित भ्रम का उच्छेद नहीं कर सकती है। यह स्थाणु है या पुरुष इस प्रकार का संशय अथवा विस्तार और उन्नतियुक्त द्रव्य है इस प्रकार के सामान्य ज्ञान का सौ बार अभ्यास करने पर भी जबतक विशेष दर्शन नहीं होगा तबतक यह पुरुष है' इस निश्चय का जनक नहीं हो सकता है। (आशय यह है कि तत्वज्ञानरूप निश्चय अथवा उसका अभ्यास ही अनादि अविद्या और उसके संस्कार से युक्त भ्रम का समुच्छेद कर सकता है अतः शब्द से जन्य ज्ञान मात्र का अभ्यास तत्वज्ञानाभ्यास नहीं है, कारण, शाब्दज्ञानाभ्यास संशयाभ्यासरूप है, संशयनिश्चय साधारण सामान्यदर्शन के अभ्यास से अविद्या और उसके संस्कार का समूल उच्छेद नहीं हो सकता है।

पूर्व में ही कहा गया है कि श्रुति रूप शब्द जनित ज्ञान से जीवात्मा का परमात्मस्वरूप अवगत करने पर वह युक्तिमय ज्ञान के द्वारा व्यवस्थापित होता है, अतः निःसन्दिग्ध शाब्दज्ञान धारा स्वरूप जो उपासना वह कर्म सहकृत होकर दोनों अविद्याओं के नाश का साधन है, किन्तु, यह उपासना ब्रह्म विषयक अनुभव को जन्म दिये बिना दोनों अज्ञानों के उच्छेद में समर्थ नहीं है। क्योंकि, साक्षात्काररूप जो भ्रमज्ञान उसीसे साक्षात्काररूप तत्वज्ञान उत्पन्न होता है, परोक्षज्ञान के द्वारा वह उत्पादित

नहीं होता है। कारण, दिङ्मोह, आलातचक्र, चलनशील वृक्ष [नौका पर स्थित व्यक्ति को वृक्ष के चलने का भ्रम होता है] और मरुमरी चिकादि में सलिलादिरूप भ्रम अपरोक्ष भ्रमस्थल में अपरोक्षाभासी जो दिगादि तत्वज्ञान, उसी के द्वारा ही इन भ्रमों की निवृति देखी गई है। शिष्ट व्यक्तियों (आप्त व्यक्तियों) के कथन या अनुमान आदि की सहायता से दिगादिक तत्वज्ञान होने पर भी उस परोक्ष तत्वज्ञान से दिङ्मोह आदि की निवृत्ति नहीं होती है। अतः त्वं पदार्थ का तत्पदार्थ के साथ अभिन्नरूप में साक्षात्कारात्मक जो आत्मज्ञान उसीको स्वीकार करना होगा। इस प्रकार के साक्षात्कार से ही त्वं पदार्थ का दुःखित्व एवं शोकग्रस्ततादिरूप जो साक्षात्कारात्मक भ्रम, वह निवृत हो सकता है, अन्य किसी उपाय से निवृत्त नहीं हो सकता है। यह साक्षात्कार विचार सहित शब्द प्रमाण का फल है— यह भी नहीं कहा जा सकता है। वरन् यह प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल है कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण का ही फल साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है यही नियम है। यदि इस नियम को नहीं माना जाय तो कुटज के बीज से भी वटके अंकुर की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अतः निःसंदिग्ध वाक्यार्थविषयक भावना का जो परिपाक उसके साथ जो अन्तःकरण इन्द्रिय, वही अपरोक्षत्वं पदार्थ की उपाधियों के आकार का निषेध कर तत्पदार्थ के साथ अभिन्नरूपताका अनुभव कराता है- यही युक्तियुक्त है। [अर्थात् केवल अन्तःकरण शुद्धब्रह्म के साक्षात्कार का जनक न होने पर भी भावनासंस्कृत अन्तःकरण शुद्धब्रह्म के साक्षात्कार का जनक होता है।] यह साक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप नहीं है, क्योंकि, ब्रह्मस्वरूप होने पर इसका उत्पाद कैसे सम्भव है, [कारण, ब्रह्म नित्य है, नित्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।] किन्तु यह ब्रह्म साक्षात्कार अन्तःकरण की ही वृत्ति विशेष है। ब्रह्म को वृत्ति रूप साक्षात्कार का विषय मानने पर ब्रह्म का प्रकाश दूसरे के अधीन मानना पड़ेगा। (अर्थात् ब्रह्म की स्वप्रकाशता नहीं रहेगी। ब्रह्म शाब्दज्ञान द्वारा प्रकाशित है, इसलिए, वह स्वयंप्रकाश नहीं होगा, यह भी बात नहीं है, कारण, सभी उपाधियों से शून्य ब्रह्म को ही स्वयंप्रकाश कह कर शास्त्र में

निर्देश किया गया है, उपहित ब्रह्म को स्वयंप्रकाश नहीं कहा गया है। (यद्यपि वाचस्पति मत में शब्द के द्वारा स्वतः अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, तथापि अपरोक्षज्ञानजनक अन्तःकरण की सहकारिता है, उपाधियुक्त ब्रह्म स्वयं ज्योति नहीं है; भगवान् भाष्यकार ने ही कहा है—यह आत्मा सर्वथा ज्ञान का अविषय है—यह नहीं कहा जा सकता है। अन्तःकरण वृत्ति रूप साक्षात्कार के समय यह ब्रह्म सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है यह नहीं कहा जा सकता है। साक्षात्कार स्वरूप मनोवृत्ति का दूसरे क्षण में विनाश होने पर एवं अपनी और अन्य उपाधियों की विरोधी होने पर भी उस समय वह उपाधि के रूप में विद्यमान रहती है। यदि यह माना जाय तो स्वयं अचेतन अन्तःकरणवृत्ति चैतन्य के प्रतिबिम्बित हुए बिना अपना भी प्रकाश नहीं कर सकती है। फलतः, इस वृत्ति की साक्षात्कारस्वरूपता ही नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि जैसे अनुमान के द्वारा वह्नि का स्वरूप समझ कर भावना के द्वारा उसी अग्नि का साक्षात्कार होता है, वह प्रतिभारूप होने से अप्रामाणिक होता है, वैसे ही भावनाजनित ब्रह्मसाक्षात्कार का भी प्रतिभारूपता के कारण अप्रामाण्य माना पड़ेगा यह कथन ठीक नहीं है। कारण, वहां अग्नि परोक्ष है. किन्तु इस स्थल में उपाधि से कलुषित ब्रह्मरूप जीवकी पूर्वसे अपरोक्षरूपता सिद्ध है, अर्थात् ब्रह्म अपरोक्ष है। शुद्धत्व बुद्धत्व आदि धर्म भी वस्तुतः जीव से भिन्न नहीं है। जीव ही उन उपाधियों से रहित होकर शुद्ध-बुद्ध आदि स्वरूप ब्रह्म के रूप में कहा जाता है। उपाधिका विरह (अभाव) भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, कारण, जैसे गान्धर्व शास्त्रार्थ ज्ञान के अभ्यास द्वारा उपार्जित संस्कार से युक्त पुरुष कानरूपी इन्द्रिय के द्वारा षड्ज आदि स्वरसमूह की मूर्च्छना आदि का प्रत्यक्ष अनुभव करता है वैसे ही वेदान्तार्थ ज्ञान के अभ्यास के द्वारा उपार्जित संस्कार अन्तःकरण के द्वारा मिलकर जीव को ब्रह्मभाव का प्रत्यक्ष अनुभव करा देता है; इसलिए अन्तःकरण-वृत्तिरूप ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पादन करने में ब्रह्मोपासना को कर्म की अपेक्षा रहती है? यह भी ठीक नहीं है, कारण, उपासना के साथ कर्म के अनुष्ठान

का सहभाव नहीं होने से कर्म उपासना का सहकारी नहीं हो सकता है। 'तत्त्वमसि" इस वाक्य से आत्मा शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव, कर्तृत्व आदि से रहित, ब्राह्मणत्व आदि जाति से शून्य और देह आदि से रहित और अद्वितीय, इस प्रकार जिस व्यक्ति ने असन्दिग्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह किसी भी तरह कर्म में उसका अधिकार है, यह अवगत करने में समर्थ नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति कर्म में अपना अधिकार समझने में समर्थ नहीं होता है, वह किस प्रकार कर्ता होगा और कर्म में अधिकृत होगा? यदि यह कहा जाय कि तत्त्वनिश्चय होने पर भी दोष के (भ्रम के) कारण व्यवहार अनुवृत्त होता है- यह देखा गया है। जैसे गुड में माधुर्य्य का निश्चय रहने पर भी जिनकी इन्द्रियाँ पित्त दोष से दुष्ट है, उनलोगों की गुड में तिक्तावभास की अनुवृत्ति होती है, क्योंकि, वह गुड को चखकर भी थूककर फेंक देता है। अतः, अविद्यासंस्कार की अनुवृत्ति के कारण कर्म का अनुष्ठान सम्भव है, एवं विद्या के सहकारी कर्मों से अविद्या, संस्कार और कर्म का उच्छेद भी उपपन्न होगा। कर्म अविद्यात्मक है, अतः, वह किस प्रकार कर्म का उच्छेद करेगा? अथवा कर्म को अविद्या-का उच्छेदक मानने पर कर्म का उच्छेद किस प्रकार सम्भव होगा —यह भी कथन ठीक नहीं है। समान जातीय अपना एवं दूसरे का विरोधी पदार्थ-समूह बहुत देखे जाते हैं। एक दूध दूसरे दूध को नष्ट कर देता एवं स्वयं भी नष्ट हो जाता है। जैसे विष दूसरे विष को शान्त कर देता है एवं स्वयं भी शान्त हो जाता है। अथवा जैसे निर्मली को धूलि से गन्दे जल में डालने पर धूलियों को नष्ट कर देता है और स्वयं भी विनष्ट हो जाता है एवं जल को निर्मल कर देता है, इसी प्रकार कर्म अविद्यात्मक होने पर भी दूसरी अविद्याओं को विनष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' यहाँ से आरम्भ कर "तत्त्वसि" यहाँ तक वाक्य समूह ब्रह्ममीमांसारूप सहायकों के साथ मिलकर पुनः पुनः कहे जाने से वे वाक्यों से अनादि अविद्यामूलक देहादि से विलक्षण प्रयगात्मकतत्त्व का असन्दिग्धज्ञान उत्पन्न होने पर भी अवि-

द्यासंस्कार की अनुवृत्ति के कारण सांसारिक ज्ञान और तन्मूलक व्यवहार अनुवृत्त होता है यह सत्य होने पर भी उस व्यवहार एवं उसे मिथ्या कह-कर जो व्यक्ति विवेचना करता है वही विद्वान् उस व्यवहार या ज्ञान के ऊपर श्रद्धासम्पन्न नहीं हो सकता है। जैसे पित्त से उपहित इन्द्रिय वाला व्यक्ति, गुड को तीता कहकर थूकने पर भी तीतापन का विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार क्रिया, कर्त्ता, करण, इति कर्त्तव्यता और फलरूप प्रपञ्च को अतात्विक समझ कर जो निश्चय रखता है, वह किस तरह कर्म में अधिकृत होगा ? कर्म को अपना कर्त्तव्य समझने वाले व्यक्ति का ही कर्म में अधिकार है, अन्यथा पशु और शूद्र आदि का भी कर्म में दुर्वार हो जायेगा। क्रिया औ कर्त्ता आदि के स्वरूप और उसके विभाग को जानने वाला ही विद्वान् अर्थात् तत्वज्ञान होने पर भी वह कर्म-काण्ड में विद्वान् के रूप में अभिमत है। राज जातीय अभिमानयुक्त-व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठेय राजसूय यज्ञ में जैसे विप्र एवं वैश्याभिमानी व्यक्तियों का अधिकार नहीं है, वैसे ही द्विजाति, कर्त्ता, क्रिया और करणा-दिविभागविषयक अभिमान जिसको है, वैसे पुरुषकर्तृक अनुष्ठेय कर्म में इन विषयों के अभिमान से शून्य व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता है। अनधिकृत व्यक्ति समर्थ होने पर भी उनके द्वारा किये गये वैदिक कर्म के फल का जनक नहीं होता है, जैसे वैश्यकर्तृक अनुष्ठेय वैश्यस्तोम नामक यज्ञ में ब्रह्मण एवं क्षत्रिय का अधिकार नहीं होता है, इस विश्लेषण से यही स्थिर हुआ कि दृष्टार्थक कर्म समूह में समर्थ व्यक्ति के प्रवृत्त होने पर उसे उसका फल प्राप्त होगा, कारण उसका फल दृष्ट है। किन्तु अदृष्टा-र्थक कर्मों में जो फल है, वह एकमात्र शास्त्ररूप प्रमाण के द्वारा अधिगत होने से वह अनधिकारी व्यक्ति में नहीं हो सकता है। इसलिए उपासनारूपकार्य में कर्म की अपेक्षा नहीं हो सकती है। [आशय यह है कि उपासना के द्वारा कर्मका मिथ्यात्वनिश्चय कर्म के प्रति श्रद्धा के अभाव होने से कर्मका अनुष्ठान नहीं करेगा, अतः कर्म उपा-सना से युक्त होकर उपासना के कार्य साक्षात्कार में उपयोगी नहीं है।

कर्म संस्कार के द्वारा या विविदिषा के द्वारा चित्त की शुद्धि में उपयोगी है, अतः उपासना के उपयोग नहीं है। ब्रह्मभावना से परिपक्वहृदयवाले को मनुष्याभिमान नहीं रह जायेगा, अतः, उसका कर्मों में अधिकार नहीं है। इस प्रसंग में अतिप्रसंग का निवारण करने की दृष्टि से आगे का विषय कहा जा रहा है।] अच्छा ऐसा ही हो यदि यह कहा जाय कि मनुष्याभिमानी अधिकारी के पक्ष में विहित कर्म में जिस प्रकार मनुष्य अभिमान रहित व्यक्ति का अधिकार नहीं है, वैसे ही निषेधविधि आदि भी मनुष्य को मानती है, अतः, मनुष्याभिमानरहित व्यक्ति को भी पशुप्रभृति के समान निषेधविधियों में अधिकार न रहे, एवं यदि ऐसा ही हो तब वैसा मनुष्य यदि निषिद्धकर्म का अनुष्ठान करे तो पक्षी आदि के समान उसको प्रत्यवाय नहीं होगा—इस प्रकार मानने पर उनलोगों के निषिद्धकर्म के अनुष्ठान का प्रसक्त हो जायेगा। [अर्थात् मनुष्य के अभिमानी की अपेक्षा विलक्षण कर्म की प्रसक्ति होगी, किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है।] किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। कारण, इस प्रकार का व्यक्ति सभी तरह से मनुष्याभिमानरहित नहीं हो सकता। वरन् अविद्यासंस्कार की अनुवृत्ति रहने से मनुष्याभिमान भी सूक्ष्म रूप में रहता है। अर्थात् मनुष्याभिमान भी अनुवृत्त रहता है। ["केवलम् अनुवर्तते" इस पद के द्वारा मनुष्याभिमान सम्बद्ध रहता है, किन्तु विहित कर्म के अनुष्ठान का सम्पादन नहीं होता, कारण, उसको कर्म के अनुष्ठान् की श्रद्धा नहीं रहती है] किन्तु, इस अनुवर्त्तमान अभिमान को मिथ्या समझकर जो व्यक्ति विश्वास करता है उसका उस कार्य पर श्रद्धा नहीं होती है यह पूर्व में ही कहा है। यदि यह ऐसा ही है तो इससे क्या हुआ इससे यही होता है कि विधियों में श्रद्धावान् व्यक्ति ही अधिकारी होता है, श्रद्धारहितव्यक्ति अधिकारी नहीं होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य आदि अभिमान में श्रद्धा न रहने पर वह व्यक्ति विधिशास्त्र में अधिकारी नहीं हो सकता है। स्मृतिमें भी ऐसा कहा गया है—अश्रद्धापूर्वक होम और दान आदि करने पर निष्फल होता है इत्यादि। किन्तु, निषेधशास्त्र श्रद्धा की

अपेक्षा नहीं करता है। वरन मनुष्य निषिध्यमान क्रिया में उन्मुख होने पर ही निषेधविधि उसको अधिकृत कर प्रवृत्त होती है; अर्थात् निषिद्धक्रिया की ओर उन्मुख मनुष्यको निषिद्धक्रिया से निवृत्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। अतः, सांसारिक व्यक्ति के समान श्रद्धा से जिसने ब्रह्मतत्व को जान लिया वह व्यक्ति निषेधविधि का उल्लङ्घनकर यदि उसमें प्रवृत्त होता है तो उसको प्रत्यवाय होगा ही। इसलिए कर्म-व्यवस्था की हानि सम्भावित नहीं है। फलतः उपासना अपने कार्य का उत्पादन करने के लिए किसी प्रकार भी कर्म की अपेक्षा नहीं करता है। इसीलिए उपासना की उत्पत्ति में अर्थात् स्वरूप में किसी विहित कर्म की अपेक्षा नहीं है। असन्दिग्ध शाब्दब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के वाद किसी प्रकार भी कर्म में अधिकार नहीं रहता है—यह भी पूर्व में ही कहा है। श्रुति में कहा गया है- कर्म एवं प्रजा या धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती है, वरन् त्याग के द्वारा ही अमरत्व की प्राप्ति करता है तब क्या सभी तरह इस समय कर्म का अनुपयोग ही सिद्ध होता है? ऐसी स्थिति 'विविदिषन्ति यज्ञेन" इस श्रुति के साथ विरोध प्राप्त होता है। नहीं [ऐसी बात नहीं है] यज्ञादि की दूर से उपकारकत्व है, [अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से विविदिषा के द्वारा परम्परा से यज्ञादि कर्म ब्रह्मसाक्षात्कार में उपकारक हैं।] इस श्रुति का यह अर्थ है—उस इस आत्मा को नित्य स्वाध्यायके द्वारा ब्राह्मणसमुदाय जानने की इच्छा करते हैं, किन्तु जानते नहीं हैं। अर्थ के वश से इस स्थल में विद् धातु के अर्थ ज्ञान की प्रधानता रहने पर भी, वह विद् धातु रूप प्रकृति का अर्थ है, इसलिए उसकी शब्द के वश अप्रधानता ही रहती है। और इच्छा 'सन्' प्रत्यय का अर्थ है अतः वह प्रधान होगा एवं इस प्रधानभूत वेदनेच्छा के साथ गुण का अर्थात्, यज्ञ आदि का करणत्व रूप से अन्वय होता है। [अर्थात् अर्थवश प्रधान के साथ अन्वय नहीं होता है वरन् शब्दवश प्रधान के साथ ही अन्वय होता है।] कारण, 'राजपुरुष को लाओ, यह अर्थवश राजा की प्रधानता होने पर भी शब्दवश पुरुष के विशेषण के रूप में राजा की प्रतीति होने से अप्रधान है, इसलिए राजाको

कोई भी नहीं लाता है, वरन् शब्दवश प्रधान पुरुष को ही लात
प्रकार वेदानुवचन के समान यज्ञ में भी इच्छा की साधनता
के द्वारा विहित होती है। अर्थात् यज्ञादिका प्रधानीभूत
साधनत्व रूप से अन्वय होता है। इसी प्रकार अना
तपस्या का भी इच्छा साधनत्व के रूप में विधान वि
इस स्थल में काम का अनशन अर्थात् भोग का त्याग ह
सभी प्रकार से अन्नादि का त्याग (उपवास) इसका अर्थ
कारण, स्वास्थ्यकर परिमित पवित्र अन्न भोजन करने वाल
को ही ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है। किन्तु सर्वथा अ
परित्याग करने पर यह सम्भव नहीं है, कारण, इससे मृत्यु ही हो
चान्द्रायण आदि तपस्या अर्थात् प्रायश्चित्त आदि का सदा
करने पर भी ब्रह्म को जानने की इच्छा नहीं होती है, कारण, ऐसा
धातु की विषमता हो जायेगी। ये नित्यकर्म संचित पापों का
पुरुष को संस्कृत करता है। यह श्रुति में भी कहा गया है—वही
आत्मावी शुद्धि के लिए याग करता है जो यह जानता है कि इ
द्वारा मेरा यह अन्तःकरण पापरहित होता है एवं मेरा यह अ
पुण्ययुक्त होता है इत्यादि। इस स्थल में अनेन का अर्थ यज्ञादि
है। 'संस्क्रियते' का अर्थ पापरहित होता है द्वितीय 'अनेन' का अ
कर्म होता है और 'उपधीयते' का अर्थ विशेषित होता है। स्मृ
यह बात कही गई है—जिसका ये अड़तालीस संस्कार हुए हैं, उस
की शुद्धि हो जाती है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान
जिनका पाप नष्ट हो जाता है, एवं चित्त विशुद्ध हो गया है ऐसे अ
व्यक्ति को ब्रह्म जानने की इच्छा होने पर ब्रह्म का ज्ञान होता है—यह
श्रुति में भी कहा गया है। जैसे—विशुद्ध चित्त होकर उस निष्फल
का ध्यान करते-करते देखता है, एवं स्मृति में भी कहा गया है—पा
नाश होने पर लोगों को ज्ञान उत्पन्न होता है, इत्यादि। सभी सि
वालों से समर्थित और सतत अभिलषित पापध्वंस रूप नित्य कर्मों का